तुलसी ग्रंथावली

तृतीय खंड

(मूल्यांकन)

मूल संपादक

रामचंद्र शुक्ल भगवानदीन

ब्रजरत्नदास

संपादकमंडल

वेणीशंकर झा (अध्यक्ष)

हरवंशलाल शर्मा देवेंद्रनाथ शर्मा

विजयेंद्र स्नातक करुणापति त्रिपाठी

नागेंद्रनाथ उपाध्याय सुधाकर पांडेय (संयोजक)

सहायक संपादक

विश्वनाथ त्रिपाठी लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी'

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

प्रकाशक
नागरीप्रचारिणी सभा,
वाराणसी

संवत् २०३३ वि०

मुद्रक
शंभुनाथ वाजपेयी
नागरी मुद्रण, वाराणसी

प्रकाशकीय

नागरीप्रचारिणी सभा ने अपनी जिन ग्रंथमालाओं के द्वारा हिंदी को श्रीसंपन्न बनाने का प्रयत्न किया है उनमे नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला का विशिष्ट योगदान है। प्राचीन ग्रंथों के खोजकार्य का आरंभ होने पर खोजविवरण के प्रकाशन के साथ हिंदी ही के विशेष लाभ की दृष्टि से सभा ने यह भी अनुभव किया कि खोज मे प्राप्त चुने हुए ग्रंथो का प्रकाशन भी हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये संवत् १९५७ वि० (सन् १९०० ई०) से नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला का प्रकाशन आरंभ किया। उस समय इसकी पृष्ठसंख्या ६४ और मूल्य आठ आने स्थिर किए गए। वर्ष में इसके चार अकों के प्रकाशन का भी निश्चय किया गया था। संवत् १९७६ तक इस ग्रंथमाला के ६४ अंक प्रकाशित हुए। इस समय तक इस ग्रंथमाला के संपादक क्रमश. श्री राधाकृष्णदास (संवत् १९६१ तक), महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी (संवत् १९६५ तक), श्री माधवप्रसाद पाठक (संवत् १९६७ तक) और श्री श्यामसुंदरदास (सवत् १९७६ तक) थे। प्रातीय सरकार ने इस ग्रंथमाला की उपयोगिता के कारण ३००) रु० वार्षिक की सहायता पाँच वर्षों के लिये संवत् १९६१ मे देना स्वीकार किया। फलस्वरूप इसकी पृष्ठसख्या ८० कर दी गई। पर मूल्य आठ आने ही रहने दिया गया। इस ग्रंथमाला मे तब तक ग्रथ खंडशः प्रकाशित होते थे। संवत् १९७७ से इस ग्रंथमाला में पूरे ग्रंथों का प्रकाशन आरभ हुआ। अलवर नरेश श्रीमत महाराज सवाई जयसिंह ने इस ग्रथमाला के लिये ६,००० रु० सभा को प्रदान किया, तब से यह ग्रंथमाला निरतर प्रकाशित हो रही है और हिंदी के भांडार को श्रीसंपन्न कर रही है।

इस ग्रंथमाला मे अब तक ८४ ग्रंथ प्रकाशित हो चुके है। पृथ्वीराज रासो जैसा बृहद् ग्रंथ सभा ने इसी माला मे प्रकाशित किया। इसमे छपे अब निम्नांकित ग्रंथ ही प्राप्य है :—

१—भक्त नामावली, २—हम्मीररासो, ३—भूषण ग्रथावली, ४—जायसी ग्रंथावली, ५—तुलसी ग्रंथावली, ६—कबीर ग्रथावली, ७—सूरसागर, ८—खुसरो की हिंदी कविता, ९—प्रेमसागर, १०—रानी केतकी की कहानी, ११—नासिकेतोपाख्यान, १२—कीर्तिलता, १३—हमीरहठ, १४—नंददास ग्रंथावली, १५—रत्नाकर, १६—रीतिकालीन कवियो की प्रेमव्यंजना, १७—हिंदी टाइपराइटिंग, १८—हिंदी साहित्य का इतिहास, १९—घनानंद, स्वच्छंद काव्यधारा, २०—प्रतापनारायण ग्रंथावली, २१—तुलसीदास, २२—हिंदी के मुक्तक काव्य का विकास, २३—रसरतन, २४—नाटक के तत्व : मनोवैज्ञानिक अध्ययन, २५—खालिकबारी, २६—हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त खोज विवरण

(१९००–१९५५ ई०), २७–तोप और सुधानिधि, २८–द्विजदेव और उनका काव्य, २९–नाटक और यथार्थवाद, ३०–उग्र और उनका साहित्य, ३१–भोसला राजदरबार के हिंदी कवि, ३२–आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धात, ३३–कृपाराम और उनका साहित्य, ६४–बिलग्राम के मुसलमान हिंदी कवि, ३५–चितामणि, ३६–लक्षदास कृत कृष्ण रससागर, ३७–विडबना, ३८–वेदात दर्शन, ३९–हिंदी और मराठी के ऐतिहासिक नाटक, ४०–हिंदी और फारसी काव्य का तुलनात्मक अध्ययन, ४१–फ्रेडरिक पिकाट, ४२–हितचौरासी और उसकी प्रेमदास कृत ब्रजभाषा टीका, ४३–मधुस्रोत, ४४–भारतेदु की खडी बोली का भाषाविश्लेपण, ४५–क्रोचे का कलादर्शन, ४६–आधुनिक हिंदी काव्य मे अरविंद दर्शन का प्रभाव और ४७–भ्रमरगीतसार।

इस ग्रथमाला का यह ३२वाँ ग्रंथ है। इसका प्रथम सस्करण गोस्वामी तुलसीदास जी की त्रिशत निर्वाणतिथि पर प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत संस्करण सशोधित, परिवर्धित और परिष्कृत अद्यतन नया संस्करण है। इसमे प्रथम संस्करण के कतिपय महत्वपूर्ण प्रकरण, गोस्वामी जी और उनकी कृतियो के संबंध मे सभा की त्रैमासिक पत्रिका 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' में समय समय पर विभिन्न विद्वानो द्वारा लिखित कुछ उत्कृष्ट निबध और शेष, समसामयिक विद्वानो द्वारा तुलसी साहित्य के विविध पक्षों पर प्रणीत लेख संनिविष्ट है। संवत् २०३१ मे श्रीरामचरितमानस की चतु शती के उपलक्ष्य मे सभा ने सकल्प किया था कि उनका मानस, मानसेतर एकादश ग्रंथ और तुलसी ग्रथावली का तृतीय भाग नव-संपादित रूप मे प्रकाशित किया जाय। प्रथमोक्त दोनो ग्रथ यथासमय प्रकाशित हो चुके है, प्रस्तुत ग्रथ के प्रकाशन द्वारा सभा अपने संकल्प की पूर्ति कर सतोषलाभ कर रही है। तुलसीभक्त हिंदीप्रेमी समाज इसे अपनाकर हमे कृतार्थ करेगा, इसका विश्वास है।

करुणापति त्रिपाठी
प्रकाशन मंत्री
नागरीप्रचारिणी सभा,
काशी

तुलसी जयंती
(श्रावण शु० ७)
सं० २०३३।

वक्तव्य

भारतीय वाङ्मय की ज्योतिष्मती भूमिका मे गोस्वामी तुलसीदास जी 'एकमेवाद्वितीयम्' कालजयी एवम् युगद्रष्टा महाकवि के रूप मे भारतीय जनमानस द्वारा प्रथित एवम् सर्वसम्मानित है। उनका साहित्य समाज के प्रत्येक वर्ग और स्तर के लोगो मे समानरूपेण प्रिय है। रससिद्ध कवीश्वर की वाणी ने सर्वसाधारण से लेकर सर्वोच्च बुद्धिजीवी वर्ग के मानस को जिस प्रकार प्रभावित और आलोडित किया है, वैसा अन्य कोई भी नही कर पाया है। समग्र विश्व को सीयराममय की भावना से भावित अतर्मन से देखनेवाले तुलसी का साहित्य न केवल हमारी महान्, राष्ट्रीय संपत्ति है अपितु विश्वजनीन भावात्मक एकता का प्रतिपादन करते हुए विश्व के इने गिने श्रेष्ठतम साहित्य मे उसने प्रमुख स्थान प्राप्त किया है। आज ४०० वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी वे जनता के हृदयसिहासन पर विराजमान है; वे अमर है और युगो तक अपने संदेश द्वारा रहेगे--

जयंति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यश.काये जरामरणज भयम् ।।

सवत् १९८० मे गोस्वामी जी की निधन की तीन शताब्दी पूर्ण हुई। उस समय नागरीप्रचारिणी सभा ने त्रिशती मनाने का आयोजन किया और उस अवसर पर गोस्वामी जी के समस्त ग्रथो के प्रकाशन का निश्चय हुआ। इसी के अनुसार तीन भागो मे तुलसी ग्रथावली प्रकाशित हुई। इसके प्रथम खड के रूप मे रामचरितमानस का प्रकाशन हुआ, जो अनेक प्राचीन प्रतियो की सहायता से सपादित और प्रस्तुत किया गया था। दूसरे खड मे मानसेतर ११ ग्रंथो का सपादन कर प्रकाशित किया गया जिन्हे आज भी हिंदी जगत् प्रामाणिक रूप मे स्वीकार करता है। ग्रथावली का तीसरा खड निबंधावली के रूप मे प्रकाशित हुआ। इन तीनो खडो के संपादक मंडल मे आचार्य रामचंद्र शुक्ल, लाला भगवान दीन और बाबू ब्रजरत्नदास जी थे।

यह कार्य हिंदी जगत् के आदर का पात्र बना किंतु सभा और उसके विद्वानो को इससे पूर्ण सतोष न हो सका। अंततोगत्वा सवत् ००५ मे सभा के पुस्तकाध्यक्ष स्व० श्री शंभुनारायण चौबे द्वारा वैज्ञानिक पद्धति से सपादित कराकर रामचरितमानस का प्रकाशन कराया गया। हिंदी जगत् के सामने तब से यह पाठ प्रामाणिक रूप से उपस्थित है।' स्व० चौबे जी ने किस प्रकार यह कार्य किया था, उस पद्धति की वैज्ञानिकता को तथा उनकी देन को यथार्थ रूप मे हृदयंगम करने के

निमित्त समय समय पर लिखित एतद्विपयक उनके महत्वपूर्ण लेखों का संकलन 'मानस अनुशीलन' के नाम से सभा ने स० २०२४ मे हिंदी जगत् के सामने उपस्थित किया।

मानस चतुश्शती वर्ष के अवसर पर सभा ने तुलसी ग्रथावली संवंधी संकल्प को और अधिक प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत करने का व्रत लिया। सभा द्वारा प्रकाशित रामचरितमानस के सशोधित मूलपाठ के प्रकाशन के उपरात अन्यान्य प्रयत्न भी रामचरितमानस के शुद्ध पाठ के लिये किए गए। इन सबको ध्यान मे रखते हुए गभीर अध्ययन मनन के उपरांत सभा इस निष्कर्ष पर पहुँची कि ग्रथावली का जो अद्यतन पाठ सभा का है उसे ही प्रामाणिक मानकर उपस्थित किया जाय और जो असगतियाँ रह गई है उनका निराकरण यथाशक्ति पूर्ण रूप से कर दिया जाय। फलत. रामचरितमानस का पाठ नवीन सस्करण के रूप मे संवत् २०३० मे उपस्थित किया गया। पाठभेद के लिये स्व० चौवे जी ने जहाँ छह प्रतियो को आधार वनाया था वहाँ १६ और प्रतियो से पाठभेद दिया गया ताकि विद्वानो को सारी सामग्री उपलव्ध हो जाय और पाठभेद मे किसी प्रकार की दुविधा होने पर वे अपने अनुरूप पाठ ग्रहण कर लें।

तुलसी ग्रथावली के दूसरे भाग मे गोस्वामी तुलसीदास की त्रिशत जयती के समय जो ११ ग्रथ और दिए गए थे, उन्हें ही हिंदी जगत् आज भी प्रामाणिक मान रहा है। सभा के उस कार्य के वाद इस क्षेत्र मे आज भी यह कार्य होना चाहिए था। किंतु तुलसी ग्रथावली के दूसरे भाग मे आज से लगभग ५० वर्ष पहले जो कार्य हुआ वही प्रामाणिक रूप से चल रहा है। परतु हमारा अनुभव यह है कि जो विपुल साहित्य उपलव्ध हुआ है उसके प्रकाश मे उनके अन्य ग्रथो पर भी कार्य हो। तुलसी ग्रथावली का द्वितीय खड इस दृष्टि से विद्वज्जनो के समक्ष सं० २०३१ मे उपस्थित किया गया।

गोस्वामी जी के जिन ग्यारह ग्रंथो का इसमे संग्रह है, उनका सनिवेश छक्कन-लाल जी के प्रमाण पर किया गया है। मिर्जापुर के प्रसिद्ध रामायणी तथा भक्त रामगुलाम जी द्विवेदी ने गोस्वामी जी के ग्रथो की खोज वड़े प्रयत्न के साथ की थी और अपने सग्रह मे इन्ही ग्रथो को तुलसीकृत माना था। इन्ही की परपरा मे छक्कनलाल जी भी थे और स्वय भी भक्त तथा रामायणी थे। ग्रथो का वर्णन इस प्रकार है—

१. **रामलला नहछू**—सोहर छद मे वीस तुको की यह एक छोटी सी रचना है। यह छंद पुत्रजन्म, विवाह आदि सभी शुभोत्सवो पर गाया जाता है। इसे सोहला या सोहलो भी कहते हैं।

२. **वैराग्य संदीपनी**—यह दोहे चौपाइयों में छोटी सी रचना है। तीन प्रकाशों में संत स्वभाव, सत महिमा तथा शाति का वर्णन किया गया है। इसमे कुल ६५ छंद हैं।

३. **बरवै रामायण**—उनहत्तर बरवों का यह एक छोटा सा ग्रंथ है, जो सात अध्यायों मे वँटा है। गोस्वामी जी ने इसे ग्रंथ के रूप मे निर्मित नही किया था, ऐसा स्पष्ट ही ज्ञात होता है। ये यथारुचि बने हुए स्फुट बरवै थे, जिन्हे बाद मे स्वयं गोस्वामी जी ने या उनके किसी भक्त ने मानस के कांडक्रम से संग्रहीत कर दिया है।

४. **पार्वती मंगल**—इस रचना मे शिव पार्वती का विवाह वर्णित है। इसमे सोहर के १४८ तुक और १६ छंद दिए गए है। इसका निर्माण—

जय संवत् फागुन सुदि पाँचै गुरु दिनु।
अस्विनि विरचेउ मंगल सुनि सुख छिनु छिनु॥

यह जय संवत् महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी के अनुसार सं० १६४३ मे पड़ता है। इसकी भाषा शुद्ध पूर्वी अवधी है।

५. **जानकी मंगल**—इसमे सोहर के १९२ तुक तथा २४ छंद हैं, और प्रति आठ सोहर पर एक एक छंद है। इसमे सीता-राम-विवाह का वर्णन है। यह पार्वती मंगल के समय का ही बना ग्रंथ है और भाषा, छंद आदि सभी मे उससे मिलता जुलता है। मानस की कथा से इसमें कुछ भेद किया गया है।

६. **रामाज्ञा प्रश्न**—गोस्वामी जी ने इसे शकुन विचारने के लिये बनाया है और इसी बहाने रामचरित्र का वर्णन किया है। इसमे सात सर्ग है और प्रत्येक सर्ग मे सात सात दोहों के सात सात सप्तक हैं। इसके बहुत से दोहे गोस्वामी जी के अन्य ग्रंथों से लिए गए है। सातवें सर्ग के अंतिम सप्तक मे शकुन विचारने की विधि भी दी गई है।

७. **दोहावली**—इसमे ५७३ दोहे हैं, जिसमे २३ सोरठे है। ये भगवन्नाम महात्म्य, धर्मोपदेश, नीति आदि पर है। इनमे से प्रायः आधे रामायण, रामाज्ञाप्रश्न तथा वैराग्य संदीपनी मे भी मिलते है। यह संग्रह, संभव है, तुलसीदास जी ने स्वय किया हो या उनके पीछे किसी अन्य ने। पर इन दोहो मे संसार की अनेक अनुभूत बातों तथा गूढ़ तत्वो का वर्णन है और प्रेम भक्ति का अच्छा निरूपण हुआ है।

८. **कवितावली या कवित्त रामायण**—इसमें कवित्त, घनाक्षरी, सवैए तथा छप्पय छंद है और भाषा शुद्ध ब्रज है। इसमे रामचरित कांड क्रम से वर्णित है। यह तो अवश्य कहा जा सकता है कि ये एक साथ इसी क्रम से नही रचे गए है,

प्रत्युत बाद को इस क्रम से सगृहीत किए गए हैं। स्वजीवन संबंधी भी कई पद हैं और महामारी से पीडित होने पर हनुमानवाहुक भी परिशिष्ट रूप मे रचकर इसमे जोडा गया है।

९. गीतावली—यह रचना राग, रागिनियो मे है और इसमे काड क्रम से रामचरित वर्णित है। यह शुद्ध ब्रज भापा मे है। यह कृष्ण भक्त कवियो की शैली पर वैसा ही सरस तथा मनोरम है।

१०. श्रीकृष्ण गीतावली—इसमे ६१ पदो मे श्रीकृष्णचरित का वर्णन है। इसमे सूरदास जी के भी कई पद छाप वदलकर मिल गये है। यह किसी क्रम से नही बना है, प्रत्युत समय समय पर बने पदो का सग्रह है।

११. विनयपत्रिका—इसमे विनय के २७९ पद है। यह गोस्वामी जी की अतिम रचना ज्ञात होती है और इसमे इनकी कवित्व शक्ति पूर्ण रूप से प्रकट हुई है। इसमे इनके अगाध पांडित्य, शब्दकोश, काव्यकौशल आदि का पूरा परिचय मिलता है। यह पत्रिका प्रार्थना के रूप मे सजाई गई है और इतनी हार्दिक आस्था से लिखी गई है कि अवश्य ही भगवान् श्री रामचंद्र ने इसे स्वीकार कर लिया होगा।

मानस चतुश्शती के अवसर पर सभा की तुलसी ग्रथावली का जो नूतन संस्करण प्रकाशित करने का निश्चय किया गया, उस अवसर पर द्वितीय खड मे मानसेतर ग्रथो के भी पाठभेद सग्रह का निर्णय किया गया। तदनुसार इसमे भी पाठातर दिए गए है। इन ग्रथो मे सभा द्वारा पूर्वनिर्धारित पाठ ही गृहीत हुए है, किंतु अन्य प्रसिद्ध प्रतियो के पाठभेद दे देने से विचारको को उन पाठो पर भी विचार करने की सुविधा प्राप्त होगी।

गोस्वामी जी के मानसेतर ग्रथो पर सभा के अतिरिक्त स्वतत्र रूप से कार्य करनेवाले विद्वानो मे लाला भगवानदीन ही ऐसे हैं, जिन्होने प्राय. सभी ग्रथो का संपादन योग्यतापूर्वक किया है। अत उनके सपादित ग्रथो से पाठभेद गृहीत हुए है। संस्थाओ मे गीता प्रेस (गोरखपुर) और विक्रम परिषद् (काशी) ये दो ही सस्थाएं है जिन्होने गोस्वामी जी के सभी ग्रथो का सपादन किया है। अत उनके भी प्राय. सभी ग्रथो से पाठभेद सगृहीत हुए हैं। मानस के बाद विनयपत्रिका पर सर्वाधिक दत्तावधान होकर कार्य हुआ है। अत उसमे छह ग्रथो से पाठातर सग्रह हुआ है।

त्रिशती के अवसर पर सवत् १९८० मे तुलसी ग्रथावली का तृतीय खंड निवधावली के रूप मे प्रकाशित हुआ जिसमे गोस्वामी जी के संबंध मे कुल १६ निवध सगृहीत किए गए थे। इसकी प्रस्तावना संपादकमंडल के अन्यतम सदस्य आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखी थी। २४१ पृष्ठो की इस प्रस्तावना के दो खड थे—जीवनी खंड और आलोचना खड। आगे चलकर

प्रस्तावना का आलोचना खंड 'गोस्वामी तुलसीदास' शीर्षक से परिवर्धित रूप में प्रकाशित हुआ। यह ग्रंथ गोस्वामी जी की गरिमा को अनेक रूपो मे अभिव्यक्ति देता है और अपने क्षेत्र में अद्वितीय है। शेष १६ लेख अनेक विद्वानों ने विभिन्न दृष्टिकोण से लिखा है।

चतुशती के अवसर पर तृतीय खंड निबंधावली के रूप मे प्रकाशित करने का निश्चय सभा ने किया। लगभग ५० वर्षो की इस अवधि मे गोस्वामी तुलसीदास और उनके काव्य पर इतना अधिक विचारमंथन हुआ है और इतना अधिक लिखा गया है कि शायद ही कुछ नया कहा या लिखा जाय। साहित्यिक, सामाजिक, दार्शनिक, लोकतात्विक आदि अनेक दृष्टि से विचार व्यक्त किए गए है। अनेक शोधग्रथ भी लिखे गए है और लिखे जा रहे है। पक्ष और विपक्ष मे समालोचनाएँ भी हुई है। समीक्षा विज्ञान के मूल्य बदल जाने के फलस्वरूप ऐसा होना स्वाभाविक है। पर गोस्वामी जी का स्थान उस श्रेणी के साहित्य निर्माताओ मे है जो कालजयी और वास्तविक द्रष्टा है। उनकी रचनाएँ सनातन है एवं उनपर काल का प्रभाव नही पड़ सकता। अत. ग्रथावली के तृतीय खंड के प्रकाशन में यह निर्णय लिया गया कि इसमे कुछ लेख पुरानी ग्रंथावली से लिए जायँ और कुछ लेख नागरीप्रचारिणी पत्रिका के प्राचीन अंको से भी। इस संबंध मे विद्वानो को पत्र भी लिखे गए तथा उनके भी कुछ लेख संगृहीत किए गए। इस प्रकार तुलसी ग्रंथावली के तृतीय खंड को मूर्त रूप दिया गया।

ग्रंथावली के संगृहीत लेखों मे आठ लेख पुरानी ग्रंयावली के है, पाँच लेख नागरीप्रचारिणी पत्रिका के पुराने अको से गृहीत, अन्य लेख विभिन्न विद्वानो के है जिनमे विभिन्न दृष्टियो से विचार किया गया है। इस प्रकार गोस्वामी जी के संबंध मे प्राचीन एवं नवीन विचारो का संकलन प्रस्तुत ग्रंथावली में देने की चेष्टा की गई है।

सभा का यह कभी आग्रह नही रहा है कि जो कुछ यहाँ होता है केवल उसे ही प्रामाणिक माना जाय, वल्कि उसकी मान्यता है कि जितना अधिक कार्य हो सके उतना ही अच्छा और श्रेयस्कर है। सभा अपने कार्य को अंतिम नही मानती, किंतु विद्वानो का विश्वास और श्रेय सभा के सत्कार्यो को निरंतर प्राप्त रहा है।

इस कार्य मे हमे सभा के साहित्यमंत्री डॉ० नागेद्रनाथ उपाध्याय से बड़ी मूल्यवान् सहायता मिली है। पं० विश्वनाथ त्रिपाठी और पं० लालधर त्रिपाठी ने इस ग्रथावली के प्रकाशन मे, जहां तक उसके संपादन और प्रकाशन दोनो का सवध है, बड़ी ही निष्ठा, गभीरता और दूरदर्शिता के साथ कार्य किया है।

इसके लिये उनके प्रति हम आभारी हैं। सभा के इस पुनीत संकल्प को साकार करने मे श्री हरिहरलाल एवं मुद्रण व्यवस्थापक श्री डॉ० केशरीनारायण तिवारी का भी योगदान रहा है। हम इन सहयोगियो के भी कृतज्ञ हैं। संपादक मंडल के सदस्यों तथा सभा के मन्त्रियो तथा कार्यकर्ताओ का भी मैं अनुगृहीत हूँ, जो इस कार्य में बराबर सहयोग देते रहे।

सभा भारत सरकार के प्रति भी हृदय से कृतज्ञ है जिसने इस अवसर पर इस महत्कार्य के संपादन प्रकाशन के लिये वित्तीय अनुदान प्रदान कर उसे इसे संपन्न करने मे सक्षम बनाया।

मुझे विश्वास है कि अपने युगधर्म के कारण तुलसी ग्रंथावली घर घर पहुँच जाएगी और तुलसी का संदेश लोकमंगल की प्रतिष्ठा कर युग को चिरंतन आलोक प्रदान करता रहेगा।

सुधाकर पांडेय
संयोजक
संपादकमंडल

तुलसी जयंती
(श्रावण शु० ७)
संवत् २०३३

अनुक्रमणिका

संत तुलसीदास—श्रद्धांजलि

नूरुल् हसन (शिक्षामंत्री भारत सरकार)

पिछले दो-तीन सालो से रामचरित मानस की चौथी सदी के संबंध मे देश और विदेश मे बहुत से जलसे किए गए। इस दौरान तुलसीदास और रामचरित मानस के बारे मे कई अहम किताबे भी लिखी गईं। कुछ लोगों ने तुलसीदास को पुराणपथी और दकियानूसी बताया तो कुछ और लोगों ने उन्हे प्रगतिवादी और समाजवादी साबित किया। मै इस बहस मे नही पड़ना चाहता। इतिहास का तालिबइल्म होने के नाते मेरी रुचि मध्य युग के कवियो, सतों और लेखको मे रही है। मैने उनको भक्ति आदोलन के सिलसिले में देखा और परखा है। सच पूछिए तो सदियो से चले आ रहे भक्ति-आदोलन को सही दिशा सूफी फकीरो और सत कवियो ने दी। तुलसीदासजी का इस आदोलन मे बड़ा योगदान रहा है। मै आज तुलसीदास के बारे मे न तो तवारीखी नजरिए से विचार करना चाहता हूँ और न ही इस बात पर जोर देना चाहता हूँ कि उन्होने राज का, समाज का और अनुशासन का कौन सा रूप हमारे सामने रखा। मेरे सामने तुलसीदास की तस्वीर उन्ही के लफ्जो मे यह है—

> माँगिके खैबो मसीत को सोइबो
> लैबे को एक न दैबे को दोऊ।

यह फकीर अपनी जात से ऊँचा उठकर समाज को कुछ देना चाहता है। इसीलिये उसने एक तरफ तो पुरानी परंपराओ के ढाँचे को साफ़ और मजबूत बनाकर हमारे सामने रखा और दूसरी तरफ उसने भारतीय संस्कृति के उस मिले जुले रूप को पेश किया जो उस युग की माँग थी और जिसका सिलसिला हिंदुस्तान मे सदियो से चला आ रहा था। दरअस्ल भारतीय संस्कृति एक गंगा

की धारा के समान है जिसमे बहुत सी धाराएँ मिलकर एक हो जाती हैं। भारत तो एक ऐसा चमन है जिसमे बहुत सी जबानें है, बहुत से धर्म है, बहुत सी जातियाँ है, जो तरह तरह के फूलो और फलों के मानिंद है और सब मिलकर चमन की खूबसूरती बढाते है। तुलसीदास ने उसी चमन मे माली का काम किया। इसलिये देशी और विदेशी सभी विद्वान् तुलसीदास पर मोहित हैं।

इसलिये हमे यह देखना होगा कि तुलसीदास मे वह कौन से औसाफ़ (वैशिष्टय) है जिनकी वजह से उनकी शख्सियत (व्यक्तित्व) हर रोज रोशन होकर हमारे सामने आ रही है। यह ठीक है कि रामचरित मानस का हजारों और लाखों आदमी आज पाठ करते है और अपनी अपनी भावनाओं के मुताबिक उसके अर्थ भी निकालते है, लेकिन तुलसीदास को अमर बनानेवाली चीज सिर्फ यही नही है। इसका हमे ठोस आधार ढूंढना होगा। तुलसीदास युगपुरुष थे, बल्कि हम कह सकते हैं कि युग युग के पुरुष थे। उन्हें प्रेरणा अपने युग से मिली, लेकिन वह उसमे बँधे नही। सोलहवी और सत्रहवी सदी मे भारत की सियासत (राजनीति) में कुछ ठहराव जरूर आ गया था, लेकिन कुछ ऐसी चीजें भी समाज में दाखिल हो चुकी थी जिनका भारत की परंपराओं से टकराव था। भारतीय संस्कृति की धारा भी कुछ अलग अलग दिशाओं मे बह रही थी। जिंदगी की कद्रों (मूल्यों) मे भी तलातुम (उतार चढाव) था। जिन्होने भक्ति आंदोलन को गहराई से देखा होगा वे इस बात को अच्छी तरह से समझ सकते है। तुलसीदास की निगाह ने इस बात को भांप लिया और उन्होंने अपनी जिंदगी समाज और देश के लिये वक्फ (उत्सर्ग) कर दी। भारतीय संस्कृति की धारा वैदिक काल से ही अपनी दिशा बदलती रही है। परपराएँ और जीवन की कद्रें (मूल्य) भी अलग अलग रूपों मे हमारे सामने आती रही है। भारत की यह विशेषता रही है कि यहाँ के संतो, कवियो और अदीबो (साहित्यिको) ने इस टकराव को दूर करने की कोशिश की है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, आचार्य, शकर गोरखनाथ, कबीर, दादू और जायसी वगैरह ने भारतीय संस्कृति को विशेष दिशा देने का काम किया था। तुलसीदास ने भी अपने जीवन का यही मकसद (उद्देश्य) बनाया। उनके सामने सवाल था कि वह किस आधार पर अपने मिशन को पूरा करें। समाज के हालात को देखकर उन्होने राम और रावण की कहानी को लिया और उसके जरीए भारतीय संस्कृति का सारा रूप ही हमारे सामने पेश कर दिया। राम इंसानियत के पैमाने मे और रावण हैवानियत के। इस तरह उन्होने जनमानस तक अपना संदेश पहुँचाने की कोशिश की। खूबी यह रही कि परपरा के पुराने ढांचे को उन्होने रद्द नही किया चाहे वर्णों की तरतीब (क्रम) हो या आश्रमो की, वेदो का मसला हो या

पुराणों का, सभी को उन्होंने अहम्मीयत (प्रमुखता) दी और सबको साथ लेकर उन्होंने समाज का ऐसा ढाँचा जनता के सामने पेश किया जिसको सबने पसंद किया। राम और रावण की लड़ाई क्या है, निर्गुण और सगुण की चर्चा क्या है, शिव, शक्ति और विष्णु की इबादत (भक्ति) क्या है––इन सबका निचोड़ तुलसीदास ने पेश करने की कोशिश की। अकबर ने भी अपने ढंग से यह काम करने की कोशिश की थी, पर उसकी अपील जनता तक नहीं थी। दूसरी खास बात जो तुलसीदास ने की वह है, कर्म को अहम्मीयत देना। भारतीय संस्कृति कर्म से कुछ दूर हटती जा रही थी। इसके लिये उन्होंने भक्ति का रूप सामने रखा, जिसमें कर्म और अमल ही सब कुछ है। सिर्फ़ उसूलों (सिद्धांतों) की दुहाई देना तुलसीदास को पसंद न था। अपने संदेश को जनता तक पहुँचाने के लिये उन्होंने जनता की भाषा का ही सहारा लिया। जो काम अब तक संस्कृत के जरीए किया जाता था उसके लिये उन्होंने अवधी जबान को चुना। क्योंकि वह जानते थे कि यकजहती (मैत्री) और एकता के लिये जनभाषा को अपनाना बहुत जरूरी है इसलिये बहुत सी मुसीबतें बरदाश्त करके भी बिना किसी झिझक और डर के उन्होंने भारतीय संस्कृति को जनभाषा के जरीए हमारे सामने रखा। वह इस बात के हामी थे कि भारतीय संस्कृति की परंपरा के रूप में तब्दीली (परिवर्तन) होनी चाहिए और वह जनभाषा के जरीए ही हो सकती है। इसका आधार हमें मामूली इंसान को नहीं, गैरमामूली (असामान्य) इन्सान यानी मर्यादा पुरुषोत्तम को बनाना पड़ेगा, इसलिये उन्होंने राम को चुना।

तुलसीदास इस बात को भी समझते थे कि जहाँ एक तरफ हिंदुस्तान में बहुत से मत और फ़िक्र आ गए हैं और वे आपस में टकराते हैं वहाँ दूसरी तरफ़ गैर-हिंदुस्तानी (अभारतीय) नस्लों और खासकर इस्लाम का असर भी समाज पर पड़ चुका है। भक्ति-आंदोलन का ख़ास मुद्दआ (उद्देश्य) भेदभाव को दूर करना रहा है, इसलिये तुलसीदास अपने राम को नीच जाति के मल्लाह से गले मिलाते हैं, उन्हें सबरी के जूठे बेर खिलाते हैं और उनसे दकन की छोटी-छोटी जातियों से भाई-चारे का रिश्ता कायम कराते हैं। इसी को हम मिली-जुली भारतीय संस्कृति का असली जामा पहनाना कह सकते हैं। मैं समझता हूँ कि तुलसीदास को हिंदू जाति का नुमाइंदा (प्रतिनिधि) मानकर उन्हें तंग दाइरे (संकुचित सीमा) में बाँधना उनसे ग़ैर-इंसाफ़ी करना है। तुलसीदास अपने ज़माने का ऐसा नक्शा पेश करते हैं जो शायद दूसरी जगह मिलना मुश्किल है। एक मज़े की बात यह है कि उन्होंने भारत की परंपराओं की बेक़द्री (असम्मान) नहीं की, बल्कि जगह-जगह उनको उभारा ही है। यह ठीक है कि वह सीधे इस्लामी मज़हब, फ़िलसफ़ा (दर्शन) और तहजीब की तरफ़ मुखातिब नहीं होते, और न ही उन्होंने किसी और फ़िरक़े पर हमला किया, लेकिन सब के असरात (प्रभाव) उन्होंने लिए हैं। मैं तो

यहाँ-तक कहूँगा कि अकबर के सुल्ह कुल (विश्वबन्धुत्व) को उन्होने अमली जामा पहनाने की कोशिश की है। एक बात जरूर है कि जब वह भक्ति और कर्म पर जोर देते है तो भारतीय संस्कृति की धारा को रूहानियत (आध्यात्मिकता) का मोड़ देने की कोशिश करते है, लेकिन वह रूहानियत इसानियत का आला नमूना है और शायद इसीलिये उन्होने एक आदर्श रामराज्य का सपना देखा था जिसमे सब लोग मिल-जुल कर भाईचारे से रह सके। एक बात और गौर करने की यह भी है कि तुलसीदास किसी भी तरह अपने जमाने से कटकर नही चले। उनकी रचनाओ मे ऐसी बहुत सी चीजो का जिक्र है जो उस जमाने मे रायज (प्रचलित) था। जैसे पतग उड़ाना, बाज से शिकार खेलना, चौगान, मुजरा वगैरह वगैरह।

इसके साथ उन्होने उस जमाने के बहुत से हिंदू-मुस्लिम रीत-रवाजो को भी अपनी रचनाओ मे जगह दी है। अरबी और फारसी के शब्दो का भी खूब अपनाया है। इन सब बातो से यह नतीजा निकलता है कि जो भक्ति-आदोलन दकन के आल्वार सतो से शुरू हुआ और सारे देश मे बिजली की चमक की तरह फैला, उसको तुलसीदास ने एक दिशा दे दी।

एक बात जीवन की कद्रो (मूल्यो) के बारे मे और कहना चाहता हू। तुलसीदास को हम एक इकाई के रूप मे देखना चाहिए तभी हम उनके योगदान को ठीक समझ सकते है। लोक-जीवन और शख्सी (व्यक्तिगत) जीवन मे उन्होने कुछ कद्रे पेश की। लोक-जीवन की सबसे बड़ी कद्र यह है कि वह किसी एक जाति या वर्ग के लिये नही होता, राष्ट्र के लिये होता है और हर इसान के लिये होता है। उस जमाने मे भारतीय सस्कृति की धारा लोक-जीवन से कुछ कटकर बहने लगी थी, तुलसीदास ने उस कटान को रोका और कई तरीको से लोक-जीवन की धारा को मजबूत किया। उन्होने हर इसान—चाहे वह राजा हो, फकीर हो, विद्वान् हो,—के लिये यही सदेश दिया कि उसका जीवन लोक की भलाई के लिये है। धर्म और मजहब मे भी उन्होने अमल को तर्जीह दी, उसूलो को नही। धर्म का मर्कज (केद्र) उन्होने मामूली इसान को नही बनाया, राम को बनाया, जो गैर-मामूली (असाधारण) थे। जहाँ तक शख्सी कद्रो (व्यक्तिगत मूल्यो) का सवाल है, उनका इजहार (प्रकाशन) उन्होने भरत, लक्ष्मण, हनुमान और सीता वगैरह के जरीये कराया, लेकिन उन सबका मकसद (उद्देश्य) भी लोक की भलाई ही है। इस तरह हम देखते है कि तुलसीदास ने फर्द (व्यक्ति) से बढ़कर समाज की भलाई पर जोर दिया है और इससे भी बढ़कर मुल्क की भलाई पर जोर दिया है। समाजसेवा और देशसेवा तुलसीदास का सदेश है। भारतीय सस्कृति की एकता उनका मिशन है और रामराज्य उनका आदर्श है। ऐसे सत महात्मा के क़दमो मे अपनी श्रद्धाजलि पेश करता हूँ।

लिप्यतरकार- लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी'

गोस्वामी तुलसीदास

डाक्टर सर जार्ज ए० ग्रियर्सन

जीवन चरित

मध्यकालीन उत्तरीय भारत के सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदास के जीवन के सबध मे दो-तीन तिथियो तथा कुछ प्रासगिक विवरणो को छोडकर उनकी रचनाओ से वस्तुत कुछ अधिक नही ज्ञात होता। कहा जाता है कि उनके मित्र वेणीमाधवदास ने उनका जीवन चरित लिखा था। उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे लेखक शिवसिंह ने उसका उल्लेख किया है, पर उसकी कोई प्रति प्राप्य नही है। कवि के तत्कालीन दो लेख मिलते है—एक पचनामा और दूसरा रामचरितमानस का एक पूर्ण काड। ये दोनो उन्ही के हाथो के लिखे हुए है।

उनके सबध मे बहुत सी कहानियाँ प्रचलित है जिनमे से कुछ विश्वास के सहित मानी जा सकती है। सयुक्त प्रात के बाँदा जिले के राजापुर नामक ग्राम मे इनका सन् १५३२ ई० मे जन्म हुआ था। ये पराशर गोत्र के सरवरिया ब्राह्मण[1] थे। इनके पिता का नाम आत्माराम, माता का हुलसी और इनका रामबोला था। एक पद[2] मे लिखा है कि जन्म के अनतर ही इन्हे माता-पिता ने त्याग दिया था। अधिक सभव है कि ये उन अभागे बच्चो मे से रहे हो जो अभुक्तमूल कहलाते है अर्थात् जो मूल नक्षत्र के आरभ मे उत्पन्न होते है। इस प्रकार के बच्चे पिता के घातक होते है। उनके दोष के परिहार का यही उपाय है कि उन्हे त्याग दे या ऐसा प्रबध करे कि उनके जीवन के पहले आठ वर्ष तक उनका मुख पिता न देखे। उन्हे एक रमते साधु ने उठा लिया, जिसने तुलसीपत्र के नाम पर जो बच्चो की शुद्धि मे काम आता है, इनका नाम 'तुलसी' रखा।

१. चार स्थान उनके जन्म स्थान होने के लिये स्वत्व प्रकट करते है, पर राजापुर का ही अधिक स्वत्व है। उनकी जाति के बारे में भी झगड़ा है, कुछ उन्हे कान्यकुब्ज ब्राह्मण कहते है।

२. विनय पत्रिका, २२७, २।

तब से इसी नाम से ये प्रसिद्ध हुए। इस नरहरिदास साधु के साथ जो उनके गुरु भी हो सकते थे, ये सारे उत्तर भारत मे घूमे। गुरु से इन्होंने रामकथा[3] सुनी थी, पर (संस्कृत की[4]) अज्ञता के कारण ये पहले उसके महत्व को पूर्णतया न समझ सके। कई बार सुनने पर इनकी बुद्धि ने यथाशक्ति उसे ग्रहण किया और तब उसे अपने लाभ के लिये तथा अपने ही से लोगों के लिये भाषा मे लिखने का विचार किया। बड़े होने पर ये गृहस्थ हुए और दीनबंधु पाठक की पुत्री, रत्नावली से विवाह किया, जिससे इन्हे 'तारक' नामक पुत्र हुआ, जो थोड़ी अवस्था मे ही मर गया। इनका स्त्री पर बड़ा प्रेम था और उसका विरह वे नहीं सह सकते थे। वह पक्की वैष्णवी था। एक समय जब वह मायके गई थी, तब ये भी वहाँ तक पीछे पीछे गए थे। इसपर उसने, स्त्री पर इतना प्रेम रखने और राम मे इतना प्रेम न रखने के लिये, भर्त्सना की। पश्चात्ताप के कारण तुलसीदास ने उसे उसी समय छोड़ दिया और साधु हो गए। कहा जाता है कि उन्होंने उसे एक बार फिर देखा था पर पहचाना नहीं। पहले अयोध्या मे, फिर काशी मे स्थान बनाकर ये उत्तरीय भारत मे दूर दूर तक घूमकर राम नाम का उपदेश देते रहे। पहले इन्हे बहुत झगड़ों का सामना करना पड़ा, पर इनके पवित्र जीवन और आकर्षक मूर्ति ने सब रुकावटों पर विजय प्राप्त की। काशी ऐसे स्थान मे जहाँ शिवपूजा ही प्रधान है, इन्होंने सार्वजनिक प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। इनके कवित्व की प्रसिद्धि बहुत दूर तक फैल गई और इनके अनेक मित्र तथा मतानुयायी हो गए, जिनमे सबसे अधिक प्रसिद्ध अंबर नरेश राजा मानसिंह (१६१४) और अब्दुर्रहीम खानखाना (१५५६–१६२७) थे। काशी का धनी भूम्यधिकारी टोडर (जो उसी नाम के अकबर के कोप मंत्री से भिन्न था) इनके अंतरंग मित्रों मे था, जिसकी मृत्यु पर इन्होंने एक मार्मिक कविता लिखी थी। यह कविता अत्युत्तम है। टोडरमल की मृत्यु पर उनके उत्तराधिकारियों मे बँटवारे के लिये झगड़ा हुआ, जिसमे तुलसीदास पंच माने गए थे। वह पंचनामा उन्हीं के हाथ का लिखा हुआ है और उसपर संवत् १६६९ (१६१२ ई०) दिया हुआ है।

सन् १६१६ मे भारत मे प्लेग आया और आठ वर्ष तक रहा। कवि को भी यह रोग हुआ था; क्योंकि उसकी एक छोटी रचना हनुमान बाहुक मे इसी

३. राम०, १.३०।

४. यह कभी संस्कृत–विज्ञ नहीं थे और इनके कुछ श्लोकों मे व्याकरण की अशुद्धियाँ है।

प्रकार के रोग का वर्णन है। कुछ स्वस्थ होने के अनंतर फिर रोग का आक्रमण हुआ जिससे ये सन् १६२३ ई० मे काशी मे मर गए।

रचनाएँ

अनेक छोटी कविताओं के सिवा बीस से अधिक ग्रथ तुलसीदासकृत वतलाए जाते है, पर उनमे से कुछ तो अवश्य ही दूसरों की कृतियाँ है और कुछ के रचयिता के बारे मे शंका है। अधिक मान्य सूची मे वारह ग्रंथों का वर्णन है, जिनमें छह छोटे और छह वडे ग्रंथ है। छोटी रचनाओ के नाम ये है—(१) रामलला नहछू, (२) वैराग्य सदीपिनी, (३) वरवै रामायण, (४) जानकी मंगल, (५) पार्वती मंगल और (६) रामाज्ञा।

छह वडे ग्रंथ ये है—(१) कृष्ण गीतावली, (२) विनय पत्रिका, (३) गीतावली, (४) कवितावली, (५) दोहावली और (६) राम चरित मानस।

तुलसीदास स्मार्त वैष्णव थे, अर्थात् रामचंद्र के उपासक होते हुए भी वे सनातन धर्म की स्मृतियों को मानते थे तथा वर्णविभाग की भी प्रथा का संमान करते थे। स्मार्त धर्म मे अन्य वातो के साथ शिव का पूजन और चौका अलग रखना भी है। इन दोनो वातो मे ये कट्टर वैरागी वैष्णवों से भिन्न थे, जो पुरानी प्रथा को छोडकर केवल विष्णु के किसी एक अवतार का पूजन करते थे और एक साथ खाते-पीते थे। जव ये अयोध्या मे ठहरे हुए थे, तव इनका इन वैरागियो का साथ था और यही इन्होने रामचरित मानस के प्रथम तीन काड लिखे थे। इसके पीछे उनसे आचार, व्यवहार आदि को लेकर मतभेद हुआ। तब ये काशी चले आए और यहीं उस काव्य को पूर्ण किया।

ईश्वर के अवतार रामचद्र मे इनकी कितनी भक्ति थी, यह इनके ग्रंथों की सूची से ही विदित है। केवल दो (५वी और ७वी संख्या) को छोड़ कर अन्य सव ग्रंथ उन्ही के कीर्तन मे लिखे गये है। संख्या ७ विष्णु के दूसरे अवतार कृष्ण की स्तुति के कुछ पदों का सग्रह है। सख्या ५ एक छोटा काव्य है, जिसमे शिव और पार्वती के विवाह का वर्णन है। इस विषय पर कुछ विस्तार के साथ रामचरित मानस मे भी लिखा गया है। जैसा लिखा जा चुका है, तुलसीदास की शिव पर वड़े और कृपालु देवता होने के कारण भक्ति थी, पर वैसी नही जैसी रामचद्र पर थी। शिव ही ने संसार के उद्धारार्थ रामकथा पार्वती से कही थी और इस प्रकार वह मनुष्यो को ज्ञात हुई थी।

पूर्वोक्त ग्रंथो का संक्षिप्त परिचय यहाँ उचित होगा।

(१) रामलला नहछू—इस ग्रंथ के असली होने मे संदेह है। इस छोटे काव्य मे रामचंद्र के उपनयन संस्कार के समय नख काटे जाने का वर्णन है।

यह ग्रामीण रीति अभी तक ऐसे अवसरो पर और अवध तथा बिहार मे विवाह के समय होती है। पूरा काव्य ग्रामीण शैली तथा छंद मे है।

(२) वैराग्य संदीपिनी--इसमे पवित्रता का सच्चा स्वरूप वर्णित है और वैराग्य का उपदेश दिया गया है। अपने उपास्य देवता को पूर्णतया आत्मसमर्पण कर देने मे होनेवाली पूर्ण शांति का इसमे जो वर्णन है, वह कवित्व सौदर्य मे हीन नही है।

(३) वरवै रामायण--इसमे रामचंद्र का संक्षिप्त इतिहास बरवै छंद मे लिखा गया है। यह बहुत छोटा है और जैसा मिलता है, वह अपूर्ण है। कुछ लोग इसे सूची मे निकाल देते है।

(४) जानकी मंगल और (५) पार्वती मंगल--इन दो छोटी रचनाओ मे सीता और रामचद्र तथा पार्वती और शिव के विवाहो का वर्णन है। इन दोनो के असली होने मे भी संदेह है। संख्या ४ का घटनाक्रम कवि के अन्य महत्वपूर्ण ग्रंथो मे दिए हुए क्रम से भिन्न है। पार्वती-मंगल मे संवत् १६४३ (१५८६ ई०) दिया है।

(६) रामाज्ञा—यह दोहों का संग्रह है, जिसमे यात्रा या अन्य बड़े कामो के समय शकुन देखा जाता है। इसका विषय भी राम कथा है और यह सात अध्यायो मे है, जिनमे से प्रत्येक सात दोहो के सात सप्तकों मे विभाजित है; अर्थात् इसमे कुल ३४३ दोहे है। शकुन क्रम से—जिस प्रकार वर्णित क्रम है—एक दोहा निकालने पर मिलता है। इसमे सं० १६५५ (१५९८ ई०) दिया है।

(७) कृष्ण गीतावली--बडे ग्रंथो मे यह प्रथम है, जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है। इसके विषय के अनुरूप ही तुलसीदास ने इसे अपनी रीति के अनुसार अवधी मे न लिखकर ब्रज भाषा मे लिखा है। कवि के ग्रंथो मे यह बहुत कम पढा जाता है, पर पढना सुफल हो जाता है, क्योकि इसमे बहुत से अच्छे पद है। इन्होने शृंगार रसपूर्ण कुशिक्षादायक अंग को छोड दिया है जो कृष्णभक्ति के साहित्य को गंदा किए है।

(८) विनय पत्रिका--यह कवि के अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रंथो मे से है, जिसमे उन्होने अपने उपास्य देवता के संबंध मे अपने भावो को और सामाजिक जीवो के संबंध मे उस उपास्य देवता के भावो को ऐसा हृदय खोलकर और रसोद्गार के साथ व्यक्त किया है, जिसकी तुलना शायद ही कभी हो सके।

इसकी रचना के बारे मे एक मनोहर कथा कही जाती है। तुलसीदास ने अत्यंत कष्ट पाकर दयालु परब्रह्म परमेश्वर रामचंद्र को उन कष्टो से त्राण पाने के लिये यह पत्रिका लिखी। कुल ग्रंथ विनय के पदों से पूर्ण है जिनमे पहले क्रम

क्रम से परब्रह्म के द्वारपाल, सभासद आदि छोटे छोटे देवताओ की प्रार्थनाएँ की गई है और तब उनके इष्ट देवताओ की प्रार्थना है, जो आत्मसमर्पण और दैन्य-भाव के मार्मिक उद्गार है। अतिम पद मे लिखा है कि किस प्रकार सासारिक राजाओ के समान इस पत्रिका को स्वीकार कर रामचंद्र ने इसपर हस्ताक्षर करके सही की।

विनय पत्रिका कवि के स्तुत्य ग्रथों में से एक है; पर भावो की क्लिष्टता के कारण बहुत से पढ़नेवाले उसको पढने का साहस नही करते। लेखक के भाव का वेग कभी कभी हृदयोद्गार की चरम सीमा तक पहुँच जाता है जिससे शैली मे ऐसी क्लिष्टता आ गई है कि वह उनके कथा काव्य की प्रकृत सुंदर शैली से भिन्न हो गई है। इस काव्य की शैली ही सुगम विचारो के प्रतिकूल है। यह एक महाराज को लिखा हुआ प्रार्थना पत्र है, जिसमे उच्चकोटि के शब्दो तथा मुहावरो का समावेश है। अत. यह शैली विपय के अनुकूल तथा उपयुक्त है। पर संस्कृतविज्ञ पाठको के ही समझने योग्य है। इन बाह्य दोषो के रहते हुए भी यह प्रशसित ग्रंथ उनके लिये पठनीय है जो भारत के धार्मिक इतिहास को जानना चाहते है। ये एक ऐसे पुरुष है जिनका हिंदुओं की कई पीढियो पर जो प्रभाव पड़ा है, वह बढा कर नही कहा जा सकता और जिन्होने अपने हृदय के उन आतरिक भावो को बाहर निकाल कर सब पर प्रकट कर दिया है, जिन्हें अन्य लेखको ने जानकर भी केवल गुप्तरूप से कहने का साहस किया है। यह हृदय के उद्गारो का ग्रंथ है, पर ये उद्गार एक पत्रिका और भक्त आत्मा के है।

(९) गीतावली मे तुलसीदास ने मागध का नया रूप धारण किया है। दयालु तथा स्नेही ईश्वर के प्रति पाठको मे श्रद्धा बढाने के लिये लिखे गए भजनो का यह संग्रह है। अन्य ग्रथो के समान इसमे भी यह वही प्रेम दिखलाते है जो पुत्र का पिता के प्रति होता है। इन भजनो की भाषा इन्होने कवि परंपरागत व्रजभाषा ही रखी है और विनय-पत्रिका के समान इसका भाव उद्गारपूर्ण न होकर माधुर्य तथा सौंदर्य से पूर्ण है। इस प्रकार रामचंद्र की सारी कथा का इन्होने ऐसी मनोहर शैली मे वर्णन किया है जो इनके बड़े काव्य से पूर्णतया भिन्न है। इस ग्रथ मे ऐसा कोई पद नही है जो पूरा छोटा चित्र न हो। पहले काड के पद तो बहुत ही मनमोहक है जिनमे इन्होने अपने नायक तथा उनके भाइयो की बाललीला का वर्णन किया है। बालस्वरूप राम का इसमे सच्चा उपदेश है।

(१०) कवितावली भी सबसे भिन्न है। इसमे कवि भाट के समान राम की कीर्ति का वर्णन करता है, जिससे उपास्य देव के बल विक्रम का चित्र देखकर

भक्तो का उत्साह बढे। इसकी भाषा अवधी है जिसमे व्रजभाषा भी मिली हुई है। इस ग्रथ से बढकर तुलसीदास के और कोई ग्रथ उनके शब्दकोश की प्रधानता नही प्रकट करते। यह वीररस प्रधान है और इसे विना सस्कृत के अनावश्यक सहारे के इन्होने वीरोचित शैली मे लिखा है। युद्ध दृश्य मे शब्द योजना ऐसी है कि उससे शस्त्रो की खडखडाहट और प्रतिद्वद्वियो का कलकल प्रकट होता है। इसी प्रकार लंका दहन के वर्णन मे ज्वाला की लपटो के शब्द का आभास मिलता है। कथा-वर्णन छह काडो मे समाप्त होता है। सातवाँ, जो पूर्ण ग्रथ के आधे के लगभग है, भिन्न भिन्न समयो की बनी हुई कविताओ का सग्रह है। इसके पहले के काडो से इसका कोई सबध नही है। निज की बातो के उल्लेख के कारण कवि के समय तथा अनुभवो के ज्ञान के लिये यह बडे काम का है। इससे इनके जन्म, माता-पिता तथा उन कष्टो का वृत्तात, जो इन्हे सहने पडे थे, मालूम पडता है। और एक पद से यह भी ज्ञात होता है कि इस ग्रथ की रचना सन् १६१२ और सन् १६१४ के बीच हुई थी। हनुमानबाहुक भी इसी ग्रथ मे संमिलित है, जिसका उल्लेख हो चुका है और जिसमे इन्होने लिखा है कि मै महामारी से किस प्रकार आक्रात हुआ।

(११) दोहावली—इसका अर्थ दोहो का सग्रह है, पर यह निश्चित नही है कि इसका भाव क्या है। इस नाम का एक ग्रंथ है (नीचे देखो)। कुछ विज्ञो का कथन है कि सूची मे एक राम सतसई का [राम की प्रशंसा में सात सौ छद (इसी छंद मे)] उल्लेख है। पर बहुत से विद्वानो का मत है कि यह ग्रथकार की रचना न होकर उसी नाम के दूसरे मनुष्य की है। यह ग्रथ उत्तम नही है। पर यदि सच्चा हो तो इस कारण महत्व का है कि पाँचवे अध्याय मे कवि ने धर्म के विरुद्ध कर्मों के सबंध मे उपदेश दिया है। सूची मे उल्लिखित ग्रथ दोहावली को मान लेने मे केवल यह कठिनाई है कि उसमे रामचरित मानस, रामाज्ञा और सतसई के बहुत से दोहे समिलित है। ५७२ दोहो मे इस प्रकार के २४८ दोहे अभी तक मिले है, और इससे अधिक हो सकते है। यदि यह सच्चा ग्रथ है तो अवश्य कुछ मौलिक दोहे रहे होगे जिनमे उनके भक्तो ने और दोहे जोड़ कर कवि के अत्युत्तम दोहो का सग्रह कर लिया है। वर्तमान लेखक की यही संमति है; और यदि यह ठीक है तो राम सतसई के बनने के इतने दिनो बाद यह सग्रह तैयार हुआ कि वह कवि का स्वतत्र ग्रथ मान लिया गया था।

(१२) रामचरितमानस—(रामचरित्र का सरोवर) तुलसीकृत रामायण के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। कवि की सर्वश्रेष्ठ कृति यही ग्रथ है और समय के अनुसार यही पहला ग्रंथ है जो सन् १५७४ ई० मे जब कवि की अवस्था ४३ वर्ष की थी, आरंभ हुआ था। इसी पर कवि की ख्याति निर्भर है। इसे नौ करोड़ मनुष्यो की बाइबिल कहते है। और वस्तुतः उत्तरीय भारत के प्रत्येक हिंदू को

जितना इसका ज्ञान है, उतना मध्यकक्षा के अंग्रेज किसान को वाइबिल का भी नही है। भारत का एक भी हिंदू राजा या कुटीनिवासी ऐसा न होगा जो इसके प्रचलित दोहो को न जानता हो या जिसकी बातचीत मे इसका रग न हो। भारतीय मुसलमानो की भाषा मे इसकी उपमाएँ घुस गई है और उनके बहुत से मामूली मुहावरो का, यद्यपि वे यह नही जानते, पहले पहले इसी ग्रथ मे प्रयोग हुआ है।

परमेश्वर के अवतार रूप मे रामचद्र का चरित्र इस ग्रंथ मे वर्णित है। इसका विषय वही है जो वाल्मीकि के प्रसिद्ध सस्कृत रामायण का है। पर तुलसीदास का ग्रथ उसका किसी प्रकार अनुवाद नही है। उसी घटना पर नई कथा रची गई है। पर घटनाओ के वर्णन तथा महत्व के विवरणो मे भिन्नता है[1]। ग्रथकर्ता स्वय लखते है कि उन्होने यह चरित्र अनेक ग्रथो से लिया है। उनमे से वाल्मीकि की कृति को छोडकर मुख्य ग्रथ अध्यात्म रामायण (ब्रह्माड पुराण का एक खड), भुशुडि रामायण, वशिष्ठ सहिता और जयदेवकृत प्रसन्नराघव है।

इस काव्य के प्रति भारत की श्रद्धा दिखलाने को एक कथानक यहाँ उद्धृत किया जाता है। रामचद्र ने वाल्मीकि के ग्रथ पर प्रसन्नता दिखलाने को हस्ताक्षर किए। इसपर हनुमान जी एक शिला पर नख से दूसरी रामायणा लिखकर रामजी के पास ले गए, उन्होने इसे भी पसंद किया, पर कहा कि हम वाल्मीकि की रामायण पर हस्ताक्षर कर चुके है, इसलिये दूसरी पर नही कर सकते। और अब उन्हे अपनी कृति कवि को दिखलानी चाहिए। उन्होने ऐसा ही किया। वाल्मीकि जी ने जब यह देखा कि यह ग्रथ हमारी रचना को दबा लेगा, तब उन्होंने ऐसा चक्र रचा कि हनुमान जी को उसे समुद्र मे फेक देना पड़ा, हनुमान जी ने ऐसा करते समय भविष्यवाणी की कि भविष्य मे तुलसी नामक ब्राह्मण को हम अपनी शक्ति देंगे जिसमे वह हमारी रामायण को उस समय के मनुष्यों की भाषा मे कहेगा और वाल्मीकि के ग्रथ की ख्याति नष्ट करेगा।

निस्सदेह इसकी प्रसिद्धि उचित है। रामचरितमानस बड़े ग्रंथो मे से है। इसमे दोष भी है और इसकी घटनाएँ यूरोपियन विचारो के प्रतिकूल भी है। तिसपर भी कोई पढने पर उसके उच्च काव्य गुणो पर विना मोहित हुए नही रह सकता। भिन्न भिन्न पात्र ऐसी विशुद्धता से वर्णित किए गए है कि वे वीर काल के स्वभावानुकूल जीवित से और चलते फिरते है। शैली भी बड़ी सुदरता से बदली गई है। यदि रामजी का माता से विदा लेने का वर्णन हृदयद्रावक है, तो युद्धस्थल की भीषणता का कठोर तथा कर्णकटु भाषा मे वर्णन है। किसी किसी अवसर

(१) जैसे लंका के बाहर की बड़ी लड़ाई का वर्णन है।

पर ये वर्णन सूत्रवत् छोटे-छोटे सजीव वाक्यो मे है, जिनमे उपमा आदि पिष्टपेषित न होकर प्रकृति से ही ली हुई है और शुद्ध काव्य रूपी प्राणदान देनेवाली वायु द्वारा संचरित है। जो भाव हम लोगो के लिये अत्यत निर्बल है, वही हिदुओ के लिये सबसे अधिक सबल है--अर्थात् नायक का चरित्रचित्रण कवि। के लिये रामचद्र पूर्ण ईश्वर के अवतार होने के कारण अवश्य ही निर्दोष नायक रखे गए है। जहाँ प्राचीन कथाएँ उनका वीरो के अनुपयुक्त कार्य करना बतलाती हैं, वहाँ तुलसीदास उसे गुण बतलाते है और कर्म के फल के अनुसार विचार करते है। निकृष्ट कपटाचरण की, जैसा कि विभीषण ने अपने भाइयो से किया था, इसलिये उन्होने प्रशसा की है कि नायक ने उस कपटी को शरण दी थी और पुरस्कृत किया था। पर यह उस कथा के एक सबध मे और कवि की राय मे दैवी भावना के कारण है। मानुषिक पात्र हमारे विचार से अधिक सहृदय है। इनमे क्रोधी, पर स्नेहार्द्रचित्त लक्ष्मण, आदर्श हिंदू स्त्री और माता सीता, सत्यप्रिय, प्रेमी तथा आदर्श भक्त भरत और राक्षसराज रावण है, जिसके भाग्य मे विफलता लिखी थी, पर जो अपने कुल के पैशाचिक बल से भाग्य के विरुद्ध लड रहा था।

ग्रथ की अत्युज्ज्वल बातो मे से एक लेखक की निरीक्षण शक्ति है। अन्य (देशीय) साहित्यो से अधिक भारतीय कविता की कुछ निश्चित उपमाएँ है--कमल, कुमुदिनी, भ्रमर, चद्र आदि। सस्कृत के अत्युत्तम ग्रंथो से भी बहुधा यही प्रकट होता है कि वे गृह के भीतर ही के अधिकतर कवि है, न कि बाह्य ससार के। तुलसीदास ने भी उन प्राचीन उपमाओ का उपयोग किया है और यदि वे छोड देते तो भारतीय न कहलाते। पर उनकी निज की उपमाएँ भी सहस्रो है। छोटी उक्तियो, वाक्य विन्यास और उपयुक्त कहावतो से ज्ञात होता है कि इन्होने ससार का स्वय निरीक्षण और मनन किया था।

उन्हे केवल साधु समझना भूल है। यह वह मनुष्य थे, जिन्होने जीवन-यात्रा की थी। यह गृहस्थ हो चुके थे। यह शब्द भारतीयो मे बहुव्यापी अर्थ मे लिया जाता है। इन्होने विवाहित अवस्था का सुख, छोटे से पुत्र के प्रेमालिगन का माधुर्य तथा अवस्था प्राप्त होने के पहले उसकी मृत्यु का दुख भी उठाया था। इन्होने विद्वानो के लिये नही पर अपने सभी स्वदेशवासियो के लिये लिखा है, जिन्हे वे जानते थे। ये उनमे रह चुके थे, उनसे भिक्षा ली थी, उनके साथ प्रार्थना की थी, उनके सुख और दुख के साथी हुए थे। दूसरी ओर ये सम्राट् के बड़े बड़े सामतों से मित्रता रखते थे। इनकी रचना मे इन सबकी झलक दिखलाई पड़ती है।

भारत के अन्य प्रसिद्ध लेखको के ग्रंथों के समान इनके ग्रंथों की भी दुर्दशा हुई है। अनुयायियों ने कविताएँ लिखकर इनका नाम रख दिया और इनके

ग्रथों मे बहुत से क्षेपक मिला दिए गए । इन्हें टीकाकारों की कृपा से भी कष्ट मिला है, जिनमे से बहुतो ने इनके सीधे सादे पदो मे गूढ अर्थ खोज निकालने का व्यर्थ परिश्रम किया है, पर जो चालाकी से सच्ची कठिनाइयो को छोड गए है। अत मे इस ग्रथ का सस्कृत अनुवाद भी निकल गया और कुछ ऐसे समालोचक भी मिल गए जो अनुवाद को मूल कहने लगे। किसी किसी की समझ मे तो 'राम चरित मानस' दूसरे की कविता की निर्लज्जतापूर्ण चोरी के सिवा कुछ नही है ।

धार्मिक विचार

भारत के इतिहास मे कवि के धार्मिक विचार बहुत महत्व के है । ये गुरु रामानद की सातवी गद्दी के समय मे थे। ये शुद्ध वैष्णव और भक्तिमार्ग के अनुयायी थे। इनकी शिक्षा थी कि केवल एक परमेश्वर है और मनुष्य स्वभाव ही से पापो तथा मुक्ति के योग्य नही है । तिस पर भी ईश्वर ने अपनी अपरिमित दया के वश होकर उसे पाप से बचाने को पृथ्वी पर रामचद्र के रूप मे अवतार धारण किया । राम स्वर्ग को लौट गए । वे ईश्वर होने के साथ ही राम भी है जिससे वहां अब एक ऐसा ईश्वर है जो असीम दयालु ही नही है वरन् जिसने निज के अनुभव से मनुष्यो की निर्बलताओ तथा प्रलोभनो को जान लिया है । यद्यपि वे स्वय पाप से परे है पर पापियो की पुकार पर सदा शरण देने को तैयार रहते है । साथ ही मनुष्य के लिये विश्वभ्रातृत्व का उपदेश भी है । यह वह धर्म है जिसका अपने पडोसी के प्रति प्रत्येक मनुष्य दायी है । इनकी पाप की परिभाषा यह है कि जो कुछ राम की इच्छा के विरुद्ध है, वही पाप है । यह मान लेने पर तथा उससे बचाने की राम की शक्ति पर ही पूर्ण प्रेम के साथ भक्ति रखने पर मनुष्य इस जन्म परपरा से मुक्त हो सकता है । ईश्वर के पितृत्व तथा भक्ति की आवश्यकता का उपदेश बहुत दिनो से ज्ञात है । उत्तरी भारत मे रामानद इसके प्रधान प्रचारक थे । तुलसीदास ने कोई नई बात नही निकाली । उनके उपदेश सफल हुए, यही इनके लिये विचार्य है। इनके पवित्र जीवन तथा कविता की आकर्षण शक्ति ने भक्ति मार्ग के लिये वह काम किया है जो सैकड़ो अन्य गुरुओ की वक्तृत्वशक्ति ने नही किया था । ये स्मार्त वैष्णव थे, यह नही भूलना चाहिए । न ये किसी नए मत को मानते थे और न इन्होने कोई नया मत ही चलाया । ये केवल हिंदू थे और हिंदू कथाओ को मानते थे । राम की ईश्वर रूप मे उपासना करते हुए भी ये शिव आदि अन्य देवताओ को पूजते थे । इनका उनकी ओर वही भाव था जो ईसाई गिरजे की किसी शाखा मे सरकारी शिक्षा का है। राम को परब्रह्म, शिव को उनका भक्तश्रेष्ठ तथा दूसरे देवताओ को उनका दास मानकर ये पूजन करते थे ।

कवि के 'माया' शब्द के प्रयोग पर कुछ व्याख्या लिखनी चाहिए। कभी कभी यह इसका ऐसे शब्दो मे उल्लेख करते हैं जिससे यह निरूपित और व्यक्त होता है कि वह ब्रह्म को आत्मा से छिपाती है। यह शिव-उपासक वेदातियो की माया है, जिसके यह कट्टर विरोधी थे। पर इस प्रकार के प्रयोग केवल उपमा आदि मे हुए है और इनके उपदेश के अश नही है। यह प्रयोग उनके शिवपूजन का फल हो, पर अन्य स्थानो मे इन्होने इस शब्द के दो अर्थ लिए है। एक तो जादू का जिसका राक्षसो ने राम की सेना से युद्ध करने मे प्रयोग किया था और दूसरा ब्रह्म और मोहिनी शक्ति का समिलन है[1]। सशरीर शक्ति ईश्वर के अधीन तथा एक प्रकार से उन्ही से प्रेरित है। इसी अतिम योग्यता से वह सारे संसार को नचाती है, पर उसी ईश्वर के भ्रूभग से वह स्वय नटी के समान नाचने लगती है। वह अपने भुलावे मे लाकर सभी को, देवताओ को भी, मूर्ख बनाती है। जब कोई तपस्वी पुरुष घमड करता है, तब ईश्वर उसे बहकाने का उसे भेजते है[2]। वह सशरीर तथा सासारिक मायाविनी होकर मनुष्यो से पाप कराती है। पर जिसमे सच्ची भक्ति है वह उसके लिये अभेद्य है। वह उसके पास जा नही सकती।[3]

तुलसीदास ने यह भी शिक्षा दी है कि ईश्वर शरीरधारी है। उपनिषद् के निर्गुण ब्रह्म को मानते हुए जो सभी गुणो से हीन है तथा जिसके बारे मे केवल यही कहा जा सकता है कि वह "यह नही है, वह नही है" इन्होने यही निश्चय किया कि ऐसे पुरुष का विचार मनुष्यो के मस्तिष्क की शक्ति के बाहर है और केवल उसी ईश्वर का पूजन किया जा सकता है जो निर्गुण से सगुण हो गया हो।[4]

तुलसीदास के धार्मिक विचारो का सर्वसाधारण द्वारा ग्रहण होना उत्तरी भारत के लिये महत्व का विषय है। कवि के समय मे सर्वसाधारण के दो धर्म थे। एक तो ग्रामीण देवताओ के पूजन की कुप्रथा और दूसरा कृष्णपूजन। पहला यद्यपि वर्तमान है, पर तुलसीदास के धर्म के अधीन है और उसके आगे दब गया है। अशिक्षित मनुष्यो पर कृष्णपूजन का क्या प्रभाव पड़ता है, यह बगाल के धार्मिक दुर्भाग्य से ज्ञात है। यह अंतत शक्तिपूजन हो जाता है और इसके ग्रथो मे कृष्ण के गोपियो के साथ शृंगारिक ससर्ग का वर्णन है। और बाते लुप्त हो गई और शक्ति प्रथा की अवर्णनीय बुराइयाँ उत्पन्न हो गईं। तुलसीदास ने उत्तरी भारत को इससे बचा लिया।

(इनसाइक्लोपीडिया आफ एथिक्स एंड रिलिजन से अनूदित)

❀

(१) देखिए राम० ७ काड, ७० दोहा।

(२) जैसे देवर्षि नारद का वृत्तात, राम० १ का०, १२८ दोहा।

(३) राम० ७ का, ११६ दो०।

(४) राम० ७ का०, १३ दो०।

गोसाईं तुलसीदास का जीवन-चरित

रेवरेंड एड्विन ग्रीव्स

(१) जीवन वृत्तांत

किसी ने कहा है—

तुलसी रवि सूरज ससी उडगन केशवदास ।
अबके कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकाश ॥

सूरदास और केशवदास से इस समय हमारा कुछ काम नही है और आज कल के कवियो को हम क्यो जुगनूँ ठहरावे पर निस्सदेह श्री तुलसीदास कवि रूपी नक्षत्रों मे सूर्य के समान है । जब लो रामायण उपस्थित रहेगा, तब लो तुलसीदास विराजमान रहेंगे । पर यह सूर्य कहाँ उदय हुआ और उसकी गति कैसी हुई, इन बातों का निर्णय करना कुछ कठिन दीख पड़ता है ।

अपने भक्तमाल मे नाभाजी ने तुलसीदास का नाम तो लिख दिया सही, पर उनके जीवन चरित का तनिक भी वर्णन नही किया है । केवल उनकी प्रशंसा करते हुए इतना कहा है—

कलि कुटिल जीव निस्तार हित, बालमीकि तुलसी भयो ॥

त्रेता काव्य निबध करी सत कोटि रमायन ।
इक अच्छर उच्चरे ब्रह्महत्यादि परायन ॥
अब भक्तनि सुख दैन बहुरि वपु लीलाधारी ।
राम-चरन रसमत्त रहत अहनिस व्रतधारी ॥
संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लियो ।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीकि तुलसी भयो ॥

भक्तमाल की प्रियादास रचित टीका मे कई एक कथाएँ और सुनी-सुनाई बातें लिखी गई है, पर गुसाईं के माता-पिता कौन थे, तुलसीदास कहाँ उत्पन्न हुए, उनका लड़कपन कहाँ और कैसे कटा, इन बातो की चर्चा ही नही, कदाचित् इस कारण से कि प्रियादास नही जानते थे । स्मरण रखना चाहिए कि गोस्वामी के देहांत होने के उपरात लगभग एक सौ बरस बीत जाने पर प्रियादास ने अपनी टीका लिखी और

वह वृंदावन के रहनेवाले होके तुलसीदास के जीवन चरित्र से क्यो कर जानकर होवैं ?

एक बेनीमाधव दास कृत तुलसीदास के जीवन चरित्र की चर्चा है और शिव सिंह ने उसकी बहुत प्रशंसा की है। पर शोक की बात है कि आजकल उस जीवन-चरित्र का कही पता नही लगता।

खड्गविलास प्रेस के छपे हुए रामायण की भूमिका मे एक बैजनाथ दास रचित गुसाईं का जीवन-चरित्र छपा है। विस्तारपूर्वक वह लिखा गया पर विशेष करके केवल उन बातो का बढाव है जो और पुस्तको मे मिलती है।

जिन पुस्तको से मैने अधिक सहायता ली, सो ये है—

(१) डाक्टर ग्रियर्सन साहिब रचित The Modern Vernacular Literature of Hindustan

(२) मिस्टर ग्रौव्स साहिब रचित जीवन-चरित्र जो रामायण के अंग्रेजी उल्था की भूमिका मे है।

(३) जीवन चरित्र जो हिंदी शिक्षावली के पचम भाग मे छपा है।

(४) पंडित महादेव प्रसाद लिखित 'भक्ति विलास'।

तुलसीदास का जन्म सन् ई० १५५० के लगभग हुआ होगा। रामायण मे गुसाईं ने कहा है कि—

संमत सोरह सैं इकतीसा। करौ कथा हरिपद धरि सीसा॥
नौमी भौमवार मधुमासा। अवध पुरी यह चरित प्रकासा॥

और एक दोहा प्रचलित है—

सम्वत सोरह सै असी असी गग के तीर।
सावन सुकला सत्तमी तुलसी तज्यो शरीर॥

इन बातो के साथ इस पर विचार कीजिए कि गुसाईं जी का दीर्घायु होने पर देहात हुआ, तो अनुमान होता है कि अटकल से स्वामी का जन्म सवत् १६००–१६१० के मध्य मे अर्थात् सन् १५४५–१५५५ ई० के बीच मे हुआ होगा।

पर जन्म कहाँ हुआ ? कुछ लोग बतलाते है कि राजापुर उनकी जन्मभूमि है। पर इस बात के विरुद्ध और लोग कहते है कि नही, उनका जन्म वहाँ नही हुआ। पर गुसाईं ने वहाँ एक मंदिर बनवाया या गाँव बसाया। फिर हस्तिनापुर उनकी जन्मभूमि बतलाई गई और हाजीपुर भी (जो चित्रकूट के निकट है), पर इन बातो का कुछ प्रमाण नही है। फिर औरो ने कहा है कि वे 'ताड़ी' मे जन्मे, पर दूसरे

लोग कहते है कि नही। उनके माता पिता वहाँ रहते थे; पर यह तुलसीदास के उत्पन्न होने के पहले था। इन सब बातों से अनुमान होता है कि अब लो ठीक ठीक निर्णय नही हुआ कि तुलसीदास का जन्म कहाँ हुआ।

सब लोगो की सम्मति इसमे मिलती है कि तुलसीदास ब्राह्मण थे। कुछ लोग बतलाते है कि दूबे थे। दूसरे लोग कहते है कि सरवरिया या कान्यकुब्ज थे।

उनके पिता का नाम आत्माराम, माता का हुलसी, श्वशुर का दीनबंधु पाठक, स्त्री का रत्नावली और लडके का तारक बतलाया जाता है। यह भी कहा जाता है कि तुलसीदास का नाम पहले रामबोला था, पर उनके गुरु ने नाम बदल के तुलसी रखा। पर इन सब बातो का कोई दृढ प्रमाण नही है। जहाँ ठीक इतिहास न मिले वहाँ कभी अनुमान और जनमत काम मे लिए जाते है और जो बाते इस रीति से उत्पन्न हुई, कुछ दिन के उपरात इतिहासिक गिनी जाती है।

लडकपन मे तुलसीदास अपने गुरु के पास सूकरखेत मे (पुराना नाम उकलक्षेत्र और आजकल सोरों कहलाता है) रहते थे और रामायण की कथा सुनते थे। वह आप कहते है--

मै पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकरखेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत ॥
श्रोता बकता ज्ञाननिधि कथा राम की गूढ।
किमि समुझै यह जीव जड कलिमल ग्रसित विमूढ ॥
तदपि कही गुरु बारहि बारा।
समुझि परी कछु मति अनुसारा।

धन्य गुरुजी आपने 'बारहि बारा' कहते हुए अच्छी रीति से पढाया और धन्य चेला आपने अच्छी रीति से पढा।

कहा जाता है कि गुरु का नाम नरहरिदास था पर यह सभव है कि यह बात केवल अनुमान से निकाली गई है उस सोरठे से जिसमें तुलसीदास ने लिखा है कि—

बंदौ गुरपदकंज कृपासिंधु नर रूप हरि।
महा मोह तम पुज जासु बचन रविकर निकर ॥

यह गुरु का नाम हो सकता है या यह सम्भव है कि ऐसी बातें उनकी स्तुति के वर्णन मे लिखी गई हो।

इस गुरु के विषय मे यह कथा प्रचलित है कि तुलसीदास का जन्म मूल नक्षत्र के पहिले चरण में हुआ था और इस कारण से एक शास्त्रीय रीति के

अनुसार पिता ने अपने लडके को त्याग दिया और तभी साधु अर्थात् नरहरिदास की शरण मे होके यह बालक पाला पोसा गया। परंतु इस बात का प्रमाण कहाँ है! विनय पत्रिका मे (२२७) तो लिखा है कि—

नाम राम रावरो हित मेरे।
स्वारथ परमारथ साथिन सों भुज उठाइ कहौं टेरे।
जननि जनक तज्यो जनमि करम बिनु बिधि सिरज्यो अवडेरे।

पर इस एक पद पर इतनी लबी चौडी कथा उठानी उचित नही है। तुलसीदास के लडकपन के बारे मे पडित महादेवप्रसाद यो लिखते हैं—

हरि गन सुनत परम सुख पावैं। गुरुपद पकज सीस नवावैं॥
इहि बिधि कछुक काल गुरु पाए। मातु पिता परलोक सिधाए॥
तिनके कर्म कीन्ह सब भाती। मन मे सोच करत दिन राती॥
तहँ गुरु कहि पुनि कथा पुरानी। नरहरिदास मनोहर बानी॥
सुनु तुलसी अब सोच बिहाई। सबके मातु पिता रघुराई॥
सो तुम मानहुँ विप्रवर राजापुर को जाहु।
चेतहु मेरे बचन अब करहु आपनो ब्याहु।
यह सुनि तुरत चले ननियावर। पहुँचे गेह भरे सबचांवर।
पूछी कुसल कही तिन पाँही। हर्ष विखाद भयो मन माही।
पुनि सुदर कुल देख बरावा। मातुल ने तिहि ब्याहु करावा।
करहि रमन गुरु ज्ञान भुलाना। पत्नी सहित परम सुख माना।

पर फिर पूछना पडता है कि इन सब बातो का प्रमाण कहाँ है? कोई ऐसी प्राचीन पुस्तक तो प्रसिद्ध नही है कि जिसमे ऐसी ऐसी बातें लिखी हैं। मालूम होता है कि ऐसी कथाएँ तीन रीति से प्रचलित हो जाती हैं—

(१) सुनी सुनाई बातो से, जिनका कुछ ठिकाना नही,

(२) किसी न किसी पद पर सोच विचार करके अनुमान करने से; पर एक ईट पर घर उठाना जोखिम काम है,

(३) मनमता से।

पुराने पुस्तक के न मिलने पर किसी पुरानी बात का निर्णय करना बहुत कठिन है, कदाचित् असभव है।

तुलसीदास की स्त्री के विषय मे प्रियादास की टीका मे कुछ वर्णन है। तुलसीदास अपनी स्त्री से सुमग्न रहे। एक समय पत्नी बिना आज्ञा लिये नहियर चली गई। स्वामी उसके पीछे हो लिए। स्त्री ने क्रुद्ध होके उनसे कहा—

मुझसे नही पर राम मे सुमग्न होना चाहिए। तुलसीदास ने उसकी बात मान ली और काशी आकर राम की सेवा मे लीलीन हुए।

प्रियादास की टीका मे लिखा है--

तिया सो सनेह बिन पूछे पिता गेह गई
भूली सुधि देह भजे वाहि ठौर आए है।
बधू अति लाज भई रिसि सो निकसि गई
प्रीति राम नई तन हाड चाम छाए है।
सुनी जब बात मानो होय गयो प्रात वह
पाछे पछितात तजि कासीपुरी धाए है।
कियो तहाँ बास प्रभु सेवा लै प्रकास कीनो
कीनो दृढ भाव नैन रूप के तिसाए है॥

औरो ने इतनी बात लेके इसको बढाया है और बतलाते है कि जब तुलसीदास चले गए तब पत्नी पछताने लगी और उनको बुलाया, पर वह न लौटे। तब स्त्री ने चाहा कि स्वामी के साथ चलै। फिर कहा जाता है कि बुढापे मे तुलसीदास बेजाने अपने गाँव मे गए, स्त्री ने उनको पहिचाना, इत्यादि।

गुसाईं ने अवधपुरी मे (अर्थात् अयोध्या मे) रामायण को या तो समाप्त किया अथवा वहाँ उसे आरम्भ किया तो इससे निश्चय है कि वहाँ कुछ दिन लो वह वास करते थे। पर इस बात मे सदेह नही कि बनारस मे उनका विशेष निवास था। अब लो तुलसीदास का मठ गगा के तीर अस्सी घाट के निकट दिखाई पड़ता है और वहाँ की एक कोठड़ी मे खड़ाऊँ, गद्दी, चँवर इत्यादि रखे है। देखने मे तो कुछ नए मालूम होते है, पर मठ के लोग कहते है कि वे स्वामी ही के है।

अयोध्या और काशी को छोड़के निश्चय है कि स्वामी जी तीर्थ करते हुए और और तीर्थ स्थानो मे गए होगे। इनके जीवन चरित्रो मे प्रयाग, वृदावन, चित्रकूट प्रभृति स्थानो मे इनके जाने की कथा है। यह भी कहा जाता है कि एक समय तुलसीदास वृदावन गए और वहाँ नाभा जी से भेंट हुई। नाभा जी ने उनका बहुत आदर किया और कहा कि अब भक्तो की माला के लिये मुझे सुमेरु मिल गया।

प्रियादास की टीका में बहुत सी और कथाएँ है, पर उनका वर्णन मैं नही करता हूँ। वे तो हरि के विश्वासियो के लिये है; मुझ सरीखो को उनमे विश्वास नही है। उनमे लिखा है कि गुसाईं ने हनुमान से भेट की, राम लक्ष्मण का दर्शन पाया और एक मरे हुए ब्राह्मण को जिलाया तथा दूसरे मनुष्य को जो हत्यारा था, मोक्ष दिया और एक समय कृष्ण का दर्शन भी पाया। भूलना न चाहिए कि ये सब कथाएँ स्वामी के मरने के बहुत बरस उपरात लिखी गई। एक कथा से मैं प्रसन्न होता हूँ इस कारण से कि कथा कैसी ही क्यो न हो, तो भी शिक्षा से

भरी हुई है। लिखा है कि एक चोर चोरी करने गुसाईं के घर गया। चोर ने देखा कि वहाँ एक मनुष्य रात भर पहरा दे रहा है। प्रात काल तुलसीदास के पास जाके उसने पूछा कि वह कौन श्याम किशोर आपके यहाँ चौकी देता है। यह बात—

सुनि करि मौन रहे आँसू डारि दिए हैं।

तुलसीदास को बोध हुआ और उन्होंने समझ लिया कि रघुनाथ ने रात भर मेरे लिये चौकी दी; और यह जानके कि धन सपत्ति बटोरने से मैंने स्वामी को इतना दुख दिया कि वह रात भर पहरा देवे; उन्होंने अपना सब कुछ कगालो को बाँट दिया। यह बात अर्थात् कि ईश्वर अपने लोगो की रक्षा करते है सोच विचार करने के योग्य है। हम मसीही लोग मान लेते हैं कि परमेश्वर बिना रूप धारण किए रात और दिन अपने लोगो की रखवाली किया करते है। हमारे धर्मशास्त्र मे लिखा—

जो स्वर्ग और पृथ्वी का कर्त्ता है।
वह तेरे पाँव को टलने न देवे।
तेरा रक्षक कभी न ऊँघे॥
देख इस्राएल का रक्षक
न ऊँघेगा न सो जावेगा॥
यहोवा तेरा रक्षक है।
यहोवा तेरी दहिनी ओर तेरी छाया ठहरा है।
न तो दिन को धूप से
और न रात को चाँदनी से तेरी कुछ हानि होवेगी॥
यहोवा सारी विपत्ति से तेरी रक्षा करेगा।
वह तेरे प्राण की रक्षा करेगा॥
यहोवा तेरे भीतर बाहर आने जाने मे।
तेरी रक्षा अब से ले सर्वदा लो करता रहेगा।"

प्रियादास की टीका मे एक और कथा है जो विचार करने के योग्य है। लिखा है कि देहली के बादशाह ने तुलसीदास की कीर्ति सुनके उनको देहली मे बुलाया। जब ये वहाँ गए तो बादशाह ने कहा—

कीजै करामाति जगख्याति सब मात किए (अर्थात् कोई आश्चर्य दिखलाइए; क्योकि संसार मे यह बाद फैल गई है कि आपने सब कुछ अपने अधीन कर रखा है) तुलसीदास ने उत्तर दिया—

कही झूठ बात एक राम पहिचानिए।

धन्य धन्य गुसाईं जी ! आपने अच्छा कहा ! बादशाह अपने धर्म का अपमान करके और चिकनी चुपडी बातें बना के समझाते है कि मनुष्य की झूठी प्रशंसा मत कर पर एक ही परमेश्वर को पहिचान।

इन सब बातो के द्वारा तुलसीदास का पूरा जीवन चरित्र नही निकलता है ; पर इनसे और गुसाईं की लिखित पुस्तको से कुछ न कुछ मालूम होता है कि वह किस स्वभाव और ढग के मनुष्य थे ।

उनमे श्रेष्ठ गुण तो भक्ति था । दूसरो की समझ मे रामचद्र जो हो सो हो, पर तुलसीदास ने उनको अपना सर्वस्व जाना । उनकी प्रशंसा करते हुए वे हर्षित हो जाते थे और उनके गुण गाने मे सुमग्न रहते हुए कभी थकित नही होते थे । सचमुच हिंदू भक्तो में वे प्रधान थे । और आज कल जबकि बहुतो मे विश्वास केवल नाम मात्र को रह गया है तुलसीदास की भक्ति पर विचार करना लाभदायक होगा ।

गुसाईं मे एक और उत्तम गुण है जो सब कवियो मे नही पाया जाता । वे अपनी चतुराई दिखलाने के अभिप्राय से नहीं लिखते थे, पर पढ़नें वालों के लिये, और इस कारण से सरल भाषा काम मे लाके इस रीति से लिखते थे कि सब लोग समझ सके ।

रामायण मे लिखा है—

कबित-रसिक न राम-पद नेहू ।
तिन कहँ सुखद हासरस एहू ॥
भाषा भनिति भोरि मति मोरी ।
हँसिबे जोग हँसे नहि खोरी ॥
प्रभु पद प्रीति न सामुझि नीकी ।
तिन्हहिं कथा सुनि लागिहि फीकी ॥
हरिहर पदरति मति न कुतरकी ।
तिन्ह कहँ मधुर कथा रघुवर की ॥
रामभगति भूषित जिअ जानी ।
सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी ॥
कवि न होउँ नहि बचन प्रबीनू ।
सकल कला सब विद्या-हीनू ॥
आखर अरथ अलंकृति नाना ।
छंद प्रबंध अनेक बिधाना ॥
भावभेद रसभेद अपारा ।
कवित दोष गुन बिबिध प्रकारा ॥

कवित विवेक एक नहिं मोरे ।
सत्य कहौं लिखि कागद कोरे ॥
भनिति मोरि सब गुन रहित, बिस्व विदित गुन एक ।
सो विचारि सुनिहहिं सुमति, जिन्हके बिमल बिबेक ॥

फिर —

भनिति भदेस वस्तु भलि बरनी ।
राम-कथा जग मंगल करनी ॥

यदि कहा जाय कि ऐसा लिखना तो केवल कवियों की बनावट है, तो मान लिया जाएगा कि गुसाईं अवश्य जानते थे कि मैं निरा मूर्ख नहीं हूँ । तौभी विद्यावान होके उन्होंने जान बूझ के कविता के उस ढंग को स्वीकार किया जो घमंडी विद्यावानों की दृष्टि में हेच गिना जायगा, पर साधारण लोगों के लिये समझने के योग्य होगा । आजकल रामायण की भाषा इतनी सरला नहीं दिखलाई देती है, पर स्मरण रखना चाहिए कि जो पुस्तक तीन सौ बरस से लिखे हुए होते हैं अवश्य उनकी भाषा कुछ कठिन मालूम पड़ेगी ।

तुलसीदास के लेख में एक और गुण है जो बहुत प्रशंसनीय है । वह लंपटता रहित है और गुसाईं जी स्वच्छता और जितेंद्रियता और ऐसे अच्छे गुणों की स्तुति और प्रतिष्ठा किया करते थे ।

उन्होंने रामायण में लिखा है—

अति खल जे बिषई बक कागा ।
एहि सर निकट न जाहिं अभागा ॥
संबुक भेक सेवार समाना ।
इहाँ न विषय कथा रस नाना ॥
तेहि कारन आवत हिय हारे ।
कामी काक बलाक बिचारे ॥

फिर मालूम होता है कि स्वामी तुलसीदास लालची होके दोहे चौपाई के व्यापारी नहीं हुए । बहुत कवि राजाओं की ड्योढ़ी पर अपनी गद्दी बिछा के अपने प्रतिपालकों का झूठा गुणानुवाद झनझनाते हुए सुख आनंद में अपना जीवन व्यतीत करते हैं । पर तुलसीदास ऐसे नहीं थे । वे किसी राजा वा धनी के अवलंबी न रहे, पर अपनी झोपड़ी में बैठ के राजा राम की सेवा में छंद बनाते हुए अपने दिनों को काटते थे ।

(२) तुलसीदास लिखित पुस्तक

किसी के जीवन चरित्र में क्या क्या बातें लिखी जाती हैं ? क्या वह नहीं कि वे कैसे थे और उन्होंने क्या किया ? यदि यह बात सच हो तो हमको

समझना चाहिए कि जो जो ग्रंथ तुलसीदास ने लिखे, वही उनका जीवन-चरित्र है। पर कौन कौन पुस्तक उन्होने लिखे, इस बात का निर्णय करना सहज नही है और विशेष करके मेरी सामर्थ्य से तो यह बात बाहर है कि बीस पुस्तको से अधिक की चर्चा है अर्थात्--

पुस्तकों की नामावली

(१) चौपाई रामायण या रामचरितमानस
(२) कवित्त रामायण वा कवितावली
(३) गीतावली
(४) दोहावली
(५) बरवै रामायण
(६) राम सतसई
(७) विनय पत्रिका
(८) रामाक्ष या श्री रामाज्ञा या रामसगुनावली
(९) रामलला नहछू
(१०) वैराग्य सदीपिनी
(११) जानकी मंगल या श्री जानकी स्वयंवर-मंगल
(१२) पार्वती मगल या शिव पार्वती-मंगल
(१३) कृष्ण गीतावली
(१४) सकट मोचन
(१५) हनुमत बाहुक या हनुमान बाहुक
(१६) राम सलाका
(१७) छदावली
(१८) छप्पय रामायण
(१९) कडका छद या कड़का रामायण
(२०) रोला छद या रोला रामायण
(२१) झूलना छद या झूलना रामायण
(२२) कुडलिया रामायण

इनमे से चंद ऐसे है जो नाम मात्र हैं। उनका शिवसिंह सरोज में उल्लेख है पर आज कल कही नही मिलते। यह बात सभव है कि किसी किसी पुस्तक के लिये दो नाम प्रचलित हो गए हो और इस कारण से कभी इतने पुस्तक नही थे जितने कि शिवसिंह की नामावली मे है।

एक और बात भी स्मरण रखनी चाहिए। ऐसा हो सकता है कि और किसी कवि तुलसीदास के बनाए हुए पुस्तक कुछ दिन लों प्रचलित थे; अब नाम

तो रह गए, पुस्तक खो गए । और यह बात कुछ असंभव नही है कि उन पुस्तको मे से जो अब तक उपस्थित है कई एक दूसरे किसी कवि के रचित होगे काशीवासी प्रशसनीय कवि तुलसीदास के न हो । एक "कविमाला" नामक पुस्तक की चर्चा है जो किसी तुलसी का बनाया था और आजकल किसी तुलसी साहब के भजन छप रहे है। निश्चय है कि एक तुलमी नही पर अनेक तुलसी ने कविता बनाने मे अपने हाथ डाल दिए होंगे। डाक्टर ग्रियर्सन साहिब कृष्णावली के बारे में लिखते है कि मैं समझता हूँ कि यह पुस्तक ऊपर वर्णन किए गए तुलसीदास का बनाया न होगा ।

अधिक पुस्तक का वर्णन डाक्टर ग्रियर्सन साहिब ने संक्षेप में अपने The Mo'ern Vernacular Literature of Hindustan मैं लिख दिया है। रामायण (चौपाई का) छोड के तुलसीदास की सब पुस्तको मे से श्रेष्ठ पुस्तक 'विनय पत्रिका' है जिसमे २७९ स्तुति भजन है।

१८८८ई० मे सरस्वती यन्त्रालय बनारस में तुलसीदास की बारह पुस्तकें छप गई थी (नामावली के १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३,)

(३) तुलसीदासकृत रामायण

गुसाईं जी की सबसे कीर्तिमान कविता 'रामायण' है इस नाम से वह विख्यात हुआ है, पर तुलमीदास ने उसका दूसरा नाम रखा अर्थात् "रामचरित मानस"। बालकाड मे लिखा है—

रामचरित मानस एहि नामा। सुनत श्रवन पाइअ विश्रामा ॥

और कवि ने बहुत परिष्कार से बतलाया है कि यह नाम "मानस" कैसा उचित है। चार सवाद जो है सो इस मानस के चार घाट है । सात काड सो सोपान है, राम और सीता का यश इस मानस का सलिल-सुधा है। चारो ओर की संतसभा अर्थात् सुनने वाले अँवराई है; और उनकी श्रद्धा वसंत ऋतु के समान है इत्यादि।

न केवल परदेशियो मे, कभी-कभी हिंदुओ मे भी यह बात समझी जाती है कि यह रामचरित मानस वाल्मीकिकृत रामायण का उल्था है पर यह बात ठीक नही है। दोनो मे तो सात-सात काड है और दोनो मे एक ही कथा है जो न वाल्मीकि की न तुलसीदास की बनाई है, पर बहुत दिनो से प्रचलित है। इस कथा को लेकर तुलसीदास ने अपनी ही रीति पर इसका वर्णन किया और वह रीति निसदेह अपूर्व है। तुलसीदास के अगणित अनुकारी हुए है, पर वह किसी के अनुचर नही थे। उनको न उल्था करने वाला, न अनुगामी पर एक सृष्टिकर्ता समझ लिजिए ।

उन्होंने बतलाया है कि किन किन लोगो के द्वारा राम की कथा प्रचलित हो गई और किस रीति से उनके गुरु ने उनको यह कथा बार बार सुनाई। वह कहते हैं—

भाषाबद्ध करबि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई॥
जस कछु बुधि बिबेक बल मेरे। तस कहिहौ हिय हरि के प्रेरे॥

और नम्रतापूर्वक फिर कहते है--

कबि न होउँ नहिं चतुर कहावौ। मति अनुरूप राम गुन गावौ॥

फिर भी--

सरल कवित कीरति बिमल सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बयर बिसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान॥
सो न होइ बिनु बिमल मति मोहिं मतिबल अति थोर।
करहु कृपा हरिजस कहउँ पुनि पुनि करउँ निहोर॥
कबि कोबिद रघुबर चरित मानस मंजु मराल।
बाल विनय सुनि सुरुचि लखि मोपर होहु कृपाल॥

यह बात हमारी समझ मे नही आ सकती है कि तुलसीदास अपनी कुशलता और चतुराई से सर्वथा अज्ञात थे, तौ भी कुछ सरलता से उन्होने ऐसी बाते लिखी होगी। वह अपनी योग्यता का अधिक ध्यान नही करते थे, पर रघुनाथ और उनकी महिमा पर विशेष ध्यान रखते थे। वह अपनी चतुराई नही दिखलाना चाहते थे पर रामचद्र जी का महत्व। बहुत से कवि समझते है कि कथा जो है सो डोरी है जिसमे मेरी कविता के चतुराई रूपी मोती पोए जायँ और प्रकाशमान होवे। पर तुलसीदास ने अच्छी रीति से समझा कि ऐसा नही है; मेरी सफलता वही तो डोरी है और रघुनाथ के गुण ये ही मोती है; डोरी छिपी रहै, मोती विराजमान होवैं।

तुलसीदास का रामायण नाटक के समान है, न केवल अमुक अमुक के विषय मे कुछ न कुछ लिखा है; पर वे कहते, करते और सोच विचार भी करते हुए मानो हमारे सामने ही उपस्थित किए जाते है। हम मानो तुलसीदास की नही किंतु उन्ही की बाते सुनते और उनको देखते है। दशरथ, कैकेयी, मथरा कुबड़ी, राम, सीता, लक्ष्मण, केवट गुह, रावण, भरत इत्यादि यह अन्य पुरुष नही, पर उत्तम पुरुष होकर और नेपथ्य से निकलकर रगभूमि मे आते और वार्तालाप करते है।

यदि यह बात पूछी जाय कि रामायण को किस रस मे गिनना चाहिए, तो यह कहना चाहिए कि कुछ न कुछ नवो मे। तुलसीदास कविता की रीति विधि की अधिक चिंता नही करते थे, तौ भी उन सब विधियो को जो मानने के योग्य है, एक स्वाभाविक रीति से मान लेते थे। अपनी कथा मे गुसाईं सुमग्न भए और जैसे कि गिरगिट का रग उस वृक्ष के समान होता है जिसपर वह चढता है, वैसे ही तुलसीदास का रग ढग कथा के रस से मिल जाता है। लकाकाड मे देख लीजिए जहाँ लड़ाई का वर्णन है--

भए क्रुद्ध जुद्ध विरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे।
कोदंड धुनि अति चंड सुनि मनुजाद भय मारुत ग्रसे।

"कोदंड धुनि अति चंड सुनि" यह पढ़ते ही पढ़नेवाला मानो धुनि को सुन सकता है। फिर बालकांड में—

गरजहिं गज घटा धुनि घोरा।
रथ रव बाजि हिंक (या हिंस) चहुँ ओरा।।

और महादेव की बारात के वर्णन में—

तन छार व्याल कपाल भूषन नगन जटिल भयंकरा।
सँग भूत प्रेत पिसाच जोगिनि विकट मुख रजनीचरा।।

और फिर दशरथ के देहांत के विषय में—

राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम।
तन परिहरि रघुवर विरह राउ गएउ सुरधाम।।

और उस छंद में जिसमे ईश्वर की स्तुति की जाती है कैसी गौरव वृत्ति है—

जय जय सुरनायक जन सुखदायक प्रनतपाल भगवंता।
गो द्विज हितकारी जय असुरारी सिंधुसुता प्रिय कंता।।

कहाँ लौं मैं इस बात का वर्णन करूँ। जैसे मृत्तिका पिंड कुम्हार के बस मे है और वह जो चाहे सो बनावे, वैसे भाषा तुलसीदास के बस मे है और वह जो चाहें सो करें। यह गुसाईं बजनियाँ समझ लीजिए और भाषा सो बाजा है, उसको हाथ मे लेके सब राग बजा सकते हैं।

रामायण तो रस से भरा हुआ है और जहा किसी अच्छे गुणी का वर्णन है, वहाँ तुलसीदास उसके गुणो मे लौलीन और मोहित होकर तथा स्वाद लगते हुए कैसी आश्चर्य की रीति से गुणा का बखान करते है। मैं केवल एक उदाहरण दिखलाता हूँ। जब राम वन मे जाने को प्रस्तुत हुए और सीता को रामुराल में छोड़ना चाहते थे। तो सीता कैसी अधीनता और कैसी चतुराई से विनती करती रही कि वह अपने स्वामी के साथ चले और सीता जयमती हुई। क्यों नहीं। ऐसी पतिव्रता स्त्री अपने नाथ के साथ दुख मे और सुख मे क्यो न रहे? मेरी समझ मे रामायण मे ऐसी सुंदरता और रुचि कही नहीं मिलती जैसी इस बात के विषय मे दिखलाई देती है।

कभी कभी तुलसीदास अपनी स्वाभाविक कुशलता छोडकर सामान्य और नैय-मिक रीति और विधियो में फँस जाते है और "स्वर्ग से सुमन बरसने लगे" और ऐसी ऐसी बाते पढते पढते पढने वाला अघाता और छकाछक हो जाता है।

और कभी गुसाईं जी उपमाओ के वन मे घूमते घूमते गुम हो जाते और बहुत दूर तक निकल जाते है। पर क्या चद्रमा मे भी कलक नही है?

तुलसीदास किस मत को मानते थे? यह तो लबी चौड़ी बात है और इस पत्रिका मे इस बात का वाद विवाद करना उचित नही है। गुसाई जी का अभिप्राय यह नही था, वह किसी विशेष मत का वर्णन करे, पर यह कि वह राम की कथा लिखे। अद्वैतता की शिक्षा हो तो हो, अगुण की चर्चा हो तो हो, पर इन सब बातो को त्यागकर तुलसीदास फिर अपना मन राम की ओर लगा के उनकी स्तुति और प्रशसा करने लगते है। वेदाती मत कहने की बात है, दिन प्रतिदिन जीवन व्यतीत करने के लिये कुछ काम का नही। कदाचित् तुलसीदास का मत संक्षेप मे बालकाड मे लिखा है--

हरि व्यापक सर्वत्र समाना।
प्रेम ते प्रकट होहिं मै जाना ॥
देस काल दिसि बिदिसिहु माही।
कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाही ॥
अग जगमय सब रहित बिरागी।
प्रेम ते प्रभु प्रकटै जिमि आगी।
मोर वचन सबके मन माना।
साधु साधु करि ब्रह्म बखाना।

अगुण ईश्वर केवल शब्द मात्र है। प्रेममय ईश्वर नही है जिनपर हम भरोसा रख सकते है जिनमे हम प्रेम रख सकते है। और मैं तो प्रतीत करता हूँ कि यीशु मसीह अवतार के द्वारा प्रेममय ईश्वर प्रगट भए।

एक बात रह गई। रामायण का सबसे शुद्ध प्रयोग या मूल कौन है? किसी न किसी प्रकार से बात प्रचलित हो गई है कि तुलसीदास की हस्तकृत दो प्रतियाँ है, एक बनारस मे और दूसरी राजापुर मे। बनारस वाली प्रति की बहुत खोज हुई पर कही उसका पता नही लगा। वह जो राजापुर मे है सो केवल अयोध्या काड है। कहा जाता है कि पहले उसके सातो काड थे, पर कोई चोर पुस्तक उठा ले गया और भागते हुए जब पकड़े जाने पर था उसने जमुना मे उसको फेक दिया और केवल एक काड फिर मिल गया।

बनारस के महाराज के पास एक प्रति है जो सवत् १७०४ अर्थात् गुसाईं जी के मरने के २४ बरस उपरात लिखी गई।

आज कल के छपे बहुत रामायण जो है वह ठीक नही है। वे अब की प्रचलित भाषा के अनुसार बदले गए है। कही कही पद उलट पुलट हो गए और या तो बढाए या घटाए गए है। क्षेपक जोडे गए है और जहाँ कोई कठिन शब्द मिल गया उस स्थान पर सहज शब्द रख दिया है।

कुल पंद्रह बरस हुए कि पडित रामजसन ने रामायण छपवाया। और अधिकों की अपेक्षा वह अच्छा है; पर बहुत से अक्षर और शब्द के रूप बदल दिए

मानस की तिथितालिका

मानस राजहंस पंडित विजयानंद त्रिपाठी

श्रीमद्रामचरितमानस के प्रेमियों के मन में मानस की घटनाओं का समय जानने की आकांक्षा स्वाभाविक है। उसका निर्धारण यदि मानस से ही हो सके तो सर्वोत्तम, नहीं तो अन्य प्रामाणिक ग्रंथों से तथा ऐतिह्य प्रमाणों से सहायता लेना उचित है जो मानस के अनुकूल पड़ते हों।

श्रीरामचरित मानस की तीन घटनाओं का समय तो लोक प्रसिद्ध है—(१) चैत्र शुक्ल नवमी को रामजन्म (२) अगहन सुदि पंचमी को राम का व्याह और (३) आश्विन सुदि दशमी को विजयोत्सव[1]। गोस्वामीजी ने तिथि उल्लेख तो केवल रामजन्म में ही किया है, पर स्थान स्थान पर ऐसे संकेत हैं, जिनके अनुसार अनुसंधान करने से प्रायेण सभी घटनाओं का समय निर्धारण किया जा सकता है। यथा—

बालकांड

प्राची दिसि ससि उयेउ सुहावा। सिय मुख सरिस देखि सुख पावा।

इस अर्धाली से इतना पता तो चल ही जाता है कि इस दिन शरत् पूर्णिमा या चतुर्दशी थी। दूसरे दिन धनुष यज्ञ का वर्णन है, जिसके लिये प्रतिपद अनुकूल तिथि नहीं है। अतः कहना होगा कि फुलवारी के दिन चतुर्दशी थी और धनुषयज्ञ के दिन शरत्पूर्णिमा थी। इसी से यह भी अनुमित होता है कि विश्वामित्र जी का यज्ञ आश्विन के नवरात्र में हुआ और संभवतः वह चंडीयाग था।

इतना पता लग जाने पर अयोध्या से दोनों भाइयों के प्रस्थान से लेकर विवाह तक की सब घटनाओं की तिथियाँ निकाल ली जा सकती हैं। बारात के टिकने तथा वधुप्रवेश का समय ऐतिह्य प्रमाणों से निश्चित किया जा सकता है। विवाह के बाद बारह वर्ष अयोध्या में निवास लोक प्रसिद्ध है, और 'आए व्याहि राम घर जब ते। बसे अनंद अवध सब तब ते॥' से लेकर 'जब ते राम

१. आश्विन सुदि दशमी को विजयोत्सव के संबंध में श्री इंद्रचंद्र नारंग "राम का वन-प्रवास" लेख देखिए।

ब्याहि घर आए। नित नव मंगल मोद बधाए॥' तक बारह पंक्तियाँ लिखकर गोस्वामीजी भी उसी बात का संकेत करते हैं।

अयोध्याकांड—

झलका झलकत पायन कैसे। पंकज कोस ओसकन जैसे।

इस अर्धाली में अयोध्याकांड की सब घटनाओं की तिथियाँ निर्धारित की जा सकती हैं। शृंगवेरपुर से भरत जी राम जी को मनाने नंगे पाँव चले, तो पहिले ही दिन पाँवों में छाले पड़ आए। इससे स्पष्ट है कि महीना ज्येष्ठ का था। राम जी के वनवास के बाद, चक्रवर्ती के देहावसान पर कैकयदेश दूत भेजने, भरत जी के आने, और्ध्वदैहिक क्रिया आदि करने तथा भरत जी के अभिषेक के लिये सभा करने में निश्चय ही एक महीने से अधिक समय लगा होगा। अत: राम-वन-वास चैत्र में होना सिद्ध है। 'एक समय सब सहित समाजा। राज सभा रघुराज बिराजा॥' कहने से यह अंदाज लगता है कि यह दरबार रामजी की सत्ताईसवीं वर्षगाँठ के उपलक्ष्य में रामनवमी को हुआ। दूसरे दिन रामजी वन गए। अतः वनवास के लिये दशमी को प्रस्थान किया। जिस दिन अभिषेक होनेवाला था, उसी दिन वन गए।

इस अनुमान की पुष्टि वाल्मीकीय से होती है। वहाँ कहा गया है कि चैत्र के पुष्य नक्षत्र में जब कि उनका अभिषेक होने वाला था, रामजी वन गए। रामनवमी को प्रायेण पुनर्वसु नक्षत्र रहता है, अतः पुष्य का दशमी में पड़ना सर्वथा प्राप्त है। वनवास की तिथि का निश्चय हो जाने से संपूर्ण अयोध्याकांड की तिथियाँ निकाल लेनी कठिन नहीं हैं। अब यह निश्चितरूपेण कहा जा सकता है कि वनवास चैत्र सुदि दशमी को हुआ, क्योंकि चैत्र में पुष्य नवमी, दशमी या एकादशी को ही पड़ता है। नवमी और एकादशी अभिषेक योग्य तिथियाँ नहीं हैं। अत: दशमी को ही अभिषेक होनेवाला था।

आरण्यकांड—

एक बार चुनि कुसुम सोहाए। निज कर भूषन राम बनाए।
सीतहि पहिराएउ प्रभु सादर। ··· ··· ···।

इसके पता चलता है कि उस दिन वसंतोत्सव था। उसी दिन जयंत का नेत्र भंग भी हुआ।

बहुरि राम अस मन अनुमाना। होइहि भीर सबहि मोहि जाना।
सकल मुनिन्ह सन बिदा कराई। सीता सहित चले दोउ भाई।

इस चौपाई से पता चलता है कि सरकार (राम) का चित्रकूटनिवास लगभग एक साल तक रहा। इसके बाद अत्रि जी के यहाँ जाकर विदा हुए। दंडकवन

में प्रवेश करते ही विराध-वध हुआ। शरभंग जी के आश्रम में गए। तत्पश्चात् अस्थि-समूह देखकर पृथ्वी को 'निशिचरहीन' करने की प्रतिज्ञा की। 'सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि, जाइ जाइ सुख दीन्ह ॥' इस पद से पता चलता है कि वनवास का अधिक काल आश्रम मण्डलो मे निवास करते बीता। वाल्मीकि जी कहते है कि—

'तत्र संवसतस्य मुनीनामाश्रमेषु वै। रमतश्चानुकूल्येन ययुः संवत्सरा दश ॥'
मुनि मडल में रहते दश वर्ष बीत गए।

इसके बाद सुतीक्ष्ण जी तथा अगस्त्य जी से मिलते हुए उन्होंने पंचवटी में निवास किया। वही सीताहरण हुआ। सीताजी को खोजते हुए दोनो भाई चले। रास्ते मे वसत का वर्णन है। इससे पता चलता है कि शूर्पणखा-विरूपीकरण, खरदूषण-वध तथा सीताहरण शिशिर मे हुआ। श्री रामचद्र के शूर्पणखा के साथ परिहास करने से यह कहा जा सकता है कि वे सब घटनाएँ वसतपंचमी के बाद हुई। सीताहरण होते ही सरकार खोजने चल पड़े। अत कहा जा सकता है कि सीताहरण फाल्गुन मे हुआ।

किष्किधाकांड——

'गत ग्रीषम बरषा रितु आई। रहिहौ निकट सैल पर छाई ॥'

इस अर्धाली से यह पता चलता है कि हनुमत् मिलन, सुग्रीव मिताई, वालिवध, सुग्रीव की राजगद्दी ज्येष्ठ के अंत मे हुई। इससे यह भी सिद्ध होता है कि नासिक से ऋष्यमूक आने मे रामजी को तीन महीने लगे। प्रवर्षण गिरि पर निवास करते हुए शरद् वर्णन मे राम जी कहते है कि—

'चले हरखि तजि नगर नृप, तापस बनिक भिखारि।
जिमि हरि भगति पाइ श्रम, तजहिं आश्रमी चारि ॥'

इससे पता चलता है कि उस दिन सर्वदिग् यात्रा योग्य तिथि विजयादशमी थी। फिर भी सुग्रीव नही आए। एकादशी को रामजी निश्चित करते है कि 'सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी।' हनुमान जी भी इसी नतीजे पर पहुँचते है कि 'राम काज सुग्रीव बिसारा।' अत जाकर सुग्रीव को समझाया। इस तिथि के निश्चय हो जाने पर लकाकाड मे सरकार (राम) के सुवेल-निवास तक की सब तिथियो का पता चल जाता है।

लंकाकांड——

'रहे दसो दिसि सायक छाई। मानहु मघा मेघ झरि लाई।'

इस अर्धाली से यह पता चलता है कि मेघनाद-वध भाद्रपद मे हुआ विजयोत्सव के लिये विजयदशमी प्रख्यात है, और ठीक है; पर रावण वध नवमी को ही हो गया। दशमी को श्रीरामजी ने चडिका के शात्यर्थ बलिनीराजन किया।

यथा, कालिकापुराणे—

व्यतीते सप्तमे रात्रे नवम्यां रावणं ततः ।
रामेण घातयामास महामाया जगन्मयी ।
ततस्तु श्रवणेनायं दशम्या चण्डिका शुभाम् ।
विसृज्य चक्रे शान्त्यर्थं वलिनीराजनं हरिः ।"

उपर्युक्त सभी बातें वाल्मीकि रामायण की रामाभिरामी टीका से मेल खाती है । अतः उसी के तिथि-निर्णय को प्रमाण माना ।

उत्तरकाड—

रावणवध के बाद रामजी को अयोध्या पहुँचने की जल्दी पड़ी क्योंकि चौदह वर्ष पूरा हुआ चाहता था और भरतजी की प्रतिज्ञा थी—

'तुलसी बीते अवधि प्रथम दिन जो रघुबीर न अइहौ ।
तौ प्रभुचरन सरोज सपथ जीवत परिजनहिं न पइहौ ।'

अतः पुष्पक विमान द्वारा सरकार भरद्वाज के आश्रम पर पहुँच गए। वाल्मीकि जी कहते हैं कि उस दिन पंचमी थी और उसी दिन चौदह वर्ष की अवधि पूरी हो गई। आश्विन सुदि दशमी से कार्तिक वदि पचमी तक चौदह वर्ष पूरे होने मे बारह तिथिबद्ध मासो का वर्ष मानना पडेगा, और अधिक मासो की भी गणना करनी पडेगी, जैसा कि आजतक व्यवहार मे किया जाता है । लेन-देन मे तिथिबद्ध मास माना जाता है और अधिमास का भी सूद, किराया आदि लिया जाता है । यही मत रामाभिरामी टीका का है । दूसरे किसी तरह से हिसाब नही बैठता । महाराज युधिष्ठिर के वनवास मे भी बारह तिथिबद्ध मासो का वर्ष माना गया और अधिक मासो की भी गणना मानी गई। अतः यही ठीक है ।[1] षष्ठी को सरकार (राम) के आगमन का समाचार भरतजी को मिला, सप्तमी को भरत-मिलाप और अष्टमी को पुष्य नक्षत्र मे रामराज्याभिषेक हुआ ।

तिथि—तालिका

वालकाण्ड

१—मानस की रचना (शिवजी द्वारा)	इस कल्प से २७ कल्प पहिले
२—रावण जन्म	वैवस्वत मन्वंतर की उन्नीसवी चतुर्युगी मे चौबीसवी चतुर्युगी

१—सौर वर्ष तिथिबद्ध मास के वर्ष से १२ दिन बडा होता है। अतः चौदह वर्षो मे १४ × १२ = १६८ दिनो का अंतर पडता है। अत कार्तिक पंचमी को ही अवधि पूरी हो गई ।

३–रामजन्म	के त्रेता में चैत्र सुदि नवमी को।
४–विश्वामित्र जी का अयोध्या आगमन	राम जन्म के चौदह वर्ष बाद
५–यज्ञरक्षा के लिये रामजी का प्रस्थान	आश्विन कृष्ण द्वादशी को
६–यज्ञ रक्षा के लिये राम जी का प्रस्थान	,, ,, त्रयोदशी को
७–ताड़का वध	,, ,, चतुर्दशी को
८–सिद्धाश्रम पधारे	,, ,, अमावस्या को
९–यागारभ	आश्विन शुक्ल प्रतिपद् को
१०–सुबाहु मारीच पराभव	,, ,, षष्ठी को
११–जनकपुर के लिये प्रस्थान	,, ,, दशमी को
१२–जनकपुर पधारे	,, , त्रयोदशी को
१३–फुलवारी में सीताजी का दर्शन	,, ,, चतुर्दशी को
१४–धनुष भंग	,, ,, पूर्णिमा को
१५–जनक दूत अयोध्या पहुँचे	कार्तिक कृष्ण पचमी को
१६–जनकपुर बारात पहुँची	,, ,, धनतेरस को
१७–श्रीराम जानकी विवाह	अगहन (मार्गशीर्ष) सुदि पंचमी को
१८–बारात की विदाई	पूस (पौष) सुदि सप्तमी को

अयोध्या कांड—

१–श्रीरामसीता का अवध निवास	बारह वर्ष
२–रामजी के सत्ताईसवे जन्मोत्सव का दरबार	चैत्र शुक्ल नवमी को
३–वनवास	,, ,, दशमी को
४–शृंगवेरपुर निवास	,, ,, एकादशी को
५–गंगापार करके मार्ग मे पेड तले निवास	,, ,, द्वादशी को
६–भरद्वाज के आश्रम मे निवास	,, ,, त्रयोदशी को
७–यमुना पार करके मार्ग मे निवास	,, ,, चतुर्दशी को
८–वाल्मीकि मिलन चित्रकूट निवास	,, ,, पूर्णिमा को
९–चक्रवर्ती दशरथ जी का देहावसान	,, ,, ,,
१०–दशरथ जी के शव को तेल भरी नाव मे रखना	वैशाख कृष्ण प्रतिपद
११–कैकय देश दूत भेजे गए	,, ,, द्वितीया को
१२–भरत जी अयोध्या पहुँचे	,, शुक्ल प्रतिपद को
१३–चक्रवर्ती जी की और्ध्वदैहिक क्रिया	,, ,, द्वितीया को
१४–भरत जी के अभिषेकार्थ सभा	,, ,, पूर्णिमा को
१५–भरत जी का चित्रकूट के लिये प्रस्थान	ज्येष्ठ कृष्ण प्रतिपद को

१६–गोमती तीर निवास	,,	,,	द्वितीया को
१७–स्यंदिका तीर निवास	,,	,,	तृतीया को
१८–शृगवेरपुर पहुँचे	,,	,,	चतुर्थी को
१९–भरद्वाजाश्रम निवास	,,	,,	षष्ठी को
२०–मार्ग मे निवास	,,	,,	सप्तमी को
२१–यमुना तीर निवास	,,	,,	अष्टमी को
२२–मार्ग मे निवास	,,	,,	नवमी को
२३–चित्रकूट दर्शन	,,	,,	दशमी को
२४–राम जी से भेंट	,,	,,	एकादशी को
२५–श्री राम जी का शुद्ध होना	,,	,,	चतुर्दशी को
२६–भरत सभा (पहिली)	,,	शुक्ल	द्वितीया को
२७–जनक जी चित्रकूट आए	,,	,,	तृतीया को
२८–भरत सभा (दूसरी)	,,	,,	सप्तमी को
२९–भरत जी की विदाई	,,	,,	त्रयोदशी को
३०–भरत जी अवध पहुँचे	आषाढ	कृष्ण	प्रतिपद् को
३१–जनक जी का तिरहुत प्रस्थान	,,	,,	पचमी को
३२–राम जी का चित्रकूट निवास			एक मास

आरण्य कांड—

१–जयत नेत्र भग	चैत्र कृष्ण प्रतिपद को
२–अत्रि मुनि से विदाई तथा विराध वध	चैत्र शुक्ल एकादशी को
३–शरभंग मुनि से भेंट	,, ,, द्वादशी को
४–आश्रम मडली मे निवास	दस वर्ष तक
५–सुतीक्ष्ण तथा अगस्त्य मुनि से मिलते हुए पचवटी निवास	हेमत ऋतु तक
६–शूर्पणखा विरूपीकरण	माघ शुक्ल त्रयोदशी को
७–खरदूषण वध (तीन दिन युद्ध के बाद)	फाल्गुन कृष्ण चतुर्थी को
८–सीता हरण (वनवास के तेरहवे वर्ष मे)	,, ,, अष्टमी को

किष्किंधा काड—

१–वालिवध, सुग्रीव को तिलक	ज्येष्ठ के अत मे
२–प्रवर्षण गिरि निवास	पूरा चातुर्मास
३–हनुमान जी द्वारा सुग्रीव प्रबोध	आश्विन शुक्ल एकादशी को
४–सुग्रीव का रामजी के पास जाना तथा सीतान्वेषण के लिये दूत भेजना	कार्तिक कृष्ण एकादशी को

सुंदर कांड

१–हनुमान जी द्वारा समुद्रोल्लंघन	अगहन वदि एकादशी को
२–सीतादर्शन	,, ,, द्वादशी को
३–लंकादाह	,, ,, त्रयोदशी को
४–रामजी को समाचार देना	अगहन सुदि सप्तमी को
५–विजय यात्रा	,, ,, अष्टमी को
६–समुद्रतट सेना निवास	,, ,, पूर्णिमा को
७–विभीषण शरणागति	पौष कृष्ण चतुर्थी को
८–राम जी द्वारा समुद्र से विनय	,, ,, षष्ठी को
९–समुद्र का शरण में आना	,, ,, नवमी को

लंका कांड––

१–सेतु वध (चार दिनो तक होता रहा)	पौष कृष्ण त्रयोदशी तक
२–रामजी का लंका प्रयाण	,, शुक्ल द्वादशी को
३–सुवेल पर्वत पर उतरना	,, ,, पूर्णिमा को
४–अंगद दूत बनाकर लंका भेजे गए	माघ कृष्ण प्रतिपद् को
५–युद्धारंभ	,, ,, द्वितीया को
६–चारो फाटक की लड़ाई	श्रावण कृष्ण अमावस्या तक
७–लक्ष्मण जी को शक्ति लगी	,, शुक्ल प्रतिपद को
८–कुंभकर्ण वध (सात दिन युद्ध के वाद)	,, ,, पूर्णिमा को
९–मेघनाद वध	भाद्रपक्ष कृष्ण द्वादशी को
१०–रावण युद्ध के लिये निकले	,, ,, अमावस्या को
११–दूसरी वार युद्ध के लिये निकले	आश्विन शुक्ल प्रतिपद् को
१२–रावणवध	,, ,, नवमी को
१३–विजयोत्सव	,, ,, दशमी को
१४–विभीषण राज्याभिषेक	,, ,, त्रयोदशी को
१५–सीता मिलन	,, ,, चतुर्दशी को
१६–अयोध्या को प्रस्थान	कार्तिक कृष्ण द्वितीया को

उत्तर कांड––

१–भरद्वाज के आश्रम में पहुँचना	कार्तिक कृष्ण पंचमी को
२–हनुमान् जी द्वारा भरतजी को समाचार मिलना	,, ,, षष्ठी को
३–भरतमिलाप	,, ,, सप्तमी को
४–रामराज्याभिषेक	,, ,, अष्टमी को

❀

रामचरितमानस के सिद्धांत, साधन और साध्य

स्वर्गीय केशवप्रसाद मिश्र

रामचरितमानस के अनुसार सगुण राम और निर्गुण ब्रह्म मे कोई अन्तर नही। अवतीर्ण राम और परात्पर ब्रह्म राम दोनो एक है। इन दोनों की एकता केवल व्यावहारिक-कामचलाऊ-नही, पारमार्थिक-सच्ची है। उनमे भेदबुद्धि रखने वाले या ऐसा कहने-सुननवाले के सबध मे गोस्वामीजी के क्या उद्गार है, देखिए—

कहहि सुनहि अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच।
पाषडी हरिपद विमुख जानहि झूठ न साच॥
अग्य अकोविद अध अभागी। काई विषय मुकुर मन लागी॥
लपट कपटी कुटिल विसेषी। सपनेहुँ संतसभा नहि देखी॥
कहहि ते वेद असमत वानी। जिन्ह कें सूझ लाभु नहि हानी॥
मुकुर मलिन अरु नयन विहीना। रामरूप देखहि किमि दीना॥
जिन्ह के अगुन न सगुन विवेका। जल्पहि कल्पित बचन अनेका॥
हरिमाया बस जगत भ्रमाही। तिन्हहि कहत कछु अघटित नाही॥
वातुल भूत विवस मतवारे। ते नहि बोलहि बचन विचारे॥
जिन्ह कृत महामोह मद पाना। तिन्ह कर कहा करिअ नहि काना॥

रघुकुलमणि श्रीराम सहजप्रकाश सच्चिदानंद प्रसिद्ध पुरुष प्रकट परावरनाथ परेश पुराण व्यापक ब्रह्म है। जो सबका प्रकाशक अनादि मायाधीश है, उसमें और अवधपति राम मे उसी प्रकार कोई भेद नही जिस प्रकार तरल जल और घनीभूत हिमोपल मे कोई भेद नही।

परमानंद भगवान् श्रीराम के इस जीवलोक मे अवतीर्ण होने का प्रयोजन सुररजन, भूभारभंजन, सज्जन सुखदान तो है ही; प्रधान कारण उपासकों और भक्तो का वह अनन्य प्रेम और वह अनपायिनी भक्ति है जो भगवान् को साक्षात् लोचनगोचर होने के लिये विवश कर देती है।

यदि गोस्वामीजी की साधना, अनुभूति, प्रतिभा, कला और विश्वतोमुखी विद्वत्ता अवतीर्ण राम के रूप, गुण, शील, स्वभाव को इस प्रकार हमारी श्रद्धा, अनुराग, स्नेह, प्रेम, सौहार्द, आशसा, ममता, स्पृहा, रुचि, उत्कठा पूर्ण पात्र न बना सकती तो उनका यह—'सीय राममय सब जग जानी'— अद्वैतवाद अथवा

उनकी यह प्रत्यभिज्ञा कभी हमारे गले के नीचे न उतरती। धन्य है तुलसीदास ! जिन्होने व्यक्ताव्यक्त की ऐसी अनूठी एकता का हमे अनुभवसाक्षिक ज्ञान कराया !

अवतीर्ण श्रीराम का परपराप्राप्त चरित भी सामान्य नही, गूढ है। पडित मुनि तो उससे विरति की शिक्षा लेते है; पर हरिविमुख धर्मरतिशून्य विमूढ़जन उसे देख सुनकर मोह मे पड़ जाते है। इसी हेतु उसका यथावत् प्रतिबिब पड़ने के लिये तुलसी ने पहले ही मन के आईने को श्री गुरुचरण-सरोज-रज से साफ कर लिया था। श्रीराम की व्यापक परब्रह्मता के विचार से यह चरित गूढ होने पर भी परिच्छिन्न–नपा तुला है, किसी व्यक्ति विशेष का-सा प्रतीत होता है। इसीलिये गोस्वामीजी तत्काल इसका समाधान करते है–

हरि अनत हरिकथा अनता। कहहिं सुनहिं बहुविधि सब सता ।।
रामचद्र के चरित सुहाए। कलप कोटि लगि जाहिं न गाए ।।

रामचरित की इसी अनतता और अगेयता से हहरकर तुलसी ने उसके मानस = हृदय = सार = रहस्य को ही ग्रहण किया। मानस सरोवर का रूप तो है ही, मानस का अर्थ रहस्य भी समझना चाहिए। उमा ने हर्षित होकर शकर से कहा था—

हरिचरित्रमानस तुम्ह गावा। सुनि मै नाथ अमित सुख पावा ।।

यह रामचरित का मानस श्रवण, कीर्तन, मनन आदि का विषय है; अनुकरण का विषय नही। अत रामचरितमानस भक्तिप्रधान ग्रथ है, चरितप्रधान नही। यह दूसरी बात है जो हम कवि के कृतित्व की सजीवता से पुलकित होकर चरित के अश अश को आँखो के सामने घटित होते देखते है। गोस्वामीजी ने राम से अधिक जो रामनाम की महिमा गाई है, वह भी इसकी भक्तिप्रधानता, मानसविषयता का ही पोषक है।

यो तो गोस्वामीजी की समन्वयबुद्धि सभी दार्शनिक सिद्धातो मे अविरोध देखती, सभी को यथास्थान महत्व देती और सभी पक्षो का समर्थन करती है; पर उनके प्रस्थान के अनुरोध तथा ग्रंथ के उपक्रम और उपसंहार के विचार से द्वैत-सिद्धात और भक्तिपक्ष ही मे उनका पर्यवसान प्रतीत होता है। यद्यपि द्वैतवाद मे माया का कोई स्थान नही और गोस्वामीजी ने माया की चर्चा की है, अत. द्वैत-वाद से स्पष्टत इनकी विमति जान पड़ सकती है, तथापि थोड़ा विचार करने से इनकी स्वतत्र दार्शनिकता का पता चल जाता है। ये 'सीयराम' और 'सब जग' मे भेद डालकर उपासक को भ्रात करनेवाली अविद्या को माया समझते है, अद्वैतवादियो के समान जीव ब्रह्म अथवा आत्मानात्म की अभिमत एकता पर आवरण डालकर भेद-बुद्धि उत्पन्न करनेवाली अविद्या को नहीं। इनके मत मे उपास्य और उपासक की पृथक् सत्ता तो रहेगी ही। देखिए, ये स्पष्टतः क्या कहते है—

माया सभव भ्रम सब अब न व्यापिहहिं तोहि ।
जानेसु ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर मोहि ॥
सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमत ।
मै सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवत ॥
सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि ।
भजहु राम पद पकज अस सिद्धात बिचारि ॥
बारि मथे घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल ।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल ॥

निज सिद्धांत सुनावउँ तोही । सुनि मन धरु सब तजि भजु मोही ॥
श्रुति सिद्धांत इहइ उरगारी । राम भजिअ सब काज बिसारी ॥

इतना ही नही, भेद का इन्होने स्पष्ट उल्लेख भी किया है—

ताते उमा मोच्छ नही पायो । दसरथ भेद भगति मन लायो ॥
सगुनोपासक मोच्छ न लेही । तिन्ह कहुँ राम भगति निज देहीं ॥
रामचद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्वान ॥
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूंछ बिषान ॥
राकापति षोडस उअहिं तारागन समुदाइ ॥
सकल गिरिन्ह दव लाइअ बिनु रबि राति न जाइ ॥

ऐसेहिं हरि बिनु भजन खगेसा । मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा ॥
हरि सेवकहि न व्याप अबिद्या । प्रभु प्रेरित व्यापइ तेहि बिद्या ॥
ताते नास न होइ दास कर । भेद भगति बाढइ बिहगवर ॥

इसके अतिरिक्त-अद्वैतवादियो के परम अभिमत ज्ञानमार्ग की विशद विवेचना करते जब प्रसगात् दोनो की तुलना की है तब भक्ति मार्ग को स्वतत्र और ज्ञान-विज्ञान को भक्ति के अधीन माना है—

जाते वेगि द्रवउँ मैं भाई । सो मम भगति भगत सुखदाई ॥
सो सुतत्र अवलब न आना । तेहि आधीन ग्यान बिग्याना ॥

इस भेदभक्ति के साधनो का निर्देश भगवान् रामचंद्र ने श्रीमुख से किया है—

भगति की साधन कहउँ बखानी । सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी ॥
प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीति । निज निज कर्म निरत श्रुति रीति ॥
एहि कर फल मन बिषय बिरागा । तब मन धर्म उपज अनुरागा ॥
श्रवनादिक नव भक्ति दृढाही । मम लीला रति अति मन माही ॥
सत चरन पकज अति प्रेमा । मम क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा ॥
गुरु पितु मातु बधु पति देवा । सब मोहिं कहँ जानइ दृढ़ सेवा ॥

मम गुन गावत पुलक सरीरा । गदगद गिरा नयन बह नीरा ॥
काम आदि मद दंभ न जाके । तात निरंतर बस मैं ताकें ॥
बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम ।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम ॥

और भी मानस मे प्रसंग-प्रसग पर भक्ति की महिमा, स्वरूप, साधन, तारतम्य आदि का विस्तृत वर्णन है ।

ज्ञानदीपक और **भक्तिमणि** की तुलना भी स्पष्टतः भक्ति की अभिमत प्रधानता और उपादेयता की ओर संकेत करती है ।

भक्ति और ज्ञान के **साध्य** फलो मे भी ग्रंथकार ने भेद दिखलाया है। ज्ञान का फल मोक्ष कहा गया है—

धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना । **ग्यान मोच्छप्रद** बेद बखाना ॥

पर रामचरित मानस के कथन श्रवण से उत्पन्न भक्ति का फल मन का विश्राम है । यथा—

रामचरितमानस एहि नामा । सुनत श्रवन पाइअ विश्रामा ।
(उपक्रम)

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहिं बिनु द्रवहिं न रामु ।
रामकृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु ॥
(अभ्यास)

जाकी कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसीदास हूँ ।
पायउ परम बिश्रामु राम समान प्रभु नाही कहूँ ॥
(उपसंहार)

मन का विश्राम साधारण वस्तु नही, बहुत बडी बात है। विनयपत्रिका मे बाबा जी बड़े मार्मिक ढंग से कहते है—

"मन कबहूँ विश्राम न मान्यो ।
निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख, जहँ तहँ इंद्रिन तान्यो ॥
जदपि विषय सँग सह्यो दुसह दुख विषम जाल अरुझान्यो ॥
तदपि न मूढ तजत ममतावस जानत हूँ नहि जान्यो ॥
जन्म अनेक किए नाना विधि कर्म कीच चित सान्यो ॥
होइ न बिमल बिबेक नीर बिनु बेद पुरान बखान्यो ॥
निज हित नाथ पिता गुरु हरि सो हरषि हृदयँ नहिं आन्यो ।
तुलसिदास कब तृषा जाइ सर खनतहिं जनम सिरान्यो ॥"

कदाचित् यह शका किसी के मन मे उठे कि भक्ति से तो मुक्ति मिलती नही, ज्ञान से मक्ति मिलती है। अतः जन्ममरण के दु:खों से दग्ध मुमुक्षु प्राणी के लिये

सिवा ज्ञान मार्ग के और कहीं ठिकाना नहीं है, इसलिये गोस्वामी जी इसके लिये भी अवकाश नहीं छोडते। वे पहले ही कह चुके हैं कि सगुणोपासक मुक्ति की परवा नहीं करते, वे उसे चाहते नहीं। पर--

रामभजत सोइ मुकुति गोसाई। अनइच्छित आवइ बरिआई ॥

और--

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई ॥
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि भगति बिहाई ॥
अस बिचारि हरिभगत सयाने। मुक्ति निरादर भक्ति लुभाने ॥

(भाद्रपद १९९५, सितम्बर १९३८
मानमाक खण्ड २)

❀

कवितावली

सुधाकर पांडेय

•

भारत मे मुस्लिम शासन के विकास के प्रथम वेग मे इस्लाम का प्रगाढ प्रभाव था । पर ज्यो ज्यों समय व्यतीत होने लगा, त्यो त्यो भारतीय जन मन को इसकी एकागिता एव अपूर्णता का बोध होने लगा । अनेक मुस्लिम शासकों की उदार नीति के कारण सारे देश के लोकग्राही सुधी, सत, फकीर. महात्मा इस अभाव की पूर्ति मे लगे और उत्तरी भारत मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य महात्मा रामानंद ने किया। इनके पूर्व भी नामदेव, त्रिलोचन आदि रामभक्ति के प्रचारक लोकसेवक महात्मा हो चुके थे। पर स्वामी रामानंद ने पद्रहवी शताब्दी में रामभक्ति परपरा को नया आलोक दिया।

स्वामी रामानुजाचार्य ने भक्ति के प्रसार के लिये वैष्णव श्रीसप्रदाय की स्थापना की । श्री शकराचार्य द्वारा प्रतिष्ठित अद्वैतवाद मे रसात्मक भक्ति के लिए कोई स्थान नही था। वे उमे भी माया के अतर्गत ही मानते थे । ऐसी परिस्थिति मे जन जीवन मे उस भाव की प्रतिष्ठा, जिसका प्रवर्तन रामानुजाचार्य ने किया, अत्यत लोकग्राही हुई । इनका मत विशिष्टाद्वैत के नाम से प्रसिद्ध हुआ । इस मत के अनुसार जीव ब्रह्म का अश है । उसकी उत्पत्ति भी उसी से होती है और वह उसी मे लय भी होता है। मनुष्य प्रेम या भक्ति द्वारा उससे तादात्म्य स्थापित कर सकता है । उनकी १३वी पीढी के बाद इस सप्रदाय के प्रधान आचार्य स्वामी श्री रामानद हुए, जो काशी मे रहते थे । रामानद जी उन्ही के परम समर्थ शिष्य थे।

यद्यपि रामानद जी रामानुजाचार्य के मतावलबी थे, तो भी उन्होने युग के अनुरूप उसका ससारप्रिय रूप ग्रहण किया । इसके सस्कर्ता भी वे स्वय बने । इन्होने विष्णु के स्थान पर लोकलीला विस्तारक परम पुरुप राम को अपना इष्ट बनाया और 'राम' नाम इनकी साधना का मूलमत्र बना । यद्यपि राम का स्मरण इसके पूर्व ही साधना के क्षेत्र मे साधक कर चुके थे, तथापि लोक मे परम ब्रह्म को सगुण रूप मे रामानद ने ही प्रतिष्ठित किया । राम के इस लोकरूप की प्रतिष्ठा के लिये उन्होने प्रबल आदोलन किया तथा एक विशाल सगठन भी । लोगो को ऐसे भगवान् का रूप बताया, जिसका प्रत्येक

जाति, प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक देश के लोग इस लोक में साक्षात् पा सकते है। उनकी यह भावधारा विशुद्ध पौराणिक थी। इसका उद्गम स्थान महाभारत और पुराण था तथा यह वर्णाश्रम व्यवस्था की पूर्ण समर्थिका थी। नवनिर्माण की भावना में अनुप्राणित रामानद जी का युग के अनुरूप यह नवीन क्रांतदर्शी जीवनदर्शन था। सभी प्रकार का भेदभाव तोडकर उन्होने हिंदू मुसलमान, ऊँच नीच यहाँ तक कि महिलाओं को भी अपना शिष्य बनाया, जिनमे से अनेक ने अपने अपने क्षेत्र मे युग विधायक कार्य सपन्न किए।

तुलसीदास

यद्यपि रामानदी संप्रदाय मे दीक्षित भक्तगण लोक मे पुरुषोत्तम राम की प्रतिष्ठा मे दत्तचित्त होकर लगे थे, तो भी तुलसीदास के पूर्व तक इतनी बडी किसी प्रतिभा का दर्शन इस भावधारा मे नही हुआ, जो रामानद द्वारा प्रशस्त सहज मार्ग को जन मन के हृदय पर युग युग के लिए राजपथ के रूप मे प्रतिष्ठित कर सके।

तुलसीदास अत्यंत विनयसपन्न, स्वाभिमानी एवं सदाचारी भक्त थे। उन्होने अपने विषय मे स्वयं जो कुछ कही कही कहा है, उससे उनके जीवन-वृत्त की स्पष्ट रूपरेखा ज्ञात करना संभव नही। क्षेत्रीयता, सांप्रदायिकता, पांडित्य की यशोलिप्सा तथा नवीन अनुसंधानो द्वारा स्वयं को आभूषित कर कुछ नवीन बाते ढूंढ निकालने की प्रवृत्ति ने तुलसीदास के जीवन वृत्त को इस भाँति आच्छन्न कर लिया है, जिस भाँति किसी गुप्त स्थान मे छिपी हुई श्री-संपदा की प्रचलित जनश्रुतियाँ। थोडे थोडे समय के बाद नवीन नवीन ग्रंथो का पता चलता रहता है नई नई बाते कही जाती हैं, पर जिन आधारो को लेकर ऐसा किया जाता है, उन आधारो की प्रामाणिकता परीक्षण पर स्वत अप्रामाणिक सिद्ध हो जाती है।

विगत कुछ वर्षो मे तुलसीदास के जीवनवृत्त पर जो नई खोज हुई है, वह पुरानी खोजो के सर्वथा विपरीत है पर सर्वमान्य कोई भी नही। सभी पक्षो से अपनी बातो के लिये अकाट्य प्रमाण उपस्थित किए गए है। ऐसी परिस्थिति मे सत्य का पता लगाना अत्यत कठिन है; क्योकि दुराग्रह और हठ के भी स्पष्ट दर्शन इन विचारो मे है।

शिवसिंह सेंगर अपने "सरोज" मे तुलसीदासजी का जन्म संवत् १५८३ मानते है। उन्होने वेणीमाधव कृत मूल गोसाईंचरित देखने की बात भी लिखी है। किंतु प्रकाशित मूल गोसाईंचरित की प्रामाणिकता अत्यंत सदिग्ध है, इसमे इनका जन्म सवत् १५५४ है। महात्मा रघुवरदास रचित, 'तुलसी चरित' मे (जिसकी सूचना हिंदी जगत् को इन्द्रदेवनारायण ने 'मर्यादा' द्वारा दी थी)

उनका जन्म सं० १५५४ माना गया है । डॉ० ग्रियर्सन तुलसीदास का जन्म संवत् १५८९ मानते है । डॉ० माताप्रसाद गुप्त भी ग्रियर्सन के मत के समर्थक हैं । पं० रामगुलाम दुबे भी यही संवत् प्रमाणिक मानते है । मै भी इसका ही समर्थक हूँ । बहुत समय तक यह बात प्राय: मान्य थी कि ये पराशर गोत्र के सरयूपारीण ब्राह्मण थे, तथा बादा जिलातर्गत राजापुर के पं० आत्माराम दुबे के पुत्र थे । इनकी माता का नाम हुलसी था ।

तुलसी के संबंध में विद्वानो मे मतभेद है । कुछ लोग इन्हे सोरो का मानते है और उन्होंने इसके लिये पर्याप्त प्रमाण भी एकत्र किए है, यथा रत्नावली रचित दोहावली, नन्ददास का भाई होना, नन्ददास का गुरुभाई होना, नन्ददास के पुत्र कृष्ण-दास की रचनाएँ तथा चौरासी वैष्णवो की वार्ता आदि का उल्लेख इस प्रसग मे किया जाता है । इतना माना जा सकता है कि सोरो से भी इनका संबंध रहा है ।

कहा जाता है, मूल नक्षत्र मे उत्पन्न होने के कारण माता-पिता ने इन्हे त्याग दिया था और बचपन मे इन्हे दर-दर की ठोकर खानी पड़ी । इनकी बाल्यावस्था ऐसी भयंकर परिस्थिति से गुजरी कि इन्हे पेट भरने के लिये लोगो से भिक्षा तक माँगनी पड़ी । ये बाते निर्विवाद रूप से सत्य है, क्योंकि स्वयं तुलसीदास ने इन तथ्यो का उल्लेख किया ।

"मातु पिता जग जाय तज्यो विधिहूँ न लिखी कछु भाल भलाई ।"

(कवितावली, उ० ५७)

यहाँ तक कि पेट भेंट भरने के लिए इन्हे जाति, कुजाति, सुजाति सभी लोगो के सम्मुख हाथ फैलाना पड़ा—

"जाति के सुजाति के, कुजाति के पेटागि बस,
खाए टूक सबके विदित बात दुनी सो ।"

(कवितावली, उ० ७२)

अन्न के दाने-दाने के लिये इन्हे तरसना पड़ा, उसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सभी कुछ मानना पड़ा । इसके पश्चात् इन्हे बाबा नरहरिदास का संरक्षण प्राप्त हुआ । लोगो का कहना है कि, 'कृपासिंधु नर रूप हरि' इन्ही के संबंध मे लिखा गया है । नरहरि नरहर्यानंद ही थे, ऐसा लोग मानते हैं । नरहर्यानन्द रामानन्द की शिष्य-परंपरा मे माने जाते है । अयोध्या के संप्रदायो की परंपरा मे तुलसीदास इनके शिष्य रूप मे प्रतिष्ठित है । श्री प्रेमलता जी का बृहत् जीवन चरित्र इस प्रकार की गुरु परंपरा का उल्लेख करता है : रामानंद, सुरसुरानंद, माधवानंद, गरीबानंद, लक्ष्मीदास, गोपालदास, नरहरिदास, तुलसीदास । यह भी अनुमान लगाया जाता है कि इन्ही नरहरिदास से शूकरक्षेत्र मे तुलसीदास ने रामकथा सुनी थी और उनके द्वारा ही इनमे रामभक्ति का भाव जगा । 'विनयपत्रिका' के एक पद के आधार पर ऐसा

आभास होता है कि यौवनोचित रूपलिप्सा की भावना इनके भीतर भी जगी थी और इन्होंने उसमे रस भी लिया था—

लरिकाई बीती अचेत चित चचलता चौगुनी चाय।
जोवन जर जुवती कुपथ्य करि, भयो त्रिदोष भरि मदन वाय ।।
(विनयपत्रिका, ८३)

स्थान स्थान पर इन्होंने जो वर्णन किए है, उनसे ऐसा विदित होता है कि स्त्रीससर्ग मे रहे हैं और शादी के सबध मे अत्यत सूक्ष्म निरीक्षण इनके साहित्य मे व्याप्त है। जनश्रुति के अनुसार इनकी शादी रत्नावली से हुई थी। उसके प्रेमपाश मे ये इस तरह आबद्ध थे कि क्षण भर के लिये भी अपनी आँखो से उसे ओझल होने देना नही चाहते थे। कहा जाता है कि एक बार वह नैहर चली गई। भयकर कष्टो का सामना करते हुए तत्काल ये वहाँ पहुँचे। इनकी पत्नी ने इनकी इस कामुकता की तीव्र भर्त्सना की।

यह भर्त्सना तुलसीदास के जीवन के लिये नई चेतना का संदेशवाहक बन बैठी। प्रिया द्वारा मिली फटकार विराग मे परिवर्तित हो गई। मायाजन्य चंचलता की नश्वरता इन्हे ज्ञात हुई और उसके बाद ये अविलब काशी चले आए। इस लोकवार्ता की पुष्टि भक्तमाल, तुलसीचरित और गोसाईचरित से भी होती है। इधर 'रत्नावली-दोहा-सग्रह' नाम की एक पुस्तिका मिली है, जिसके आधार पर तुलसीदास के जीवन पर प्रकाश पडता है, यद्यपि इस ग्रथ की प्रामाणिकता अभी वास्तविक कसौटी पर नही कसी गई है। अभी तक यह प० गोविन्दवल्लभ पंत के पास सुरक्षित है। इसका लिपिकाल स० १८७५ है। इसके द्वारा यह ज्ञात होता है कि रत्नावली का विवाह १२ वर्ष की अवस्था मे हुआ था। १६ वर्ष की आयु मे गौना और सवत् १६२७ मे रत्नावलीत्याग की घटना घटती है।

यह सामग्री सोरो के प्रसग को लेकर हिंदी जगत् के सामने आई। इसका ध्येय तुलसीदास को नददास का अग्रज प्रमाणित करना भी था। यह पहले ही निवेदन किया जा चुका है कि तथोक्त सामाग्री की प्रामाणिकता सदिग्ध है।

इन्होंने नाना तीर्थो का परिभ्रमण किया। काशी, चित्रकूट और अयोध्या से इनकी ममता थी। ये स्थान इन्हे अत्यन्त प्रिय थे। इनके जीवन का अधिकाश काशी मे व्यतीत हुआ। काशी की प्रशस्ति मे इन्होंने लिखा है—

मुक्ति जनम महि जानि, ज्ञान खानि अघ हानि कर।
जेंह बस सभु भवानि, सो कासी सेइय कस न ।।
(मानस, किष्किधा काड)

और चित्रकूट तो उनकी दृष्टि मे राम का सच्चा स्नेहप्रदाता ही है...

तुलसी जो राम सो सनेह साँचो चाहिए
तौ सेइए सनेह सो विचित्र चित्रकूट सो ।।
(कवितावली, उ० १४१)

अयोध्या मे तो इन्होने हिंदी साहित्य के अमर रत्न 'रामचरिमानस' की रचना का ही प्रकाश किया।

जिसका बचपन लललाते, बिललाते, दर-दर भिक्षा माँगकर बीता, प्रणय के अतृप्ति विरोध ने जिसके यौवन पर वैराग्य की विभूति लेपित कर दी, उस तुलसीदास का अंतिम समय भी सुखकर न व्यतीत हुआ। सभवत विधाता का यह उन्हे सबमे बडा वरदान था। ऐसा आभास होता है। आरभ मे, काशी मे इनका कडा विरोध हुआ। कहा जाता है कि पहले ये प्रह्लाद घाट पर रहते थे। विनयपत्रिका की रचना इन्होंने गोपालमदिर के पिछवाडे एक छोटे से कमरे मे की। वहाँ एक पट अंग्रेजी मे लगा हुआ है। लेकिन बाद मे इन्हे इन स्थानो को छोडना पडा और अस्सी (तुलसीघाट) पर जमना पडा।

जिस व्यक्ति ने जीवन भर अभाव से सघर्ष कर अपनी भक्ति के सहारे विश्व की फूटी आँखो मे ज्योतिदान करने का सफल प्रयत्न किया, उस पर अंत में रोग ने आक्रमण किया। उन्होंने किसी वैद्य की नही, राम, शकर और हनुमान की आराधना की, रोग से निवृत्ति के लिये। उदरशूल, बाहुशूल आदि से तो वे जर्जर हो ही गए थे; लगता है, महामारी (हैजा, प्लेग) का भी उन्हें शिकार होना पडा। ऐसी जर्जर परिस्थिति मे अधिक दिनो जीवित रहना सभव न था और सं० १६८० मे इनका देहावसान काशी मे हो गया। इस सम्बन्ध मे यह दोहा प्रसिद्ध है—

सबत सोरह सौ असी, असी गग के तीर।
सावन कृस्ना तीज सनि, तुलसी तज्यो सरीर।।

तुलसी के मित्र टोडर के परिवार वाले इसी तिथि को उनके नाम श्राद्ध का सिद्धा दान करते है।

'विशाल भारत' में छपा यह अंश तुलसी के जीवन पर प्रकाश डालता है—

'कवि अविनाशराय कृत इस तुलसी प्रकाश मे लिखित जन्मतिथियो के आधार पर गोस्वामी तुलसीदास का जन्म सवत् १५६८ वि० की श्रावण शुक्ला सप्तमी, शुक्रवार को हुआ। दस मास की अवस्था होने के पश्चात् उनकी माता हुलसी का और हुलसी से लगभग एक मास पश्चात् उनके पिता का परलोकवास हुआ। ७ वर्ष ११ मास २४ दिन की आयु मे श्री तुलसीदास अपने गुरु श्री नृसिंह (नरहरि) की पाठशाला मे प्रविष्ट हुए। २१ वर्ष ३ मास ४ दिन की आयु होने पर उनका विवाह एवं २६ वर्ष १० दिन की आयु मे वैराग्य हुआ। ६३वें वर्ष मे श्री रामचरित मानस का लेखन आरभ किया। ७६वें वर्ष के कार्तिक मास मे काशी निवास करने चले। पयस्विनी नदी के संगम के समीप राजा नामक साधु की कुटी

पर गए। निवास करते हुए उस कुटी को राजापुर रूप मे परिगणन किया। आशा है, इतिहास एव साहित्य प्रेमी विद्वान् पाठक इन तिथियों पर ध्यान देंगे।"

'विशाल भारत' मई, १९५४ के अक मे प्रकाशित उक्त निबंध मे श्री भद्रदत्त शर्मा ने 'तुलसी प्रकाश' के आधार पर उपर्युक्त निष्कर्ष निकाला है। जब तक मूल न देखा जाय इसे भी प्रामाणिक मानना ठीक न होगा।

तुलसी साहित्य

यद्यपि नागरीप्रचारिणी सभा के खोज विभाग की रिपोर्ट के द्वारा तुलसी की ३७ रचनाएँ प्राप्त हुई है, तथापि नागरीप्रचारिणी सभा ने उनमे से केवल १२ ग्रथो को ही प्रामाणिक माना। शेष, दूसरे तुलसी नामधारियों के है। हिंदी के प्राय सभी समर्थ आलोचक इन्हे ही प्रामाणिक मानते है। उनके प्रामाणिक ग्रंथो के नाम निम्नलिखित है--

१—रामचरित मानस, २- वैराग्य सदीपिनी, ३--रामलला नहछू, ४—बरवै रामायण, ५—पार्वती मंगल, ६–जानकी मगल, ७—रामाज्ञा प्रश्न, ८—दोहावली, ९--कवितावली, १० – गीतावली, ११--कृष्णगीतावली और १२--विनयपत्रिका।

रामचरित मानस–हिंदी मे सभी दृष्टियों से सर्वोत्तम इस प्रबध-काव्य का प्रारभ सं० १६३१ मे अयोध्या मे हुआ। कवि ने स्वय लिखा है—

'सवत सोरह सौ एकतीसा, करौं कथा हरि पद धरि सीसा।'

इस ग्रन्थ मे कवि ने सात सोपानो मे रामकथा विस्तारपूर्वक लिखी है। इसमे वर्णिक और मात्रिक--दोनो छदो का प्रयोग किया गया है। वर्णिक छंदो मे अनुष्टुप्, रथोद्धता, स्रग्धरा, मालिनी, तोटक, वशस्थ, भुजगप्रयात, नगस्वरूपिणी, बसततिलका, इन्द्रवज्रा, और शार्दूलविक्रीडित तथा मात्रिक छदो मे दोहा, सोरठा, तोमर, हरिगीतिका, चौपाई, त्रिभगी आदि १८ छदो का प्रयोग हुआ है। यह ग्रंथ अवधी मे लिखा गया है और विश्व की प्रायः सभी सपन्न भाषाओं मे इसका अनुवाद किया गया है।

वैराग्य संदीपिनी—दोहा, चौपाई तथा सोरठा छदो मे रचित ६२ छदो का यह सग्रह है। इसके विषय है, ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, शाति तथा सतो के लक्षण आदि।

रामलला नहछू--विवाह और यज्ञोपवीत संस्कार के अवसर पर औरतो के गाए जाने के हेतु लिखे गए सोहर छदो मे २० पदो का सग्रह है।

बरवै रामायण--अलकार-योजना युक्त सात काडो तथा ६९ बरवै छदो मे लिखे गए इस ग्रथ मे स्फुट रूप मे राम की कथा वर्णित है।

जानकी मंगल—२१६ छंदो में लिखित इस पुस्तक का विषय राम और सीता का विवाह वर्णन है।

पार्वती मगल—१६४ छदों मे शिव-पार्वती विवाह का वर्णन इस रचना मे हुआ है।

रामाज्ञा प्रश्न—शकुन विचार के लिए लिखित सात अध्यायो मे यह पुस्तक है, प्रत्येक अध्याय मे ४६ दोहे है तथा इन दोहों मे भी रामकथा ही वर्णित है।

दोहावली—भक्ति और नीति के ५७३ दोहो का यह संग्रह है, जिनमे से अनेक दोहे तुलसीदास की अन्य रचनाओ से मगृहीत किए गए है।

गीतावली—राग-रागिनियो से समाविष्ट सात खडो मे तथा ३३० छंदो मे सूरसागर की शैली पर इस ग्रथ का प्रणयन हुआ है। राम की सौदर्य सुषमा का वर्णन तुलसीदास ने इस ग्रथ मे किया है।

कृष्ण गीतावली—यह रचना ब्रजभाषा में रचित कृष्ण सबंधी शृंगाररस-प्रधान ६१ स्फुट पदो का संकलन है।

विनय पत्रिका—यह राग-रागिनियो से युक्त विनय के अप्रतिम २७६ पदो का सग्रह है। देवी, देवता, राम और शकर की सेवक भाव से की गई वंदनाएँ इसमे सकलित है। ज्ञान, वैराग्य, ससार की नश्वरता आदि के संबंध मे रससिक्त कवि हृदय का आत्म-निवेदन इस ग्रंथ मे वडी ऊँचाई पर है और साहित्यिक मुक्तकों की दृष्टि से भी इसकी गरिमा हिंदी मुक्तक साहित्य के इतिहास मे सनातन महत्त्व की है।

युग और तुलसी का व्यक्तित्व

तुलसीदास के प्रादुर्भाव के समय का समाज सभी दृष्टियो से संक्रमणकालीन था। सामाजिक एव आर्थिक दृष्टि से सामान्य लोगो का जीवन विपन्न था। तत्कालीन समाज मे सामाजिक दृष्टि से उच्च वर्ग के लोग विलासिता के गर्त मे गोते लगा रहे थे। उन्हे अवकाश नही था कि आँख खोलकर उस समाज के प्रति कोई सर्जनात्मक कार्य करे जो एक ओर महामारी, दारिद्रय और रोग से आक्रात था, दूसरी ओर ऐसो के ही जर्जर कधो पर तथाकथित वडो की लोक शोषिका वैभवशालिनी विलासिता का वोझ था। ससार ऐसे लोगो के लिये विलास एव उपभोग की सामग्री मात्र था। कोढ मे खाज की स्थिति मे जनता थी।

मध्यकालीन मानव की धर्म पर प्रगाढ आस्था थी। वह उसे जीवन की सवसे वडी सपत्ति समझता था। यह लोक तो उसका नष्ट था ही, वह परलोक की चिंता कर निराश मन को ढाढस वँधाता था। जिन लोगो के हाथो मे धर्मक्षेत्र की वागडोर थी, उनमे या तो अनेक गद्दीधारी रटत पडित थे, जिनका धर्म इतना कमजोर था कि स्पर्श मात्र से टूट जाता था। उन्हे जन जीवन से कुछ नही लेना

था। अहंकार मंडित ये लोग दूसरों को कोसकर, म्लेच्छ एवं अस्पृश्य मान अपने को समेटकर संकुचित हो गए थे। ऐसे लोग जाति पाँति, छुआछूत के बंधन को कठोर बना रहे थे।

दूसरी ओर ऐसे लोग समाज के ठेकेदार थे, जो कही ठिकाना न लगने पर सर मुडा-मुडाकर सन्यासी हो जाते थे। भारतीय परंपरा ब्राह्मण को जगद्गुरु और संन्यासी को ब्राह्मण गुरु मानती आई है। विश्व का हर सर्वोत्तम पद सन्यास के द्वारा उन्हे सहज सुलभ हो जाता था। भेष की माया मे फँस, लोग उनका संमान तो करते ही थे, नीच कही जाने वाली जातियाँ उन्हे महात्मा मान बैठती थी। टोटका, टोना और मतर, सबका जादू जमकर समाज पर चलने लगा।

कबीर का सारा प्रयत्न उनके जीवन के बाद समाप्त हो गया, यद्यपि उनकी परपरा मे बाद मे अनेक अच्छे सत हुए। दूसरे, कबीर के मत मे पुर्ननिर्माण की भावना नही थी। अवशिष्ट को ध्वस्त कर वह नव-निर्माण करना चाहते थे। भारत मे केवल व्यापक सचयी सारग्राही दृष्टिकोण ही सफल हो सकता है। सम्राट् अकबर ने कही का ईंट कही का रोड़ा जोडकर दीनइलाही धर्म चलाया। पर उसमे जीवन नही, चेतना नही और न ही थी मृतप्राय जीवन को अमृत देकर जीवित करने की जातीय शक्ति। उधर ब्रज की ओर कृष्ण के अत्यंत सुदर मनो-मुग्धकारी मधुर रूप पर वैष्णव भक्त सगीत की स्वर-लहरी मे खो रहे थे। कमनीय कृष्ण की चारुता मे समाज को वे डुबाना चाहते थे। मुरली उन्हे प्रिय थी। सुदर्शन चक्र चलाना वे नही चाहते थे। यह काम सहज भी नही था। पर उनका यह सामाजिक उपचार उसी प्रकार का था जिस प्रकार पीडा से आकुल होने पर कोई चिकित्सक ऐसी वस्तु का सेवन कराए जिसमे पीडित चेतना ही खो बैठे। राग-रग तभी भाता है, जब व्यक्ति का तन और मन तृप्त हो। भूखे रहने वाले भजन नही करते।

यद्यपि रामानंद स्वय बहुत बडे क्रांतदर्शी और भविष्यद्रष्टा थे, तथापि उनके मत को कोई ऐसा समर्थ प्रसारक नही मिला जैसे अन्य मतो को, इसलिये वह सकुचित रूप मे जी रहा था क्योंकि उसमे जीवनी शक्ति थी। ऐसी ही परिस्थिति मे तुलसीदास का आविर्भाव हुआ। तुलसी ने जगत् देखा था, जीवन देखा था, उनके पैरो मे बिवाई फटी थी। लोक मे व्याप्त पीडा का उन्हे अनुभव था, लोक के प्रति उनमे सहानुभूति थी, उसका उन्हे कष्ट था। वे जहाँ एक ओर समस्त जग को सियाराममय जानकर लोक की पूजा करने वाले सुजान थे वही राम के प्रेम मे चातक की भाँति उनमे निष्ठा भी थी। नाना शास्त्रो और पुराणो का तथा भाषा एव प्राकृत के ग्रथो का उन्होने अध्ययन, मनन एवं चिंतन तो किया ही था, भुक्तभोगी होने के कारण समाज के लिये सत्य एव सुदर का तत्व भी समझते थे। इन सबका प्रभाव, उनके मेधावी प्रतिभा-

संपन्न जीवन में एक नई चेतना लेकर आया। ऐसी चेतना की लहर जागी जिससे साहित्य की इतनी बडी शक्ति प्रस्फुटित हुई, जैसी विश्व के इतिहास में ढूंढे भी नहीं मिलेगी। निर्गुण और सगुण मे भेद न मानकर भी उन्होने लोक की आवश्यकता का अनुभव कर ऐसे राम की प्रतिष्ठा जनजीवन मे की जो युग के राक्षसो को ही नही, दशानन रावण को भी पद-लुठित कर सकने की सामर्थ्य रखता है, जो सुंदरता में अपना सानी न रखने पर भी आपदा आने पर पर-उपकार के लिये अपना कुसुम-सा हृदय वज्र बना सकता है। वे कबीर और सूर के एकांगी मार्ग की पूर्णता बनकर आए। समाज को राक्षसो से बचाने के लिये उन्होने दबे हुए जगली लोगों तक के भीतर उनकी सोई शक्ति का उद्‌वोध कराया।

वे पडित और विद्वान् थे, इसलिये तथाकथित पंडितो को भी उन्होने अपनी अप्रतिम प्रतिभा से चकित कर दिया। तुलसीदास मे निर्माण की अभूतपूर्व क्षमता थी। तत्कालीन सामाजिक ढाँचे को, जो जर्जरावस्था मे था, उन्होने संजीवनी बूटी पिलाई। वे निर्माण में विश्वास रखने वाले अत्यंत मर्यादावादी जीव थे। जीवन को विनष्ट करने वाली वृत्तियो से उन्होने संघर्ष किया था। वे इंद्रियजित् भी थे। उन्होने लोक मे व्याप्त माया, काम, क्रोध के विनाशकारी प्रभाव की भर्त्सना की। उनकी रामराज्य की कल्पना आज के युग मे भी सामाजिक चेतना का आदर्श है। उन्होंने लोक में आदर्श नारी की प्रतिष्ठा भी की। उन्होने रामानंदी संप्रदाय का अनुगमन नहीं किया। उसको एक नया रूप दिया। उन्होने नवीन जीवन-दर्शन दिया, नई दृष्टि दी, नई चेतना जगाई पर सभी कुछ साहित्यकार की भाँति, जीवंत अलख तत्वो को रसात्मक ढंग से जगाकर, प्रचारक की तरह नही।

लोककल्याण करके भी व्यक्ति आत्मकल्याण की महत्तम साधना कर सकता है। तुलसीदास इस बात के प्रतीक है। उन्होने आत्म-कल्याण की साधना भी केवल अपने तक ही सीमित नही रखी, संसार को उस सहज पथ का पता भी वताया, उस पर चलने की प्रेरणा भी दी। वे असज्जनो की वंदना करके भी उनके सामने कभी झुके नही। इतने विशाल व्यक्तित्व वाले जन-कल्याणकारी, आत्मद्रष्टा, क्रांतदर्शी तथा तत्व-संग्राही कवि का उस युग मे प्रादुर्भाव न केवल भारत के लिये गौरव की वात है, अपितु समस्त मानवसमाज के लिए आदर्श प्रेरणादायिनी संपत्ति भी है।

भारतीय जीवन की सर्वाधिक दृढ भित्ति पारिवारिक जीवन है। पारिवारिक जीवन की ऐसी आदर्श प्रतिष्ठा तुलसीदास ने की जैसी भारत का अन्य कोई साहित्य-कार नही कर सका। उन्होने लोगो को दिखाया कि पारिवारिक मर्यादा मे जरा भी विकृति आने पर सारा का सारा घर कलह, दु ख और अशांति का अखाड़ा बन सकता है। लोक मे व्याप्त सारी मर्यादाएँ विनष्ट हो सकती है। कैकेयी का कोप,

विभिषण का रावण के प्रति विद्रोह और बालि तथा सुग्रीव इसके उदाहरण है। इस कार्य मे उन्हे पूर्ण सफलता भी मिली। उन्होने जिन चरित्रो का निर्माण किया है, वे अजर-अमर तो है ही, साथ ही लोक-मगलकारी आदर्श की प्रतिष्ठा भी करते है, जो लोक-जीवन को श्रीसमृद्धिमय बनाने मे सहायक होते है।

इतने विविध किंतु पूर्ण अन्योन्याश्रित चरित्रो का चित्रण उन्होंने अपने काव्य मे किया है जितने चरित्र एक साथ हिंदी के किसी अन्य काव्य ग्रथ मे दिखाई नही पडते। अन्यत्र यदि कही दिखाई भी पडेगे तो इस अन्योन्याश्रित प्रतिष्ठा के साथ नही।

उनकी रचनाओ मे राजनीति से लेकर वेदान दर्शन तक की अभिव्यक्ति है और सभी क्षेत्रो मे उनकी नई सूझ-बूझ अपनी एक मौलिक एव समन्वय छाप लगाती है। यद्यपि ये मूलत. भक्ति के ही उपासक थे; तथापि वीर शृगार हास्य सभी कुछ उनकी रचनाओ मे अत्यत उच्च कोटि का मिलता है। उनके विनय के पद तो इतने सुंदर बन पडे है कि ऐसा आभास होता है कि पाठक के हृदय का आत्म-निवेदन उनमे फूट पडा है। उनमे गंभीर हृदय की व्यापक अनुभूतियो की अभिव्यक्ति है। तब तक प्रचलित प्राय: सभी काव्य-पद्धतियो एवं रचना-विधाओ मे उन्होंने रचनाएँ की और इतना व्यापक समन्वय इस क्षेत्र मे किया कि आर्जव के साथ इतनी मधुरता एवं व्यापकता किसी भी अन्य रचानाकार के साहित्य में दिखाई नही पडती।

नीति उपदेश की सूक्ति पद्धति, सूफियो की दोहा चौपाई वाली पद्धति, वीर-शृङ्गार की छप्पय पद्धति, विद्यापति और सूरदास की गीति-पद्धति, गग आदि चारण कवियो कवित्त-सवैया पद्धति, सभी साहित्यिक विधाओ का निखार इनकी रचनाओ मे मिलता है। वे विद्वान् और पडित तो थे ही, सस्कृत के भी कवि थे। उन्होंने संस्कृत मे भी इतस्तत: रचना की है। उन्होंने अवधी और व्रज-दोनो मे रचनाएँ की है और उनका साहित्यिक सुसंस्कृत रूप ही इनकी रचनाओ मे मिलता है। भाषा की दृष्टि से भी उनकी देन हिंदी के लिये अत्यत मूल्यवान् है।

ये सभी विचारो के सारग्राही पुरुषार्थी भक्त कवि है। इन्हे सियाराममय भक्ति का रूप ही ग्राह्य था और उसके द्वारा लोकमगल की सिद्धि उनके काव्य का प्रतिपाद्य है।

कवितावली

नामकरण

कवितावली को बहुत से पुराने हस्तलेखो मे कवित्त-रामायण और कविता-वली-रामायण की भी सज्ञा दी गई है। कवित्त-रामायण सज्ञा चद, लाला भगत-दास, लाल (कवि), सेनापति, हरिदास के रामकथा सबंधी हस्तलेखो को भी दी

गई है। कवितावली नाम के हस्तलेख, जनकराज, किशोरी शरण, दूलनदास, परमेश्वरी दास, सरयूदास, सहजराम के मिले है । कवितावली रामायण रामचरण दास कृत भी मिला है। कवित्त का प्रयोग विशेषण के रूप मे ग्रथो मे बराबर किया गया है । यथा --कवित-विनोद, कवित्त रत्नाकर, कवित्त शृगार और कवितावली शब्दो का प्रयोग विविध कवियो के सकलन ग्रथो मे या एक ही कवि के मुक्तक सग्रहो के लिये मिलता है। कवितावली नामकरण प्राय वहाँ हुआ है, जहाँ विषय की अनेकता है और कवित्त नामकरण जहाँ एक या उससे हा सबद्ध विषय है, वहाँ किया गया है। एक कवि के मुक्तक सग्रह के लिये भी कवित्त शब्द का प्रयाग हुआ है किंतु वहाँ कवि का नाम कवित्त के साथ जाड़ दिया गया है।

नागरा प्रचारिणी सभा न तुलसीदास की तीसरा जन्म-शती के अवसर पर प्रकाशित तुलसा ग्रथावली (तीन भाग) म तुलसादास के १२ ग्रथ प्रामाणिक मान ह। उनमे कवितावली सज्ञा हा इस दा गइ। कवित्त-रामायण नामकरण का कारण यह हो सकता ह कि राम के बालरूप स लकर राम के सभी प्रिय रूपो की झाका इसमे ह और राम सबधो तुलसी के प्रिय मार्मिक प्रसग भी इसमे है। इसलिय इसका नाम लागो न रामायण क आधार पर कवित्त रामायण रखा किंतु वस्तुस्थिति यह ह कि कवितावला मे रामचरित के अतिरिक्त तुलसादास और उनका देशकाल भी ह आर उत्तर काड मे ता यह उभर कर है। इसलिये इसे कवित्त-रामायण की सज्ञा दना समुचित नहा जान पड़ता। तुलसादास न अपने साहित्य मे सभी प्रचलित साहित्यिक पद्धतिया पर राम का गुणगाथा गाने का सफल प्रयत्न किया है। कवितावला मे उन्हान कवित्त, सवैया और छप्पय की प्राचीन पद्धति जो पृथ्वीराजरासा आदि का रही है, इसम अपनाई ह। यह पद्धति लाक मे प्रचलित और प्रिय थी। रामचरित मानस म चौपाइ, दाहा, सोरठा को विशेष रूप से उन्होने स्थान दिया। अन्यान्य ग्रथो मे अन्य काव्य पद्धतियो को अपनाया। इससे स्पष्ट है कि तुलसीदास सभी पद्धतियो मे राम को आदश बनाकर अपना सदेश सब तक पहुँचाना चाहते थे क्योकि उनका जीवन ही राममय था। राम को केवल प्रबध-माला के रूप मे ही नही, मुक्तक-मणि के रूप मे भी वे प्रचारित करना चाहते थे।

कवितावली मे बहुत से ऐसे छद है, जिन्हे रामचरित मानस के कथाप्रवाह मे जोड़ा जा सकता है और कही-कही कथा-प्रवाह को इससे गति मिल सकती है। इसलिय यह भी अनुमान किया जा सकता है कि हो सकता है रामचरित मानस के अश के रूप मे इसके बहुत से छदो की रचना की गई हो और बाद मे उसे शैली के कारण अनुपयुक्त मानकर अलग कर दिया गया हो। यह बात प्रामाणिक नही अनुमान की है। तथ्य यह है कि रामचरित के उन रूपो को जो तुलसी को प्रिय थे, जो

शील और सौंदर्य के साथ ही साथ उनकी लोकरक्षक अनत शक्ति के उद्घाटक थे, उन पर समय-समय पर लिखे गये ये स्फुट मुक्तक हैं, जिनका सकलन कविता-वली मे है ।

कवितावली का सयोजन और सपादन तुलसीदास के समय मे ही हो गया था । यह मानने मे आपत्ति नही होनी चाहिए । यद्यपि उनके हाथ या समय की लिखी हुई कोई प्रति नही मिलती किंतु जितने हस्तलेख मिले हैं,[1] सबके सब रामचरित मानस के सप्त सोपान पद्धति पर हैं और प्रायः पदों का क्रम भी सर्वथा एक सा ही है । इस एकता का कारण यह भी हो सकता है कि लका-काड तक जो पद है, वे सब रामकथा पर आधारित हैं और ये पद आधे से

१—नागरीप्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट के सक्षिप्त विवरण से कवितावली (पद्य)—अन्य नाम 'कवित्त रामायण' । तुलसीदास (गोस्वामी) कृते वि० सक्षिप्त रामकथा ।
(क) लि० का० स० १७९७ ।
प्राप्ति स्थान—प्रतापगढ़ नरेश का पुस्तकालय, प्रतापगढ़ ।
(ख) लि० का० स० १८५० ।
प्रा०—वावू पद्मवक्ससिह, लवेदपुर, (वहराइच) ।
(ग) लि० का० स० १८५६ ।
प्रा०—महाराज वनारस का पुस्तकालय, रामनगर (वाराणसी) ।
(घ) लि० का० स० १८८९ ।
प्रा०—भिनगानरेश का पुस्तकालय, भिनगा (वहराइच) ।
(ङ) लि० का० स० १९०० ।
प्रा०—वरगदिया वावा, हिडोलने का नाका, लखनऊ ।
(च) लि० का० स० १९०१ ।
प्रा०—ठा० विश्वनाथसिंह, तालुकेदार, अग्रेसर, डा० तिरसडी, (सुलतानपुर) । २३–४३२ ए ।
(छ) लि० का० स० १९१६ ।
प्रा०—प० देवीदयाल मिश्र, ठाकुरद्वारा- खजुहा (फतेहपुर) ।
(ज) प्रा०—नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी ।
(झ) प्रा०—श्री उमाशकर दूवे, साहित्यान्वेषक, सैदपुर (गाजीपुर) । २६–४८४ ई० ।
(ञ) प्रा०—श्री राम जी अध्यापक, डा० नारखी (आगरा) ।
(ट) प्रा०—नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी ।

अधिक है । रामकथा का क्रम रामचरित मानस के आधार पर सहज हो सकलित और सपादित किया जा सकता है और किया भी गया है। उत्तर काड विविध विषय मडित है । इसलिये कवितावली नामकरण ही सार्थक है। कवितावली रामायण मध्यमार्गी नाम है । इसमे भी वही बात है, जो कवित्त रामायण मे है। इसलिये 'कवितावली' नाम प्राय सर्वमान्य है ।

विषयवस्तु

कवितावली मे बालकांड, अयोध्याकाड, अरण्यकाड, किष्किधाकाड, सुदरकांड, लकाकाड और उत्तरकाड––ये सातकाड है। बालकाड मे बाल रूप की झाँकी, बाललीला, धनुषयज्ञ, परशुराम-लक्ष्मण-सवाद है । अयोध्याकाड मे वनगमन, केवट का पाद प्रक्षालन, वन मे राम यात्रा का वर्णन, अरण्यनिवास है। अरण्यकाड और किष्किधाकाड मे केवल एक एक पद 'मारीचानुधावन', हनुमान जी का समुद्रलघन है। सुदरकाड मे अशोकवन, लकादहन, अशोकवाटिका से हनुमान की विदाई है। लंकाकाड मे राक्षसो की चिता, त्रिजटा का आश्वासन, समुद्र पार करना, अगद का दूतकर्म, मदोदरी रावण सवाद, राक्षस बदर सग्राम, लक्ष्मण-मूर्च्छा, राम रावण युद्ध का अत वर्णित है। उत्तरकाड मे विनय, उद्बधन, राम महिमा, नाम महिमा, नाम विश्वास, कलि वर्णन, रामकीर्ति गान, चित्रकूट वर्णन, प्रयाग सुषमा वर्णन, गगा माहात्म्य, अन्नपूर्णा-विश्वनाथ-माहात्म्य और स्तवन, काशी मे महामारी का वर्णन अन्यान्य विषयो के साथ है । इस प्रकार कवितावली मे कुल ४२५ पद है ।

कवितावली की विधा

विधा की दृष्टि से नाहक यह विवाद उठा दिया जाता है कि कवितावली मुक्तक है या निबध या प्रबध काव्य। कवितावली की विषयवस्तु देख लेने के बाद भी इसे मुक्तक न मानना किसी पूर्वाग्रह का ही प्रतीक हो सकता है। शास्त्र भी मुक्तक का ही समर्थक है । अग्नि पुराण[1], काव्यानुशासन[2], साहित्य-दर्पण[3], ध्वन्यालोक[4] किसी की भी कसौटी पर इसे कसा जा सकता है और सब पर यह खरा मुक्तक ही ठहरेगा । कवितावली का प्रत्येक पद अपने मे पूर्ण है।

१. मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षः सताम् ।––अग्निपुराण ।
२. अनिबद्धं मुक्तकाड. । काव्यानुशासन––हेमचद्र
३. छदोबद्ध पदं पद्यम् तेन मुक्तेन मुक्तक––साहित्यदर्पण । विश्वनाथ
४. पूर्वापर निरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम् ।
––अभिनवगुप्त की ध्वन्यालोक टीका ।

पूर्वापर पदों के संबंध के बिना भी स्वयं में एक भावखण्ड की सफल अभिव्यक्ति करता है। वह अनिबद्ध होते हुए भी भावबद्ध है, छंदबद्ध होते हुए भी पूर्वपद्य से उत्तरपद्य असंबद्ध ।

जहाँ निबन्धन या प्रबंधत्व होता है, वहाँ कथानक की संतुलित संगठना की जाती है। कवितावली में कुल ३२५ पदों में बालकांड में २२, अयोध्याकांड में २८, अरण्य और किष्किन्धाकांड में ५-१, सुंदरकांड ३२, लंका-कांड में ५८ और उत्तरकांड में १८३ पद है। कांडों के इस प्रकार का असंतुलन मुक्तक में ही तुलसी जैसे कलानिधि शिल्पी से हो सकता है। इतना ही नहीं, भरत, कैकेयी-मंथरा संवाद, अहिल्या उद्धार, बालि-युद्ध जैसे प्रसंग ही लापता है। इसमें केवल राम ही नहीं, अन्य देवी देवता तथा अन्यान्य क्षेत्रों का जीवन का अनुभूतियाँ कवि ने चित्रित की है। इसलिये यह प्रबंध नहीं मुक्तक काव्य है।

प्रबंध या निबंध काव्य में चरित्र नायक, नायिका आदि के रूप में होता है और क्रमबद्ध उनके चरित्र या कर्म का आकलन होता है। कवितावली में ऐसी बात नहीं है। प्रबंध या निबंध काव्य में रस की दृष्टि से भी एक रस का प्रधानता होता है, जिसे अंगीरस कहते है। कवितावली में सारे रस है। वे किसी रस के अंग रूप में नहीं, सर्वथा स्वतंत्र है। समस्यापूर्ति के ढंग के अनेक पद्य इसमें हैं। समस्या-पूर्ति प्रबंध या निबंध काव्य में नहीं होता, अपितु मुक्तक में ही होती है। राम के साथ कृष्ण और अन्यान्य विषयों की उपस्थिति उसके मुक्तक होने का स्वतंत्र प्रमाण है।

इसमें युग्मक (एक ही विषय के दो पद), विशेषक (तीन पदों में एक ही विषय), कलापक (चार पदों में एक ही विषय), कुलक (पाँच या उससे अधिक पदों में वर्णित एक ही विषय) के कारण प्रबंधत्व का बात करना शास्त्रीय अव-मानना है।

कवितावली में 'हनुमान बाहुक' परिशिष्ट के रूप में कुछ हस्तलेखों में मिलता है। इसे हम स्वतंत्र स्फुट रचना मानते है। इसे परिशिष्ट के रूप में ग्रहण करने का कारण यह हो सकता है कि कवितावली के उत्तरकांड में तुलसी के जीवन से संबद्ध अनेक पद हैं, यह भी उनके जीवन से संबद्ध है। दैहिक (वात की पीड़ा) पीड़ा से मुक्ति के लिये लक्ष्मण के लिये संजीवनी लाने वाले राम-भक्त हनुमान की आराधना हनुमान भक्त तुलसी ने की है।

रचना काल

कवितावली में तुलसी के जीवन में विभिन्न समयों पर रचे पद है।

कवितावली में 'मीन की शनीचरी'[1] का उल्लेख किया है और रुद्र बीसी[2] का। सं० १६४० एव सवत् १६६६ मे मीन राशि मे तुलसी के जीवन-काल मे शनि था। प्रत्येक ३० वें वर्ष शनि मीन राशि मे आता है। रुद्र बीसी स० १६२३ से १६४२ तक उनके जीवन मे पडती है। इसलिये इसके पहले और बाद तक इस रचना का कार्य-काल ठहरता है। रामचरित मानस की रचना से पूर्व के इसमे पद हैं और बाद के भी।

कवितावली मे मीन के शनीचर और रुद्र बीसी के अतिरिक्त काशी मे आयी महामारी की चर्चा है। प्लेग और हैजा ऐसी बीमारियाँ थी, जिन्हे काशी के अंचल मे महामारी की सज्ञा दी जाती रही है। ये प्राय इस क्षेत्र मे साथ-साथ ही आती थी। सवत् १६७३ या सन् १६१६ ई० के पहले 'महामारिन्ह'[3] या महामारियो का इतिहास नही मिलता। कवितावली मे समस्यापूर्ति जैसी रचनाएँ भी है, वे प्रौढ है। कभी-कभी कविता की एक पक्ति कवि को इतनी मनभावन लगती है कि वह एक पद बनाकर ही संतुष्ट नही होना चाहता, अपितु उस पर अनेक पद अपने सतोष के लिये रचता है। इसे देखकर यह मानना कि कवितावली तुलसी की केवल आरभिक रचना है, उचित नही लगता। रामचरित मानस के रचनाकाल सवत् १६३१ के पूर्व की रचनाएँ भी इसमे असंभाव्य नही हो सकती और उनके सपूर्ण जीवन काल की स्फुट रचनाएँ इसमे हैं। इसलिये मोटे तौर पर इसे संवत् १६३०-१६८० तक की रचनाओ का संकलन मानने पर आपत्ति नही होनी चाहिए।

कवितावली मे आए पदों को कवित्त संज्ञा दी गयी है। कवित्त के अंतर्गत उस समय तक कवित्त, सवैया, घनाक्षरी, छप्पय छद अभिहित किए जाते थे। पृथ्वीराज रासो आदि ग्रथो मे इसे सहज ही ढूँढा जा सकता है। पुराने हस्तलेखो और सग्रहों मे भी यही बात मिलेगी। तुलसीदास जी ने झूलना छद को भी इसके भीतर ही समाहित किया है।

उन छंदों का परिचय और कवितावली से उनका उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

१ एक तो कराल कलिकाल सूल मूल तामे
कोढ मे की खाजु सी सनीचरी है मीन की।

२. बीसी विश्वनाथ की विपाद बडो वारानसी
बूझिए न ऐसी गति सकर सहर की॥

३. देवता निहोरे महामारिन्ह सो कर जोरे,
भोरानाथ जानि मारे आपनी सी ठई है।

छप्पय

छप्पय मे ६ चरण होते है। यह मिश्रित छंद है। रोला (२४ मात्राएँ) तथा उल्लाला या उल्लाल छंद (२६ अथवा २८ मात्राएँ) के मिश्रण से यह छद बनता है। रोला २४ मात्रा का छद है, जिसमे ११, १३ मात्राओ पर विश्राम होता है। इसके अन्त मे प्राय दो (गुरु) होते है। इसका एक नाम काव्यछंद भी है। काव्य-छंद मे प्रत्येक ग्यारहवी मात्रा (लघु) होती है। कुडलिया मे प्राय. इसी का प्रयोग होता है। उल्लाला छद चार चरण का होता है तथा विश्राम १३–१५। किन्तु छप्पय मे केवल दो पंक्तियो मे लिखा जाता है। इस छद के ७१ भेद होते हैं। उनके नाम सोमनाथ ग्रंथावली (भाग--१) (संपादक--सुधाकर पाण्डेय) के आधार पर निम्नांकित हैं --

अजय १ विजय २ वलवतहि ३ जानि।
और वीर ४ वेताल ५ वपानि।
वहुरि विहंकर ६ मरकट ७ और।
हरिहर ८ ब्रह्म ९ इंदु १० सिरमौर।
चंदन ११ रस १२ शंकर १३ उर आनो।
स्वान १४ सिंघ १५ सार्दूल १६ वखानो ॥४२॥
कूरम १७ कोकिल १८ अरु खर १९ कुंजर २०।
मदन २१ मत्स्य २२ नारग २३ सेप २४ वर ॥४३॥
सारग २५ और मनोहर २६ कहो।
निवल २७ कमल २८ पुनि कद २९ सुलहो ॥
वानर ३० विस ३१ लव ३२ वसह ३३ अनूप।
और अजगम ३४ करम ३५ स्वरूप ॥४४॥
सर ३६ वरु सरस ३७ समर ३८ पुनि मारस ३९।
सरह ४० मेरु ४१ कहि मरुत ४२ अनालस ॥
यम ४३ अरु सिद्धि ४४ वृद्धि ४५ अलि ४६ अलकहि ४७।
धवला ४८ मलय ४९ ध्वजा ५० कनक ५१ लहि ॥४५॥
कृष्न ५२ और रजनी ५३ उर मे गनि।
मेघागम ५४ गभीर ५५ गरुड़ ५६ भनि ॥
ससि ५७ सूरज ५८ मल्लक ५९ पहिचानि ॥
नवरंग ६० और मनोरथ ६१ मानि ॥४६॥
गगन ६२ रतन ६३ निर्झर ६४ नीहार ६५।
भरत ६६ तपन ६७ अरु कुसुम ६८ उदार ॥
दीप ६९ सक ७० स्वच्छ ७१ अनूप ॥
एक इकहत्तरि छप्पय रूप ॥४७॥

सतरि गुरु बारह लघु जा में ।। अच्छर होय बयासी ता मैं ।।
अजय नाम छप्पय सौ जानौ । गुरु टूटे द्वै लघु बढ़ि मानौ ।।४८।।
तवही न्यारौ नाऊ बतावौ ।।
सुकवि समझि हिय मे सुख पावै ।।४६।।
गुरु उनहत्तरि ६६ जा बिपै, अरु चौदह लघु ठानि ।।
बरन तिरासी विजय सो, छप्पय उर मै आनि ।।५०।।
ऐसैंई औरौ जानियौ ।।

उदाहरण

कतहुँ बिटप भूधर उपारि परसेन बरष्षत ।
कतहुँ वाजि सो वाजि मर्दि, गजराज करष्षत ।।
चरनचोट चटकन चकोट अरि-उर-सिर बज्जत ।
विकट कटकु बिद्दरत वीरु बारिदु जिमि गज्जत ।।
लंगूर लपेटत पटकि भट, जयति राम, जय ! उच्चरत ।।
तुलसीस पवननंदनु अटल युद्ध क्रुद्ध कौतुक करत ।।
(कवितावली—लंका० पद–४७)

झूलना

इस छंद मे ३७ मात्रा होती है जो दस-दस और सत्रह मात्रा के विश्राम से होती है। प्रत्येक चरण के अंत मे यगण (।ऽऽ) होता है :—

कनकगिरि सृंग चढि देखि मर्कटकटकु,
बदत मदोदरी परम भीता ।
सहजभुज - मत्तगजराज - रनकेसरी,
परसुधर गर्वु जेहि देखि वीता ।।
दास तुलसी समरसूर कोसलधनी,
ख्याल ही बालि बलसालि जीता ।
रे कंत ! तृन दत गहि'सरन श्रीरामु' कहि,
अजहुँ एहि भाँति लै सौपु सीता ।।१७।।
(कवितावली—लंका० पद–१७)

सवैया

यह वर्णिक छंद है। इसमे पद के चारो चरणो के तुकात एक होते है। २२ से लेकर २६ तक इसमे वर्णवृत्त होते है। सवैया हिदी का प्रिय छन्द रहा है। सवैया के अनेक प्रकार होते है—मदिरा, हसी, मत्तगयंद, अद्रक, चकोर, मतिप्रिया, दुर्मिल,

गंगोदक, तन्वी, मकरंद, मुक्तहारा या मोतियादाम, भुजंग, उर्मिल, श्रंगार, सुन्दरी, लवगलता अथवा विजया, क्रौंच, अरविन्द, मदन मनोहर, किशोर, भुजंग, विज्रभित तथा मिश्रित सवैये आदि ।

तुलसीदास ने अनेक सवैयो का प्रयोग किया है, जिनमे कुछ के उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे है—

दुर्मिल अथवा चन्द्रकला

दुर्मिल सवैये अथवा चन्द्रकला सवैये में प्रत्येक चरण में आठ सगण होते हैं ।

उदाहरण

पग नूपुर औ पहुँची करकजनि मंजु बनी मनिमाल हिएं ।
नवनील कलेवर पीत झंगा झलकै पुलकै नृप गोद लिएं ।।
अरविंदु सो आननु रूप मरंदु अनंदित लोचन-भृंग पिए ।
मन मो न बस्यौ अस बालकु जौ तुलसी जग मे फलु कौन जिएं ।।

(कवितावली–वाल० पद–२)

सुंदरी

सुंदरी सवैया के प्रत्येक चरण मे आठ सगण तथा एक गुरु (ऽ) होता है। सब मिलकर २५ अक्षर होते है। माधवी, चन्द्रकला, कमला और मल्ली नाम से भी इस सवैये को सबोधित करते हैं।

उदाहरण

पद कोमल, स्यामल-गौर कलेवर राजत कोटि मनोज लजाए ।
कर बान सरासन सीस जटा, सरसीरुह लोचन सोन सुहाए ।।
जिन्ह देखे सखी ! सतिभायहु तें तुलसी तिन्ह तौ मन फेरि न पाए ।
एहि मारग आजु किसोर वधू विधु बैनी समेत सुभायं सिधाए।।

(कवितावली—अयो० पद–२४)

मिश्रित सवैया

मिश्रित सवैये मे कई प्रकार के सवैयो के चरण मिले रहते है । कुछ चरणो मे कुछ सवैये और कुछ चरणो मे कुछ सवैये । उदाहरण के रूप में कवितावली का जो सवैया नीचे दिया जा रहा है, उसमे पहला, तीसरा और चौथा चरण मत्तगयंद सवैये का है तथा दूसरा चरण सुदरी सवैये का । मत्तगयद सवैये के प्रत्येक चरण मे सात भगण और दो गुरु होते है। इसका नाम मालती और विजय सवैया भी है ।

उदाहरण

तूँ रजनीचरनाथु महा, रघुनाथ के सेवक को जनु हौं हौं ।
बलवान है स्वानु गली अपनी तोहि लाज न गालु बजावत सौ हौ ।।

वीस भुजा, दससीस हरौ, न डरौ प्रभु-आयसु-भग ते जौ हौ।
खेत मे केहरि ज्यो गजराज दलौ दल, वालि को वालकु तो हौ ॥१२॥
(कवितावली—लका० पद–१३)

कवित्त

कवित्त मे ३१ वर्ण हर एक चरण मे होते है और अंतिम वर्ण गुरु होता है। सोलह-पद्रह पर यति या विश्राम होता है। इसे घनाक्षरी मनहर छद भी कहते है।

उदाहरण

पात भरी सहरी, सकल सुत बारे-बारे,
केवट की जाति, कछु वेद न पढाइहौ।
सबु परिवारु मेरो याहि लागि, राजा जू,
हौ दीन वित्तहीन, कैसे दूसरी गढ़ाइहौ।
गौतम की घरनी ज्यो तरनी तरैगी मेरी,
प्रभु सो निषाद ह्वै के वाद ना बढाइहौ।
तुलसी के ईस राम, रावरे सो साँची कहौ,
विना पग धोएँ नाथ, नाव ना चढ़ाइहौ ॥
(कवितावली—अयो० पद–८)

रूप घनाक्षरी

इसके प्रत्येक चरण मे ३२ वर्ण होते है और विश्राम १६-१६ वर्णो पर होता है। इसमे अतिम दो वर्ण प्राय. गुरु-लघु (ऽ।) होते है।

उदाहरण

प्रभु रुख पाइ कै, वोलाइ वालक घरनिहि,
बदि कै चरन चहुँ दिसि बैठे घेरि-घेरि।
छोटी-सो कठौता भरि आनि पानी गगाजू को,
धोय पाय पीअत पुनीत बारि फेरि-फेरि।
तुलसी सराहै ताको भागु, सानुराग सुर,
बरषै सुमन, जय-जय कहै, टेरि टेरि।
बिवुध सनेह सानी वानी असयानी सुनि,
हँसे राघौ जानकी लखन तन हेरि हेरि।
(कवितावली—अयो०, पद–१०)

साहित्यिक सौदर्य

कवितावली तुलसीदास की ऐसी कृति है जिनमे उनका व्यक्तित्व राम-महिमा के साथ देश-काल से तादात्म्य करता हुआ एक संघर्षशील, सर्जनात्मक

लोकमंगलाकाक्षी भक्त के रूप मे प्रकट होता हे। इस काव्य मे रामचरित और उनसे सवद्ध चरित्रो की तथा उनके चरित्र की महिमा का आख्यान तो है ही, इसकी सवसे वड़ी विशेपता यह ह कि उन स्थानो, उन तत्वो के भी सवध मे तुलसीदास स्पष्ट प्रकट होते है जो उनके जीवन मे गुण धर्म के समान समा गए ह और जो उनके व्यक्तित्व का प्रकट करते ह। तुलसीदास के महान् व्यक्तित्व के पीछे देश काल को देखने की उनकी जा सर्जनात्मक दृष्टि हे, उसका भी हमे इसमे ज्ञान प्राप्त होता हे। तुलसीदास जी केवल द्रष्टा ही नही, कर्मजयी स्रष्टा भी है और उनकी जीवन गति मे जा अवरोध समाज के सम्मुख आते हे, उनसे सघर्पकर्ता तथा अजेय योद्धा के रूप मे भी कवितावली मे अपने को प्रकट करते है। जाति-पाँति के वधन से मनुष्य के व्यक्तित्व का ऊँचा उठाने का आह्वान भी कवितावली मे है। कवितावली के भीतर उनकी उन मान्यताओ की भी प्रभा है, जिनके कारण उन्हे लोग समन्वयवादी मानते है और मैं सारग्राही।

जो वड़ा व्यक्ति होता है, वह गुण देखता है, जो छोटा व्यक्ति है भले ही उसे गिद्ध की भाँति अपार दृष्टि मिल जाय, उस दृष्टि मे उसे केवल सड़े मास का ही दर्शन हो सकता है। शक्ति की अपारता यदि स्वार्थ के लिये है तो समाज मे राक्षस वृत्ति का उदय होता है। राम वहाँ प्रकट होता है, जहाँ सुख दु ख, प्रशंसा गाली—समान हो और सारी शक्ति पुरुपार्थ और कृतित्व जन-मगल के लिये हो। जव लोक का स्वार्थ अपना स्वार्थ वनता है, तव व्यक्ति विराट होता है और वह विराटता लोक की श्रद्धा और विश्वास का पात्र तव वनती है, जव केवल भावुकता नही, विवेकशीलता का भी उपयोग व्यक्ति लोक मे व्याप्त विपमता के नाश के लिय करता है। भावुकता और विवेक का योग यदि कर्म-मडित नही है तो वह वैचारिक आदोलन मात्र हो सकता है, लोक-मगलमूलक सत्याचरण नही वन सकता। ऐसी वैचारिकता ज्ञानियो को सोचने के लिये सामग्री दे सकती है, किंतु जग को उठाने के लिये सोपान नही वना सकती। वह एक सकुचित वर्गविशेप का साप्रदायिक संपदा वन सकती है। अभेद समाज की अनत सपदा नही। कर्म, ज्ञान और भाव के माध्यम से ऐसा सोपान वनाता है जो लागा को सदा सहज होने के लिये मार्ग प्रस्तुत करता है, जो सव का हित चाहता है वह सर्वत्र से सुदर तत्वो का सयाजन करता है और उसके माध्यम से कालजयी मंगलमूर्ति गढ़ता है। सु दर और मगलमय का सचयन वह अपने ढग से इस प्रकार करता है कि सारे सु दर और मगलमय तत्व अपने-अपने को उसमे पाते हुए भी सव की कुछ-न-कुछ झलक पाते है और एक नया अलौकिक रूप ले लेते है। रूप का यह नया आभास केवल सु दर ही नही होता, मगलमय भी होता है, क्योकि उसके भीतर युगो का शील समन्वित रहता है

तथा शक्ति की वसुधरा पर वह खड़ा होता है। ऐसी शील, शक्तिमयी कृति सदा मगल वर्षा करती है और सौदर्य को सुदर, कल्याण को कल्याणमय और शक्ति को लोकहितकारी बनाती है। इसलिये यह कहने मे सकोच नही होना चाहिए कि तुलसीदास ने समन्वय नही किया है अपितु शक्ति एव तत्व सचयन किया है और उसे अपने रग मे रँगा है और वह रग ऐसा है जिसमे सबको अपना रग दिखाई पड़ता है; क्योकि केवल तुलसादास ने अपने जीवन मे प्रकाश पाने के लिए अपने को नही जलाया है, अपितु सबका जोवन प्रकाशित हो, इसलिये अपने को जलाया है। 'कवितावली' मे उनके इस पोरुष का रूप अपनी शक्ति और शील के साथ प्रस्फुटित हुआ है। इसलिये इसमे राम भी है, कृष्ण भी है, शकर भी है, कलियुग भी है और वे स्वय भी है और इन सब पर वे छाए हुए है और अपने प्रकाश से इन सबको प्रकाशित करते हुए दीखते है।

मुक्तको मे कवि के व्यक्तित्व की स्पष्ट अवतारणा होती है। शिल्प का चमत्कार काव्य की अन्य विधाओ मे जहाँ व्यक्तित्व को वस्त्राभूषण-मडित कर सहजता को ढँक सकता है, वही मुक्तक मे सहजता या मौलिकता अपना दर्शन देती है। यह मौलिकता काव्य व्यक्तित्व का निष्कर्ष है। इन मुक्तको मे तुलसी का वह अजेय व्यक्तित्व निखरा है, जो दशरथपुत्र को भगवान् बनाकर घर-घर प्रतिष्ठित करने की क्षमता रखता है। व्यक्ति की अजेयता आस्था और विश्वास की अडिगता पर आश्रित है। सपन्नता मे प्राय. सैद्धातिकता भाव-विलास तक ही सीमित रहती है। उसका परीक्षण विपन्नता एव अभाव के समय होता है। अभाव के समय भी आस्थावान व्यक्तित्व असाम होता है और अगाध विश्वास उसमे ऐसी परम सक्रमणकालीन स्थिति मे भी अभिव्यक्त होता है, जिसमे व्यक्तित्व के अस्तित्व का प्रश्न उपस्थित होता है। ऐसा व्यक्तित्व बधनमुक्त होता है तथा जाति, वर्ग, मान अपमान सबसे मुक्त आदर्श का बावरा होता है। कवितावली मे तुलसीदास भयकर दीन है, प्रकृति प्रकोप से पीड़ित है, विनाशकारी कलि समाज के बीच वे रह रहे है पर उनमे टूटन संत्रास नही, सर्जन की अदम्य वृत्ति है। ऐसी भयकर स्थिति मे भी जब लोग सोच रहे है कि—"कहाँ जाई, का करी" वे राम के नेह पर गुलाम की भाँति भरोसा करते है। ऐसा अखण्ड व्यक्तित्व काव्य मे केवल तुलसी का है।

आस्था और विश्वास की प्रतिमूर्ति ही कवितावली की रचनाएँ नही है। उनमे लघुता को विराट बनाने का जीवनदर्शन है। स्थान और समय का मोह सब को होता है। इस मोह मे जो डूब जाता है, वह उस स्थान और काल को भी डुबा देता है और जो उसे अपने प्रेम से उठा देता है, वह स्थानिकता को सार्वलौकिकता और समय को सनातन बना देता है। कवि का व्यक्तित्व ऐसा करने में पारस का काम

करता है। ऐसा मानी सबके गुण का मान करता है । सबके गुण का मान करने से आराध्य का मान गुणियों की आराधना का विषय बनता है और ऐसे गुणी गुणियों के आराधकों की वंदना का विषय । इस प्रकार अपनी भाव मूर्ति को लोकाराधना का विषय बनाने मे कवि सफल होता है। ऐसे हा लोकाराधक कवि तुलसीदास कवितावली मे हैं । काशी, वाराणसी के देवी-देवता शंकर, अन्नपूर्णा, भैरवनाथ दंडपाणि, गणेश, पंचकोसी तथा अपने देश-काल के साथ कवितावली मे तुलसी अपने अभेद व्यक्तित्व के साथ पूर्ण गरिमा मे उपस्थित है और सर्वकालिक हो उठे है । जिसे पितरो का ऋण चुकाने के लिये भी सर पर बाल तक नही है, जो चने के चार दानो को ही अर्थ धर्म, काम, मोक्ष सब कुछ समझता रहा हो, जिसके जाति, पाँति, धन, धाम का ठिकाना नही, उस तुलसी की अंतहीन ऊँचाई का दर्शन कवितावली मे है, जिसमे मर्यादा का असाधारण शील है, पुरुषार्थी व्यक्तित्व का अनन्य उभार है और इन सब मे है अपना सौंदर्य जो सुंदरता को भी सुंदर बनाता है और शीलवान भी ।

साहित्य की दृष्टि से जब विचार किया जाता है, तो रसचर्चा सहज ही आ जाती है, क्योंकि शास्त्रीय विवेचन मे रस का मान इस देश मे सनातन महत्त्व का रहा है। कवितावली मे सभी रस अपने अपने वैभव के साथ है । वीर रस इस ऊँचाई से कवितावली मे वर्णित है कि उस युग के बहुत कम कवि ही उस सीमा को स्पर्श भी कर सकेंगे । ीर रस के चारो रूप इसमे मिलते हैं। जहाँ तक शृंगार रस का प्रश्न है, बाल-सौंदर्य से ही यह कृति आरंभ होती है और सीता के शील-सौंदर्य तक का पूर्ण निखार इसमे आपको मिलेगा । शृंगार रस साहित्य मे परकीया का स्थान महत्वपूर्ण माना गया है किंतु भारत मे सतीत्व की आराधना मानव का परम धर्म रहा है । स्त्री का सौंदर्य तब मंगलमय माना जाता है, जब उसमे सतीत्व हो । स्वकीया का शील और सौंदर्य इस कृति मे अपनी विशिष्टता पर है । हास्य और व्यंग्य रस का भी एक ही छंद है किंतु वह छंद भी इतना ऊँचा है कि जिस ऊँचाई तक गंभीर हास्य उस युग मे ढूंढ़े भी नही मिलेगा, वह भड़ौवा नही है किंतु सच्चे अर्थो मे और आधुनिक अर्थो मे भी वह ऐसा व्यंग्य है जो दृष्टांत के रूप मे कही भी उद्धरण बन सकता है । शांत रस के संबंध मे तुलसी अपने स्थान पर ही है, इस कृति मे भी । वीभत्स रस का भी इसमे वर्णन है । रौद्र रूप को भी लंका कांड मे बड़ी ऊँचाई से प्रस्तुत किया गया है । करुण रस के सफल दर्शन भी इस कृति मे होते है । बीभत्स तथा भयानक रस के भी। इस प्रकार यह कृति साहित्यिक दृष्टि से रसो का रसायन है ।

रस

शृंगार रस कवितावली मे अपने सभी रूपो मे है किंतु तुलसीदास मूलतः निर्वेद के कवि है । वात्सल्य-शृंगार, संयोग-शृंगार और वियोग-शृंगार—तीनो शृंगार इसमे है। वात्सल्य को कुछ लोग रस के अंतर्गत लेते है किंतु मै उसे शृंगार के अंतर्गत

ही मानता हूँ। उसी प्रकार भक्ति को भी शांत रस के अंतर्गत समाहित करना अधिक अच्छा मानता हूँ। इनके उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं:–

१–शृंगार रस

वात्सल्य-शृंगार

उदाहरण

अवधेश के द्वारे सकारे गई सुत गोद के भूपति लै निकसे।
अवलोकि हौ सोच बिमोचन को ठगि सी रही, जे न ठगे धिक से॥
तुलसी मनरजन रंजित अंजन नैन सुखंजन-जातक-से।
सजनी ससि मे समसील उभै नवनील सरोरुह-से विकसे॥

(कवितावली, बाल० पद–१)

संयोग-शृंगार

उदाहरण

दूलह श्रीरघुनाथु बने दुलही सिय सुंदर मंदिर माही।
गावति गीत सबै मिलि सुदरि बेद जुवा जुरि विप्र पढाही॥
राम को रूपु निहारति जानकी कंकन के नग की परछाही।
यातें सबै सुधि भूलि गई कर टेकि रही पल टारत नाही॥

(कवितावली, बाल० पद-१७)

वियोग-शृंगार

उदाहरण

जोग कथा पठई ब्रज को, सब सो सठ चेरी की चाल चलाकी।
ऊधोजू! क्यों न कहै कुबरी, जो बरी नटनागर हेरि हलाकी॥
जाहि लगै परि जाने सोई, तुलसी सो सोहागिनि नदलला की।
जानी है जानपनी हरि की, अब बाँधियैगी कछु मोटि कला की॥

(कवितावली, उत्तर० पद-१३४)

वीर रस

वीर रस के चारो रूप कवितावली मे है :—

धर्म वीर

उदाहरण

कीर के कागर ज्यो नृपचीर, विभूषन उप्पम अंगनि पाई।
औध तजी मगवास के रूख ज्यो, पंथ के साथी ज्यो लोग लोगाई॥
सग सुवधु पुनीत प्रिया, मनो धर्मु क्रिया धरि देह सुहाई।
राजिवलोचन रामु चले तजि बाप को राजु बटाऊ की नाई॥

(कवितावली, अयो० पद-१)

दान वीर

उदाहरण

नगरु कुवेर को सुमेरु की वरावरी,
विरचि वुद्धि को विलासु लंक निरमान भो।
ईसहि चढाइ सीस वीसवाहु वीर तहाँ,
रावनु सो राजा रज तेज को निधानु भो ॥
'तुलसी' तिलोक की समृद्धि, सौज, संपदा,
सकेलि चाकि राखी रासि जागरु जहानु भो।
तीसरें उपास वनवास सिंधु पास सो,
समाजु महाराजजू को एक दिन दानु भो ॥
(कवितावली, सुदर० पद-३२)

दया वीर

उदाहरण

मातु पिता जग जाइ तज्यो विधिहूँ न लिखी कछु भाल भलाई।
नीच, निरादरभाजन, कादर, कूकर टूकन लागि ललाई ॥
रामु सुभाउ सुन्यो तुलसी प्रभु सो कह्यो वारक पेटु खलाई।
स्वारथ को परमारथ को रघुनाथु सो साहेवु, खोरि न लाई ॥
(कवितावली, उत्तरकांड)

युद्ध वीर

उदाहरण

हाथिन सो हाथी मारे, घोरे सो घोरे सघारे,
रथिन सो रथ विदरनि वलवान की।
चचल चपेट, चोट चरन, चकोट चाहे,
हहरानी फौजे भहरानी जातुधान की ॥
वार वार सेवक सराहना करत रामु,
'तुलसी' सराहै रीति साहेव सुजान की।
लावी लूम लसत, लपेटि पटकत भट,
देखौ-देखौ, लखन! लरनि हनुमान की ॥
(कवितावली, लका० पद-४०)

३—करुण रस

उदाहरण

सिथिल सनेह कहै कौसिला सुमित्राजू सो,
मै न लखी सौति, सखी! भगिनी ज्यो सेई है।

कहै मोहि मैया, कहौं मैं न मैया, भरत की,
बलैया लेहौ भैया तेरी मैया कैकेयी है ॥
तुलसी सरल भाय रघुराय माय मानी,
काय मन बानी हू न जानी कै मतेई है ।
बाम बिधि मेरो सुखु सिरिस सुमन सम,
याको छल-छुरी कोह-कुलिस लै टेई है ॥
(कवितावली, अयो० पद-३)

४—अद्‌भुत रस

उदाहरण

लीन्हो उखारि पहारु बिसाल,
चल्यो तेहि काल, बिलबु न लायो।
मारुतनंदन मारुत को, मन को,
खगराज को बेगु लजायो ॥
तीखी तुरा 'तुलसी' कहतो,
पै हिएँ उपमा को समाउ न आयो ।
मानों प्रतच्छ परब्बत की नभ,
लीक लसी, कपि यो धुकि धायो ॥

५—हास्य रस

उदाहरण

बिंध्य के बासी उदासी तपो ब्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे ।
गौतमतीय तरी 'तुलसी' सो कथा सुनि भे मुनिबृंद सुखारे ।
ह्वैहै सिला सब चंद्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे ।
कीन्ही भली रघुनायकजू ! करुना करि कानन को पगु धारे ॥
(कवितावली, अयो० अंतिम पद)

६—रौद्र रस

उदाहरण

गर्भ के अर्भक काटन को पटु धार कुठारु कराल है जाको।
सोई हौ बूझत राजसभा 'धनु को दल्यौ' हौ दलिहौ बलु ताको ।
लघु आनन ऊतर देत बड़ो लरिहै मरिहै करिहै कछु साको ।
गोरो गरूर गुमान भर्‌यो कहौ कौसिक छोटो-सो ढोटो है काको ।
(कवितावली, बाल० पद—२०)

७—भयानक रस

उदाहरण

देखि ज्वालाजालु, हाहाकारु दसकंध सुनि,
कह्यो, धरो, धरो, धाए बीर बलवान हैं।
लिएँ सूल-सेल, पास, परिघ, प्रचंड दंड,
भाजन सनीर, धीर धरें धनु-बान हैं।
'तुलसी' समिध सौंज, लंक जग्यकुंडु लखि,
जातुधान पुंगीफल जव तिल धान हैं॥
स्रुवा सो लंगूर, बलमूल प्रतिकूल हवि,
स्वाहा महा हाँकि-हाँकि हुनैं हनुमान हैं॥

(कवितावली, सुन्दर० पद—७)

८—वीभत्स रस

उदाहरण

ओझरी की झोरी काँधे, आँतनि की सेल्ही बाँधे,
मूँड के कमंडल खपर किएँ कोरि कै।
जोगिनी झुटुंग झुंड-झुंड-बनी तापसी-सी
तीर-तीर बैठीं सो समर-सरि खोरि कै।
सोनित सों सानि-सानि गूदा खात सतुआ-से,
प्रेत एक पिअत बहोरि घोरि-घोरि कै।
'तुलसी' बैताल-भूत साथ लिए भूतनाथु,
हेरि-हेरि हँसत हैं हाथ-हाथ जोरि कै॥

(कवितावली, लंका० पद—५०)

९—शांत रस

उत्तर-कांड शांत-रस के उदाहरणों से भरा हुआ है :—

उदाहरण

बारि तिहारो निहारि मुरारि भएँ परसें पद पापु लहौंगो।
ईसु ह्वै सीस धरौं पै डरौं, प्रभु की समता बड़ दोष दहौंगो।
बरु बारहिं बार सरीर धरौं, रघुबीर को ह्वै तव तीर रहौंगो।
भागीरथी ! बिनवौं कर जोरि, बहोरि न खोरि न लगै सो कहौंगो॥

(कवितावली, उत्तर० पद-१४७)

कवितावली की भाषा अत्यंत परिमार्जित और भाव के अनुरूप अपने को सर्वत्र अभिव्यक्त करती है और कहीं-कहीं तो भाषा इतनी सशक्त हो गई है कि भावों को भी ऊँचा उठा देती है और इतनी चित्रमयता कहीं-कहीं दिखाई

देती है कि केवल मूर्ति ही खडी नही होती, उसकी अंतरात्मा का भी उद्घाटन हो जाता है। इसकी भाषा पूर्वी व्रजभाषा है। मुहावरे और लोकोक्तियाँ इसके कथ्य को स्थान-स्थान पर प्रामाणिकता प्रदान करती है। बनारसी कहावते भी इसमे है। अरबी, फारसी के शब्द भी है। भाषा का प्रयोग भाव की अभिव्यक्ति के लिये हुआ है। भाषा भाव के ताल पर कवितावली मे थिरकती मिलती है।

जहाँ तक अलकारो का प्रश्न है, इसमे प्राय: उपयुक्त अलकार यथा-स्थान मिलते है। अलंकार कही बोझ नही बना है, अपितु भाव-सौदर्य के निखार का साधन मात्र है।

कवितावली एक आस्थावान् सतत विद्रोही की रचना है, जिसमे क्राति है और अजस्र मगल करने की शक्ति है। किसी की वदना से यह कृति आरभ नही होती। इस तरह से तुलसीदास ने अपनी कोई कृति प्रारभ नही की है। कृति आरभ से अंत तक मौलिक है। यह बाल-रूप से शुरू होती है और तुलसीदास के अतिम समय तक का वर्णन करती है। स्थानीय चीजो से और स्थानो से इसमे कवि का प्रेम प्रदर्शित है किंतु लौकिकता और सामयिकता को अलौकिक और सनातन बना दिया गया है। गीति-पद्धति की भारतीय परपरा की दृष्टि से भी देखा जाय तो कवितावली मे तुलसी के व्यक्तित्व का जो उद्रेक हुआ है, वह साधारण होते हुए भी असाधारण है। असाधारण होते भी साधारण लोगो के लिये है। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो तुलसी की कवितावली केवल साहित्य की मधुमती भूमिका ही नही प्रस्तुत करती है या उसका उत्थान ऋतभरा भूमिका तक ही नही होता, अपितु वह साहित्य को ज्योतिष्मती भूमिका प्रस्तुत करने वाली तुलसीदास की कृति प्रमाणित होती है। जब ज्योतिष्मती भूमिका काव्य मे प्रस्तुत होती है, तो ससार का सारा ज्ञान और विज्ञान कवि के व्यक्तित्व मे समा जाता है और उसकी अभिव्यक्ति का साधारणीकरण केवल व्यक्ति की ही नही, लोक की सनातन सपदा बन जाती है। तुलसी की यह भूमिका केवल रामचरितमानस मे ही नही है, कवितावली मे भी है।

इस निबंध मे साहित्य के मनीषी संभवत: कोई ऐसी बात पाएँ जो उनको रुचिकर न लगे और मधुमती भूमिका से ऊपर उठने की बात न सोचे किंतु सरस्वती का आवेग यदि मधुमती, ऋतभरा और ज्योतिष्मती है तो कवि का आवेग भी इस कोटि का होगा ही। जहाँ तक ऊँचाई की बात है, सबसे ऊँचा पहाड़ यदि हिमालय हो सकता है तो कवि भी सबसे अधिक आवेग का हो सकता है। लेकिन हिमालय भी एक ही है, काव्य की ऊँचाई भी वैसी होने पर आपत्ति नही होनी चाहिए। हो सकता है कि आगे कोई नयी सृष्टि हो तो नयी ऊँचाइयाँ बने। रेगिस्तान के टीलों की ऊँचाई को पर्वतो की ऊंचाई से आँकना और पर्वतो की ऊँचाई को महापर्वतों

की ऊँचाई से आँकना आज का गुण-धर्म भले ही हो गया हो, किंतु गिरिराज एक ही होगा। उसी प्रकार कविता के क्षेत्र मे तुलसीदास की ज्योतिष्मती भूमिका उनकी अपनी है और किसी से तुलना की अपेक्षा नही करती और कवितावली मे भी वह भूमिका विद्यमान है।

❀

श्री गोस्वामी जी और राजनीति

पंडित रामचंद्र दूबे

•

प्रजातन्त्र शासन का शखनाद दशो दिशाओ से प्रतिध्वनित हो रहा है। जिन्होने कभी इसका नाम भी नही सुना था, वे भी इसके नाम की माला जपते दिखाई देते है। सभी इसके नशे मे चूर है। प्रजा-सत्तात्मक प्रणाली की दुदुभी बज रही है। चीन जैसा कट्टर लकीर का फकीर भी इस मदिरा के पान से उन्मत्त हो गया है। शताब्दियो का राजसिंहासन जनता की कोपाग्नि मे जलकर भस्म हो चुका है। देखते देखते जार जैसे निरकुश सम्राट का मुकुट पददलित प्रजा के पदो मे धूलि धूसरित हो गया। आज सभी छोटे-बड़े देशो मे प्रजा सत्ता का डका सुनाई दे रहा है। प्रजा अपने जन्मसिद्ध अधिकारो की घोषणा कर रही है। राज्य प्रजा का स्वत्व है, शासक केवल ट्रस्टी के समान है। इस प्रजा-शासन-प्रणाली मे आज सारे गुण ही गुण दिखाई दे रहे है। किसी दोष की इसमे सभावना ही नही। दोष हो भी तो वे क्षम्य है, उपेक्षणीय है। हम भी आज इस प्रजातन्त्र शासन के नशे मे ऐसे चूर हैं कि हमको उसके गुण ही गुण दृष्टिगोचर हो रहे है। हम भी उसके यशोगान मे पूर्ण योग दे रहे है। ऐसे समय यदि कोई एकतंत्र शासन प्रणाली के महत्व का दबी जबान से भी वर्णन करने का साहस करे, तो उसे उलटी सीधी सुननी पडेगी। अतएव प्रजाशासन के इस नक्कारखाने मे किसी पुरानी तूती के एकतन्त्र शासन के गुणगान की मधुर ध्वनि का किसी के कानो तक पहुँचना कठिन ही है। श्री गोसाईं जी एकतन्त्र शासन के प्रतिपादक है। पर उस शासन का आदर्श आजकल के एकतन्त्र शासन से मेल नही खाता। उसमे और आज कल की प्रचलित प्रणाली मे आकाश-पाताल का अतर है। पर है वह एकतन्त्र शासन ही।

भिन्न-भिन्न शासन प्रणालियो को परीक्षा जैसी योरप मे हुई है वैसी इधर नही हुई। यद्यपि वहाँ लोक प्रवृत्ति प्रजासत्तात्मक शासन की ओर ही है, पर ऐसे विचारवान् भी है जो प्रजासत्तात्मक प्रणाली को सर्व सुख शान्ति का द्वार नही मानते, जो एकतन्त्र प्रणाली के उच्च आदर्श को स्वीकार करते है। मिस कारेली अग्रेजी की प्रसिद्ध उपन्यास लेखिका है। उनके उपन्यासो मे मनुष्य समाज की अच्छी आलोचना है।

श्रीमती के 'टेपोरल पावर (Temporal Power) नामक उपन्यास मे क्रांतिकारी समिति की नेत्री, उसकी पथप्रदर्शिका, समिति सचालिका प्रजातन्त्र राज्य

तथा एकतन्त्र शासन की तुलना करती हुई इस प्रकार अपने हृदयोद्गार प्रकट करती है, "हम यह बखूबी जानते हैं कि कोई ऐसा राजा हमारा शासन करे, जो वास्तव में राजा हो, जो दलबंदियों के हाथ की कठपुतली न हो; जो दुष्ट अत्याचारी पूँजी-पतियों के संकेत पर न चले, जो उनके आदेशानुसार जिधर वे ले जाना चाहें, उसी मार्ग का अनुसरण न करे तो, ऐसे नरेश के शासन के अंतर्गत प्रजातन्त्र शासन की अपेक्षा जनता को अधिक लाभ है। सबको उन्नति के समान अवसर और समान अधिकार विशेष रूप से प्राप्त होते हैं।"

इन वाक्यों को उद्धृत करने से हमारा केवल इतना ही अभिप्राय है कि एकतन्त्र शासन कोई ऐसी प्रणाली नहीं जो केवल दुर्गुणों की समष्टि मात्र हो। पाश्चात्य सभ्यता के पक्षपाती कहते हैं कि वह प्रणाली तुला में तुल चुकी और हल्की उतरी है। अब इसकी दाहक्रिया का समय आ चुका है। आजकल वेद, पुराण, शास्त्र और ऐतिहासिक आख्यायिका के वाक्यों की बहुत खींचखाँच यह सिद्ध करने के लिये हो रही है कि प्राचीन काल में आर्यावर्त में प्रजातन्त्र राज्य और गणराज्य विद्यमान थे। हमारे इस भारतवर्ष में भी प्रजातन्त्र शासन प्रचलित था। इस विषय पर अनेक लेख निकल चुके हैं। इस पर शायद एक दो पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी हैं। इनकी समालोचना करना हमें इष्ट नहीं। न हम यही कहते हैं कि आर्य जाति प्रजातन्त्र शासन से एकदम अनभिज्ञ थी। हमारा केवल इतना ही कहना है कि हमारे देश में पूर्ण प्रतिष्ठा इसी प्रणाली की थी। बड़े बड़े साम्राज्यों की योजना उसी के अंतर्गत हुई। प्रजातन्त्र शासन में अनेक त्रुटियाँ हैं। यूनान और रोम से बढ़कर प्रजातन्त्रवादी देश अभी तक नहीं हुए। यूनान में एक समय था, जब एक एक नगर में प्रजासत्तात्मक राज्य था। नगर की सारी जनता को राज्याधिकार प्राप्त थे। उस समय प्रतिनिधि प्रणाली का सूत्रपात नहीं हुआ था। पर क्या उसी यूनान देश ने, उस समय जबकि प्रजा सत्तात्मक राज्य का बोल बाला था, महात्मा सुकरात को विष का प्याला नहीं पिलाया था? क्या प्रजातन्त्रवादी रोम ने अनेक देशभक्तों को तलवार के घाट नहीं उतारा था? क्या "भयंकरता के राज्य" (Reign of terror) ने फ्रांस को कलंकित नहीं किया?

अत: यह नहीं कहा जा सकता कि प्रजातन्त्र शासन प्रणाली चिरकाल के लिये स्थिर हो गई। इसके दोष जिस समय चरमावस्था को पहुँचेंगे, उस समय इसका भी परित्याग होगा और फिर एकतन्त्र शासन की ओर श्रद्धा बढ़ेगी। कालचक्र के भीतर ही सृष्टि के सब व्यापार होते हैं। अत: कोई लोक व्यवस्था स्थिर नहीं कही जा सकती। एकतन्त्र शासन में उच्च आदर्शों की जो प्रतिष्ठा हो चुकी है, वह प्रजातन्त्र में कभी संभव नहीं।

गुसाईं जी के सभी ग्रंथ धर्मभाव लिए हुए है ? वे भक्ति रस से पूर्ण हैं। राजनीति के विषय को लेकर उन्होने कोई अलग ग्रंथ नही लिखा। वे विरक्त साधु थे। फिर भी राजनीनि विषय में ऐसे महाकवि के कुछ विचार जरूर थे और वे किसी अंश में प्रकट भी किए गए है। उनका सबसे वडा ग्रंथ "रामचरितमानस" हैं, जिसमें उन्होंने अपने इष्टदेव के चरित्र को साधारण धर्म और विशेप धर्म दोनों के आदर्श के रूप मे अंकित किया है। अतः उसमे राजधर्म का सुंदर स्वरूप स्थान-स्थान पर झलकाया गया है। गुसाईं जी एकतंत्र शासन के समर्थक थे। पर जिस एकतंत्र शासन का उन्होंने वर्णन किया है, उसका आदर्श आजकल के निरकुंश शासन से इतना ऊँचा है कि हम लोग जो आज आजकल के निरकुंश शासन से ही परिचित है, अपने मन में उसकी सम्यक् भावना ही नही कर सकते। फिर भी यह नही कहा जा सकता कि वह केवल कवि की कल्पना है। गोस्वामी जी द्वारा निरूपित आदर्श राज्य हवाई महल नही। यह वह शासन है, जिसने कभी इस पवित्र भूमि को धनधान्य, वल-वैभव से पूर्ण किया था। यह वह शासन है, जिसकी सुखद छाया के लिये यूरोप आकुल हो रहा है। यह वह शासन है जिसमें प्रजा के दुखों की पुकार को नरेश के कर्ण कुहर में पहुँचने में देर नही लगती थी। यदि वाल्मीकि रामायण रूपक मात्र नही है, तो यह राज्यप्रणाली भी वास्तविक और व्यावहारिक माननी पडेगी। जिस आदर्श प्रणाली का सूत्रपात मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचंद्र जी और उनके पूर्व पुरुष कर गए थे, वह उनके साथ ही विलीन नही हुई, बरन् दीर्घकाल तक भारत की भूमि को सुख शांति प्रदान करती रही।

गीता में भगवान् श्री कृष्णचंद्र ने अर्जुन से कहा है कि "मनुष्यों में मैं राजा हूँ"। हिंदुओं का इस वाक्य मे अटल विश्वास रहा है। पर इसमें और पाश्चात्य देशो के डिवाइन राइट (Divine Right) में आकाश-पाताल का अंतर है। यूरोप में नरेंद्रमंडल समझता था, कि यह पद ईश्वरप्रदत्त है। इसे लेने का किसी को अधिकार नही। पर भारतीय राजनीतिज्ञों ने गीता वाक्य का यह अर्थ समझा है कि राजा ईश्वरीय गुणों से संपन्न होता है। प्रजा का पालन, दुष्टो का दलन, सदाचार की उन्नति, सद्गुणों का उत्तेजन उसका कर्तव्य है। उसका हृदय दया और क्षमा से परिपूर्ण रहता है। जहाँ इन गुणों का लोप हुआ कि राजत्व नष्ट हुआ। हमारा सिद्धांत है कि जो प्रजा का रंजन करे, वही राजा है। पर किंग (King) उसी को कहना चाहिए, जो चतुर हो। इसी धातु से कनिंग Cunnig बना है, जिसका अर्थ धूर्त है। अस्तु।

गुसाईं जी ने महाराज दशरथ तथा रामचंद्र जी की सभा का तथा प्रजाजन से वार्तालाप का जो वर्णन किया है उसको देखकर एक समालोचक महाशय लिखते है, कि गुसाईं जी ने राजा महाराजाओं की सभा नही देखी थी। वे विरक्त थे, अपनी कुटिया में पड़े रहते थे। उनको नही मालूम था कि राजाओं की सभा में

किस प्रकार बातचीत और व्यवहार होता है। इसीलिये उन्होने ऐसा वर्णन किया जैसा कि साधारण जमीदार का होता है। यद्यपि इनकी मित्रता खानखाना, मानसिंह आदि से थी, पर यह नही हम कह सकते, इन्होने किसी राजा, महाराज का दरबार देखा था या नही। पर यह हम जरूर कहेगे, कि इन्होने राजा का जो आदर्श अपने सामने रखा, उसी को आद्योपांत निवाहने के लिये ही ऐसा वर्णन किया है। वे राजा को हौआ नही बनाना चाहते थे। उन्होने उसका चित्रण मनुष्य रूप में किया है जो कि कवि का कर्तव्य है। वे उसको मनुष्यत्व से हटाकर कोई विचित्र जीव नही बनाना चाहते थे। राजा का कृत्रिम रूप भारतीय नही, विदेशी है। गुसाईं जी ने राजा प्रजा मे पिता पुत्र का संबध दिखाने का प्रयत्न किया है। प्रजा में नम्रता है, राजा मे सौजन्य है।

एक ओर महत्व की ओर आकर्षित होने वाली प्रजा है दूसरी ओर अपने शरीर तक को देकर उस महत्व की रक्षा करने वाला राजा है। जिन गुणों से लोक अपना मंगल समझता है, उनका पूर्ण विकास राजा मे देखकर वह मुग्ध होता है और सदाचार की ओर उत्तेजित होता है। राजकुल मनुष्यकुल ही है। कवि उसके उन्ही व्यवहारो को दिखाकर अपना प्रधान लक्ष्य साधता है जो मनुष्य के उच्च भावों के उत्तेजक हैं। रूखे सूखे रूढ़ व्यवहार या असामयिक हृदयशून्य संभाषण से कवि की अर्थसिद्धि नही हो सकती।

यह कहना अनुचित न होगा कि राजमहलो का जीवन ही अब बिलकुल अस्वाभाविक हो गया है। राजसी जीवन दांपत्य और गार्हस्थ्य भावों से सर्वथा शून्य है। राजप्रासाद की महिलाएँ गृहस्थी के व्यवहार से अनभिज्ञ होती है, और पति, पुत्र आदि की सेवा सब दूसरो के हाथ मे रहती है। इधर गुसाईं जी की नायिका भारत की सम्राज्ञी आदि शक्ति का अवतार थी। सीता जी के चरित्र का चित्र देखिए —

.... । सेवति चरन-कमल मन लाई ॥
जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। सब प्रकार सेवा विधि गुनी ॥
निज कर गृह परिचर्जा करई। रामचद्र आयसु अनुसरई ॥

आजकल महारानी साहिबा एक महल मे विराजती है, तो माँ जी साहिबा एक फर्लांग दूर। पर पुराना दृश्य देखिए—

सीअ सासु प्रति बेष बनाई। सादर करहि सरिस सेवकाई ॥
सीअ सासु सेवा बस कीन्ही। तिन्ह लहि सुख सिख आसिष दीन्ही ॥

सीता जी वनवास जाते समय सास के चरण कमलो मे प्रणाम कर कहती है।

.... । सुनिअ सासु मैं परम अभागी ॥

सेवा समय दैव बन दीन्हा । मोर मनोरथ सफल न कीन्हा ॥
तजब छोभ जनि छाँडब छोहू । करम कठिन कछु दोष न मोहू ॥

इधर सास का कैसा अगाध प्रेम था—

नयन-पुतरि करि प्रीति वढाई । राखेउँ प्रान जानकिहिं लाई ॥
कलपवेलि जिमि वहु विधि लाली । सीचि सनेह-सलिल प्रतिपाली ॥
जिअनमूरि जिमि जोगवत रहऊँ । दीपबाति नहिं टारन कहऊँ ॥

कहिए, यह सरल स्वाभाविक जीवन वर्तमान कृत्रिम राजसी जीवन से श्रेष्ठ है या नही ।

गुसाई जी की राज्य प्रणाली एकतन्त्र शासन का एक रूप है, पर वह निरकुश नही, मन्त्रियों तथा विद्वन्मडली, ऋषि-महर्पियो का अकुश राजा के सिर पर सदा लटकता रहता है । पहले आश्रम धर्म ही नरेश को मार्ग से विचलित होने से रोकता है । पुत्र को वयस्क होने पर राजा वानप्रस्थ आश्रम मे प्रवेश करने पर बाध्य होता है । श्रीरामचंद्र जी के वनवास गमन का समाचार सुनकर माता कौशल्या जी कहती है——

अतहु उचित नृपहि वनवासू । वय बिलोकि हियँ होत हरासू ।

यह आश्रम विभाग ही एक बडा अकुश था । मानो राज्य एक प्रकार की धरोहर थी । एक नियत समय के लिये शासन की वागडोर राजा के हाथ मे रहती थी । सुयश और सुकीर्ति उपार्जन करना ही उसका उद्देश्य था । आजकल का समय नही था कि मृत्युशय्या पर पडे है पर फिर राज्य-शासन की लालसा पिंड नही छोडती । स्वायंभुव मनु को राज्य करते वहुत दिन हो गए । वृद्धावस्था के आगमन की सूचना मिली ।

होइ न विपय बिराग, भवन वसत भा चौथपनु ।
हृदयँ वहुत दुख लाग, जनम गयउ हरि भगति विनु ॥
वरवस राज सुतहि तब दीन्हा । नारि समेत गवन बन कीन्हा ॥

महारानी मदोदरी कहती है——

वेद कहहिं अस नीति दसानन । चउथेपन जाइअ नृप कानन ॥

ज्येष्ठ पुत्र साधारणत राज्य का उत्तराधिकारी होता था—

विमलवस यह अनुचित एकू । अनुज विहाइ वडेहि अभिषेकू ।

पुन:

जेठ स्वामि सेवक लघुभाई । यह दिनकर कुल रीति सुहाई ॥

पुन.

लोभ न रामहि राज कर वहुत भरत पर प्रीति ।
मै वड़ छोट विचार करि, करत रहेउँ नृप नीति ॥

पर उसमे भी मंत्रियों तथा प्रजाजन की संमति की आवश्यकता थी।

महाराज दशरथ वृद्ध हो चले। वानप्रस्थ आश्रम का समय आ गया। युवराज की नियुक्ति आवश्यक हुई। ज्येष्ठ पुत्र होनहार है।

....। भए राम सब विधि सब लायक।
सेवक सचिव सकल पुरवासी। जे हमार अरि मित्र उदासी॥
सबहिं राम प्रिय जेहि विधि मोही।..............

यह सब कुछ है, पर राजाज्ञा घोषित नही होती। पहले गुरु महराज वशिष्ठ जी का मन टटोला जाता है और सकुचाते हुए महाराज अपना उद्देश्य प्रगट करते है और गुरु की समति मिलने पर भी राजाज्ञा एकदम नही हो जाती। मन्त्रियों की सभा होती है और उसमे प्रस्ताव उपस्थित होता है।

. ...। सेवक सचिव सुमत बुलाए॥
कहि जय जीव सीस तिन्ह नाए। भूप सुमंगल बचन सुनाए॥

पर राजा अब यह प्रस्ताव अपनी ओर से नही करते। कहते हैं—

प्रमुदित मोहि कहेउ गुरु आजू। रामहि राज देहु जुवराजू॥
जौ पाँचहि मत लागहि नीका। करहु हरषि हिअ रामहि टीका॥

पंच और सचिव स्वय ही राजकुमार के सदाचरण पर मुग्ध है। प्रस्ताव सुनते ही—

. . . . , ...। अभिमत बिरव परेउ जनु पानी॥

और निवेदन करते है—

जग मगल भल काज विचारा। वेगहि नाथ न लाइअ बारा॥

इतना होने पर तब कही राज—आज्ञा होती है।

कहेउ भूप मुनिराज कर, जोड जोइ आयसु होइ।
राम राज अभिषेक हित, वेगि करिय सोइ सोइ॥

आज कल कम से कम भारत मे राजपद वास्तविक रूप मे कोई भार नही समझा जाता। धार्मिक विचार तो जाते ही रहे। उत्तराधिकारी को सिंहासन पर बैठा, एक दो मत्र पढ टीका कर दिया, बस समाप्ति हो गई।

राज्याभिषेक की तैयारियाँ हो रही हैं। पर—

तब नरनाह वशिष्ठ बुलाए। राम धाम सिख देन पठाए॥

और गुरु जी जाकर राम को शिक्षा देते है—

राम करहु सब सजम आजू। जौ विधि कुसल निबाहै काजू॥

वह तो हुआ। पर श्रीरामचद्र जी वन को गए। महाराज स्वर्ग को सिधारे। महारानी कैकेयी स्वपुत्र को सिंहासनासीन देखने की कामना मे हैं। महाराजकुमार भरत ननिहाल से आते है। स्वर्गीय नरेश के मृतक संस्कार से निवृत्त होकर राज—परिवार शुद्ध होता है। राजसिंहासन खाली है। उत्तराधिकारी का प्रश्न तय करना है।

सभा बैठती है। पर 'कौंसिल' अकेले इस गुत्थी को सुलझाने मे अपने को असमर्थ समझती है। अतएव

सचिव महाजन सकल बुलाए।

मन्त्रि मंडल द्वारा साम्राज्य के सब गण्य मान्य नागरिक निमन्त्रित किए गए।

श्री रामचद्र जी युवराज पद के लिये स्वीकृत हो चुके है इसीलिये गुरु वशिष्ठ जी यह कहते हुए भी कि—

वेद विहित समत सब ही का। जेहि पितु देइ सो पावहि टीका॥

प्रस्ताव मे केवल एक प्रकार की रीजेन्सी (Regency) की स्थापना का सकेत कर महाराज-पुत्र भरत को रीजेन्ट बनाना चाहते है—

सौपेहु राज राम के आए। सेवा करेहु सनेह सुहाए॥

मंत्रिमंडल प्रस्ताव का समर्थन करता है।

कीजिअ गुरु आयसु अवसि, कहहिं सचिव कर जोरि।

तो क्या नागरिक प्रतिनिधि केवल तमाशा देखने को बुलाए गए थे? नही नही, उनकी सम्मति ली गई, और उन्होने भी उसी प्रस्ताव का अनुमोदन किया।

मोहि उपदेस दीन्ह गुरु नीका। प्रजा सचिव समत सबही का॥

अंत मे यही प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। महाराज-पुत्र सिहासनासीन तो नही हुए, पर राजर्षि के समान जीवन व्यतीत करते हुए रीजेन्ट का कार्य करते रहे।

श्री रामचद्र जी को चौदह वर्ष हो गए। वे अवधपुरी को लौटे भी। सब लोग प्रसन्न हैं। वियोगजनित दुख से प्रजा के सतप्त हृदय शात हुए। अब अभिषेक होना उचित ही है। पर चौदह वर्ष का समय बहुत लबा है। प्रजा के विचारो मे परिवर्तन होना बहुत सभव है अतएव फिर एक बार उनकी रुचि जानना जरूरी है। ब्राह्मण समाज के नेता हैं अतएव प्रजा मात्र की रुचि उनके द्वारा विदित हो सकती है। इसीलिये अब सभा मे प्रस्ताव की आवश्यकता नही।

गुरु वशिष्ठ कहते हैं—

सब द्विज देहु हरषि अनुसासन। रामचन्द्र बैठहि सिंहासन॥

इसका प्रभाव द्विजमडली पर क्या पड़ता है, यह भी देखिए—

मुनि वसिष्ठ के बचन सुहाए। सुनत सकल विप्रन्ह अति भाए॥
कहहिं बचनु मृदु विप्र अनेका। जग अभिराम राम अभिषेका॥
अब मुनिवर बिलब नहिं कीजै। महाराज कहँ तिलक करीजै॥

पाठक यह तो देख चुके कि राजसिहासन पर किसी व्यक्ति को बैठाने मे प्रजा का कितना अधिकार था। यो कहिए कि गुसाई जी की राय मे राज्य-अधिकार वंश परपरागत होते हुए भी प्रजा को उसमे बोलने का सत्व था, जो साधारण से कुछ विशेष था। अब यह देखना है कि कवि की दृष्टि मे राजा का कर्तव्य

क्या है। वह प्रजा का कर्ता, धर्ता, हर्ता, विधाता और स्वामी ही है अथवा सेवक या माँ बाप भी? गुसाईं जी ने राजा के कर्तव्य का वर्णन थोड़े में बहुत ही सुंदर शब्दों में कर डाला है—

मुखिया मुख सो चाहिए, खान पान कहँ एक।
पालइ पोषइ सकल अंग, तुलसी सहित विवेक॥

प्रजा के प्रति राजा का क्या कर्तव्य है, वह भी सुनिए—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥

केवल प्रजा को सुखी रखने ही में राज कर्तव्य की इतिश्री नहीं। इतने पर भी स्वराज्य, सुराज्य का अंतर रह ही जाता है। गुरु वशिष्ठ जी आज्ञा देते हैं—

"करब साधुमत लोकमत, नृपनय निगम निचोरि।"

इसके द्वारा एकतंत्र शासन की निरंकुशता का लोप हो जाता है और सुराज्य के साथ स्वराज्य की भी झलक दिखाई देती है।

वनवास की आज्ञा हो गई। वनगमन की तैयारी है।

चौदह वर्ष के लिये वियोग हो रहा है। ऐसे सुशील, होनहार प्यारे पुत्र को वन भेजते समय माता कौशल्या जी शोक से व्याकुल हैं। पर इस दशा में भी प्रजा का ध्यान बराबर बना है :

बेगि प्रजा दुख मेटिअ आई। . . . . ।
राज देन कहि दीन्ह बन, मोहि न सो दुख लेस।
तुम बिनु भरतहि भूपतिहि, प्रजहि प्रचंड कलेस॥

लक्ष्मण जी भी वनगामी होना चाहते हैं। इसपर श्री रामचंद्रजी कहते हैं—

मैं बन जाउँ तुमहि लै साथा। होइहि सब बिधि अवध अनाथा।
गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहँ परै दुसह दुख भारू।
रहहु करहु सब कर परितोषू। नतरु तात होइहि बड़ दोषू।
जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी।

वन जाते समय श्री रामचंद्रजी के साथ प्रजा भी तो जाती है। जब समझाने से भी लोग नहीं लौटते, तब रघुनाथ जी सबको सोते हुए छोड़ चल देते हैं। प्रजा जागती है और उसकी क्या दशा होती है—

मनहुँ बारिनिधि बूड़ जहाजू। भयउ बिकल बड़ बनिक समाजू॥

रघुनाथ जी के इस प्रकार चले जाने का वे क्या कारण समझते हैं—

'तजे राम हम जानि कलेसू।'

कैसा अच्छा भाव है! प्रजा को विश्वास है कि हमारा भावी राजा हमारे कष्टों को नहीं सह सकता, जिस राजा के प्रति प्रजा का यह भाव हो, वही वास्तव में राजा है।

भरतजी को राज्य देने के लिये सभा बैठी। वशिष्ठ जी राजनीति का सार इस प्रकार कहते है—

सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना।

सुराज्य के सबध मे गुसाईं जी कहते है कि जिसमे प्रजा सुखी हो, वही सुराज्य है—

'सुखी प्रजा जनु पाई सुराजू।'

इति भीति जनु प्रजा दुखारी। त्रिविध ताप पीडित ग्रह मारी।

'पाइ सुराज्य सुदेस सुखारी।'

प्रजा सुराज्य पाकर बढती है, यह सार्वभौम सिद्धांत है—

विविध जतु सकुल महि भ्राजा। बढ़ै प्रजा जनु पाइ सुराजा।

आजकल "पब्लिक ओपीनियन" की बड़ी कदर की जाती है पर हम बराबर देखते है कि कभी कभी कही हुई बात चाहे कितनी ही सच्ची क्यो न हो, पर उसका कहने वाला कानून के चक्कर मे पड़ जाता है। यहाँ तक कि किसी व्यक्ति की आलोचना पर हतक इज्जत का दावा तक हो जाता है। इधर गोसाईं जी का आदर्श देखिए। एक तुच्छ व्यक्ति राजेश्वरी पर यह आक्षेप करता है, जिससे बढकर स्त्री के लिये कोई घोरतम आक्षेप हो ही नही सकता। पर उसपर कोई दफा नही लगाई जाती, बल्कि—

सिअ निन्दक अघ ओघ नसाए। लोक बिसोक बनाइ बसाए॥

कैसा उच्चादर्श है! वह समय बहुत दूर है, जब 'पब्लिक ओपीनियन' का इतना आदर हो सकेगा। बल्कि सदेह है कि पाश्चात्य सभ्यता, जिसमे व्यक्तिगत स्वतत्रता ही सब कुछ है, कभी उस आदर्श को पहुँच भी सकेगी या नही।

राजा का कर्तव्य शांति स्थापन और दुष्टो का विनाश दोनो है। जिस प्रकार सज्जनों का पालन और शाति का स्थापन राजधर्म है, उसी प्रकार दुष्टो का विनाश और बाधाओ का निवारण भी।

अरक जवास पात बिनु भयऊ। जिमि सुराज खल उद्यम गयऊ।

और भी देखिए:—

'प्रथम अविद्या निसा सिरानी।

अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने। काम क्रोध कैरव सकुचाने।

मत्सर मान मोह मद चोरा। इन्हकर हुनर न कवनिहु ओरा॥

प्रजा मे अविद्या न फैलने पाए, इसका ध्यान राजा को रखना चाहिए। प्राचीन राजा यज्ञो मे जो बडे बडे दान दे देते थे, उनका उपयोग विद्यादान मे ऋषियो द्वारा होता था।

आजकल के बहुत से राजा मुसलमान शासको का भाव ग्रहण कर अपने सरदारो, उमरावों और प्रजाजन के वैभव-प्रदर्शन को द्वेष-दृष्टि से देखते है। हमने

किसी इतिहास मे देखा था, दिल्ली आश्रित किसी नरेश ने सम्राट् के दीवानखास के समान अपने यहाँ एक दीवान-खास बनवाया। सम्राट् को इसकी सूचना होते ही बेचारे पर आफत आ गई। पर गुसाईजी इस विषय पर कहते हैं—

सूर सचिव सेनप बहुतेरे। नृप गृह सरिस सदन सब केरे।

इस आदर्श राजनीति से प्रजा कैसी फली फूली रहती थी। देखिए—

पुर नर-नारि सुभग सुचि संता। धरमसील ज्ञानी गुनवंता

अपने आदर्श नायक के राज्य काल मे उनकी उदारनीति का फल देखिए—

'बैर न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई॥'

क्या साम्यवाद अभी तक उस आदर्श को पहुँच सका है?—

बरनास्रम निज निज धरम, निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहि भय सोक न रोग॥
दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि व्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं सुधरम निरत श्रुति रीती॥
चारिउ चरन धरम जग माहिं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं॥
राम भगति रत नर अरु नारी। सकल परम गति के अधिकारी॥
अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुदर सब बिरुज सरीरा॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥

यह तो आर्थिक दशा देखी। अब आचार की ओर देखिए—

सब निर्दंभ धरमरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी॥
एक नारिव्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी॥
दंड जतिन्ह कर भेद जहँ, नर्तक नृत्य समाज॥
जीतहु मनहिं सुनिअ अस, रामचद्र के राज॥

समाज का कैसा अच्छा चित्र है। इससे सभी प्रकार की उन्नति दृष्टिगोचर हो रही है। पाठक कह सकते है कि यह सब कवि के मन की गढत है। पर "रामराज्य" गुसाईं जी के समय से हजारो वर्ष पूर्व विख्यात हो चुका था।

जब आदर्श राज्य ऐसी उदार और उन्नतिशील नीति पर चलेगा, और इस प्रकार प्रजा-हितकर होगा, तब इसका प्रभाव प्रजा की आर्थिक दशा पर क्या पड़ेगा, यह राजधानी के वर्णन से विदित होगा—

पुर रम्यता राम जब देखी। हरखे अनुज समेत विसेषी।
बापी कूप सरित सर नाना। सलिल सुधा सम मनि सोपाना।
गुंजत मजु मत्त रस भृगा। कूजत कल बहु बरन विहगा।
बरन बरन बिगसे बनजाता। त्रिविध समीर सदा सुखदाता।

सुमन वाटिका वाग वन, विपुल बिहंग निवास।
फूलत फलत सुपल्लवत, सोहत पुर चहुँपास।
बर्नै न बरनत नगर निकाई। जहाँ जाइ मन तहँइ लोभाई।
चारु बजार बिचित्र अँबारी। मनिमय बिधि जनु स्वकर सँवारी।
धनिक बनिक बर धनद समाना। बैठे सकल वस्तु लै नाना।
चौहट सुदर गली सुहाई। सतत रहहि सुगध सिंचाई।
मंगलमय मदिर सब केरे। चित्रित जनु रतिनाथ चितेरे।
पुर नर नारि सुमग सुचि संता। धरमसील ग्यानी गुनवंता।

नगरी का कैसा अच्छा वर्णन है। प्रजा के आमोद प्रमोद के स्थल वर्तमान हैं। सब प्रकार का कार-बार खूब चलता है। नगर की सफाई का प्रवध भी बढिया है। राजा-प्रजा मे पारस्परिक कैसा प्रेम, कैसा घरेलू भाव था। राजा प्रजा दोनो मिलकर अपने को एक कुटुंब के भीतर समझते थे।

देखिए, महाराज कुमार का जन्म हुआ है। प्रजा मे यह समाचार फैलते ही उनमे कैसा उत्साह छा जाता है—

ध्वज पताक तोरन पुर छावा। कहि न जाइ जेहि भाँति बनावा।
बृंद बृंद मिलि चली लुगाईं। सहज सिंगार किए उठि धाईं।
कनक कलस मगल भरि थारा। गावत पैठहिं भूप - दुवारा।
करि आरति नेवछावरि करही। वार वार सिसु चरनन्हि परही।
सरबस दान दीन्ह सब काहू। जेहि पावा राखा नहिं ताहू।
गृह गृह वाज बधाव सुभ, प्रगटे सुखमाकद।
हरषवंत सब जहँ तहँ, नगर नारि-नर-वृद।

आजकल विशेष आज्ञाएँ निकाल कर जो उत्सव मनाए जाते है, उनमे स्वाभाविकता तथा हार्दिकता कहाँ!

असभ्य जातियाँ स्वाभाविक विशुद्ध और सरल प्रकृति की होती है। वे केवल दो मीठे शब्दो से वश मे हो जाती हे। श्री रामचंद्र जी ने वनाश्रित हो चित्रकूट मे डेरा जमाया। वहाँ के कोल-किरात आदि उनके पधारने के समाचार सुनकर दौड़े आते है—

"राम सनेह मगन सब जाने। कहि प्रिय बचन सकल सनमाने॥"
वचन किरातन के सुनत, जिमि पितु बालक बैन॥
राम सकल बनचर परितोषे। कहि मृदु वचन प्रेम परिपोषे॥

राजपाट छूट जाने पर भी असहाय नरेश प्रवास मे किस प्रकार अपने शुभ-चिंतक पैदा कर सकते है, यही इसमे दर्शाया गया है। राजाओ के लिये भी मधुर भाषण उतना ही प्रयोजनीय है, जितना औरो के लिये। इन भील आदि जातियों

से जो मित्रता श्रीरामचंद्र जी ने स्थापित की, यदि मेवाड नरेश—उनके वंशज माने जायँ, आज तक उसका दृष्टात पाया जाता है। यह मित्रता आपत्ति के अवसरो पर परखी जा चुकी है और खरी उतरी है। मेवाड का इतिहास इसका साक्षी है कि कैसे कैसे कुदिनों मे भील इस वश के आडे आए हैं।

आजकल मेलो—उत्सवो मे जब खूब भीड-भाड होती है, तब पुलिस के लाल पगडीवाले दर्शको पर अपने सोटे फटकारते है। अब भी देखिए कि हमारे कवि ने इस अवसर का प्रबध किस खूबी से किया है—

'भय दिखाइ लै आवहु, तात सखा सुग्रीव।'

महाप्रतापी लकेश्वर सकुल समर भूमि मे वीरगति को प्राप्त होता है। विजयलक्ष्मी श्री रामचद्रजी के गले मे जयमाल पहनाती है। लका का राज्य विजय हो चुका, पर क्या रामचद्रजी उसकी ओर आँख उठा कर भी देखते है? वे उस राज्य को तृणवत् तुच्छ समझते है और शत्रु वश के एक राजकुमार को ही दे डालते हैं। क्या आजकल राजनीति इसका समर्थन करेगी? कहा जा सकता है कि विभीषण से पहले ही प्रतिज्ञा हो चुकी थी। यह सही है, पर आजकल की राजनीति मे सधियों और प्रतिज्ञाओ का कितना मूल्य होता है? पर इन आधुनिक विजेताओ ने अनेक विभीषणो को अपने स्वार्थ-साधन के लिये अपनी अदम्य साम्राज्य-तृष्णा के कारण विना काट-छाँट किए कब कोई राज्य लौटाया है।

राजनीति के चार अग साम, दाम, दण्ड और भेद बताए गए है। किसी न किसी रूप मे इनका उपयोग शासन कार्य मे अब भी करना पडता है।

साम दाम अरु दड विभेदा। नृप उर बसहि नाथ कह वेदा।
नीति धरम के चरन सुहाए। अस जिय जानि नाथ पहँ आए।
धरमहीन प्रभुपद विमुख, काल विवस दससीस।
आए गुन तजि रावनहि, सुनहु कोसलाधीस।

कवि ने इसमे यह दर्शा दिया है कि इन चारो का उपयोग भी धर्म के आधार पर ही होना उचित है। धर्म से विमुख होने पर ये साधन भी निष्फल हो जाते हैं। इसी के आधार पर सीसोदियो का यह मत चिह्न परम्परा से चला आता है

"जो दृढ राखै धर्म को तिहि राखै करतार।"

राजा के लिये उत्साहित करना, उत्तेजना देना, आदर-मान करना, अच्छी सेवा करने पर शाबाशी देना, कृतज्ञता प्रकट करना भी जरूरी है। वालिकुमार श्री अंगद जी दूतत्व-कार्य संपादन करके आते हैं—

'अति आदर समीप बैठारी। बोले बिहँसि कृपालु खरारी॥'

हनुमानजी श्री सीताजी की सुधि लेकर आते है। जामवत उनको समक्ष उपस्थित करते है—

सुनि कृपालु उठि हृदय लगाए, जानि सुभट रघुपति मन भाए।

आजकल ऐसा करना शायद एक ताल्लुकेदार की शान के भी खिलाफ समझा जायगा। खैर, श्री महावीर से सब समाचार सुनकर रामचंद्रजी कहते है—

सुनु कपि तोहिं समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी।
प्रति उपकार करौ का तोरा। सन्मुख होइ न सकै मन मोरा।
सुनु कपि तोहिं उऋन मैं नाही। देखहुँ करि विचार मन माहीं।

कैसा अच्छा कृतज्ञता का भाव है।

लंका विजय हो चुकी है। श्री रघुनाथजी अपनी वानरीसेना को संबोधन कर कहते हैं—

तुम्हरे बल मैं रावन मारा। तिलक विभीषन कहँ पुनि सारा॥

उन्होने इस विजय का सारा यश उन्ही को दे दिया है। भरत जी चित्रकूट प्रस्थान करते हुए शृंगवेरपुर मे पहुँचते हैं। निषादपति को संदेह होता है कि भरत जी कहीं श्री रामचंद्र जी से युद्ध करने न आते हों! वह तुरंत मार्ग रोकने का विचार प्रकट करता है। उसके सरदार तैयार होकर आते है—

"देखि सुभट सब लायक जाने। लै लै नाम सकल सन्माने।
भाइहु लावहु धोख जनि, आज काज बड़ मोहि।"

इस उत्तेजना और संमान का कैसा अच्छा प्रभाव पड़ता है—

"सुनि सरोस बोले सुभट, बीरु अधीरु न होहिं॥
राम प्रताप नाथ बल तोरे। करहिं कटकु बिनु भट बिनु घोरे।
जीवत पाउँ न पाछे धरही। रुंड मुड मय मेदिनि करही॥"

राजाओ को अपने वचन पर कैसा दृढ रहना चाहिए, यह राजा दशरथ के चरित्र से प्रकट होता है—

रघुकुल-रीति सदा चलि आई। प्रानु जाइ बरु बचनु न जाई॥

संधि और प्रतिज्ञा के विषय मे ऊपर लिखा जा चुका है। यह संधि प्रतिज्ञा भी तुलसीदास जी के मतानुसार कोई लिपिबद्ध पत्र मे न थी। केवल मौखिक वचन के रूप मे ही थी। पर उसका भला पालन भी कैसी दृढता से हुआ है।

राजा को हरेक महत्व के कार्य मे मत्रिमडल की संमति लेनी चाहिए। गुसाईं जी के चरित्रनायक ने हर एक समय ऐसा ही किया है। उधर लकापति ने भी ऐसा ही किया है। पर दोनो के मत्रिमंडलो मे भारी अतर है। श्री राम जी के मत्रदाता नि सकोच स्वतंत्र भाव से अपनी समति देते है। उधर रावण के परामर्शदाता "जी हजूरी" करते है। लकाधिपति के मत्रियो के विषय मे उसी के पुत्र ने कहा है—

कहहिं सचिव सब ठकुरसोहाती। नाथ न पूर आव एहि भांती।
पर—

सचिव वैद गुरु तीनि जौ प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धरम तनु तीन कर, होइ वेगिही नास॥

इस ठकुरसोहाती की आदत के कारण लकेश्वर ही थे। वे कभी सहन नही करते थे कि हमारी बात काटी जाय। इसी कारण विभीषण पर चरण प्रहार हुआ और वह शत्रु से जा मिला। इसी पर माल्यवत को फटकार मिली और इसी कारण प्रहस्त को कटु वचन सुनने पडे। पर राम की ओर दूसरा ही दृश्य दिखाई पड़ता है। समुद्र तट पर रामचद्र जी पहुँच गए है। समुद्र पार करने का विचार है—

'सुनु कपीस लंकापति वीरा। केहि विधि तरिअ जलधि गंभीरा।'

नए लकेश समति देते है—

'विनय करिअ सागर सन जाई।'

कैसी भद्दी सलाह है। पर रघुनाथ जी जरा भी नाक-भौं नही सिकोड़ते—

'सखा कही तुम नीक उपाई। करिअ दैव जौ होइ सहाई।'

यह सुनकर रावण भी अपनी हँसी नही रोक सका था—

सुनत वचन विहँसा दससीसा। जौ असि मति सहायकृत कीसा॥
सहज भीरु कर बचन दृढाई। सागर सन ठानी मचलाई॥

पर—

मत्र न यह लछिमन मन भावा। राम बचन सुनि अति दुख पावा।
नाथ दैव कर कवन भरोसा। सोखिय सिंधु करिअ मन रोसा।
कादर मन कहुँ एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा।

पर क्या यह सुनकर रघुनाथ जी लक्ष्मण जी को भला बुरा कहने लगे? नही, ऐसा करना उनके बोलने की स्वतंत्रता को हरण करना था—

सुनत विहँसि बोले रघुबीरा। ऐसइ करब धरहु मन धीरा।

यदि मत्री की संमति अस्वीकार की जाती है, तो ऐसे ढंग से जिससे उसको बुरा न लगे। विभीषण भ्राता को त्याग रामचंद्र के शरणागत होता है। सेना में पहुँचते ही उसको शत्रु का दूत समझकर लोग रोक लेते है। इसकी सूचना कपीश सुग्रीव को दी जाती है—

कह सुग्रीवँ सुनहु रघुराई। आवा मिलन दसानन भाई।

उस पर रामचद्र जी सुग्रीव की समति लेते है और सुग्रीव निवेदन करते है—

जानि न जाइ निसाचर माया। काम रूप केहि कारन आया।
भेद हमार लेन सठ आवा। राखिअ बाँधि मोहि अस भावा।

रघुनाथ जी को यह सलाह पसद नही आती। पर देखिए तो, कैसे कोमल शब्दो मे मे अस्वीकार करते है—

सखा नीति तुम्ह नीक बिचारी ।

पर--

मन प्रन सरनागत-भय-हारी ।

अतएव--

उभय भाँति तेहि आनहु, हँसि कह कृपा निकेत ।

यह सब होते हुए भी मनुष्य को तथा राजाओ को परावलबी न होकर स्वावलबी होना उचित है ।

लकेश्वर के बड़े बड़े नामी सरदार मारे जा चुके है । फिर भी वह रण को तैयार है--

निज भुजबल मैं बैर बढ़ावा । दैहउं उतर जो रिपु चढ़ि आवा ॥

कैसे वीर शब्द है । पढ़कर अग अग फड़क उठता है । लक्ष्मण जी के वीर वाक्य ऊपर उद्धृत हो चुके है ।--

कादर मन••• ••• इत्यादि ।

राजाओ मे भी नम्रता आवश्यक है । पर साथ-ही-साथ उसका सीमा से उल्लघन हो जाना भी अनुचित है । आत्म गौरव की हानि जहाँ तक न हो, वही तक नम्रता उचित है ।

परशुराम जी धनुष भग का समाचार सुन आग बबूला होकर आते है । बातचीत होती है । श्री रामचद्र जी अत्यत नम्रता और विनयपूर्वक उनको शात करना चाहते है, साथ ही इसका ध्यान दिलाते हुए कि----

जौ हम निदरहिं बिप्र बदि, सत्य सुनहु भृगुनाथ ।
तौ अस को जग सुभट जेहि, भयवस नावहि माथ ॥

देव दनुज भूपति भट नाना । सम बल अधिक होउ बलवाना ॥
जो रन हमहिं प्रचारै काऊ । लरहिं सुखेन काल किन होऊ ॥
छत्रिय तनु धरि समर सकाना । कुल कलक तेहि पाँवर जाना ॥
कहौ सुभाव न कुलहि प्रसंसी । कालहु डरहिं न रन रघुबसी ॥

दूसरे के उपकार के लिये तो राजा है ही । दूसरे पर अत्याचार होते देख उसका हृदय यदि द्रवित न हुआ, तो वह उस उच्च पद के योग्य नही ।

"अस्थि समूह देखि रघुराया । पूछा मुनिन्ह लागि अति दाया ॥
जानतहू पूछिअ कस स्वामी । समदरसी तुम अतरजामी ॥
निसिचर निकर सकल मुनि खाए । सुनि रघुनाथ नैन जल छाए ।
निसिचर हीन करौ महि, भुज उठाइ प्रन कीन्ह ।"

राजाओ के लिये कृपण होना एक दूषण है ।

सेवक सठ नृप कृपन कुनारी । कपटी मित्र सूल समचारी ॥

राज्य किस प्रकार नष्ट होते है, यह भी देखिए—

"बोली बचन क्रोध करि भारी। देस कोप कै सुरति बिसारी।
करसि पान सोवसि दिन राती। सुधि नहिं तोहि सिर पर आराती।
राजनीति बिनु धन बिनु धरमा। हरिहिं समर्पे बिनु सतकरमा।
सग ते जती कुमन्त्र ते राजा। मान ते ज्ञान पान ते लाजा।
प्रीति प्रनय बिनु मद ते गुनी। नासहिं बेगि नीति असि सुनी।
रिपु रुज पावक पाप, प्रभु अहि गनिअ न छोट करि।"

गृह कलह भी राज्य नाश का एक साधन है। विभीषण ज्येष्ठ भ्राता से रूठकर शत्रु से जा मिलता है और सोने की लका को राख करा देता है—

कहाँ विभीषण भ्राता द्रोही। आज सठहि हठि मारिहुँ ओही॥

इधर रामचद्रजी को राजतिलक देना निश्चय हो गया है, उधर महारानी कैकेयी अपने पुत्र को राज्य दिलाने के लिये महाराज दशरथ को अपने वाग्जाल में फँसा चुकी हैं। भयकर गृह कलह की सामग्री उपस्थित है। ऐसे समय मे माता कौशल्या किस प्रकार इस आपत्ति का निवारण करती है। मन्त्रीपुत्र सारी घटना सुनाता है—

सुनि प्रसंगु रहि मूक जिमि, दसा बरनि नहिं जाइ।
राखि न सकै न कहि सक जाहू। दुहूँ भाँति उर दारुन दाहू॥
राखौ सुतहि करौं अनुरोधू। धरमु जाइ अरु बंधु बिरोधू॥

अतएव आज्ञा देती है—

जौ पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

राजाओ का यही कर्तव्य है कि जहाँ तक बन पड़े, युद्ध को निवारण करने का उपाय करे और पृथ्वी को रक्तमय होने से बचावें। रघुनाथ जी लंका में पहुँच गए हैं, अब यह प्रश्न है कि क्या करना है ?—

इहाँ प्रात जागे रघुराई। पूछा मत सब सचिव बोलाई।
मत्र कही निज मति अनुसारा। दूत पठाइअ बालिकुमारा।
नीक मंत्र सबके मन माना। अगद सन कह कृपानिधाना।
काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई।

रावण की सभा मे कई मत्रियो ने रावण को समझाने का प्रयत्न किया। पर उनमे से अधिकाश की समति राजनीति की दृष्टि से सारहीन है। श्री रामचद्रजी के लंका में पहुँचने पर रावण ने मत्रियो सम्मति ली—

सभा आइ मंत्रिन्ह तेहि बूझा। करब कवन बिधि रिपु सैं जूझा।
कहहिं सचिव सुनु निसिचर नाहा। बार बार प्रभु पूछहु काहा।
कहहु कवन भय करिअ बिचारा। नर कपि भालु अहार हमारा॥

पर उस मडली मे भी एक राजनीतिज्ञ निकल आया—

वचन सबन्हि के श्रवन सुनि, कह प्रहस्त कर जोरि।
नीति बिरोध न करिय प्रभु, मत्रिन्ह मति अति थोरि ॥
प्रथम बसीठ पठव सुनु नीती। सीता देइ करहु पुनि प्रीती।
नारि पाइ फिरि जाहिं जौं, तौ न बढाइअ रारि।
नाहिं त सनमुख समर महि, तात करिय हठिमारि ॥

दूत पूरा विश्वासपात्र होना चाहिए। उसको पूरा अधिकार भी होना चाहिए और वह विश्वास भी कि जो मै कहूँगा वह स्वीकृत होगा। इसी विश्वास पर अंगद जी को यह साहस हुआ

"जो मम चरन सकेसि सठ टारी। फिरहिं राम सीता मैं हारी ॥"

अंग्रेजी कहावत है कि प्रेम और युद्ध मे सब दाँव-पेच उचित है। राजा को अपनी युद्धनीति के सचालन के लिये कभी कभी ऐसा कार्य भी करना पड़ता है जो व्यक्ति-धर्म के विरुद्ध होता है।

इसकी ध्वनि गुसाईं जी के इस वाक्य मे है—

बैरी पुनि छत्री पुनि राजा। छल बल कीन्ह चहै निज काजा।

श्री रामचद्र जी के कीर्ति रूपी चंद्रमा पर शायद इसी नीति के कारण बालि-वध की कालिमा लग गई है। राम सुग्रीव की संधि हो चुकी है। बालि-वध की प्रतिज्ञा भी हो गई है—

सुनु सुग्रीव मै मारिहौ, बालिहि एकहि बान।

नीति के अनुसार मित्र का शत्रु भी अपना ही शत्रु होता है। बालि को कम से कम अपनी रानी तारादेवी के द्वारा ये सब समाचार भी मिल चुके है—

गहि कर चरन नारि समुझावा।
सुनु पति जिनहिं मिला सुग्रीवा। ते दोउ बंधु तेज बल सींवा।
कोसलेस सुत लछिमन रामा। कालहु जीति सकहिं संग्रामा ॥

इस पर बालि का उत्तर सुनिए—

कहा बालि सुनु भीरु प्रिय, समदरसी रघुनाथ।
जो कदापि मोहिं मारिहै, तौ पुनि होउँ सनाथ ॥

'समदरसी रघुनाथ' बालि के ये शब्द और भी चुटकी भरते है। शत्रु की धार्मिकता तथा समदर्शिता पर ऐसा अटल विश्वास! धन्य है, बालि! तुम्हारे इन शब्दो ने तुमको उस शत्रु से भी ऊँचा उठा दिया। रघुनाथ जी की सफ़ाई आज कल के वकीलो की सफ़ाई के समान है। गुसाईं जी बेचारे बालि से भले ही यह कहला दे—

सुनहु राम स्वामी सन, चल न चातुरी मोरि।
प्रभु अजहूँ मैं पातकी, अंत काल गति तोरि॥

पर बात ज्यों की त्यों रहती है।

जन्मभूमि के प्रेम को भी गुसाईं जी नहीं भूले हैं। रघुनाथ जी वनवास से लौटते हैं। अवध में प्रवेश करते ही कहते हैं—

सुनु कपीस अंगद लंकेसा। पावनि पुरी रुचिर यह देसा।
जद्यपि सब बैकुंठ समाना। वेद पुरान विदित जग जाना॥
अवध सरिस प्रिय मोहिं न सोऊ। यह प्रसंग जानै कोउ कोऊ॥
जन्म भूमि मम पुरी सुहावनि। ... ...

लंका निवासियों का युद्ध मातृभूमि तथा जातिप्रेम का उज्ज्वल दृष्टांत है। यह जानते हुए भी, कि यह अधर्म युद्ध है और रामचंद्र जैसे शत्रु से लोहा लेना कठिन है, एक-एक कर वे सब वीर गति को प्राप्त हुए।

सुराज्य और स्वराज्य दो भिन्न वस्तुएँ बताई जाती हैं और यह भी कहा जाता है कि प्रायः सभी स्वेच्छाचारी शासन एक समय सार्वजनिक शासन में परिणत हुए हैं। यह ठीक है। साथ ही यह भी इतना ही सत्य है कि कालांतर में सार्वजनिक शासन भी जर्जरित हो स्वेच्छाचारी शासन में परिणत हुए हैं। इसके उदाहरण लेख के आरंभ में दिये जा चुके हैं। स्वराज्य के जितने नमूने आज वर्तमान हैं, उनमें से अनेकों के लिए वह स्वराज्य अपने अंतर्गत किसी वर्ग के लिए उतना ही निरंकुश होता है जितना कोई दूसरा शासन हो सकता है।

एकतंत्र शासन में देशभक्ति का लोप हो जाना भी कहा जाता है। पर इसे एक दम स्वीकार करते नहीं बनता। अठारहवीं शताब्दी तक भारत के अनेक हिंदू राज्यों में देश भक्ति की पवित्र धारा अच्छी तरह प्लावित होती रही है। मेवाड़ का एक एक स्त्री पुरुष इस ढंग में रंग रहा था। राठौरों ने औरंगजेब के साथ युद्ध में अद्भुत देशप्रेम दिखाया था। महाराष्ट्र भी इसी नशे में चूर थे।

पुरुषार्थ का क्षीण हो जाना भी एकतंत्री शासन का परिणाम बताया जाता है। यदि एकतंत्र शासन से अभिप्राय संपूर्ण निरंकुश शासन से लिया जाय तो यह किसी अंश में ठीक हो सकता है—

कोउ नृप होइ हमैं का हानी। चेरि छाड़ि अब होब की रानी।

पर जिस आदर्श को हिंदू जाति ने स्वीकार किया था और जिसका आदर्श गुसाईं जी ने खींचा है, उसमें इसकी आशंका नहीं। अर्वाचीन इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि भारत की भूमि सदा ही वीर-प्रसविनी रही है। सिक्ख, मरहठे और राजपूत ये वीर जातियाँ थीं। यदि आज इनका पतन हो

गया है तो यह इस आदर्श के कारण नहीं बल्कि उस आदर्श के मटियामेट हो जाने के कारण। आज हिंदू रियासतों मे जो शासन प्रणाली प्रचलित है, वे हिंदू राज्य आदर्श के विरुद्ध प्रधानत मुगल-पठान-प्रणाली पर प्रतिष्ठित हैं उनमें अनेक कलमें लग चुकी है।

संक्षेप में गुसाईं जी का राजनीतिक विचार सुराज और स्वराज्य दोनों को लिए हुए है। एकतंत्र शासक होते हुए भी राजा निरंकुश नही है। उसको हर एक महत्व के कार्य मे केवल मंत्रिमंडल की नही किंतु राज्य के गण्यमान्य पुरुषों की भी संमति लेनी आवश्यक है। राज्याधिकार एक वंश में रहते हुए भी उत्ताधिकारी को चुनने के समय प्रजा की रुचि जानना भी जरूरी है। राजा के शासन का समय भी नियमित है। इस लोक को छोडने के पूर्व ही उसको राज्य-शासन का भार छोडना पडता है। इस कारण उसके हृदय मे इस आकाक्षा का बना रहना स्वाभाविक है कि मुझे सुयश और सुकीर्ति प्राप्त हो। कानून का बनाना भी उसके हाथ में न होकर वनवासी ऋषियों के हाथ मे है, जिसको सांसारिक वैभव और अर्थ की तृष्णा आकर्षित नही करती। ये सब ऐसे प्रतिबंध है, जो राजा को पूर्णतया स्वेच्छाचारी नही बनने देते।

राजा प्रजा का संबंध पिता-पुत्र संबंध के समान पवित्र प्रेम का संबध है और सर्वथा आडंबरशून्य है। एक दूसरे के सुख-दुख मे साथी होता है। इस आदर्श मे राजा कोई भयानक विचित्र जंतु नही। उसमे ईश्वरीय अंश है। उसका हृदय दया प्रेम से पूर्ण है। जिस रथ में वह महारथी आरूढ है, उसका वर्णन देखिए।—

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्यसील दृढ ध्वजा पताका।
बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा दया समता रजु जोरे।
ईस भजन सारथी सुजाना। बिरति चर्म सन्तोष कृपाना।
दान परसु बुधि सक्ति प्रचडा। बर बिज्ञान कठिन कोदडा।
संजम नियम सिलीमुख नाना। अमल अचल मन तून समाना।
कवच अभेद बिप्र पद पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा।

ऐसी आदर्श प्रणाली के शासक प्रजा की समृद्धि को देखकर आजकल के नरेशों के समान द्वेष-ईर्ष्या से दग्ध नही होते थे बल्कि सन्तुष्ट होते थे। वे अपने सेवक-सचिव-गण को अपने समान ही वैभव और ऐश्वर्य पूर्ण देखना चाहते थे। जहाँ तक बन पडता था, युद्ध के रक्तपात से बचने का वे प्रयत्न करते थे। उनके युद्ध भी केवल कीर्ति प्राप्ति के लिये होते थे, राज्य हडपने के लिये नही। प्रजा सत्तात्मक राज्य मे भी एक समय ऐसा आता है जब घटना चक्र के कारण शासन की शक्तियाँ किसी एक नेता के हाथ मे केंद्रस्थ हो जाती है। ऐसे अवसरो पर उनको धरोहर समझ कर उनका सदुपयोग करना और आवश्यक न रहने पर उनसे किनारा खीच

लेना, किसी माई के लाल का ही काम होता है। बहुधा इस प्रकार प्रजा सत्तात्मक शासन का नाश ही होता है। इतिहास मे इसके अनेक उदाहरण हैं। रोम मे सीजर और आगस्टस और फ्रास मे नेपोलियन इसी कुप्रवृति के उदाहरण हैं।

नहि अस कोउ जनमेउ जग माही। प्रभुता पाइ जाहि मद नाही।
पुन ·········· ·· । जग बौराइ राजपद पाए।
ससि गुरु तिय गामी नहुप, चढे भूमि-सुर-जान।
लोक वेद तें विमुख भा, अधम को वेनु समान।
सहसबाहु सुरनाथ त्रिसंकू। केहि न राजमद दीन्ह कलंकू।
कही तात तुम नीति सुहाई। सब तें कठिन राजमद भाई।
जो अँचवत नृप मातहिं तेई। नाहिं न साधु सभा जिन सेई।

महाकवि केवल अपने आदर्श का चित्र नही दिखाता, किंतु जिस समय मे वह होता है, उस समय उसके आदर्श से गिरी हुई दशा का खाका भी खीचता है। गुसाईं जी ने भी आदर्श राजनीति का चित्र खीचते हुए, अपने समय की प्रचलित राजनीति की भी झलक दिखाई है।

वह समय मुसलमानो के प्राबल्य का था। जिस नीति पर मुसलमानी शासक चलते थे, उसका भी दिग्दर्शन उन्होने अपने इस महाकाव्य मे कराया है।

जिहि जिहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर ग्राम पुर आग लगावहिं।
नहि हरिभगति जग्य जप दाना। सपनेहु सुनिअ न वेद पुराना।
बरनि न जाइ अनीति, घोर निसाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति, तिन्हके पापहिं कवनि मिति।
भुजबल विस्व वस्य करि, राखेसि कोउ न स्वतंत्र।
मण्डलीकमनि रावन, राज करै निज मंत्र॥
जप जोग बिरागा तप मख भागा, श्रवन सुनै दससीसा।
आपुन उठि धावै रहन न पावै, धरि सब घालै खीसा।
अस भ्रष्ट अचारा भा संसारा, धरम सुनिअ नहिं काना।
तेहि बहु बिधि त्रासै, देस निकासै जो कह बेद पुराना।

पठान काल का कैसा अच्छा शब्द चित्र है—

देव जच्छ गधर्व नर, किन्नर नाग कुमारि।
जीति बरी निज बाहुबल, बहु सुंदरि बर नारि।

अलाउद्दीन और अकबर की नीति तथा शासन का अच्छा खाका है।

आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिं आइ नित चरन बिनीता।

आमेर, जैसलमेर, बीकानेर, मारवाड आदि एक एक करके सभी के माथे मुगल दरबार की चौखट से लगते थे।

दशरथ की वह दशा प्रेमोन्माद की थी जिसमें वे कहते है—

अनहित तोर प्रिया केहिँ कीन्हा। केहि दुइ सिर केहि जम चह लीन्हा।
कहु केहि रकहि करहुँ नरेसू। कहु केहि नृपहिं निकासौ देसू।
सकौं तोर अरि अमरउ मारी। कहा कीट बपुरे नर नारी।

मुसलमानी समय मे् प्रजा इसी दृष्टि से देखी जाती थी।

जानेसि मोर सुभाउ वरोरू। मन तव आनन चंद चकोरू।
प्रिया प्रान सुत सरवसु मोरे। परिजन प्रजा सकल वसु तोरे।

इसको पढकर कौन नही कहेगा कि प्रेम रूपी पतंग जहाँगीर नूरजहाँ वेगम के चरणकमलो मे प्रेम भिक्षा माँग रहा है।

राजा प्रजा मे वह प्रेम सवध नही रहा था। प्रजा को इससे मतलब नही था कि खुसरो उत्तराधिकारी हो या सलीम; दाराशिकोह गद्दी पर बैठे या मूर्ख मुराद या वदबख्त शुजा या जालिम औरगजेब,

कोउ नृप होउ हमहिं का हानी। चेरि छाड़ि अब होब कि रानी॥

क्या नैराश्यपूर्ण शब्द है!

वीर लक्ष्मण जी को शक्ति लगी है। वैद्य औषधोपचार कर रहा है। लंकेश्वर मनुष्यत्व के नाते को भी छोड़ इसमे वाधा डालने का प्रयत्न कर रहा है। मारवाड़ नरेश, औरगजेब के कट्टर शत्रु का युवराज दरबारे औरगजेब मे आता है और उसको जहर की बुझी खिलअत अता की जाती है जिसको पहन कर वह तड़प तड़प कर मर जाता है।

विभीषण के रूप मे आमेर अधिपति मानसिंह के दर्शन होते है:

दसमुख देखि सकल सकुचाने। जे जड़ जीव सजीव पराने।

किसी यवन हाकिम के आने पर हिंदू प्रजा की ऐसी ही दशा हो जाती थी। यह वास्तविक निरकुश शासन का चित्र है। जिस राज प्रणाली का अनुभव किया था, जिसके गुण दोषो को आखो देखा था, उसके नेताओ, उसके अधीश्वरो के विषय मे भी कवि ने अपने विचार प्रकट कर दिए है—

सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिअ। भूप सुसेवित वस नहिं लेखिअ।
राखिअ नारि जदपि उर माही। जुवती, सास्त्र नृपति बस नाही।

०°०

तुलसीदास और जयदेव

पंडित वलदेव उपाध्याय

अंग्रेजी मे एक कहावत हैं कि Poets are born, Not made. कवि पैदा होता है, वनाया नही जाता। समग्र प्रतिभाशाली कवियो का इतिहास इस सिद्धात की यथेष्ट पुष्टि करता है। कविता प्रतिभा की सुदृढ़ भित्ति पर ही अच्छी तरह खडी हो सकती है। जिस कवि मे इस प्रतिभा का नवोन्मेषिणी प्रज्ञा का अभाव है, जो कवि अपने स्वाभाविक कल्पना के पंखो पर उडकर स्वर्गीय भाव-सुधा को मर्त्यलोक मे लाना नही जानता, भला उसकी कविता-कामिनी के हाव भाव सहृदयो के रसीले हृदय को कभी खीच सकते हैं? उसके मधुर शब्दविन्यास कभी कर्णपुरी मे सुधा की वर्षा कर सकते हैं? क्या उसके ललित अलंकारो की छटा कभी उन श्यामे नयनो को तृप्त कर सकती है? कदापि नही। रस से सरसाती, चित्त मे घाव करने वाली कविता के लिये प्रतिभा की परमावश्यकता है। संस्कृत साहित्य के आलंकारिक शिरोमणि मम्मटाचार्य ने भी कविता के विविध साधन वतलाते समय 'प्रतिभा' को ही सवसे पहल स्थान दिया है। इस प्रतिभा का विकास कवि के हृदय मे जन्म से ही होता है। पूर्वकालीन संस्कार के वल से इस प्रतिभा की निर्मल धारा कवि के हृदय मे प्रवल वेग से वहने लगती है। वाल्मीकि की जिह्वा से अकस्मात् ही कविता का प्रवाह निकलने लगा था। अंधे होमर को किसी विश्वविद्यालय की डिग्री नही मिली थी। उसकी क्रमवद्ध शिक्षा के विषय मे भी ग्रीक इतिहास मौनव्रत अवलवन किए हुए है। वह अपनी प्रतिभा के अनुपम विमान पर चढकर ही सैकडो वर्ष पूर्व घटित होने वाले ट्रोजन सग्राम की छोटी से छोटी घटनाओ को देखता था और अपने अमर महाकाव्य 'इलियड' मे वर्णन करता था। महाकवि शेक्सपियर की वह अनुपम नाट्यकला तथा अनमोल कविता उसकी प्रतिभा के वल से हो प्रसूत हुई थी। अतएव यदि आलोचक-गण सच्चे कवि को खरादा गया न समझकर, जन्म से हीं चमकने वाला, अँधेरे को उजेला वनाने वाला, हीरा समझे तो वह सिद्धांत सत्यता से वहुत दूर न होगा।

उक्त सिद्धात की सहायता को मानते हुए भी हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि कविगत प्रतिभा के अकुर को उपजाने के लिये उसे हरा भरा वनाकर पल्लवित करने के लिये अनेक साधनरूपी खाद की आवश्यकता होती

है। इस सामग्री के विना हृदय में छिपी हुई शक्ति का—सर्वतोगामिनी प्रचड प्रतिभा का सम्यक् विकास वास्तव मे जैसा होना चाहिए वैसा नही होता। वह सामग्री उसके उद्‌बोधन मे, उसे जनता के नेत्रो के सामने प्रकट होने मे अनेक सहायता प्रदान करती है। इस सामग्री को हम निपुणता तथा अभ्यास के नाम से पुकारना यथोचित समझते हैं। ससार के विभिन्न कार्यो का अवलोकन कर उनका समुचित अनुभव प्राप्त करना तथा प्रकृति देवी के मनोरम मदिर को देख उसके वास्तविक रहस्यो के विषय मे ज्ञान प्राप्त करना 'निपुणता' के नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। देश और काल का असीम प्रभाव कवि के हृदय पर विना हुए रह ही नही सकता। सासारिक अनुभव से कवि की प्रतिभा और भी प्रौढ बनती है जिस काल मे कवि का जन्म हुआ है, उस समय की विशिष्ट बिचार-लहरी का छीटा उसकी कविता पर पड़े विना नही रह सकता। उस समय की भावनाओ की तरग उसके काव्य मे जरूर दिखाई देगी। उसी भाँति देश का प्रभाव भी कविता के मनोहर वेश मे बहुत कुछ वैचित्र्य पैदा कर सकता है। इन साधनो के समान ही प्राचीन कविता का अध्ययन तथा मनन भी कवि को सुचारु-रूप मे गढ़नेवाले पदार्थो मे उन्नत स्थान रखता है। नवीन कविता करने का अभ्यास तथा प्राचीन काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन काव्य-साधनो मे एक विशिष्ट साधन है। प्रत्येक देश के कवि अपने पूर्ववर्ती कवियो के भाव अपनाने मे तनिक भी नही हिचकते; क्योकि वे तो उनके अध्ययन के प्रधान अग है। इन साधनो की सहायता से कवि की ईश्वरदत्त प्रतिभा का उद्‌बोधन हो सकता है, तथा कतिपय अशो मे नवीन प्रतिभा का जन्म भी हो सकता है। अनेक ऐसे कविवर हो गए है जिनमे स्वाभाविक प्रतिभा की न्यूनता की पूर्ति बहिर्जगत के अनुभव से यथेष्ट की गई है। ऐसे बहुत से कवि मिलेंगे जिन्होने इन्ही साधनो के सहारे अत्युत्तम कविता की है। अतएव वास्तविक कविता वही है जिसमे प्रतिभा के बीज जन्म से ही निहित हो। तथापि यह मानना ही पड़ेगा कि उपर्युक्त साधनो के द्वारा कवि बनाया भी जा सकता है—उसे देश तथा कालरूपी साँचे मे ढाला भी जा सकता है।

यही कारण है कि कवियो मे भाव-सादृश्य दृष्टिगोचर होता है। कही कही तो दो भिन्न देशीय कवियो के एक ही विषय पर मजमून बलात् लड़ जाते है। कवि-प्रतिभा की गति प्रायः ससार मे एक ही समान रहती है। इस प्रतिभा के बल पर जब एक ही विषय पर कविता लिखी जा रही हो, तब विचारो का लड़ जाना कोई असभव व्यापार नही। परतु कही कही कवि अपने पूर्ववर्ती कवियो के अनूठे भावो को, अनुपम सूझ को जानबूझकर अपनाता है। जो भाव अनोखे होते है, जिनमे अलौकिकता की अधिक मात्रा रहती है, अध्ययनशाली

कवि के स्वच्छ हृदय पर अपना प्रभाव डाले विना नही रह सकते । ऐसे भाव उसके हृदय पर अपनी छाप वैठा देते है, वे कवि की निज को कमाई सपत्ति हो जाते हैं । अतएव जहाँ समुचित अवसर मिलता है, वहाँ कवि उन भावो को प्रकट किए विना आगे नही वढ सकता । उन भावो के परकीय होने का विचार उसके हृदय से सदा के लिये पृथक् हो जाता है । कविता लिखते समय वे भाव स्वत. ही, विना किसी ज्ञात परिश्रम के, उसके नेत्रो के सामने फिरने लगते हैं । कवि उन्ही स्वर्गीय सूक्ष्म भावो का सुदर चित्र अपने शब्दो से सर्वसाधारण के सामने खीचता है । यह भावो का अपनाना "अर्थापहरण" नामक दोप से सर्वथा मुक्त है । यदि कवि किसी दूसरे कवि के भाव को लेकर उसकी रमणीयता की रक्षा न कर सके, उसके अनूठेपन को वनाए न रखे, तो वह वास्तव मे 'कविवन्ति समश्नुते' का लक्ष्य वनाया जा सकता है । परतु यदि वह उन भावचित्रो के गाढे रग मे कुछ भी कमी नही होने देता, यदि कवि के शब्दो मे उतरकर वे भाव अपनी सरसता तथा अलौकिकता को नही खो वैठते, तो वह कवि वास्तव मे सच्चे कवि का उच्च पद पाने का प्रधान अधिकारी है । वही कवि सच्चा कवि है जो प्राचीन भावो पर भी अपनी अनुपम छाप डाल दे । अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा के वल से उनमे नई रंगत पैदा कर दे और उनमे कुछ दूसरा ही अनोखापन ला दे । आलोचकगण इसका ही "मौलिकता" के नाम से सादर स्वागत करते है । कौन ऐसा भाव है जिसे प्राचीन कवियो ने न अपनाया हो तथापि उन्ही भावो को अपने साँचे में ढाल, अपनी प्रतिभा की विमल छाप लगा, उनमे नई चमक पैदा करना ही तो मौलिकता है । सस्कृत साहित्य के प्रधान आलोचक आनदवर्धनाचार्य ने कवि की उपमा सरस वसंत से दी है । वही रूखे सूखे पेड हैं, वही पत्रो से रहित शाखाएँ है, वही फलों से विहीन टहनियाँ हैं, सव कुछ पुराना है परतु वसत के आगमन से प्रकृति मे नवीन परिवर्तन उपस्थित हो जाता है । वृक्षो मे नूतन, रक्त वर्ण के पल्लव हमारे प्यासे नेत्रो को तृप्त करते है; शाखाएँ हरी भरी सो दिखाई देती है; मजरी का सौरभ अलिगण के रसिक मन को अपनी ओर वलात् खीच लेता है । यह नूतन चमत्कार किसने पैदा किया ? सरस वसत ने ! उसी भाँति कवि भी पुराने भावो मे नवीनता उपस्थित कर उन्हे चुटीले वना देता है । कही शब्द वदल देता है तो कही नवीन अर्थ का पुट दे देता है । वस भावचित्र मे अनोखापन आ जाता है । अब भाव दूसरे से उधार ली हुई सम्पत्ति नही रह जाता, बल्कि अपना कमाया हुआ निज का धन हो जाता है ।

दृष्ट पूर्वा अपि ह्यर्था. काव्ये रसपरिग्रहात् ।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमा ॥

कवि-कुल-शेखर राजशेखर ने आनदवर्धनाचार्य की ही उदार सम्मति को अपने शब्दो मे दुहराया है :—

शब्दार्थोक्तिषु य. पश्येदिह किञ्चन नूतनम् ।
उल्लिखेत् किञ्चन प्राच्य मन्यता म महाकवि ।।

समग्र संस्कृत साहित्य हिंदी कवियो के लिये पैतृक सम्पत्ति है । उन्हे उसका पूर्ण रूप से अपनी कविता मे उपयोग करने का अधिकार है । यही कारण है कि अनेक हिंदी कवियो पर प्राचीन सस्कृत कवियो की छाया स्पष्टत झलकती है । परंतु हिंदी के महाकवियो ने भावो को लेकर भी उन्हे अत्यत रमणीय बना डाला है । तुलसीदास ने भी अनेक प्राचीन सस्कृत कवियो के भावो को अपनाकर अपने "रामचरितमानस" को सुशोभित किया । रामायण की भूमिका मे महात्मा तुलसी दास ने स्पष्ट शब्दो मे स्वीकार किया है कि इस ग्रथ मे वर्णित सिद्धात अनेक आगम निगम, पुराण ग्रथो से लिए गए है । देखिए वे लिखते हैं:—

नाना पुराणनिगमागमसम्मत यद्—
रामायणे निगदित क्वचिदन्यतोपि ।
स्वात सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा-
भाषा निबन्धमति मञ्जुल मातनोति ।।

तुलसीदास ने अनेक विमल दार्शनिक सिद्धात गीतादि धर्मग्रथो से, राम का अधिकाश आख्यान अध्यात्म रामायण से तथा अनेक कथोपकथन हनुमन्नाटक से लिए है, यह बात तो प्रसिद्ध ही है; परन्तु रामायणीय कथा विपयक एक और अनुपम ग्रथ जिसकी छाया रामायण के अधिकाश अनूठे भावों पर पड़ी है यह ग्रथ जयदेव प्रणीत 'प्रसन्नराघव' नामक सस्कृत नाटक है । अभी तक इस ग्रथ तथा रामचरित मानस के बिंब प्रतिबिंब भावो का वर्णन हिंदी ससार के सामने विस्तृत रूप से कभी नहीं किया गया था । हाँ, स्वर्गीय पडित चद्रधर शर्मा गुलेरी जी ने नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग ३ स० १ मे प्रसन्नराघव के दो पद्यो को उद्धृत कर रामायण की कुछ कविता के साथ उसका बिंब प्रतिबिंब भाव दिखाया था । यह पहला ही अवसर है (जहाँ तक मुझे मालूम है) कि इन दो कवियो के बिंब प्रतिबिंब भावो का वर्णन रामायण प्रेमियो के सामने उपस्थित किया जाता है ।

प्रसन्नराघव का रचनाकाल

'प्रसन्नराघव' नाटक मे जैसा कि इसका सार्थक नाम प्रकट कर रहा है, रामचद्र के जीवन वृत्तात का अभिनयात्मक वर्णन है । नाटक के जितने आवश्यक गुण होने चाहिए, उनमे से अनेक गुणो की न्यूनता यद्यपि इस नाटक के पढनेवालो को खटकेगी, तथापि कविता के लिहाज से प्रसन्नकारिणी शक्तियो की दृष्टि से यह नाटक अधिक मूल्य रखता है । इस नाटक के कर्ता का नाम 'जयदेव' है । यह कविवर अमर गीतिकाव्य गीतिगोविंदम् के कर्ता जयदेव से

सर्वथा भिन्न व्यक्ति है । गीत गोविंदम् के रचयिता के पिता का नाम भोगदेव तथा पूज्या माता का नाम रमादेवी था; परंतु प्रसन्नराघव के कर्ता के पितृदेव का नाम महादेव तथा माता का सुमित्रादेवी था। इनका गोत्र कौंडिन्य था। प्रसन्नराघव की रचना रामचरितमानस से करीब डेढ़ सौ वर्ष पहले हो चुकी थी। साहित्य-दर्पण के कर्ता विश्वनाथ कविराज ने ध्वनि काव्य के उदाहरण में 'कदली कदली करभ. करभ' वाला प्रसन्नराघव का पद्य उद्धृत किया है जिससे निश्चित है कि जयदेव अवश्य विश्वनाथ (चौदहवीं सदी का उत्तरार्द्ध) से प्राचीन थे। चद्रालोक मे जयदेव ने मम्मटाचार्य के काव्य लक्षणों की हँसी उड़ाई है जिससे इनका समय मम्मटाचार्य (भोज के समकालीन १२वीं सदी) से पीछे तथा विश्वनाथ से पहले ठहरता है। अर्थात् यदि हम इन्हें १ वी सदी का कवि कहे तो अनुचित नही होगा। अतएव जयदेव ने इन समान भावो को रामचरितमानस से नही लिया; क्योंकि वे तो तुलसीदास से सैकड़ो वर्ष पहले हो चुके थे। भाव समानता से सिद्धात यही निकलता है कि तुलसीदास ने ही जयदेव के अनूठे भावो को अपनाकर अपने 'मानस' को सुंदर बनाया है।

बिंब-प्रतिबिंब भाव

जयदेव जी ने नाटक की बालकाडवाली प्रस्तावना मे रामचंद्र के आदर्श चरित्र की भूरि भूरि प्रशसा की है। वास्तव मे मर्यादा पुरुषोत्तम राम का चरित्र समग्र विश्व के लिए अनुकरण की सामग्री है। आदर्श पितृभक्ति, पुत्रस्नेह, भ्रातृप्रेम तथा पत्नीप्रेम का अनुपम समेलन जैसा यहाँ दिखाई देता है, वैसा ससार के किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के जीवन मे नही मिलता। अतएव जयदेव जी की रामविषयक प्रशंसा वास्तव मे सत्य है। वे कहते है कि ज्यो ही कोई मनुष्य अपने अतर्गत भावो को प्रकट करना चाहता है, त्यो ही भगवती सरस्वती उसकी जिह्वा पर आ बैठती है—अपने पतिदेव की क्रीड़ाभूमि को भी छोड़कर करोड़ो कोसो से दौड़ती हुई आकर उसकी जीभ पर विराजमान हो जाती है। इस सुदूर मार्ग को पार करने का परिश्रम किसी तरह भी कम नही होता। इसके लिये केवल एक ही सुगम उपाय है और वह है रामचद्र के गुणगरिमामय चरित्र का कीर्तन। रामचद्र के गुणानुवाद रूपी सुधामयी वाणी मे यदि वह गोता न मारें, तो उनका परिश्रम किसी भाँति दूर नही हो सकता। धन्य है राम के गुणो का कीर्तन जो भारती को भी सुख देने मे समर्थ है:

> झटिति जगतीमागच्छन्त्या पितामहविष्टपान्
> महति पथि यो देव्या वाचः श्रमः समजायत।

अपि कथमसौ मुञ्चेदेनं न चेदवगाहते
रघुपति गुणग्राम श्लाघा सुधामय दीर्घिकाम् ॥
(प्रसन्नराघव, कलकत्ता सं०, पृ० ५)

तुलसीदास जी ने भी अपने आराध्यदेव राम के गाथा-कीर्तन के विषय में अनेक प्रशंसाएँ बालकाड मे की है। वे भी यही कहते हैं—

भगति हेतु विधि-भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई ॥
राम चरित-सर बिनु अन्हवाये। सो स्रमु जाइ न कोटि उपाये ॥

रसिक पाठक इन दोनो उक्तियो को साथ साथ पढें और देखें कि इनमे गहरा भाव साम्य है या नही। श्लोक मे रघुपतिचरित की श्लाघा का रूपक सुधामय दीर्घिका से दिया गया है, महात्मा जी ने उपमान तथा उपमेय की एकलिंगता के साहित्यिक नियम की रक्षा के अभिप्राय से भाव को अपनाकर भी, स्त्रीलिंग का सहारा छोड़, रामचरित का रूपक 'सर' से बाँधा है। भाव तो एक समान है ही, परंतु इस प्रकार अलंकार का निर्वाह भी ठीक ढंग पर किया गया है।

रामचरित मानस का वाटिका भ्रमण भी हिंदी साहित्य मे कविता की दृष्टि से अनूठी चीज है। साधारण शब्दो मे मर्मस्पर्शी भावो का वर्णन करना तुलसीदास का ही श्लाघनीय व्यापार है। अधिकाश रामायणी इस वाटिका भ्रमण को तुलसीदास के कल्पनामय मस्तिष्क की उपज मानते है। परतु यह बात ठीक नही है। प्रसन्नराघव मे सीता का अपनी प्यारी सहेलियो के साथ गिरिजा का पूजन तथा उपवन मे वसत की बहार खूब चुने हुए शब्दों मे वर्णित है। जिस मार्मिक ढग से तुलसी ने इसका शाब्दिक चित्र खीचा है वह तो उनका ही खास ढग है; परतु लेखक की समति है कि वाटिका वर्णन का विचार प्रसन्नराघव से ही तुलसीदास को मिला। रामचंद्र सीता के नूपुर की मधुर ध्वनि सुनकर लक्ष्मण को उधर देखने से रोकते है; क्योकि परस्त्री की शंका से ही रघुवशियो का मन सकुचित हो जाता है :

'परस्त्रीति शकापि सकोचाय रघूणाम्'

इसी भाव पर तुलसीदास ने अपनी प्रतिभा का छीटा देकर यो कहलवाया है—

रघुबसिन कर सहज सुभाऊ। मन कुपंथ पगु धरै न काऊ ॥
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहिं सपनेहु परनारि न हेरी।

पाठक वृंद ! देखिए, एक साधारण बात को भी तुलसीदास ने कैसे अच्छे ढंग से विस्तृत किया है।

नाटक मे धनुष तोडने के लिए रावण और बाण में अनेक वाक्-प्रबंध दिखलाया गया है। अंत मे बाणासुर शिवधनुष को उठाने लगता है। अत्यंत परिश्रम करता है; परंतु वह जड पिनाक टस से मस नहीं होता। इस विषय पर जयदेव जी एक सुंदर उदाहरण देते हैं कि सती स्त्रियो का मन कामी जनो के बारंबार प्रार्थना करने पर भी जरा भी अपने प्राकृतिक स्थान से नही टलता। यही दशा उस धनुष की थी :

> बाणस्य बाहुशिखरैः परिपीड्यमानं
> नेदं धनुश्चलति किंचिदपीन्दुमौलेः।
> कामातुरस्य वचसामिव संविधानै—
> रभ्यर्थितं प्रकृतिचारु मनः सतीनाम्।

तुलसीदास जी ने भी इस प्रसंग पर इसी अनुपम उपमा की सहायता ली है :

> भूप सहस दस एकहिं बारा। लगे उठावन टरै न टारा।
> डिगै न संभु सरासन कैसे। कामी बचन सती मन जैसे॥

कहना व्यर्थ होगा कि यह उपमा जयदेव जी के ही नाटक से ली गई है।

रामचरित मानस का राम-परशुराम-संवाद सजीवता मे अपना सानी नही रखता। लक्ष्मण जी की व्यंग्योक्ति वास्तव मे मर्मस्पर्शिणी है। परशुराम को जैसी फबती लक्ष्मण ने सुनाई है, वैसी रामायण मे और कहीं सुनने को नही मिलती। यह संवाद तुलसीदास के हास्यमय हृदय का पता देता है। यह महात्मा जी की निज की कल्पना से प्रसूत माना जाना चाहिए, तथापि इसके अधिकांश भाव प्रसन्नराघव से लिए गए हैं। हाँ 'कुम्हड़-बतिया' की उपमा आदि अनेक चमत्कारिणी उक्तियाँ खास तुलसीदास की ही हैं, तथापि कतिपय भावो पर जयदेव जी की छाया बहुत साफ देख पडती है।

रामचंद्र परशुराम का बडप्पन दिखाते हुए आपस मे समर व्यापार को निंद्य ठहराते है। वे कहते हैं कि हे भगवन्, आप ठहरे ब्राह्मण, और मैं ठहरा क्षत्रिय; मेरा बल अत्यंत हीन है; परंतु आप उत्कृष्टता के शिखर पर चढे हुए हैं; क्योंकि मेरा बल तो केवल धनुष है जिसमे केवल एक ही गुण (प्रत्यंचा) हैं, परंतु आपका अस्त्र यज्ञोपवीत नवगुणो (सूतो) से सुशोभित है। युद्ध तो समबल के साथ करना समुचित होता है; परंतु मुझमे और आप मे तो आकाश-पाताल का अंतर है; भला कहिए तो सही, मैं कभी आपसे लडने के योग्य हूँ।

भो ब्रह्मन् ! भवता समं न घटते संग्राम वार्तापि नः
सर्वे हीन बला वयं बलवता यूयं स्थिता मूर्धनि ।
यस्मादेकगुण शरासनमिदं सुव्यक्त - मुर्वीभुजा-
मस्माक भवता पुनर्नवगुण यज्ञोपवीतं बलम् ॥
(पृ० ८२)

अब जरा देखिए, तुलसी के इष्ट राम भी इन्ही शब्दो मे संग्राम-वार्ता को बुरा ठहराते है।

हर्मांहि तुर्मांहि सरबरि कस नाथा । कहहु त कहाँ चरन कहँ माथा ।।
देव एकगुन धनुष हमारे । नवगुन परम पुनीत तुम्हारे ।।
सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे । छमहु विप्र अपराध हमारे ।।

देखिए पुराने मजमून मे कैसी जान डाल दी गई है । 'कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा' वास्तव मे इस उद्धरण की जान है, यह तुलसी की खास कल्पना है; मूल मे इस विषमालंकार की छटा देखने को नही मिलती । हाँ इतना अवश्य कहेगे कि "नवगुन परम पुनीत तुम्हारे' मे प्रसाद की उतनी मात्रा नही जितनी 'नवगुणं यज्ञोपवीतं बलम्' मे है ।

राम अपने को निर्दोष सिद्ध करना चाहते है। उनकी राय है कि पुराना धनुष तो छूते ही टूट गया; इसमे हमारा दोष ही क्या ?

मया स्पृष्टं न वा स्पृष्टं कार्मुकं पुरवैरिणः ।
भगवन्नात्मनैवेदमभजत करोमि किम् ॥ पृ० सं० ७१

रामचरित मानस मे भी यही बात कही गई है--

छुवतहि टूट पिनाक पुराना । मैं केहि हेतु करौ अभिमाना ॥

पिनाक को पुराना बतलाकर तुलसीदास ने पद्य के मजमून को अपना बना डाला है ।

सुदरकांड मे जितनी समता दृष्टिगोचर होती है, उतनी और कही दिखाई देती । पद पर तुलसीदास ने जयदेव के भावो का अपनाया है । परंतु ये भाव ऐसे समुचित अवसर पर और सुचारु रूप से बैठाए गए हैं कि इनमे परकीयता की गंध भी नही आती ।

रावण के भय दिखाने पर सीता कह रही है कि है रावण ज्यादा बक झक मत कर । केवल दो ही चीजे ऐसी है जो मेरे कण्ठ को छू सकती है । पहली चीज तो कमल के समान कातिवाला रघुनाथ का भुज, और दूसरी तेरी निर्दय तलवार ! क्या सुन्दर भाव है !

विरम विरम रक्ष किं मुधा जल्पितेन
स्पृशति नहि मदीयं कण्ठसीमानमन्यः ।
रघुपतिभुजदण्डादुत्पल श्यामकान्तेः
दशमुख ! भवदीयान्निष्कृपाद्वा कृपाणात् ॥

(पृ० १२७)

तुलसीदास की सीता भी ऐसी ही आदर्श प्रतिप्राणा है। वह साफ शब्दो मे राम के बिना मरना स्वीकार करती है:—

स्याम सरोज दाम सम सुन्दर। प्रभु-भुज करि कर सम दसकंधर ॥
सोइ भुज कठ कि तव असि घोरा। सुनु सठ अस प्रमान पन मोरा ॥

अब सीता रावण की भयकर तलवार चद्रहास से ही अपना सिर काटने की प्रार्थना कर रही है। वह कह रही है कि चद्रहास रामचंद्र की विरहाग्नि से उत्पन्न हुए मेरे सताप को मिटा दो। तुममे ताप मिटाने की शक्ति अच्छी मात्रा में विद्यमान है; क्योकि तुम अपनी धार मे शीतल जल ही धारण करते हो। इसी शीतल जल से मेरे हृदय में सुलगनेवाली आग बुझा दो, बस यही प्रार्थना है।

चंद्रहास हर मे परितापं
रामचंद्र विरहानल जातम्
त्वं हि कातिजित मौक्तिकचूर्णं
धारयवा वहसि शीतलमम्भः ।

पृ. १२७

रामायण की सीता भी ऐसी प्रार्थना सुनाती है—
चद्रहास हरु मम परितापं। रघुपति विरह अनल संजात ॥
सीतल निसित वहसि वर धारा। कह सीता हरु मम दुख भारा ॥

देखिए, पिछली चौपाई पद्य के पूर्वार्द्ध का अक्षरशः अनुवाद है। नाटक मे सीता त्रिजटा से अग्नि लाने के लिए कहती है, परंतु त्रिजटा के अग्नि सुलभ न होने की बात कहने पर सीता अशोक से ही आग माँग रही है। वह कहती है—हे निर्दय अशोक, मेरे लिए अग्नि की एक चिनगारी भी तो प्रकट करो! विरहियो के सताप के लिए तुम अपने नूतन पल्लवो के रूप मे अग्नि की शिखावली धारण किये हो, जरा एक भी कणिका दो तो सही।

अलमकरुण चेत श्रीमन्नशोक वनस्पते।
दहनकणिकामेका तावन्मम प्रकटीकुरु ।
ननु विरहिणा सन्तापाय स्फुटीकुरुते भवान्
नव किसलय श्रेणीव्याजान् कृशानुशिखावलीम् ।

(पृ. १२९)

रामायण मे सीताजी की भी उक्ति इसी प्रकार है:—

सुनहि बिनय मन बिटप अशोका । सत्य नाम करु हरु मम सोका

नूतन किसलय अनल समाना । देहि अगिनि जनि करहु निदाना

सीता की विषय दशा देख पेड पर छिपे हुए हनुमान ने मुद्रिका गिरा दी। सीता ने समझा कि वाह वाह मेरी प्रार्थना पूरी हुयी, अशोक ने अग्नि की कणिका मेरे लिए गिरा दी है। वह कह रही है—

"हला ! पश्य पश्य निपतित तावदस्य शिखरादङ्गारखण्डकम्" तुलसीदासजी ने भी यही बात लिखी है—

कपि करि हृदय बिचार दीन्ह मुद्रिका डारि तब ।

जनु अशोक अङ्गार दीन्ह हरषि उठि कर गहेउ ॥

परन्तु वह तो थी राम की अँगूठी। झट हनुमान आगे बढ़ आए और सीता से अपने रामदूत बताया। सीता बहुत डरी परन्तु विश्वास होने पर नर और वानर से अयोग्य सम्मेलन की कथा पूछने लगी। जिस प्रकार नाटक की सीता "केन पुनर्नरवानराणामीदृश सखित्व निर्मितम् ।"कह रही है, उसी भाँति रामायण की सीता भी "नर बानरहि संग कहु कैसे" पूछती है।

सम्मेलन की समस्या हल हो जाने पर सीता राम की दशा के विषय मे प्रश्न करती है। तब हनुमान राम की विषम दशा का मार्मिक वर्णन करते है। वह कहते है कि हे सीता, तुम्हारे विना राम को हिमाशु सूर्य की तरह तापकारी जान पडता है। नया मेघ दावानल सा प्रतीत होता है। नदियो के जल से सपृक्त वायु क्रुद्ध साँप के निश्वास सा जँचता है। कुवलय वन कुत के जंगल सा जान पड़ता है; तुम्हारे वियोग मे राम के लिए यह ससार ही विपरीत हो गया; सुखदायक वस्तु से भी दुख ही उत्पन्न हो रहा है :—

हिमाशुश्चण्डाशुर्नवजलधरो दावदहन:

सरद्वीचीवात: कुपितफणिनिश्वास पवन: ।

नवामल्ली भल्ली, कुवलयवनं कुत गहनं

मम त्वद्विश्लेषात् सुमुखि ! विपरीतं जगदिदम् ॥

पृ. १३२-३३

तुलसी ने भी यही बात हनुमान से कहलवाई है। पाठक, देखिए कितनी घनिष्ट समता है:—

राम-वियोग कहेउ तव सीता । मो कहुँ सकल भए विपरीता ॥

नव-तरु किसलय मनहुँ कृसानू । कालनिसा सम निसि ससि भानू ॥

कुबलय विपिन कुतवन सरिसा । वारिद तपत तेल जनु वरिसा ॥

जेहि तरु रहे करत तेइ पीरा । उरग-स्वास सम त्रिविध समीरा ।

हनुमान आगे बढते है। वे कहते है कि रामजी चाहते है कि किसी को मै अपने दुःख की कहनी प्रेम कथा सुना कर किसी तरह दुःख से मुक्त हो जाऊँ। परन्तु वह स्नेह-सार कौन जानता है। मेरा मन ही इस प्रेम तत्व को जानता है परन्तु वह तो मेरे पास नही। वह तो सदा तेरे समीप रहता है प्रिये! मैं क्या करूँ। यह प्रेम कहानी कौन किसे कह सुनावे। हृदय का यह सच्चा रहस्य, प्रेम की यह नई कसौटी विरह मे मन की दशा कितने अच्छे शब्दो मे व्यक्त की गई है। पाठक, पढिए और सराहिए.—

कस्याख्याय व्यतिकरमिम मुक्तदुःखो भवेय
को जानीते निभृतमुभयोरावयो स्नेहसारम्।
जानात्येक ससधरमुखि! प्रेमतत्व मनो मे–
त्वामेवैतत् चिरमनुगत तत्प्रिये किं करोमि॥

(पृ. १३३)

रामायण मे भी सरल शब्दो के द्वारा यही रहस्य व्यक्त किया गया है—
कहेहू तें दुख घटि कछु होई। काहि कहौ यह जान न कोई।
तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा।
सो मन रहत सदा तोहि पाही। जानु प्रीति रस एतनहिं माँही।

और अनेक वर्णनो मे भी प्रसन्न राघव की छाया रामायण मे पाई जाती है। विभीषण-परित्याग तथा लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम के विलाप आदि का वर्णन जयदेव के ही ढग पर किया जाता है। परन्तु एक और भावसाम्य दिखाकर इस लंबे लेख को समाप्त किया जायगा।

लकाकांड

लका का युद्ध समाप्त हो गया है। सब वीरगण विजय से मत्त हो रहे हैं। इतने मे पूर्वाकाश के तिलक चद्रमा का उदय होता है। सुग्रीव, राम, लक्ष्मण, हनुमान आदि के मुख से जयदेव ने चद्रोदय का बडा ही आनददायक वर्णन कराया है। देखिए, विभीषण चद्रमा को एक पराक्रमी सिंह के रूप मे देखते है। चंद्रमा रूपी सिंह ने अपने मयूख-रूपी नखो से अधकार के मत्त हस्ती को चीर डाला है। हाथी के बिखरे हुए मुक्ता की तरह आकाश मे तारे छिटके है। यह सिंह अब तक पूर्व दिशा रूपी गुफा के अदर सोया था, अब उठ कर वह आकाश रूपी कानन मे घूम रहा है। कैसा सागोपांग रूप है—

मयूख नखर त्रुटत्तिमिर कुम्भि कुम्भस्थलो–
च्छलत्तरलतारका कपटकीर्णमुक्ताकण:।
पुरदर हरिद्दरी कुहागर्भ सुप्रोत्थित–
स्तुषारकर केसरी गगनकाननं गाहते॥

(पृ—१५६)

पूर्व वर्णन के आधार पर ही तुलसीदास ने लकायुद्ध के पहले सुमेरु पर्वत पर चद्रोदय का वर्णन किया है। देखिए इस वर्णन मे पूर्व रूपक को ही अपनाया गया है –

पूरब दिसि गिरिगुहानिवासी। परम प्रताप तेजबल रासी।
मत्त नाग तम कुभ विदारी। ससि केहरी गगन बनचारी॥
बिथुरे नभ मुक्ताहल तारा। निसि सुदरी केर सिगारा॥

पाठक, आपने दोनो वर्णनो को पढ लिया है। कहिए जयदेव के पद्य को तुलसी ने अपनाया या नही। ये चौपाइयाँ पद्य के ठीक अनुवाद सी लगती है।

उपसंहार

जितने भाव प्रसन्नराधव तथा रामचरितमानस मे अत्यंत सदृश जान पडते हैं, उनका वर्णन ऊपर किया गया है। लेखक का अभिप्राय हिंदी ससार के चंद्रमा के ऊपर ग्रहण लगाने का नही (न यह ग्रहण कभी लग सकता है); न उसका यही अभिप्राय है कि तुलसीदास पर "अर्थापहरण" दोष लगाया जाय; वल्कि यह दिखलाने का है कि कितनी सफाई से प्राचीन भावो मे रमणीयता पैदा कर दी है। यह काम किसी साधारण थर्ड रेट कवि का नहीं है, परतु किसी प्रतिभाशाली की ही लेखनी का प्रभाव है जो प्राचीन भावो मे इतनी जान डाल सकती है। महात्मा तुलसीदास ने तो स्पष्टत अपने भावो को नाना पुराणो का निचोड बतलाया है। इस लेख से लेखक का अभिप्राय तुलसीदास की असीम विद्वत्ता दिखलाना है। कुछ लोग समझते है कि ये केवल भाषा के ही कवि थे, अतः केवल हिंदी भाषा का ही ज्ञान इन्हे था। परंतु यह कथन ठीक नही। तुलसीदास का संस्कृत साहित्य तथा भाषा का भी ज्ञान बहुत गहरा था। पुराण, गीता, नाटक तथा महाकाव्यो के ये अच्छे ज्ञाता थे। प्रत्येक काड के आरभ मे रचित सुदर पद्यो से भी इनका विपुल सस्कृत ज्ञान स्पष्ट ही प्रतीत होता है। इस लेख से भी इसी बात की यथेष्ट पुष्टि होती है। ये लोग कविता करने के लिये उद्योग नही करते थे, वल्कि इनके स्नेहमय हृदय से आप से आप ही कविता का स्रोत निकल पड़ता था। असीम भगवद् भक्ति के कारण ही इनकी कविता इतनी तलस्पर्शिनी तथा मनोरंजिनी है। ऐसे ही कवियो के लिये महात्मा भर्तृहरि ने कहा है :—

जयन्ति ते सकृतिन. रससिद्धा. कवीश्वराः।
नास्ति येषां यश.काये जरामरणजं भयम्॥

❀

बरवै रामायण

[पं० कृष्णबिहारी मिश्र बी० ए०, एल-एल बी]

परिचय

ससार साहित्य के मुकुट महात्मा तुलसीदास की पुनीत रचनाग्रो में "बरवै रामायण" का नाम भी बड़े ग्रादर के साथ लिया जाता है। क्रमवद्ध रामवर्णन करनेवाली रचनाग्रो मे यह ग्रथ छोटा होने पर भी वडा महत्वपूर्ण है। कविवर रहीम को छोडकर गोस्वामी जी के समान ग्रौर कोई कवि बरवे छद का सफलतापूर्वक, प्रयोग करने मे समर्थ नही हुग्रा है। ३८ मात्रा के इस छोटे से छद मे खूब विस्तृत भाव दिखलाकर गोस्वामी जी ने ग्रपनी प्रतिभा का ग्रनूठा परिचय दिया है। बरवै रामायण मे कुल ६९ बरवै है। इन्ही ६९ बरवो के ग्रतर्गत ग्रति सक्षेप मे रामचरित का वर्णन किया गया है। प्रति काड के वर्णन मे बरवो का हिसाब इस प्रकार है–

वालकाड—	बरवै संख्या—	१९
ग्रयोध्याकाड–	,, –	८
ग्ररण्य काड–	,, –	६
किष्किन्धाकाड–	,, –	२
सुंदर कांड–	,, –	६
लका काड–	,, –	१
उत्तर काड–	,, –	२७
		६९

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि बरवै रामायण में विशेष करके बालकांड ग्रौर उत्तरकाड वाले रामचरित का ही प्राधान्य है। 'बरवै' छद को बरवा, ध्रुव, कुरंग तथा मोहनी भी कहते हैं। मोहनी ग्रौर बरवै मे कुछ ग्राचार्यो ने इतना भेद माना है कि बरवै के ग्रत मे जगण ग्रौर मोहनी के ग्रंत मे सगण होना चाहिए। इस छंद मे ३८ मात्राएँ होती हैं ग्रौर यति १२ ग्रौर ७ पर होती है–

भाषा

बरवै छद मे कविता करने वाले प्राचीन तथा ग्राधुनिक कवि कुछ शब्दो को प्रायः एक दूसरे ही रूप मे व्यवहार करते है। इस छंद मे ग्राते न ग्राते 'उरोज'-'उरोजवा' ग्रौर' करेज'-'करेजवा' रूप पा जाता है। इस प्रकार बहुत से शब्दो मे कवि जान बूझ कर परिवर्तन कर देते है। इस परिवर्तन से कभी कभी प्रात विशेष की

बोली को लक्ष्य में रखते हुए छंद में स्वाभाविकता का संचार हो जाता है; क्योंकि करेजवा आदि शब्द विशेष घरेलू होने से हृदय पर अधिक प्रभाव डालते है। फिर भी कभी कभी ऐसे शब्दो के व्यवहार से छंद मे कृत्रिमता और ग्राम्यता की छाया भी झलकने लगती है। दोनो प्रकार के उदाहरण लीजिए:—

लहरत लहर लहरिया, अजब बहार।
मोतिन जरी किनरिया बिथुरे बार॥
जस मद मातल हथिया हुकमत जाति।
चितवत जाति तरुनियाँ मन मुसकाति॥

उपर्युक्त दोनो ही "बरवै" सुकवि रहीम की सरस रचनाएँ है। हमारी राय है कि प्रथम छंद मे स्वाभाविकता है, पर दूसरे मे कृत्रिमता और ग्राम्यता की भी छाया मौजूद है। 'लहरिया' और 'किनरिया' का जो प्रभाव हृदय पर पडता है वह 'तरुनिया' का नही पडता, क्योंकि तरुणी शब्द साहित्यिक भाषा का है, उसका व्यवहार सहज बातचीत मे, घरो मे बहुत कम होता है। तब उसी 'तरुणी' से जो तरुनिया बनाया गया है, वह और भी कृत्रिम है। हर्ष की बात है कि गोस्वामी जी ने 'बरवै रामायण' मे इस प्रकार के शब्द परिवर्तन बहुत कम किए है। उनकी भाषा प्रांजल है; शब्दसमूह सुष्ठु योजना से भूषित है एव पद्यप्रवाह नितांत स्वाभाविक है। उदाहरण लीजिए:—

सम सुबरन सुखमाकर सुखद न थोर।
सीय अंग सखि कोमल कनक कठोर॥
कोउ कह नर नारायन हरिहर कोउ।
कोउ कह विहरत बन मधु मनसिज दोउ॥

अलंकार

इस पुस्तक मे अनेकानेक 'बरवै' ऐसे बन पडे है, मानो गोस्वामी जी ने उन्हे अलकार विशेष के उदाहरण के लिये हो रचा हो। कुछ उदाहरण लीजिए:—

जटा मुकुट कर सर धनु सग मरीच।
चितवनि बसति कनखियनु अँखियन बीच॥ (स्वभावोक्ति)
अब जीवन की है कपि आस न कोय।
कनगुरिया कै मुँदरी कंकन होय॥ (अतिशयोक्ति)
सिय मुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाय।
निसि मलीन वह निसि दिन यह विगसाय॥ (व्यतिरेक)
गरब करहु रघुनदन जनि मन माँह।
देखहु आपनि मूरति सिय कै छाँह॥ (प्रतीप)
सिय तुव अंग रग मिलि अधिक उदोत।
हार बेलि पहिरावौ चंपक होत॥ (तद्गुण)

वर्णन शैली

गोस्वामी जी का भाव अभिव्यक्त करने का ढग बिलकुल निराला है। वे जिस बात को कहना चाहते है, उसे इतने कौशल से कहते हैं कि चित्त मुग्ध हो जाता है। उनके वर्णनो मे कला और स्वाभाविकता का विद्रोह नही होने पाता। चाहे कला की दृष्टि से लीजिए, चाहे स्वाभाविकता की दृष्टि से, गोस्वामी जी दोनो ही का परिस्फुटन मार्मिकता के साथ करते हुए दिखाई देते है। कुछ उदाहरण लीजिए—

(१) कुकुम तिलक माल श्रुति कुंडल लोल।
काक पच्छ मिलि सखि कस लसत कपोल॥

कितनी मनोहर शब्द योजना है। कला का कैसा सुदर सजीव नमूना है। उधर स्वाभाविकता की भी कैसी मनोमोहिनी बहार है। श्रीराम की किशोरा-वस्था का चित्र अन्तर्चक्षुओ के सामने कितनी स्पष्टता के साथ जगमगा रहा है। क्या मजाल कि छद मे एक मात्रा भी व्यर्थ हो।

(२) श्री राम और जानकी अत.पुर मे उपस्थित है। सीता जी की सखियाँ भी वहाँ मौजूद है। दंपति को सुखद विहार करने मे सखियो की उपस्थिति में संकोच होगा, यही सोचकर सखियाँ वहाँ से टल जाना चाहती है। एक सखी कुछ हँसती हुई मीठी वाणी से कहती है—चलो यहाँ से चलें; दंपति के नेत्र उनींदे हो रहे है। उन्हे सोने दे।

यह कथन कितनी चतुरता का है। इसमे सरसता और विदग्धता का कैसा मनोरम चमत्कार है। यहाँ पर भी स्वाभाविकता ने कला का पल्ला नहीं छोड़ा है। परिहास कितना सुकुमार और चुटीला है। अश्लीलता के भाव की परछाहीं भी नहीं पडने पाई है। कैसा अमूल्य बरवै है—

उठी सखी हँसि मिस करि कहि मृदु बैन।
सिय रघुबर के भए उनीदे नैन॥

कविवर बिहारीलाल ने भी इस भाव से मिलता जुलता एक भाव अपने दोहे मे अभिव्यक्त किया है। उसे भी पाठक गण देख लें—

पति रति की बतियाँ कही सखी लखी मुसकाय।
कै कै सबै टलाटली अली चली सुख पाय॥

यहाँ बात ही दूसरी है। सखियो मे इतनी सूझ नही कि स्वयं टल जाँय। पति मे इतना सकोच नही कि सखियो के सामने रति के प्रस्ताव से विरत रहे। उधर पत्नी भी इतनी कामातुर है कि तुरत सखियो को चलता कर देती है। उसे बात छिपाने का ढग भी नही मालूम है; क्योकि उसकी मुस्कराहट से सखियाँ हृदय की बात तत्काल समझ जाती हैं। इसमे अश्लीलता

की छाया पूर्ण रीति से पड़ रही है । गोस्वामी जी के बरवै में शृंगार का जो पुनीत चित्रण है वह दोहे मे कामुकता के कलंक से मलिन हो गया है ।

(३) शूर्पणखा श्रीराम के पास जाती है और विवाह का प्रस्ताव करती है । वे उसे लक्ष्मण के पास भेजते है तथा नाक कान काट लेने का इशारा भी करते है । इस भाव को गोस्वामी जी ने एक ही बरवै मे दर्शाया है । श्रीराम ने चतुरता से इशारा किया था । गोस्वामी जी ने उसका वर्णन भी कौशल के साथ किया है । श्रीराम वेद और आकाश शब्दो का उच्चारण करते है और फिर अगुलि निर्देश से उनके काट लेने का भाव जताते है । स्मरण रहे कि वेद का पर्याय श्रुति भी है और श्रुति का अर्थ वेद और कान दोनो है । इसी प्रकार आकाश का पर्याय नाक भी है । सो लक्ष्मण जी वेद और आकाश के यथार्थ अर्थ को तत्काल समझ लेते है और श्रीराम की आज्ञा का पालन कर डालते है –

बेद नाम कहि अँगुरिन खंडि अकास ।
पठयो सूपनखाहि लखन के पास ।।

(४) जंगल मे घास के समान तुलसी का महत्व और क्या है ? पर देखो, राम नाम जपने का प्रभाव यह हुआ कि 'तुलसी' तुलसीदास कहे जाने लगे । कैसा मार्के का 'बरवै' है ।

केहि गनती महँ गनती जस बन घास ।
राम जपत भए तुलसी तुलसीदास ।।

इस छद द्वारा गोस्वामी जी ने अपनी हीनता, राम-जप की महत्ता तथा उसी के संयोग से अपने समाहृत होने का परिचय दे डाला है । तुलसी की वनघास से बड़ी अच्छी उपमा हुई है । ठाकुर जी पर चढ़ने के कारण ही तुलसी (घास) का इतना आदर है । उधर रामभक्त होने के कारण ही महात्मा तुलसीदास विश्वविदित हैं ।

'मुख्य विषय'

बरवै रामायण का मुख्य विषय राम-नाम-महिमा का बखान है । उत्तरकांड का अधिक भाग नाम महिमा के निरूपण मे हो लगाया गया है । रामचरित मानस मे बालकाड मे गोस्वामी जी ने इस सबध मे जो कुछ कहा है; प्राय: वही सब बरवो मे भी कहा गया है । इतना होने पर भी दोनो वर्णन विलग और नवीन मालूम होते है । धन्य गोस्वामी जी का राम-नाम-स्नेह !

तुलसी राम नाम जपु आलस छाडु ।
राम विमुख कलिकाल को भयो न भाँड़ु ।।

तुलसी राम नाम सम मित्र न आन ।
जो पहुँचाय रामपुर तनु अवसान ॥
नाम भरोस नाम बल नाम सनेहु ।
जनम जनम रघुनंदन तुलसिहि देहु ॥
जनम जनम जहँ जहँ तनु तुलसिहि देहु ।
तहँ तहँ राम निवाहिब नाम सनेहु ॥

सदृश भाव

३८ मात्राओं के बरवै छंद में गोस्वामी जी ने जो भाव भरा है, उसे अन्य बड़े बड़े कवि अपेक्षाकृत लंबे छंदों में भी नहीं व्यक्त कर पाए हैं। गोस्वामी जी के पूर्ववर्ती बड़े बड़े कवियों ने इनके छोटे से बरवै में दिए हुए भाव को अपनाने का उद्योग किया है। केवल एक इसी बात से बरवै रामायण का महत्व प्रतिपादित हो जाता है। उदाहरण के लिए कुछ सदृश भाव नीचे दिए जाते हैं।

चंपक हरवा अंग मिलि अधिक सोहाय ।
जानि परै सिय हियरे जब कुम्हिलाय ॥ तुलसी
रंच न लखियत पहिरि ये कंचन से तन बाल ।
कुम्हिलाने जानी परै उर चंपे की माल ॥ बिहारी
अब जीवन कै हे कपि आस न कोय ।
कनगुरिया कै मुँदरी कंकन होय ॥ तुलसी
तुम पूछत कहि मुद्रिकै मौन होत यहि नाम ।
कंकन की पदवी दई तुम बिनु या कहँ राम ॥ केशव
केस मुकुत सखि मरकत मनिमय होत ।
हाथ लेत पुनि मुकता करत उदोत ॥ तुलसी
मुकुत हार हरि के हिए मरकत मनिमय होत,
पुनि पावत रुचि राधिका मुख मुसकानि उदोत ॥ मतिराम
बिरह आगि उर ऊपर जब अधिकाय ।
ए अँखियाँ दोउ बैरिनि देहिं बुताय ॥ तुलसी
सखियाँ हे मेरी मोहिं अँखियाँ न सींचती तौ,
याही रतिया मैं जाती छतिया छ्टूक ह्वै ॥ —देव

ऊपर जो दो चार उदाहरण दिए गए हैं, उनको देखकर पाठक गण स्वंय निर्णय कर सकते हैं कि पूर्ववर्ती कवि के भाव का अपहरण करके भी परवर्ती कवि भाव में किसी नूतन चमत्कार का समावेश नहीं कर सके हैं।

मतिराम ने मुख मुसकानि की आभा से पूर्व रूप का आविर्भाव करने मे कुछ चतुरता अवश्य दिखलाई है, पर गोस्वामी जी के आगे नही निकल सके है। विहरी ने तो सीधे चोरी की है। उन्होने दोहे मे 'कचनतन' जोडकर कोई खूबी नही पैदा की। केशव का वर्णन विलकुल विलग है। सभव है कि यह तुलसीदास के वरवै को देखकर न वना हो और 'प्रसन्नराघव' या 'हनुमन्नाटक' के इसी भाव-वाले श्लोक का अनुवाद मात्र हो। कुछ भी हो, गोस्वामी जी का भाव इसकी तुलना मे भी वढ़कर है। देव ने आँखो को सखी का पद प्रदान किया है और उन्ही के द्वारा नायिका के जीवन की रक्षा करवाई है क्योकि यदि आँखे अश्रु सिचन न करती तो छाती टूक टूक हो जाती और नायिका मर जाती। रोने से दुख हलका होता है, इस श्लोक प्रसिद्ध ज्ञान का समावेश देवजी ने अच्छे ढग से किया है। अश्रु प्रवाह से दुख मे कमी होगी और इस तरह जीवन रक्षा होगी। यह काम आँखे करती है इसलिये इन्हे सखियाँ कहना वाजिव है। देव ने भाव मे इतनी ही नूतनता पैदा की है। इस प्रयत्न के कारण यद्यपि वे चोरी के इलजाम से वरी होते है फिर भी तुलसी-दास के भाव के आगे वे भी नही निकल सके। विरह-विधुरा सीता विरह ताप मे अपने प्राण गँवाने के लिये तुली वैठी है; परतु आँखे उनके इस काम मे वाधा डालती है, इसलिए सचमुच वे शत्रुता का काम कर रही है सो गोस्वामी जी का उनको 'वैरिनि' कहना कितना उपयुक्त है। वरवै मे निराशा और कातरता का भाव जिस खूवी से प्रकट किया गया है, वह देव के छद मे नही है।

साराश

वरवै रामायण एक बड़ा ही उत्कृष्ट ग्रथ है। यह अत्यंत छोटा होने पर भी महत्वपूर्ण है। इसकी भाषा नितात प्राजल, शुद्ध और सरल है। अन्य वरवैकारो के समान गोस्वामी जी के छदो मे शब्द विशेष रूपो मे वहुत कम व्यवहृत किए गए है। प्रत्येक वरवै कला की दृष्टि से अनुपम वन पड़ा है। अनेक अलकारो के उदाहरण-स्वरूप 'वरवै रामायण'' के छद उदधृत किए जा सकते है। इन वरवो मे स्वाभा-विकता भी कूट कूट कर भरी है। गोस्वामी जी की वर्णन शैली भी अनूठी है। उसमे कला और स्वाभाविकता का मनोरम सयोग पाया जाता है वरवै रामायण मे मुख्यतया राम नाम की महिमा का प्रतिपादन किया गया है। वरवै रामायण मे वहुत से ऐसे भाव भी हैं जो रामचरित मानस मे विस्तार के साथ कहे गए है। परवर्ती कवियो ने अनेक वरवों के भावों को अपनाने की चेष्टा की है, पर गोस्वामी जी के आगे निकलने का सौभाग्य किसी कवि को नही प्राप्त हुआ। सव वातो पर विचार कर चुकने के वाद निष्कर्ष यही निकलता है कि ''वरवै रामायण' भाषा साहित्य का एक उत्कृष्ट ग्रंथ है और हिंदी भाषा भाषियो को अपने साहित्य भडार मे इसे मौजूद पाकर हर्ष होता है। जिन कवि-कुल-कलश गोस्वामी तुलसीदास जी ने हमारे लिये इस ग्रंथ की रचना की, क्या उनको हम कभी भूल सकते है?

'तिन नगरी तिन नागरी, प्रतिपद हंसक हीन ।
जलज हार शोभित न तहँ, प्रगट पयोधर पीन ।।'

अनुप्रास --तुलसी की भाषा स्वाभाविक, सरल तथा सरस अनुप्रासों के कारण और भी ललित हो गई है; किंतु केशव की भाषा स्वभावत ही कठिन होने के कारण उनके अधिकाश अनुप्रास भी क्लिष्ट तथा कर्कश हैं, तो भी ललित अनुप्रास भी उनकी कविता मे कम नही हैं । नीचे के उदाहरणों से यह बात प्रगट हो जायगी--

"पूरब की पूरा पूरी पावर पुरी से
ततवा पुरी वे दूरि ही ते पायन परति है ।
दक्षिण की पक्षिनी सी गच्छै अंतरिक्ष मग
पक्षिम को पक्षहीन पक्षी ज्यो उरति है ।।"

\+ + +

सब जाति फटी, दुख की दुपटी ।

केशवदास ने तुलसीदास की अपेक्षा बहुत अधिक छंदो का प्रयोग किया है । केशव ने संस्कृत छदो का विशेष प्रयोग किया है । उनकी छद प्रचुरता देखकर ऐसा मालूम होता है, मानो छंद शास्त्र से खोज खोजकर उन्होंने छदो की सूची पूरी करने के लिये विविध छदो की भरमार की है । उनके काव्य मे ऐसे छद मिलते है जिनका कभी नाम भी न सुना हो । इसके अतिरिक्त उनके छंद इतनी जल्दी बदलते है कि आश्चर्य होता है । छद इतनी जल्दी जल्दी बदलने के कारण कभी कभी कथा की रोचकता भी बिगड़ जाती है । कथा की अपेक्षा केशवदास का छदो का बदलावट पर अधिक ध्यान दिखाई देता है ।

इसके विरुद्ध, तुलसीदास ने जो छद उठाया, उसी मे पूरा ग्रंथ और केशव के सारे ग्रंथो को मिलाकर उनसे भी बड़ा ग्रथ पूरा कर दिया । अगर केशवदास को इसी प्रकार एक ही छद मे काव्य करना पड़ता तो शायद वे उतने सफल न होते । और यदि तुलसीदास को केशव के समान विविध छंदों में कविता करने को कहा जाता तो शायद वे उतने सफल न होते ।

तुलसी ने एक ही छंद को निवाहने मे सफलता पाई और केशव ने अनंत छदो को निवाहने मे ।

इन अनंत छंदों के प्रयोग से केशव का संस्कृत तथा छंद:शास्त्र का ज्ञान प्रगट होता है ।

दोनो ही कवियो ने अलंकार के भंडार को अच्छा भरा है । इनके काव्यो मे प्राय. सभी अलकारो के उदाहरण पाए जाते हैं । वैसे तो सभी अलंकारो मे दोनों महाकवियो ने सफलता पाई है, किंतु तुलसीदास के रूपक तथा केशव की

उत्प्रेक्षा विशेष हृदयग्राहिणी है। तुलसी के अनेक उत्तमोत्तम रूपको के सामने केशव के बहुत कम रूपक ठहर सकते है; और केशव की उत्प्रेक्षाओ की लड़ी के समान तुलसी के काव्य मे कम उत्प्रेक्षाएँ मिलेगी। केशव एक ही बात के लिये अनेको उपमाओ और उत्प्रेक्षाओ का प्रयोग करते चले गए हैं। ऐसे उदाहरण तुलसी की कविता मे कम मिलते है। केशव की कविता से चुने हुए कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते है।

"पावक पवन मणि पन्नग पतग।" रा० चं० (१७)

\+ + + +

अरुण गात अति प्रात पद्मिनी प्राणनाथ भय।
मानहु केशवदास कोकनद कोक-प्रेम-मय॥
परिपूरण सिंदूर पूर कैधो मंगल घट।
किधौ शक्र क्रोध भभक्यौ माणिक पियूष पट॥
कै शोणित कलित कपाल यह मिल कपालिका काल को।
यह ललित लाल कैधो लसत दिग्भामिनि के भाल को॥

\+ + +

"चढ़ो गगन तरु धाय दिनकर वानर अरुण मख।
कीन्हो भुकि भहराय सकल तारका कुसुम विनु॥"
पसरे कर कुमुदिन काज मनो। (रा० च० १९)

× × ×

व्योम मे मुनि देखिए।

× × × ×

गंगा जल की पाग सिर
यदपि भृगुटि रघुराय की
श्रवण मकर कुंडल लसत }

(रा० चं० ३३)

अलि वदन शोभ सरसी सुरंग (३४)
श्याम हुओ मग लाल (३५)
पहिरे वसन सुरंग (३६)
किधौ यह राज-पुत्री (५९)
यह सूर किरण तम दुख हारि (११३-३९-४२)

केशव वीर, रौद्र तथा शृंगार रस का विशेष वर्णन किया है और तुलसी ने वीर, शात, करुण तथा वात्सल्य का। शृंगार रस की ओर तुलसी ने ध्यान ही नही दिया। अतः इसमे दोनो की तुलना ही नही हो सकती। केशव ने शृंगार रस का पूर्ण तथा सजीव वर्णन किया है। वीर रस में भी केशव बाज़ी

मार ले जायँगे। उनके छद वीर रस के लिये अधिक उपयुक्त है। उनकी क्लिष्ट भाषा भी वीर रस की भाषा है। साधारण बाते तथा अन्य रस भी वे वीर रस के ही शब्दो मे कहते है। केशवदास स्वयं वीर योद्धा थे और अनेको युद्धो मे रह भी चुके थे। अत वे तुलसीदास की अपेक्षा अधिक सजीव वर्णन कर सकते हैं।

शात रस का भी दोनो कवियो ने अच्छा वर्णन किया है। विज्ञान-गीता तथा रामचंद्रिका सप्तम प्रकाश (उत्तर काण्ड) में शात रस का अच्छा वर्णन है। इनकी तुलना तुलसीदास के उत्तमोत्तम वर्णनों से अच्छी तरह की जा सकती है। उदाहरण —

को है दमयन्ती—	(३६)
श्री शोभिजै सखि सुदरी	
युद्ध को आजु भरथ चढ़े।	)६७)
हिमांशु सूर सो लगै	(६१)
उड़ै दिशा दिशा कपीश	(१४३)
रण इंद्रजीत अजीत	(१४५)
खैचत लोभ दशो दिशि को महि	(१८४)
ज्ञान निकेतन ज्ञाननि को कहि	(१८५)

प्रकृति-निरीक्षण

केशव का प्रकृति निरीक्षण तुलसी की अपेक्षा अधिक बढ़ा चढ़ा है। उन्होने ऋतु, चद्र-सूर्योदय, प्रकृति छटाओ आदि के बहुत अच्छे अच्छे वर्णन किये हैं। तुलसीदास ने यदि प्रकृति वर्णन किए भी है तो वे बहुत सक्षिप्त हैं। केशव के वर्णन अधिक कवित्वपूर्ण तथा विस्तृत है। नवीन नवीन उपमाओ आदि से केशव के वर्णन सुदर हो गए हैं। तुलसी के वर्णन चाहें जितने कम और सक्षिप्त हो, किंतु वे अपनी स्वाभाविक सरसता के कारण अत्यंत ललित हो गए हैं यथा:—

देखि बाग अनुराग उपज्जिय	(रा. च. ५)
तरु तालीस तमाल ताल हिताल०	(रा. च. १३)
अरुण गात अतिप्रात०	(१२)
तडाग नीर हीन ते सनीर होत	(६०)
पाडव की प्रतिमा सम लेखो	(७८)
सुदर सेत सरोरुह मे	(६२)
चिलकै दुति सूक्षम शोभति	(१६३)
भूतल की वेणी सी त्रिवेणी	(१६४)

अन्य वर्णन

तुलसीदास सभा-समाजो के वर्णन, वार्तालाप वर्णन, घटनाओ के जीते जागते चित्र खीचने, धर्मतत्व तथा उपदेश वर्णन करने मे केशवदास की अपेक्षा

अधिक सफल हुए। उनके वर्णन बहुत विस्तृत तथा सजीव है। तुलसी का नगर वर्णन केशव ही के समान है। राम राज्य के वर्णन दोनो के अच्छे है; किंतु केशव का यह वर्णन अधिक कवित्वपूर्ण तथा युक्तिपूर्ण है। दोनों ही ने राम राज्य को आदर्श धर्म-राज्य बना दिया है। स्वयंवर, धनुषयज्ञ, पुष्पवाटिका तथा राम-भरत संवाद आदि के समान कोई भी वर्णन केशवदास के काव्य मे नही है। तुलसी के उक्त वर्णन के सामने केशव का कोई वर्णन नही टिक सकता।

लोगो के मनोभावो का भी तुलसीदास ने अद्वितीय वर्णन किया है। केशवदास शृंगार रस के सिवा अन्य मानव भावो के वर्णन में सफल नही हुए। मानस तथा राम चद्रिका के रावरण-अगद-वाद उत्तमता मे बहुत कुछ एक से है। तुलसीदास का परशुराम-वाद केशव के परशुराम-वाद से कही अच्छा है।

पुष्प वाटिका के वर्णन मे तुलसीदास ने मानवी मनोभावों का वर्णन किया है और केशव ने प्रकृति-छटा का। तुलसीदास ने अंतर्जगत के रहस्य खोले है और केशव ने बहिर्जगत के।

केशवदास के मुक्ति वर्णन, सरयूवर्णन, राम-नख-शिख, पुष्पवाटिका, वन-छवि, ऋतु वर्णन, सूर्योदय वर्णन, आदि बहुत उत्तम है। इनमे से सीता दर्शन में उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की अद्भुत छटा है।

शोभ द्रोण गिरिगण शिखर ऊपर	(रा० ६)
मूलन ही की जहाँ अधोगति	(रा० च० ८)
अमल सजल घनश्याम वपु	(४०)
वासौ मृग अक कहै	(६१)
कलित कलक केतु	(६२)
भौहै सुरचाप चारु प्रमुदित पयोधर	(१०१)
कलहस कलानिधि खंजन कज	
दतावलि कुद समान मनो	(१०२)
भावै जहाँ व्यभिचारी	(२११)
जूझहि मे कलह कलहप्रिय नारदै	(२१२)

कथा प्रसंग

दोनो ही कवियो ने वाल्मीकि ही को अपना आधार माना है। तुलसीदास ने वाल्मीकिवर्णित कथा का अवलम्बन नही किया कितु केशव ने वाल्मीकि की कथा का ज्यो का त्यो अवलम्बन किया है। रामचद्रिका मे परशुराम बरात को रास्ते मे मिलते है, मानस के समान धनुपयज्ञ मे नही। केशव ने उत्तर रामचरित का भी वर्णन किया है जिसमे सीता त्याग तथा लवकुश युद्ध भी आ जाता है।

सिद्धांत

दोनो ही कवियो ने रामजी को परब्रह्म का अवतार माना है और वेदात मत का अनुसरण किया है।

ब्राह्मणो की भक्ति, तीर्थों का मान, मूर्ति पूजन आदि हिंदू धर्म के सिद्धातो का दोनो के हृदय मे आदर था।

दोनो के धार्मिक विचार एक ही से है। अत. यहाँ उनका वर्णन करने की आवश्यकता नही। इतना अंतर उल्लेखनीय है कि केशव ज्ञान मार्ग के तथा तुलसी भक्ति मार्ग के पक्षपाती और अनुयायी थे।

केशव मे अपनी जाति का बहुत पक्षपात दिखाई पडता है। यदि निम्नलिखित पद्य उन्ही का है तो इससे वे बडे अनुदार तथा पक्षपाती होते है। राम के गुण का वर्णन करते हुए वे कहते है —

"छाडि ऋषि द्विज देव ऋषिराज सब सुख पार प्रकट सकल सनौढियन के के पूजे पाय।"

क्या रामजी के समय मे भी सनाढ्य आदि भेद थे? तुलसी ऐसे संकीर्ण-हृदय न थे। उन्होने अपने किसी विशेष जाति के होने को जरा भी महत्व नही दिया—

धूत कहौ अवधूत कहौ,
रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोऊ। इत्यादि

गोसाईं जी "जाति पाँति धन धरमु बड़ाई।" आदि सब बातो से ऊँची एक वस्तु मानते थे और वह थी "रामभक्ति"। पातिव्रत धर्म के विषय मे दोनो के एक से विचार थे।

दोनो ही कवियो मे विश्वप्रेम तथा देशभक्ति का अंकुर था। भारतवर्ष की राष्ट्रीयता तथा उसकी एकता का दोनो को ज्ञान एवं अभिमान था। अपने ग्रथो मे उन्होने भारतवर्ष का समान तथा पूज्य दृष्टि से अनेको जगह उल्लेख किया है।

चरित्र-चित्रण

तुलसीदास मानव-चरित्र-चित्रण मे अद्वितीय है। केशव के काव्य में मानव-चरित्र बिलकुल विकसित नही हो सका है। उनका लक्ष्य कवित्व पर ही अधिक रहा है। चरित्र चित्रण पर उन्होने ध्यान नही दिया। अत चरित्र चित्रण मे केशव-दास तुलसी की बिलकुल बराबरी नही कर सकते।

केशव ने केवल एक जगह राम चरित्र पर कुछ प्रकाश डाला है। राजगद्दी के समय देव, किन्नर आदि ने जो स्तुति की है, उसमे राम के मा व चरित्र पर अच्छा प्रकाश पडता है। उस स्तुति का अश यहाँ उद्धृत कर देने से राम चरित्र की विशेषताएँ प्रगट हो जाती है।

"काय व ा मन नेम जानत शिला सम पर नारि ॥
+ + + +
"साधु होय असाधु राखत द्विजन ही को मान।"
+ + + +
"सूर सुदर सरस रवि रतिकरत रति कहँ लालि।
एक पत्नीव्रत निवाहत मदन को मद घालि॥
सुखद सुहृद सपूत सोदर हनन नृप जा काज।
पलक मे सोइ राज छोड़्यो मातु पितु की लाज॥
मथरा सो मोद मानत विपिन पठयो पेलि।
शूर्पनखा की नाक काटी करन आई केलि॥
× × ×
अज्ञ ज्यो सीता विलोकी व्यग्र भ्रमत अनेक॥
सापराध असाधु अति सुग्रीव कीन्हो मित्र।
अपराध विनु अति साधु बालिहि हन्यों जानि अमित्र।
बाण वेझहि आन को लगि नाम अपनो लेत।
काल सो रिपु आपु हति जयपत्र औरहिं देत॥
पुण्यकाल न देत विप्रन तौलि तौलि कनक।
शत्रु सोदर को दई सब स्वर्ण ही की लक॥
एक पल विनु पात खाए वार बार जम्हात।
वर्ष चौदह नीद भूख पियास छोड़ी गात॥
छमैं वर अपराध अपने कोटि कोटि कराल।
अपराध एक न छम्यो गो-द्विज-दीन को सब काल॥
यदपि लक्ष्मण करी सेवा, सर्व भाँति सभेव।
तदपि मानत सर्वथा करि भरत ही की सेव॥
कहत इनको सर्व साँचे सकल राना राव।
तनक सेवा दास की कहै कोटि गुणित बनाव॥
एक पल उर माँझ आये, हरत सब संसार।
आय के संसार महँ इन हरेउ भूतल भार॥"

उक्त वर्णन मे और सब बाते तो राम चरित्र की महत्ता की बोधक है, केवल दो बाते हमारे चित्त मे नही जमती। एक तो यह कि उन्होने अपराधी सुग्रीव को मित्र जान स्वीकार किया और शत्रु बालि को निरपराध होने पर भी मार डाला। यह सरासर अन्याय है। यह कोई चरित्र की महत्ता नहीं कि निरपराध शत्रु मारा जाय। राम ने उसे दुश्चरित्र जानकर ही मारा था, शत्रु समझकर नही।

दूसरी बात यह कि लक्ष्मण की प्रचुर सेवा पर कुछ ध्यान न देते हुए भरत का ही उन्होने आदर किया। इसमे क्या महत्ता हुई? उलटे अगर राम ने ऐसा किया

तो ठीक नही किया। भरत की भक्ति लक्ष्मण की सेवा से कही अधिक थी,—किंतु राम जी सबपर समान भाव से प्रेम रखते थे।

चरित्र सबधी एक और छद उल्लेखनीय है—

बोलि न बोल्यो बोल। (रा०, पृ० ३)

अन्य चरित्रो पर केशवदास ने बहुत कम प्रकाश डाला है। उनके काव्य मे चरित्र चित्रण बिलकुल ही विकसित नही हो सका है। तुलसी की चरित्र-चित्रण-योग्यता से केशवदास की तुलना ही नही की जा सकती।

हम सक्षेप मे दोनो महाकवियो की तुलना करके अपनी अल्प बुद्धि तथा अपने परिमित अध्ययन के अनुसार जो हमारे विचार थे, ऊपर लिख चुके।

दो वस्तुओ, मनुष्यो या कवियो की तुलना करते समय लोगो के हृदय मे सहज ही यह विचार उठता है कि इन दोनो मे अच्छा या बडा कौन है? किंतु सर्वदा एक चीज दूसरी चीज से सब बातो मे श्रेष्ठ नही हुआ करती। किसी बात मे एक चढी बढ़ी होती है तो दूसरी बातो मे दूसरी। यही बात इन कवियो के विषय मे भी ठीक माननी चाहिए।

हिंदी मे यह दोहा बहुत प्रसिद्ध है—

"सूर सूर तुलसी ससी उडुगण केशवदास"

इसके अनुसार सूरदास तथा तुलसीदास को तो अत्यत उच्च पद दिया जाता है और केशवदास को अत्यत ही क्षुद्र स्थान। हमारा तो विश्वास है कि लोगो ने अभी तक केशवदास की कविता का आस्वादन ही नही किया, अन्यथा वे ऐसी बात न कहते। अन्य दो महाकवियो को चद्र-सूर्य कहना और केशवदास को केवल तारा समझना उनके प्रति नही, समस्त हिंदी साहित्य के प्रति—अपमान तथा अन्याय करना है। हमारा तो दृढ विश्वास है और यह विश्वास अध्ययन और विचार करने पर हुआ है कि केशवदास को किसी से ऊँचा नही तो नीचा स्थान भी नही दिया जा सकता। यदि सूरदास सरसता और पूर्णता के लिये अनन्य हैं तथा तुलसीदास अपनी लोकोत्तर प्रतिभा के लिये और सरस तथा सरल कवित्व के लिये अनन्य है, तो केशवदास भी अपनी गंभीरता तथा अर्थ गौरवता के लिये हिंदी मे अद्वितीय है।

अपनी इस भाव गम्भीरता ही के कारण वे लोगो मे इतने प्रसिद्ध न हो सके। उनके काव्य को लोग कठिनता के कारण प्रेतकाव्य कहकर छोड़ देते है। एक महाकवि के प्रति इतनी उपेक्षा हमारी बुद्धि की ही उपेक्षा है।

यदि धर्म के सागोपाग विवेचन मे, अमृत वाणी के धारा प्रवाह मे, सरस कवित्व मे केशवदास लोगो को तुलसीदास के समान सामग्री नही दे सकते तो गंभीर कवित्व और अर्थ-गौरव की दृष्टि से ही उनके काव्य के अधिक प्रचार की बहुत आवश्यकता है।

०

रामचरित मानस

श्री शंभुनारायण चौबे बी० ए०, एल-एल० बी०

•

रामचरित मानस मे जिस समय गोस्वामी तुलनीदास जी ने "सब जानत प्रभु प्रभुता सोई । तदपि कहे बिनु रहा न कोई ।" लिखा होगा उस समय कदाचित् उनको इस बात अनुमान न रहा होगा कि एक समय आएगा जब यही बात उनके ग्रंथ के विषय मे अक्षरशः लागू होगी । विश्व साहित्य के थोड़े ही ऐसे ग्रथ होगे जिनका साधारण जनता मे रामचरित मानस के इतना आदर हुआ हो और जिनके इतने अधिक संस्करण हुए हो ।

रामचरित मानस मे क्षेपक का समावेश सम्मान का द्योतक है । किंतु क्षेपको की वृद्धि क्रमश. इतनी हो गई कि किसी किसी हस्तलिखित प्रति[1] का केवल बालकांड इतना बड़ा है जितना महाभारत । क्षेपको की इस बहुलता से अधिक दुरूह हस्तलिखित प्रतियो का अनुसंधान है । एक तो ये प्रतियाँ इतनी बिखरी हुई है कि साधारणत उन सबका दर्शन तक दुर्लभ है और फिर जो हस्तलिखित प्रतियाँ प्रामाणिक मानी जाती है उनके द्वारा इस प्रकार का व्यापार चल रहा है जो उनकी प्रामाणिकता मे शंका उत्पन्न करता है । कुछ पोथी-पूजक तो ऐसे स्वार्थी तथा अनुदार है कि वे किसी भी प्रार्थना से पिघलनेवाले नही होते । उनसे किसी का लाभ नही हो सकता । अत प्रस्तुत लेख मे रामचरितमानस के महत्वपूर्ण उपादेय छपे सस्करणो का उल्लेख किया गया है । सभी छपे सस्करणो का उल्लेख अभीष्ट नही है ।

रामचरितमानस तथा तत्सबधी साहित्य का अग्रलिखित वर्गीकरण हो सकता है—

(१) प्रामाणिक मूल पाठ ।
(२) टीका-सपूर्ण रामचरित मानस की ।
(३) टीका-स्फुट कांडो की ।
(४) रामचरित मानस के कुछ दोहों और चौपाइयों की विशद व्याख्या ।

१. एक ऐसी प्रति रामनगर के चौधरी छुन्नी सिंह के मित्र के पास है ।

(५) शंका समाधान तथा विविध ग्रंथ ।
(६) रामचरित संबंधी अन्य कवियों के स्वतंत्र ग्रंथ ।

(१) प्रामाणिक मूल पाठ

मूल छपी हुई प्रतियों में सबसे प्राचीन, जो अब तक देखने में आई है, सं० १८१६ की प्रति है। यह पुराने किस्म के देशी कागज पर लीथो द्वारा काशी के केदार प्रभाकर छापेखाने में छपी थी।[1] इसमें आजकल की तरह चौपाइयाँ अलग अलग पंक्तियों में नहीं छपी हैं बल्कि लगातार छापती चली गई हैं। इसमें तस्वीरें भी बहुत हैं। पाठ अधिकतर शुद्ध है। बालकांड में 'जेहि प्रकार सुरसरि महि आई" की कथा दी गई है। इसी प्रकार लंकाकांड में कई जगह क्षेपक हैं।

इसके बाद की प्रति टाइपों के प्रारंभिक काल में हिंदी गद्य के जन्मदाता श्री लल्लूलाल जी के संस्कृत यंत्रालय में संवत् १८६७ में······ छपी थी[2]। यह प्रति देशी कागज पर छपी और इसमें चौपाइयों को यथाशक्ति अलग अलग पंक्तियों में छापने का प्रयत्न किया गया है। पाठ अधिकतर भ्रष्ट है। शब्दों का शुद्ध संस्कृत रूप दिया गया है।

आगे चलकर कलकत्ते में श्री मुकुंदी लाल जानी के छापेखाने[3] से सं०

---

१. 'सुविधा के लिए प्रतियों का मुख पृष्ठ अविकल दे दिया जाता है--
'श्री काशी विश्वनाथ पुरी में केदार प्रभाकर छापाखाने में रामायण तुलसीकृत सातो कांड मय तस्वीर छापी गई सो मुहल्ला सोनारपुरा में गोपाल चौबे के छापखाने में छपी। लिखा दुर्गामिश्र वो छापनेवाले का नाम बेचू कारीगर। पोथी जिसको लेना होय सो चाननी चौक में बिहारी चौबे की दुकान पर मिलेगी। सं० १८१६ मिती पूस सुदि ११ चंद्रवार साइज १०" × ८½'। पृष्ठ संख्या—बालकांड १८३, अयोध्याकांड १४२, आरण्यकांड ३३, किष्किंधाकांड १६, सुंदरकांड २६, लंकाकांड ७५।

२— शाके नेत्राग्नि शैल द्विजपति मिलिते मासि मार्गे दशम्यां ।
पारावारर्तुनागक्षितिमिरुपयुतो वैक्रमेब्दे सितायाम् ।
वस्तीराम प्रवीणं प्रबलमतियुतं दर्शयित्वाङ्कपतश्री
बाबूरामो विपश्चिन्निखिलगुणमिदं पुस्तकं साधुप्रीत्यै ।
श्रीमत्सदलमिश्रेण ज्ञात्वा वाचस्सुपर्वणाम् ।
शुद्धीकृतमिदं सर्वं यथोचितमतन्द्रिणा ।

३ मुखपृष्ठ—"श्री सीतारामाभ्यान्नम. श्री तुलसीदास गोस्वामिकृत सप्तकांड रामायण ग्रंथः पचानन तला में श्री मुकुंदीलाल जानि के छापेखाने में छापा

१८६६ मे एक रामायण का संस्करण टाइपो मे देशी कागज पर छपा था । इसमें दोहा और छद को छोडकर चोपाइयाँ एक साथ ही छपती चली गई है । इसी टाइप मे महाराज उदितनारायण सिंह का महाभारत छपा था । इसका मूलपाठ लल्लू लाल की प्रति से अधिक शुद्ध है, क्योकि इसके एक पृष्ठ की भूमिका में लिखा है—

"...... सो यह पोथी वहुत तल्लास करने से भरतपुर के राज्य मे कायस्थ-कमल-कुल-प्रकाशक लाला सूरजमल कायस्थ ने अपने पाठ करने के निमित्त राजापुर परगने मे जाय कों श्री गोस्वामी जी के वशज' 'को अनेक रूपैये से साध्या और शरीर की सेवा करके श्री गोस्वामी जी की हाथ की लिखी पोथी सो प्रति अक्षर शोध को पुस्तक अपना तैयार किया ···" । इसमे भी क्षेपक है जो जानबूझकर रखे गए है। भूमिका मे लिखा है--" ··· अधिक पाठ प्रसग को रहने दिया इस निमित्त कि ····· कथा निकाल देने से हमको लोग दोषी कहते है" ।

इस पुस्तक मे सख्या पर अधिक जोर है । प्रत्येक चौपाई (चार चरणों) के वाद काड के आरंभ से संख्या मिलाई गई है जो इस प्रकार है—

काड	श्लोक	चौपाई	दोहा	छद
वाल	७	१६१२	४२२	१२६
अयोध्या	३	१२६३	३२७	२६
आरण्य	२	३१०	८७	४७
किष्किधा	२	१५०½	३४	६
सुदर	३	२६३½	६३	१२
लका	३	८००	२१४	१०३
उत्तर	३	५९७	२२३	

दूसरी प्रति बनारस के दिवाकर छापेखाने से स० १९१२ मे[1] देशी कागज पर मोटे लीथो अक्षरो मे छपी थी। इसका पाठ अधिकतर भ्रष्ट है, पर चित्र अच्छे है ।

गया । कलकत्ते वड़े बाजार मे रामदयाल भगत के कटड़े में श्री तिलकराम नाथराम भगत ने छपवाया सवत १८६६ मिती श्रावण कृष्ण ५ वुधवार, सन १२४६ साल श्रावण" । पृष्ठ संख्या—वालकाड १४७, अयोध्याकांड ११२, आरण्यकांड ३१, किष्किधाकाड १३, सुदरकाड २३, लंकाकाड ७७, उत्तरकाड—६० ।

नोट—१—मुखपृष्ठ—शहर बनारस दिवाकर छापेखाने मे तुलसी कृत रामायण से तसवीर समेत सातो काड शिवचरन के यहाँ छपा साकिन महल्ला भदैनी काली महल के पास छपी वकल पाडोजी महाराष्ट्र ब्राह्मण छापने वाले रामफल मुसौवर गूदरदास जिसको लेना हो सो चाननी चौक मे गोपाल

इसके वाद तीन लीथो की प्रतियाँ मटमैले कागज पर तीन स्थानो से प्रकाशित हुई। तीनों का पाठ करीब करीब मिलता जुलता है और तीनों के अंत में यह श्लोक मिलता है।

" यः पृथ्वीभरवारणाय दिविजैः संप्रार्थितश्चिन्मय.
संजात. पृथिवीतले रविकुले मायामनुष्योऽव्ययः ।
निश्चक्र हतराक्षस. पुनरगाद् ब्रह्मत्वमाद्यं स्थिरां
कीर्तिम्पापहरा विधाय जगता तं जानकीशं भजे ॥ "

जान पडता है कि तीनो का आधार एक ही छपी या लिखित प्रति थी। इन तीनो मे चित्र भी वहुत से दिए गए है, पर सभी मे क्षेपक तथा भ्रष्ट पाठ की कमी नही है।

इनमे पहली सवत् १९२३ तदनुसार २८ अप्रैल, सन् १८६६ की छपी है। इसका मुखपृष्ठ तो न मिल सका पर आकार प्रकार से मालूम होता है कि नवलकिशोर प्रेस लखनऊ की छपी है। पुस्तक के अंत मे आरती और उपरिलिखित श्लोक के वाद " लि० नागर ब्राह्मण मुरलीधर" मिलता है।

दूसरी संवत् १९३० तदनुसार तारीख ४ मई, सन् १८७४ मे वंबई के सखाराम भिकसेठ खातू के छापेखाने मे छपी थी। इसके अंत मे श्लोक आदि के वाद कुछ कवित्त[1] भी मिलते है।

चौवे के दुकान मे मिलेगी। संवत १९१२ कातिक वदि ५ मंगलवार साइज--११"×९"। पृष्ठ संख्या-वालकाड १७३, अयोध्याकाड १३९, आरण्यकाड ४३, किष्किधाकांड १८, सुंदरकाड ३१ लंकाकाड ७७, उत्तरकाड ७२।

नोट-१- राम को गुलाम नाम देस सिंह वैस वंस,
छत्रि जाति वसोवाद अन्तवेदि जानिए।
ग्राम नाम नगवा है पचकोस कानपुर,
तीन कोस जाजमऊ सिद्धनाथ मानिए।
नव कोस ब्रह्मावंत वसे वालमीक जहाँ
राम सुत सिया जुत लोक सब खानिए।
सव कोस वृंदावन साठि कोस प्रागराज
असी कोस औधपुर राम सुख दानिए॥
वंवा माई मारकीट के मधि मे महजित जान।
सखाराम अरु भीख सेठि की तेहि के पास दुकान॥

तीसरी प्रति 'मतवै मुंशी रामसरूप वाकै कप फतेहगढ महल्ला तलैया लेन' में सवत् १६३१ भाद्र शुक्ल ५ तदनुसार सन् १८७३ मे छपी थी।[1]

लीथो की छपी पुस्तको के पढने मे असुविधा होती थी और साधारण पढे लिखें लोग यदि रामायण बाँचना चाहते थे तो शब्दो के अलग न होने के कारण उन्हे रामायण का पढना दुरूह मालूम पड़ता था। उधर आई० सी० एस० कोर्स में गवर्नमेट ने हिंदी वर्नाक्यूलर की परीक्षा मे मानस का कुछ अंश रख दिया। इन सबकी सुविधा के लिये बनारस सस्कृत कालेज के पडित रामजसन मिश्र ने "बाँचने की सुगमता के लिये पदो को अलग अलग करके भाषा की चाल पर कई पुस्तको से शोधकर तुलसीदासकृत रामायण" की प्रति तैयार की जो पहली बार सवत् १६२५ तदनुसार सन् १८६८ मे लाजरस साहेब के मेडिकल हाल प्रेस काशी मे छपी और दूसरी बार चद्रप्रभा छापाखाना बनारस मे सवत् १६४० तदनुसार सन् १८८३ मे छपी थी। इसके अत मे कठिन शब्दो के अर्थ तथा इतिहास आदि भी दिए गए है। इसका पाठ यथेष्ट शुद्ध है पर शब्दो का शुद्ध सस्कृत रूप मिलता है।[2] दो स्थलो (रावण जन्म बालकांड मे और कुछ आरण्यकाड में) के अतिरिक्त क्षेपक भी नही है। यह टाइप मे समयानुसार सुंदर छपी थी और तब के जमाने मे इसका मूल्य ४) रखा गया था।

रामचरित मानस का यथेष्ट भाग काशी में रचा गया था और इसका प्रचार और पठन पाठन यो तो सभी जगह है पर अयोध्या और काशी मे विशेष रूप से है। रामायण के यही दोनो मुख्य केन्द्र है। इनमें 'को बड़ छोट कहत अपराधू" है पर इतना तो अवश्य है कि सं० १६२५ से लेकर स० १६५० तक रामचरितमानस के प्रचार का एक स्वर्ण युग था जिसमे सिद्धपीठ काशी उसकी जगमगाती हुई राजधानी थी। तत्कालीन काशिराज महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह जी प्रधान संरक्षक थे और उनके नवरत्नो मे एक से एक बढकर रामचरितमानस के प्रेमी तथा जानकार लोग

१— इंद पुस्तक लिखित भोलानाथ संवत् १६३१ भाद्र शुक्ल ५। पृ० स०— बालकाड–१८८, अयोध्याकाड १६४, आरण्यकाड ४२, किष्किधा १७, सुदरकाड ३०, लकाकाड १४७, उत्तरकाड ७६।

२—सबसे भारी साहस मिश्र जी का यह है कि इन्होने ग्रथकार की भाषा ही बदल दी अर्थात् उस समय की प्रचलित भापा के स्थान पर संस्कृत व्याकरण की रीति से शोध कर संस्कृत शब्द रख दिया है।.... इसी प्रकार इन्होने पदमावत को भी शोधा है।

(ग्रियर्सन साहब की प्रति के उपक्रम से उद्धृत)

थे। जनता भी अपने श्रेष्ठ पुरुषो के अनुरूप आचरण करती थी। छोटे से लेकर बड़े तक सभी मानस के प्रेमी थे। लोग कथा सुनने मे प्रेम रखते थे। कोसो चलकर लोग कथा सुनने जाते थे। जीवन भर के परिश्रम को सफल करने के लिये लोग कथा कहते तथा जीवन सफल करने लिये लोग सुनते थे। पाँच पाँच सौ रुपये देकर[1] रामायण की कथा की टिप्पणी ली जाती थी। एक एक गिनी चढाकर 'श्रीरामायणजी' भक्तो के घरो मे पधराए (खरीदे नही) जाते थे। सैकडो रुपये देकर रामायण लिखवाया जाता था। और जिस प्रकार बौद्धकालीन सुदर सुंदर मूर्तियो के मूर्तिकार केवल मजदूरी के लिये नही वरन स्वय बौद्ध होकर और बुद्ध बनकर टाँकी चलाते थे, उसी प्रकार रामायण के लेखक भी तुलसीदास जी की आत्मा मे रमकर कलम उठाते थे। अक्षरो का आदि से अत तक समान तथा एक रूप से निर्वाह होता था। देखने से मालूम होता है कि लेखक को कलम के खत न बिगडने का कोई वरदान था। और बीच बीच की लिखी हुई तस्वीरे। उनका तो कहना ही क्या। किसी प्रति मे तो ऐसी रंगसाजी की गई है कि देखकर आश्चर्य होता है। यह आश्चर्य अपनी चरम सीमा पर पहुँचता है जब संयोगवश रामनगर मे काशिराज की प्रति देखने का अवसर प्राप्त होता है जो उस जमाने मे १,६०,०००) व्यय करके तैयार कराई गई थी, ऐसा था वह स्वर्णयुग।

इस युग मे मूल रामचरितमानस के शुद्ध पाठ के अनुसंधान तथा निर्णय पर बहुत जोर दिया गया। पाठ शुद्ध करनेवालो मे काशी-महल्ला छोटी पियरी के बाबू भागवतदास जी छत्री का नाम अग्रगण्य है। इन्होने बहुत बडा काम किया है और आज भी लोग इनकी प्रति का प्रमाण मानते हैं। जिस समय बाबू भागवतदास जी प्राचीन पोथियो का मिलान कर पाठ शुद्धि का कार्य कर रहे थे उसी समय काशी में एक बाबा रघुनाथदास जी रहते थे। उनके पास एक हस्तलिखित प्रति थी। पता नही वह किसकी और किस काल की लिखी हुई थी पर यह बाबा रघुनाथदास जी की प्रति

१—चोरघाट काशी के परमहस जी ने ५००)देकर पं० रामगुलाम द्विवेदी की कथा की टिप्पणी जो एक कायस्थ ने कइथी अक्षरो मे लिखी थी, मोल ली थी।

२—मुखपृष्ठ—'श्री काशीजी मे महल्ला घुघुराना सामा की गली श्रीयुत बाबू हरषचदजी के बाडे मे दुर्गाप्रसाद कटारे के गणेश यन्त्रालय मे श्री तुलसीकृत रामायन श्री बाबा रघुनाथदास की सवत् (सम्मति) से साची मे अति परिश्रम से सोधि के छापा गया। लिखा देवीप्रसाद तिवारी और सीताराम मिश्र, छापनेवाला गोपाल जिसको लेना होय उसे कुजगली के पश्चिम फाटक पर दुर्गाप्रसाद के दुकान मे मिलेगी। "सवत् १९२६ मि० पौष शुक्ल ५ शुक्रवार।

कहलाती थी। सभव है उसका लेखक कोई दूसरा रहा हो और बाबा जी ने उसे शोधकर अपने पाठ की पोथी बनाई हो।

इस पोथी का पाठ लेकर सर्वप्रथम संवत् १९२६ मे बाबू दुर्गा प्रसाद कटारे के गणेश यत्नालय मे एक साचीपत्ना मे और एक पुस्तक के आकार[1] मे मानस की प्रति निकली थी। दोनो देशी कागज पर लीथो मे सुन्दर बडे बड़े अक्षरो मे छपी थी। भेद इतना था कि साँची वाली प्रति मे चित्र नही थे और पुस्तकाकार मे वहुत प्रति से सुन्दर चित्र थे। इस पुस्तकाकार प्रति का द्वितीय सस्करण सवत १९३३ मिती पौष शुक्ल १२ मे हुआ था।[2]

इसके वाद संवत् १९३६ मे यह बाबा रघुनाथदास वाली प्रति फिर साँची पत्रो मे शिवचरन के दिवाकर छापेखाने, महल्ला भदैनी, काशी मे छपी।[3] शिवचरन ने एक पुस्तकाकार प्रति[4] अपने दिवाकर छापेखाने से सवत् १९४० मे छपवाई

१—दे० ऊपर की टिप्पणी न०१। यह प्रति सचित्र है। स १९२६ मि. चैत्र कृष्ण १२ चद्रवार। साइज—$११\frac{१}{२}$" × ६"। साइज १" × ९"।
पृष्ठ सख्या :—वालकाड १४५, अध्योध्याकाड, ११२, आरण्यकाड २९, किष्किधाकाड १५, सुन्दरकाड २५, लकाकाड ६०, उत्तरकाड ५२।

२—कालिका गली काशी के प० रत्नचद्र जी मिश्र से पता लगा है कि यह द्वितीय सस्करण मान मंदिर के पंडित तुलारामजी आचार्य ने धर्मार्थ वितरण के लिये छपवाया था।

३—मुख पृष्ठ—"श्रीकाशी विश्वनाथपुरी मे दिवाकर छापेखाने मे तुलसीकृत रामायण श्री रघुनाथदास बाबा जी की सवत् से साँची मे अति परिश्रम ते सोध के छापा गया शिवचरन के यहाँ साकिन मल्ला भदैनी कालीमहल के पास। वा० महीप नरायन पाडे, छापनेवाले वदल जी जिसको लेना होय सो चाननी चौक मे कुजगली के पास शिवचरन के दुकान पर मिलेगा। सोधने वाले वटुकजी पडित"। सवत् १९३६ मि० भाद्रपद शुक्ल १५, पृष्ठ सख्या—वालकाड ११४, अयोध्याकाड ९२, आरण्यकाड २०, किष्किंधाकाड ११, सुन्दरकाड १८, लकाकाड ४५, उत्तरकाड ४९।

४—प्राय: टिप्पणी नं०२ के सदृश। स० १९४० मि० श्रेष्ठ शुक्ल ९, गुरुवार, साइज १०" × $६\frac{१}{२}$"। पृष्ठ सख्या—वालकाड १८९, अयोध्याकाड १४४, आरण्यकाड ३५, किष्किधाकाड १९, सुन्दरकाड ३२, लकाकाड ७६ उत्तरकाड ७७।

थी। और उसी संवत् मे, गणेश यंत्रालयवाली साँची प्रति की द्वितीय आवृति[1] भी हुयी थी।

वे ६ प्रतिया—तीन पुस्तकाकार और तीन साची पत्रा मे—बाबा रघुनाथदास की प्रति से मिलाकर छपी थी। इनका पाठ बहुत अच्छा है और अक्षर भी मोती से चुन चुनकर प० देवीप्रसाद तिवारी और प० महीपनारायण पाठे के लिखे है। वे सब मजबूत देशी कागज पर लीथो मे छपी थी। उनमे क्षेपक नही है।

अबतक बाबू भागवतदास जी ने अपना पाठ मिला लिया था और उनकी प्रति[2] सर्व प्रथम सवत १९४२ मे बाबू विश्वेश्वर प्रसाद के सरस्वती यंत्रालय मे देशी कागज पर लीथो मे छपी थी। यही सवत् १९४३ मे भगवत दास जी ने अन्य ग्यारह ग्रंथ भी छपवाए थे। यह प्रति गोलावाली प्रति के नाम से प्रसिद्ध है। उसकी शुद्धता के विषय मे कुछ कहना ही नहीं। बस, यह मालूम हो जाने पर कि यह बाबू भागवत दास की प्रति है, रामचरितमानस के जानकार लोग लहालोट हो जाते है। बाबू भागवतदास जी को भी पाठ की शुद्धता पर इतना जबरदस्त दावा था कि उन्होंने मुखपृष्ठ पर लिखा है "जिसको कही पाठ मे भ्रम होय सो बिना जाने बिगारै नही।"

इसका पाठ बहुत ही प्रामाणिक और सुदर है। सभी लोग इस बात को मानते है। इसमे कई जगह चित्र भी दिए गए हैं और पुस्तक के अत मे शुद्धिपत्र और 'रामायन जी की आरती' दी हुई है।

१—देखो पृष्ठ २८४ की पहली टिप्पणी। इसमे लिखनेवाला तो सीताराम मिश्र है और छापनेवाला घुरबिन। सवत् १९४० मि० चैत्र कृष्ण ३ चद्रवार।

२—मुखपृष्ठ "श्री काशी जी मे महल्ला दीनानाथ के गोला के दक्षिण फाटक के पास जालपा देवी के सामने गनेश महेश साहु के बाडे मे सरस्वती यंत्रालय मे बाबू बिसेसर प्रसाद के यहाँ श्री रामकृपा ते गोस्वामी तुलसीदास कृत मानस रामायण को श्री पं० रामगुलाम मिरजापुर निवासी ने १७१४ के सवत की लिखी पुस्तक से लिखा उस पर से लाला छकन लाल मिरजापुर वासी ने लिखा और श्री काशी जी मे छोटी पियरी पर भागवत दास छत्री के पास १७२१ के संवत् की लिखी पुस्तक और दो पोथी १७६२ के संवत की लिखी मिली। इन सबो से सोधकर यह पुस्तक छापी गई। जिसको कही पाठ मे भ्रम होय सो बिना जाने बिगारै नही। जिसको लेना होय चाननी चौक मे कुंजगली के पश्चिम फाटक के पास बाबू बिसेसर प्रसाद के दुकान पर मिलैगी।

सवत् १९४२ मि० कातिक बदी ३०।

इस प्रति का पाठ लेकर कितने ही लेखको ने हाथ से पूरा मानस लिखा था[1] और इसी के पाठ को लेकर विक्टोरिया प्रेस बनारस से एक स० १९४४ मे पुस्तकाकार और दूसरा संवत १९४५ मे गुटका[2] आकार मे, मानस के दो बहुत ही शुद्ध सस्करण निकले थे।

आगे चलकर संवत १९५१ मे सोनारपुरा के पं० रामप्रसाद तिवारी ने केदार प्रभाकर छापेखाने मे कुछ मटमैले बादामी कागज पर सं० १९४२ की प्रति का द्वितीय सस्करण छपवाया। कागज खराब होने से यह प्रति बहुत जल्दी जीर्ण शीर्ण हो गई। बहुत कम लोगो के पास यह स० १९५१ की प्रति ठीक दशा मे है।

भागवतदास की प्रति अब तो अप्राप्य है। इस प्रति की मोटी पहिचान नीचे दी जाती है--

(१) और काडों की तरह अयोध्याकाड मे इति नही है।

(२) आरण्यकाड मे ६ठे दोहे के बाद वाले दोहे का अक ७ न होकर फिर एक से शुरू होता है।

नोट—१. अकेले बाबू देवीप्रसाद खत्री, पथरगलिया, काशी ने ४ प्रति रामायण जी की लिखी है, जिनमे तीन को लेखक ने भी देखा है।

२. मुख पृष्ठ--रामायण श्री गोस्वामी तुलसीदास जी कृत 'जिसको अत्यत परिश्रम के साथ प्राचीन पुस्तको से मिलाकर ठाकुर विष्णुदत्त गुजराती सहस्रौदीच्य ब्राह्मण ने भली भाँति शुद्ध करके मुवई अक्षरो मे विक्टोरिया प्रेस मे छापा। संवत १९४५ सातन क्र० १०। साइज $१०\frac{१}{२}'' \times ६\frac{१}{२}''$। पृष्ठ सख्या--बालकाड १९२, अयोध्याकाड १५६, आरण्यकाड ३५, किष्किधाकाड १६, सुदरकाड ३३, लकाकाड ८०, उत्तरकाड ८५।

३. मुखपृष्ठ--रामचरित मानस श्री राम कृपा ते गोस्वामी तुलसीदास कृत मानस रामायण को श्री पंडित रामगुलाम मिरजापुर निवासी ने १७१४ संवत की लिखी पुस्तक से लिखा उस पर से छकनलाल मिरजापुर वासी ने लिखा और श्री काशी जी मे छोटी पियरी पर भागवतदास छत्री के पास १७२१ के संवत् की लिखी पुस्तक और दो पोथी १७६२ के सवत् की लिखी मिली। इन सबो को सोधकर महल्ला दीनानाथ के गोला मे बाबू विश्वेश्वर प्रसाद के यहाँ छपा रहा सो कही कही पाठ मे भ्रम हो गया था सो उसको फिर से भागवतदास छत्री ने सोधकर दुरुस्त किया सो श्री काशी जी महल्ला सोनारपुरा मे रामप्रसाद तिवारी के केदार प्रभाकर छापेखाने में शुद्धतापूर्वक छापा गया। जिसको

(३) लंकाकांड में 'लवनिमेष परिमान युग' ' ' ' वाला दोहा श्लोक के पहले दिया गया है। ऐसा क्रम भागवतदास के पहले अन्य किसी प्रति में नहीं मिलता ।[1]

भागवतदास जी का रामचरितमानस छपने के बाद जितने लोगों ने शुद्ध पाठ वाली प्रति निकालने का प्रयत्न किया उन्होंने पाठ में तथा आकार प्रकार में इसी संस्करण की नकल की है। काशी से ऐसी ५ प्रतियाँ 'लीथो' में छपी थीं जो सर्वथा शुद्ध और देखने में बिलकुल भागवतदास जी की प्रति ऐसी मालूम पड़ती हैं।

१—एक संवत् १९४६[2] में बाबू कालूराम के संस्कृत—

२—दूसरी प्रति संवत् १९४८ में बाबू मुन्नीलाल जी के प्रयत्न से गौरीशंकर यन्त्रालय- महल्ला बागहाड़ा काशी में छपी[3] ।

३—तीसरी सं० १९४९ मि० ज्येष्ठ सुदी ९ को छपी। यह १९४५ वाली प्रति का द्वितीय संस्करण है।

लेना होय सो चाँदनी चौक में रामप्रसाद तिवारी के दूकान पर मिलैगा। मि० पूस सुदी ८, संवत् १९५१।
पृष्ठ संख्या—उतनी ही जितनी कि सं० १९४२ वाली प्रति में है।

(१) लेखक ने सिर्फ दो प्रतियों में एक स० १७६२ और एक १८१७ संवत् की हस्तलिखित प्रति में यह क्रम देखा है।

(२) मुखपृष्ठ—"अथ रामायण श्री मत्स्वामी तुलसीदास कृत हरिजन वो हरिभक्त सर्वज्ञ लोगो पर विदित हो कि यह मानस रामायण तुलसीदासकृत कई जगह कई मरतबे छप चूकी परंतु जथार्थ शुद्धता न हुई सो यह रामायण सप्तकांड श्री बाबा रघुनाथ दास वो बाबा रामचरणदास वो परमभक्त भगवानदास वो श्रीमान् महाराजाधिराज काशीराज बहादुर की प्राचीन लिखी हुई प्रतियो से वो कई जगह की छपी हुई पुस्तकें अर्थात् बम्बई वो आगरा काशी आदि की छपी हुई पुस्तको से बहुत प्रेम के साथ हरिभक्तो के कल्याण हेतु शुद्ध कर छापी गई। काशी संस्कृत मुद्रायन्त्र में बाबू कालूराम के छापाखाना में छापा। श्रावण शुक्ल ५ रविवार स० १९४६। साइज—१०" × ६½", पृष्ठ-संख्या—बालकांड १७०, अयोध्याकांड १२५, आरण्यकांड ३५, किष्किंधा कांड १३, सुंदरकांड, ३२ लंकाकांड ७२, उत्तरकांड ७७।

३. मुखपृष्ठ—अथ रामायण तुलसीकृत प्रारंभः—श्री गणेशाय नमः श्री रामाभ्यां नम.। इस भारत खंड में शरीर लेने के फल केवल एक सीताराम जी की

४—चौथी प्रति सं० १९४९ मे पं० कन्हैयालाल मिश्र के सुधा निवास यन्त्रालय, बुलानाला काशी मे छपी[1]। इसका नाम "रामायण पदार्थ टीका सहित" है। टीका नाम मात्र की है। छोटे लाल जी व्यास ने इसमे प० वदन पाठक जी का तथा कुछ अपना टिप्पन दिया था इस प्रति मे तथा स० १९४८ की प्रति मे, दोनो मे पं० वदन पाठक जी का पाठ स्वीकार किया गया है।

प्राप्ति है, तिसका साधन इस महाघोर कलिकाल मे कोई नही है इस वास्ते बडभागी लोगन को जनाई जाती है कि अपने आत्मा और अपने कुल के पवित्र करने की इच्छा होय तो श्री गोस्वामी तुलसीदास कृत रामायण के अवलोकन करो इसी मे आप लोगो के लोक वो परलोक का सुख प्राप्त होगा सो इस समय मे तुलसीकृत रामायण का पाठ बहुत तरह का ससार मे फैल गया है परंतु श्री पडित वदन पाठक जी के पुस्तक का पाठ शुद्ध शुद्ध अभी तक कोई छापेखाने मे नही छपा है। जैसा पाठक जी ने रामायण के पाठ महाराज रामवल्लभाशरण जी को पढाया था और अपना पाठ लिखा दिया था सो अवही श्रीकाशी जी मे रामकुंड पर प्रगट है सोई पाठ श्री बाबा जानकीवल्लभशरणजी की आज्ञानुसार मुन्नीलाल ने बहुत शुद्धता से छपाया है जिसके अक्षर की संख्या भी गिनी गई है ३१९९८० अक्षर भया है तिसके श्लोक ९९९० गिनती मे है तत्र प्रमाण "नव हजार नौ सै नबे तुलसीकृत विस्तार। अष्टादस पट चारि को सब ग्रथन को सार।" अगर जो किसी को प्रतीति न हो कि पाठक जी की पुस्तक का पाठ यह छपा है तो पाठक जी के हस्तकमल के लिखी पुस्तक श्री अयोध्या जी मे कनक भवन मे प्रगट है जिसको मिलान करना होय सो कर लेवै श्री काशी विश्वनाथपुरी महल्ला कचौरी गल्ली मे मुन्नीलाल के दुकान पर मिलेगा। गौरीशकर यत्रालय मे छापा गया महल्ला बाग हाडा विसेसर कारीगर ने छापा विशेश्वर लेखक ने लिखा श्री सवत् १९४८ मि० माघ शुक्र २ रविवार। साइज १०" × ६½"। पृष्ठ सख्या—बालकाड १७०, अयोध्याकाड १३४, आरण्यकाड ३४, किष्किधाकाड १८, सुदरकाड ३० लकाकाड ७२, उत्तरकाड ७२।

१—मुखपृष्ठ—अथ रामायण पदार्थ टीका सहित

रिद्ध श्री गणेशजी सिद्ध

यह पुस्तक श्री रामायण पदार्थ टीका श्री मानसी वदन पाठक जी की हस्तकमल की लिखी प्रतियो से सोधकर गद्दी पर वर्तमान श्रीयुत छोटेलाल जी की आज्ञानुसार औ श्री बाबा जानकीवल्लभ शरन औ भागवतदास औ बाबा रघुनाथदास औ बाबा वल्लभशरणजी की सम्मति से अति शुद्धता से छापा गया। काशी विश्व-

इंडियन प्रेस, प्रयाग मे छपा था। सुदर वडे वडे अक्षर, वटा आकार, वीच वीच मे प्राय. अस्सी चित्र[1] देखकर चित्त प्रसन्न हो जाता है। वास्तव मे रामायण छपे तो ऐसी। कोशिश तो शुद्ध पाठ देने की की गई थी पर जैसी कुछ चाहिए, हो न सका। फिर भी पुस्तक की सुदरता को देखकर यह पाठदोप छिप सा जाता है।

आगे चलकर इसी पाठ को लेकर इडियन प्रेस, प्रयाग ने, साधारण अक्षरो मे एक छोटा रामचरितमानस छापा था।

सवत् १९८० मे गोस्वामी जी की त्रिशत जयती के अवसर पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा से "तुलसी ग्रंथावली" प्रकाशित हुई थी। इसके प्रथम भाग मे रामचरितमानस" है। पुस्तक के अत मे कथा भाग है जिसमे रामायण मे आए हुए पौराणिक पुरुषो की कथा है। कहने की आवश्यकता नही कि यह प्रति अवसर के अनुरूप नही हुई।

अयोध्या के महत लोगो की दो सुदर प्रतियाँ छपी। एक तो वावा माधवदास की प्रति का पाठ लेकर देशोपकारक प्रेस लखनऊ से सन् १९१२ मे छपी थी। दूसरी वावा सरयूदास जी ने वनारस मे वैजनाथ प्रसाद वुकसेलर, राजादरवाजा के यहा सं० १९८२ मे छपवाई थी। वावा सरयूदास जी की प्रति छोटे अक्षरो मे, गुटका रूप मे भी, छपी थी। इन दोनो का पाठ अच्छा है।

"रामचरित मानस" का स्वर्गीय श्री रामदास जी गौड वाला सस्करण हिंदी पुस्तक एजेसी कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। इसका पाठ प्राय. अच्छा है और सस्ते सस्करणो मे यह सवसे अच्छी पुस्तक है। गौड जी रामायण के अनन्य प्रेमी थे, उन्होंने काफी समय देकर रामचरित मानस का अध्ययन किया था। उनके पास एक प्रति थी जिसे वे भागवतदास वाली प्रति कहते थे और उसी का पाट उन्होने अपनी पुस्तक मे रखा है।

श्री वजरंगवली विशारद ने एक रामचरितमानस सं० १९९३ मे अपने सीताराम प्रेस से निकाला है। यह सर्वथा शुद्ध तो नही है फिर भी अच्छा है। इसमे वालकाड का पाठ श्रावण कुज की प्रति, अयोध्याकांड का पाठ राजापुर की प्रति एवं शेप पाँच काडो का पाठ सद्गुरु-सदन गोलाघाट की प्रति के अनुसार दिया है। इसका टाइप गौड जी की प्रति से मोटा है।

प० विजयानद जी त्रिपाठी का "रामचरितमानस" जो सं० १९९३ मे लीडर प्रेस प्रयाग से निकला है, उत्तम है। त्रिपाठी जी ने अपने जीवन भर का परिश्रम, यह प्रति निकालकर, सफल कर दिया। इस प्रति की विशेषता यह है कि यह सुदर आकारप्रकार मे अच्छे कागज पर, काफी मोटे अक्षरो मे प्राय: शुद्ध छपी है। इसमे पाठ भेद खूव दिए गए है और उन पाठ भेदो की सकेत प्रति का नाम भी दे दिया

१—ये चित्र काशिराज की प्रति के कुछ चित्रो के फोटो थे।

गया है। अन्य सस्करणो[1] मे भी पाठ भेद का सकेत दिया गया है पर इतना विशद नही। चाहे कुछ त्रुटि भले ही हो पर ऐसे खोज के काम के लिये त्रिपाठी जी धन्यवाद के पात्र है। भागवतदास जी के सस्करण की नाईं आपने भी रामायण युग मे एक साका कर दिया है।

(२) संपूर्ण रामचरितमानस की टीका – रामचरितमानस की प्रतिष्ठित टीकाओ का जिक्र बाबा औसानदास ने अपने गुरु श्री महाराज स्वर्गीय बाबा हरिदास जी कृत 'शीलावृति टीका' के द्वितीय सस्करण मे इस प्रकार किया है—

महाराज स्वामी श्री रामचरण औध माहि,
कीन्हे रामायण को तिलक सो अनूप है॥
दूसर श्री रामबकस तीसर पजाबी कहीं,
चौथे हरिहर प्रसाद कीन्हेउ सो खूब है॥"

ये चारो टीकाएँ देखने मे आती है पर कोदोराम जी के रामचरितमानस की भूमिका मे जिन तीन साप्रदायिक टीकाओ का उल्लेख है . वे नही दिखलाई पड़ती। वे क्रमश. नीचे लिखी है—

(१) ब्रह्मकिशोरीदत्त जी कृत "मानस सुबोधिनी"
(२) अल्पदत्त जी योगीद्र कृत "मानसकल्लोलिनी"
(६) श्री रामप्रसाद जी कृत "मानसरस विहारिणी"।

रामचरण दास कृत टीका एक वृहत् शास्त्रीय प्रमाणो से युक्त, विद्वत्तापूर्ण टीका है। इसकी भाषा पुरानी हिंदी है। बालकाड तथा उत्तरकाड विशद रूप से लिखे गए है। अन्य काडों मे उतनी बाते नही कही गई है। कही कहीं पर जहाँ साधार वार्ता है, टीकाकार ने कुछ भी नही लिखा है। यह टीका अयोध्या के साप्रदायिक मत के अनुकूल है, साधारण जनता के काम की चीज नही है। सन् १९२४ ई० तक इसकी तीन आवृत्तियाँ नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से हो चुकी थी। पहले सन् १८८२ ई० मे यह साँची पत्रे मे निकली थी। इसका मूल पाठ ठीक नही है और क्षेपक भी यथास्थान खूब है। शब्दो का शुद्ध सस्कृत रूप मिलता है।

पंडित रामबकस पाडे की "भावप्रकाशिका टीका" मुशी सदासुख लाल के अहतमाम से निर्मित होकर, प्रयाग के बुद्धिसागर छापेखाने (नूरलवसार प्रेस) से तीन बार निकली थी। पहली बार सन् १८६९ ई० मे, दूसरी बार सन् १८७५ ई० मे तीसरी बार सन् १८८५ ई० मे। इसका निर्माण काल पुस्तक के अत मे इस प्रकार दिया गया है :—

१–इंडियन प्रेस प्रयाग से सन् १९०३ में प्रकाशित रामचरितमानस तथा गौड़ जी का सस्करण।

उनइस सौ पच्चीस सवत् माघ एकादशी ।
पूर कियो प्रभु ईश रामायण टीका सहित ।"

पाडे जी के भाव वडे अनूठे है । टीका तो कही कही पर है । पर जहाँ है खूब है । इसमे समस्त चौपाइयो का अर्थ नही दिया गया है । साधारण पढे लिखे लोग भी इससे आनद उठा सकते है । पर खेद है कि ऐसी अनूठी पुस्तके लुप्त हुई चली जा रही है और उनका नवीन सस्करण तक नही होता । टीकाएँ निकलती है तो आज फलाने की, कल ढेमाके की, जिन्होने ठीक ठीक जाना भी नही कि रामायण क्या वस्तु हे । संतसिह जी पजाबी का "मानस भाव प्रकाश" एक अच्छा ग्रथ है । यह खड्गविलास प्रेस, बाँकी- पुर से सन् १९०१ मे छपा था । इसमे सपूर्ण चौपाइयो की टीका दी गई है । लोगो का कहना है और ठीक है, कि तुलसीदास जी के शब्दो को जितना पजाबी जी ने पकडा उतना और किसी टीकाकार ने नही । "रामायण-परिचर्चा-परिशिष्ट-प्रकाश" रामचरितमानस सवधी साहित्य का एक अनुपम ग्रथ है । यह सपूर्ण ग्रथ खड्गविलास प्रेस बाँकीपुर मे सन् १८९८ ई० मे छपा था । इसमे तीन तीन टीकाकारो के तीन भिन्न भिन्न अर्थ दिए है—

"मानस परिचर्या" (मा० प०) श्री १०८ देवतीर्थ स्वामी (काष्ठजिह्व स्वामी) [1] का ।

"मानस परिचर्य्या परिशिष्ट" (मा० प०) श्री मन्महाराज द्विजराज काशिराज ईश्वरीप्रसाद नारायण सिह बहादुर कृत ।

०

नोट—१—काष्ठजिह्व स्वामी—काशिराज श्री मन्महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायण सिह के समकालीन एक पहुँचे हुए महात्मा थे । ये सस्कृत के वडे विद्वान् थे और रामचरितमानस के अच्छे ज्ञाता थे । ये काशिराज के नवरत्नो मे एक थे । एक बार एक पडित देश देशातर मे शास्त्रार्थ करता हुआ काशी जी आया । उसका प्रण था कि यदि मै शास्त्रार्थ मे हार जाऊँगा तो प्राण विसर्जन कर दूँगा । सयोगवश देवतीर्थ स्वामी से उसकी भेट हो गई और शास्त्रार्थ मे हारकर उसने प्राण दे दिया । इस बात से स्वामी जी के हृदय मे बडी चोट लगी । उन्होने विचार किया कि यह जिह्वा का ही दोष है । इसी की वजह से ब्रह्महत्या हुई ।

तुलसी और रहीम

पं० सुखराम चौबे और श्रीयुत राजेंद्र सिंह ब्योहार

अब्दुल रहीम खानखाना गोसाईं जी के समकालीन थे और दोनो मे मित्रता भी थी। विधर्मी होकर भी एक दूसरे से मित्रता रखना उक्त महापुरुषो की सहृदयता का परिचायक है। मुसलमान होकर भी इन्होने कृष्णभक्ति और हिंदी मे कविता करना अपना गौरव समझा। अवश्य ही इनपर गोसाईं जी का प्रभाव पड़ा होगा।

रहीम की जो कुछ भी थोडी बहुत रचना मिलती है, वह बड़ी ही सरस और हृदयग्राहिणी है। गोसाईं जी के समान इन्होने भी नीति के दोहे कहे है। दोनो कवियो की रचनाएँ कही कही एक सी मालूम होती है। कुछ उदाहरण लीजिए:—

आप (रहीम) भावी को बड़ी प्रबल मानते है—

"राम न जाते हरिन सँग, सीय न रावन साथ।
जो रहीम भावी कहूँ, होत आपने हाथ॥"

+ + + +

गोसाईं जी भी कहते है—

"तुलसी जस भवितव्यता, तैसइ मिलै सहाय।
आपु न आवै ताहि पहँ ताहि तहाँ लै जाय॥"

गोसाईं जी ने दुष्टो की खूब व्याजनिदा की है। पर हमेशा यही उपदेश है:—

"उमा सत की यहै बड़ाई। मद करत जो करै भलाई॥"

परतु रहीम दुष्टो को सजा देने का आदेश देते है—

"खीरा को मुँह काटि कै मलियत लोन लगाय।
रहिमन करुए मुखन को चाहिय यही सजाय॥"

दोनो कवियो ने सत प्रशसा और दुष्टो की निंदा की है। उनका मत था कि कुसग मे भी सत शुद्ध बने रहते है:—

"जो रहीम उत्तम रहनि, का करि सकत कुसग।"

गोसाईं जी इस बात को मानते हुए भी कहते है कि यद्यपि संत अलिप्त है, तथापि दुष्टो से सदा बचे रहना ही अच्छा है; क्योकि

"अतिशय रगड़ करै जो कोई। अनल प्रकट चंदन ते होई।"

दुष्टजन आप तो कुछ उपकार करते नही, पर दूसरे को भी ऐसा करने से रोकते हैं--

"आप न काहू काम के डार, पात, फल, फूल।
औरन को रोकत फिरे 'रहिमन' पेड़ बबूल॥"

\+ + + +

दुष्टता का एक दर्जा और है जिसका वर्णन रहीम ने नही किया। उन्होंने सिर्फ उन्ही दुष्टो का वर्णन किया है जो दूसरे को कष्ट तो देते है, पर स्वय कष्ट नही सहते; पर गोसाईं जी ने ऐसे दुष्टो का भी पता लगा लिया है जो दूसरे के अपशकुन के लिये अपनी नाक काटते है--

'जिमि हिम उपल कृषी दलि गरही॥'

ओले आप तो नष्ट होते ही है, पर खेतो को भी जरूर ही नुकसान पहुँचाते है।

सच्चा मित्र वही है जो विपत्ति मे साथ दे .--

"रहिमन सोई मीत है भीर परे ठहराय॥"

गोसाईं जी कहते है--

"आपत काल परखिये चारी। धीरज धरम मित्र अरु नारी॥

मछली के प्रेम की तारीफ मे रहीम कहते हैं--

"जाल परे वहि जात जल, तजि मीनन को मोह।
रहिमन मछरी नीर को, तऊ न छाडत छोह॥"

गोसाईं जी का कथन है--

"मीन काटि जल धोइये, खाये अधिक पियास।
तुलसी प्रीति सराहिए, मुए मीत की आस॥"

किसी वस्तु का अच्छा बुरा होना उसकी संगति पर निर्भर है--

"मुक्ता करै कपूर करि, चातक जीवन जोय।
एतो बड़ो रहीम जल, व्याल वदन विप होय॥"

\+ + + +

"धूम कुसगति कारिख होई।"

"सोइ जल अनल अनिल सघाता। होइ जलद जग-जीवन-दाता।"

"होय कुवस्तु सुवस्तु जग, लखहि सुलच्छन लोग॥"--तुलसी

सुसग मे खल सुधर सकते है, पर उनका स्वभाव नही जाता--

"रहिमन लाख भली करो, अगुनी अगुन न जाय।
राग सुनत पय पियतहू, साँप सहज धरि खाय॥"

\+ + + +

"खलहु करै भल पाय सुसगू।
मिटहि न मलिन सुभाव अभगू॥"--तुलसी

"चोरहि चाँदनि रात न भावा ।।"--तुलसी

ससि की सुंदर चाँदनी, सीतल सबहिं सुहाय ।

लगे चोर चित मे लटी, घटि रहीम मन आय।।"--रहीम

कहि रहीम पर-काज हित, सपति सँचहि सुजान ।"--रहीम

"तुलसी संत सुअंब तरु, फूलि फरहिं पर हेत ।"--तुलसी

रहीम की समझ मे सबसे प्रीति रखनी, विरोध किसी से भला नही --

"रीति प्रीति सब सो भली, बैर न हित मित गोत।"

परंतु गोसाई जी दुष्टो से प्रीति करने की सलाह नही देते । उनकी राय मे उदासीन रहना ही अच्छा :--

"खल सन कलह न भल नहिं प्रीती ।"

"उदासीन बरु रहिय गोसाई । खल परिहरिय स्वान की नाई।।"

दीरघ दोहा अरथ के, आखर थोरे माहिं ।"--रहीम

"अर्थ अमित अति आखर थोरे ।"--तुलसी

"रहिमन धोखे भाव से, मुख से निकसे राम।

पावत पूरन परम गति, कामादिक को धाम ।।"--रहीम

तिनके पग की पगतरी, मेरे तन को चाम ।।"--तुलसी

दोनों महात्माओ ने चातक और मीन के प्रेम की प्रशसा की है और अपने लिये वैसा ही प्रेम माँगा है ।

"तै रहीम चित आपनो, कीन्हो चतुर चकोर ।

निसि बासर लाग्यो रहै, कृष्न चद्र की ओर ।।" रहीम

\+ \+ \+ \+

"एक भरोसे एक बल, एक आस विस्वास ।

एक राम घनश्याम हित, चातक तुलसीदास ।।"--तुलसी

अंत मे दोनो भक्त इस निर्णय पर पहुँचते है--

"गहि शरनागति राम की, भव सागर की नाव ।

रहिमन जगत उधार को, और न कछू उपाव ।।"

—०—

राम की ऐतिहासिकता एव रामकथा की प्राचीनता

[श्री राय कृष्णदास]

एशिया के जिस बडे भूभाग पर भारतीय सस्कृति का प्रभाव है उसकी सबसे लोकप्रिय एव व्यापक कथा रामकथा है। पूर्व मे स्याम, हिंदचीन और ब्रह्म देश से लेकर दक्षिण मे भारतीय द्वीपसमूह तक इसका प्रसार है। पश्चिमोत्तर मे खुतन का अस्तित्व जब तक था तब तक वहाँ भी रामकथा प्रचलित थी और उत्तर मे वह तिब्बत मे आज भी विद्यमान है। रामकथा की इस व्यापकता का मुख्य कारण यह है कि राम भारत के आदर्शतम राजा थे। उनके अवतार बनने के बहुत पहले से उनकी कथा हमारे जीवन मे ओतप्रोत थी। हम आगे देखेंगे कि (१) वाल्मीकि जाने कब से एक बडा लोकप्रिय ग्रंथ था; (२) इतना ही नही, रामचरित की कहानियाँ तक बन गई थी, जिनमे से एक जातकों में, जो बौद्धमत के बहुत पहले की चीज है, बच रही है। इस कहानी मे वाल्मीकि से इस बात की पूर्ण समानता है कि इसके राम भी बड़े धीर, पंडित और सफल शासक है, यद्यपि दोनो की कथावस्तु मे महदतर है।

साराश यह कि राम को मर्यादा। पुरुषोत्तमता ही उन्हें इतना लोकप्रिय बनाने मे समर्थ हुई और उसी ने अवतारवाद चलने पर उन्हे अवतारो मे इतने पूज्य आसन पर आसीन किया। किंतु आज उन्ही राम की कथा सदेह की वस्तु हो रही है। पाश्चात्य पुरातत्वज्ञो ने उसे अन्योक्ति वा आख्यानिक कथामात्र माना है। यदि इन विद्वानो की नीयत पर संदेह किया जाय तो हमे कहने का अधिकार है कि उन्होने हमारे आदर्श पुरुष को इस प्रकार मिथ्या सिद्ध करने की चेष्टा कर हमारे सग घात किया है। तो भी उनके मत का खडन हमारा ध्येय नही है। इस विषय का हमारी समझ मे, काफी उत्तर दिया भी चुका है। अत हमारा ध्येय अपने विषय का प्रतिपादन मात्र है। इस प्रतिपादन मे यदि हमे सफलता मिले और हमारा हृदय असशय हो जाय तो फिर दूसरा इस विषय मे क्या कहता है, उस ओर हमे दृष्टिपात तक करने की आवश्यकता नही।

पौराणिक वशावलियो मे यथास्थान रामचद्र की जो चर्चा और उल्लेख है वह इतना स्वाभाविक और अप्रयास है कि वह किसी प्रकार ठूँसा हुआ सिद्ध नही किया जा सकता। अतएव उनमे रामचद्र का उल्लेख उनके ऐतिहासिक

अस्तित्व के विषय मे पर्याप्त प्रमाण होना चाहिए। पौराणिक वशावलियो की प्रामाणिकता और विश्वसनीयता हम यथावसर अन्यत्र सिद्ध करेगे।

इन पुराण वशो के सिवा महाभारत मे जगह जगह दानी, प्रतापी, विक्रांत एव यज्ञकर्ता राजाओ को सूचियाँ, प्रशस्तियाँ तथा दानस्तुतियाँ आती है। ये सब सूचियाँ बहुत प्राचीन है। इनमे 'भारत' से बहुत पहले के राजाओ के नाम आते है, कौरव पाडवो के निकट पूर्वज भी प्राय: इनमे समिलित नही है। अत यह प्रत्यक्ष है कि ये सूचियाँ 'भारत' के लिये नही गढी गईं, बल्कि ये वास्तविक प्राचीन सामग्री है जो 'भारत' मे सहित मात्र कर दी गई है। प्राय इन सभी तालिकाओ मे रामचंद्र का नाम समिलित है। ध्यान रहे कि इनमे के राम एक प्रतापी राजा मात्र हैं, जिस प्रकार इनमे आनेवाले अन्य नरपति है। वे अवतार तो क्या, पुरुषोत्तम के रूप मे वहाँ गिने गए हो, सो तक नही। यह बात भी उन सूचियों की प्राचीनता और वास्तविकता की प्रतिपादक है। अत इन सूचियो की साक्षी भी राम के अस्तित्व का प्रबल प्रमाण है।

इन सूचियो मे से दो यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है। एक तो सभापर्व मे राजसूय करनेवाले राजाओ की, जो दो कारणो से बहुत प्राचीन जँचती है—

एक तो उसमे हरिश्चंद्र का इंद्र के साथ एक आसन पर बैठे होना; दूसरे परशुराम की गणना राजाओ मे होना। हरिश्चंद्र का इंद्र के संग अर्धासन इसलिये है कि पहले पहल उन्ही ने वरुण संप्रदाय का त्याग करके इद्र सप्रदाय के अनुयायित्व मे राजसूय यज्ञ का प्रचलन किया था। यह एक ऐसी बात है जिसकी स्मृति पिछले काल मे नही रह गई थी। इसी प्रकार परशुराम ने हैहयो के सघ राज्य का विनाश करके एक नि.क्षत्र प्रजासत्ताक राज्य की स्थापना की थी जिसके वे सूत्रधार थे। पीछे उनकी गणना सर्वदा ऋषियो मे की गई है, केवल प्राचीन स्थलो मे ही वे राजा माने गए है। अस्तु, इस तालिका मे रामचद्र भी है।

इसी प्रकार दूसरी सूची भीष्मपर्व के आरभ मे है जहा भारतवर्ष की महिमा कहते हुए प्राचीन राजाओ के नाम गिनाए गए है। उनमे इद्र भी आए है। यह एक बडी पुरानी बात है क्योकि इद्र वस्तुत एक पुराने राजा ही थे। यदि यह सूची इधर की होती तो राजाओ के बीच इंद्र न बैठाए गए होते। इन प्राचीन प्रतापी राजाओ मे भी रामचद्र का नाम है।

उक्त तालिकाओ के सिवा 'भारत' मे षोडशराजीय नामक एक उपाख्यान आता है। इसमे सोलह प्राचीन चक्रवर्तियो की विरुदावली है। इस उपाख्यान की भाषा तथा

शैली 'ब्राह्मणों' के सन्निकट है। इसके अनुष्टुप् की गति भी वैदिक ढग की है। 'भारत' मे यह दो बार आता है। इन दोनो रूपों मे कुछ अतर है अर्थात् वे दोनो एक ही मूल की दो शाखाएँ है। इस प्रकार वस्तु, भाषा, शैली एव छद की प्राचीनता तथा वाचना भेद के कारण यह षोडशराजीय एक बहुत पुराना उपाख्यान सिद्ध होता है। अत यह निश्चित है कि 'भारत' मे जैसे अन्य कितनी ही बिखरी हुई सामग्री इकठ्ठी की गई है वैसे ही यह भी है। इस उपाख्यान के सोलह चक्रवर्तियो मे भी दाशरथि राम है।

इस प्रकार हम देखते है कि 'भारत' मे द्वापर से वही पहले के गण्यमान्य राजाओ के विषय मे जो बहुत पुराना मसाला सकलित है उसमे प्रायः सर्वत्र रामचद्र का नाम विद्यमान है। उस साहित्य मे वर्णित व्यक्ति ऐसे है जिनकी ऐतिहासिकता पर शका करने का कोई हेतु है ही नही। ऐसी दशा मे उनके बीच एक कल्पित व्यक्ति का नाम घुसा देने का कोई बुद्धिसगत कारण नही जान पड़ता। अतएव इन प्रमाणो से रामचद्र की ऐतिहासिकता निर्विवाद प्रमाणित होती है।

किंतु रामचद्र और उनकी कथा के सबध मे उपर्युक्त उल्लेख केवल एक श्रेणी के साहित्य मे हुए। अब देखना यह है कि इसके अतिरिक्त अन्य प्राचीन ग्रंथो के सहारे रामचद्र के अस्तित्व की प्राचीनता कहाँ तक पहुँचती है इसके लिये इधर के समय से अनुक्रमपूर्वक प्राचीन काल की ओर बढना ठीक होगा।

इस दृष्टि से हमारा ध्यान सबसे पहले महाभाष्य की ओर जाता है, जिसका समय आरभिक शुंगकाल है। उससे इधर के साहित्य मे तो रामचद्र की कथा के अस्तित्व के सबंध मे कोई शंका ही नही उठती।

महाभाष्य मे केवल रामचद्र का उल्लेख ही नही है, वाल्मीकि से भिन्न किसी अन्य रामायण से दो श्लोक भी उद्धृत है, जिससे प्रमाणित होता है कि उस समय रामकथा के एकाधिक रूप प्रचलित थे। दूसरे शब्दो मे, वह काफी प्राचीन हो चुकी थी।

महाभारत से कोई दो सौ वर्ष पहले, चद्रगुप्त मौर्य के समय मे कौटिल्य ने अर्थ-शास्त्र का निर्माण किया। इसमे जहाँ राजाओ के नाश के कारणों के उदाहरण दिए है वहाँ कहा है कि परस्त्री के हरण से रावण का नाश हुआ। इस घटना मे सारे रामायण का साराश निहित है। अर्थात् चद्रगुप्त के समय मे रामचरित एक प्रामाणिक इतिवृत्त था, जो राजशास्त्र मे उदाहरणरूप उपस्थित किया जाता था।

रामकथा का इससे प्राचीन प्रमाण पाणिनि की अष्टाध्यायी से प्राप्त होता है। पाणिनि के समय के सबध मे मुख्य दो मत है। अधिकाश विद्वान् उन्हे नदो के समय का मानते है, कुछ विद्वानो ने उनका समय ई० पू० आठवी शती तक माना है।

यह ठीक है कि पाणिनि व्याकरणकार थे, कुछ इतिहास लिखने नही बैठे थे, उनकी अष्टाध्यायी मे प्रत्येक घटना का सूत्र खोजना एक वहक भर है । उसके अभावात्मक प्रमाण से इतिहास का कुछ वनता विगडता नही । फिर भी शव्दशास्त्र होने के कारण अष्टाध्यायी मे अनेक शव्दो के रूप सिद्ध वा स्थिर किए गए है इनमे अनेक ऐसे है जिनसे साप्रत पुराविदो की साध पूरी हो जाती है। निदान पाणिनि के कई ऐसे स्थलो मे रामायण के कुछ पात्रों के नाम भी आए है। स्वर्गीय न्यायमूर्ति तैलग ने अष्टाध्यायी मे साधित कौशल्या और कैकेयी के शव्दो की ओर विद्वानो का ध्यान वहुत पहले आकृष्ट किया था । इसी प्रकार पाणिनि ने अपने गण पाठ मे रावण को विश्रवस् शव्द से व्युत्पन्न प्रतिपादित किया है । समस्त प्राचीन साहित्य मे रावण विश्रवस् का पुत्र है । किंतु उस विश्रवस् के अपत्य के लिये रावण शव्द वन जाना एक विलक्षण वात है जो वर्तमान पुरातत्वज्ञो के इस मत को पुष्ट करती है कि रावण शव्द अनार्य भाषा का है क्योकि ऐसी दशा मे ही उसकी ऐसी खीचा-ताना व्युत्पत्ति सकारण जँचती है । इससे सयुक्तिक और सीधी तो रावण शव्द की पौराणिक व्युत्पत्ति—लोकरावण रावणः—है । किंतु पाणिनि का उसे न देकर उक्त आभिजात्य सवंधी व्युत्पत्ति स्थिर करना यही प्रमाणित करता है कि रावण शव्द का सवध राक्षसराज के आभिजात्य से था; वर्तमान खोज से भी यही प्रतिपादित होता है कि रावण शब्द आभिजात्यवाची है । कहने की आवश्यकता नही, रावण शव्द की व्युत्पत्ति देने की आवश्यकता पाणिनि को इसी कारण पड़ी कि वह राम का प्रतिनायक था, अन्यथा इस रूप को सिद्ध करने की उन्हे कोई अपेक्षा न थी । इसी प्रकार अपने सूत्र द्वारा उन्होने यह प्रतिपादित किया है कि 'सूर्प' शव्द के साथ जव 'नख' शव्द आता है तो उसका 'न' 'ण' मे वदल जाता है। सारे सस्कृत साहित्य मे 'सूर्प' और 'नख' शव्द का सयोग केवल रामायण की शूर्पणखा से होता है, अतएव, उसी शव्द के लिये उन्होने यह सूत्र रखा है, इसमे कोई शका नही हो सकती ।

कालानुक्रम से पाणिनि के ऊपर वौद्ध साहित्य की पड़ताल करनी होगी। वौद्ध-साहित्य का सवसे प्राचीन और प्रामाणिक अश त्रिपिटक है, जिसमे भगवान् वुद्धदेव के उपदेश सनिहित है । वौद्ध स्थविरो ने वड़ी लगन से उसे ज्यो का त्यो सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है । वुद्धदेव के इन उपदेशो मे कही भी रामचंद्र का प्रसग वा उपाख्यान नही आया है । किंतु इसी त्रिपिटक के एक अश मे जातक कथाओ की गाथाएँ सकलित है ।

जातक उन कथाओ का नाम है जिन्हे कोई प्रसग आ पड़ने पर वुद्ध भगवान् इस रूप मे कहते है कि ऐसी घटना पहले भी चुकी है। वे किसी देवयोनि, राजा, राजकुमार, पशुपक्षी वा अन्य स्थावर जगम की कहानी सुनाकर अत मे वर्तमान घटना के पात्रो से उसके पात्रों का समीकरण करते हुए वताते है कि मै ही उसमे

का अमुक था तथा वर्तमान अमुक अमुक उस समय के अमुक अमुक थे। इन कथाओ के बीच बीच मे गाथाएँ आती है –पात्रो के सवाद प्राय गाथा–छदोमय ही होते है। ये जातक–कथाएँ वस्तुत. बहुत पुरानी लोककथाएँ है जो बुद्ध के जाने कितने पहले से चली आती थी और जिनमे से कितनी ही आज भी किसी न किसी रूप मे हमारी कहानियो मे मिलती हैं। इनमे से कितनी ही का सवध उन ऐतिहासिक पूर्वपुरुषो से है जो बुद्धदेव के बहुत पहले हो चुके थे। अतएव जो वैदिक, पौराणिक एवं बौद्ध तथा जैन साहित्य मे समान रूप से आते हैं। इन्ही प्रचलित उपकथाओ का उपयोग बुद्धदेव ने दृष्टात की भाँति किया है, जो उस समय की भाषा मे, ब्राह्मण ग्रथो उपाख्यान शैली पर गद्य पद्य मे प्रचलित थी। फलत उसमे जो गाथाएँ हैं वे बुद्धदेव की रचना नही, उन्ही कथाओ की अग अतएव बहुत प्राचीन है, ठीक उसी तरह जैसे आज भी मालवा-राजपूताना-काठियावाड के चारणो की कहानियो के बीच बीच मे आनेवाले दोहे और सोरठे। हम लोग अपने बचपन मे वृद्धाओ से जो कहानियाँ सुनते आते है उनमे भी कितनी ही ऐसी हैं जिनमे परपरा से स्थान स्थान पर बँधे हुए पद्य चले आते है। जिस प्रकार इन दोहो एव पद्यो मे 'कथाओ के बीज' पात्रो के सवाद, प्रचलित उक्तियाँ, नीति, उपदेश, सिद्धात, सयोग तथा वियोग, शृगार के प्रेमोद्गार ऋतुवर्णन, प्रशस्तियाँ, कहावते, पहेलियाँ, समस्यापूर्तियाँ इत्यादि है – अर्थात् वह सामग्री है जो अलिखित दतकथाओ मे सर्वदा सर्वत्र सुरक्षित रहती है–ठीक उसी प्रकार जातक गाथाओ मे भी यही सब सामग्री है। अवश्य ही ये गाथाएँ कहानी कहनेवालो की नही है, ये बहुत प्राचीन है। वस्तुत इन गाथाओ का उन कथाओ मे वही पद है जो विशेप राजाओ के यज्ञ और दान की प्रशसा की अभियज्ञ गाथाओ का 'ब्राह्मणो' मे। ऐतरेय और शतपथ मे ऐंद्र महाभिषेक और अश्वमेध आदि के प्रसग पर ऐसी नाराशंसी गाथाएँ दी गई है जो अवश्य ही 'ब्राह्मणो' की रचना के समय लोक मे प्रचलित थी, और जिन्हे 'तदेषा अभियज्ञगाथा गीयते' कहकर ब्राह्मणो मे इसी रूप मे उदधृत किया है। वे तथा वैसी ही अन्य कितनी गाथाएँ महाभारत आदि मे भी उदधृत है। 'ब्राह्मणो' मे जो उपाख्यान आए हैं उनके सवादो मे भी ठीक ऐसी गाथाएँ मिलती है।

इन जातक गाथाओ का छंद सर्वत्र अनुष्टुप् है। इस सवध मे एक विशेप वात यह है कि इनमे प्राय· छदोभग वा टूट पड़ती है। किंतु यदि इनका पाली रूप सस्कृत मे पलट दिया जाय तो यह दोप दूर हो जाता है। इससे ज्ञात होता है कि पाली मे आने के पहले ये उस भाषा मे थी जिसकी विभक्तियाँ और प्रत्यय सस्कृत तुल्य थे, अर्थात् ये किसी समय ब्राह्मणो की भापा मे रही होगी। अत. उनके परपरागत होने मे कोई संदेह नही रह जाता। इन सब वातो पर ध्यान देते हुए इन गाथाओ के अस्तित्व की परसीमा कम से कम बुद्ध से दो सौ वर्ष पहले तथा पूर्वसीमा उनसे पाँच सौ वर्ष पहले माननी पड़ेगी। इस प्रकार उनका समय ई०-पू० आठवीं शती से ग्यारहवीं शती तक ठहरता है।

इन जातक गाथाओ मे से कई रामचद्र से सबध रखनेवाली है, इसपर हम आगे विचार करेगे । यहाँ केवल इतना ही कि इन गाथाओ के कारण रामकथा की प्राचीनता ई० पू० आठवी शती से ग्यारहवी शती तक पहुँच जाती है ।

इस प्रकार बौद्ध साहित्य मे सगृहीत जातक गाथाओ के अस्तित्व काल को पारकर हम स्वभावत वैदिक साहित्य मे पहुँचते है । इस संबध मे यह स्मरण रहे कि वैदिक साहित्यिक धार्मिक वाङमय है, अत उसमे ऐहिक वा राजनीतिक विषयों को ढूंढना सरासर भूल है । उसमे तो ऐसी चर्चा वही आई है जहाँ किसी धार्मिक प्रसग से उनका कोई सबध है । सो भी, उनमे ऐतिहासिक दृष्टि या विवेचना का सर्वथा अभाव है, और ऐसा होना स्वाभाविक है । धार्मिक रचना करनेवाला ऐतिहासिक जाँच पड़ताल करने नही बैठता । दूसरी बात यह है कि जिन व्यक्तियो के सबध मे ऐसी चर्चा हुई यह आवश्यक नही कि वे पुराण साहित्य मे प्रसिद्ध हो और उसी प्रकार यह भी आवश्यक नही कि पुराणप्रसिद्ध व्यक्तियो की चर्चा वैदिक साहित्य मे आई हो, क्योकि प्रसिद्धि के सबध मे दोनो के मानदड बिलकुल भिन्न है । एक धार्मिक साहित्य है, दूसरा ऐतिहासिक । पार्जिटर ने अपने अमूल्य ग्रथ 'एशेंट इडियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन' मे पृ० ६ से ८ तक तथा पृ० ४२-४३ मे इस विषय का बडा विशद और विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है ।

राम कथा भी उन्ही वृत्तातो मे से है जिनका वेद मंत्रो मे कोई उल्लेख नही है ।[1] इन्ही वेद मत्रों के याज्ञिक प्रयोग के लिये 'ब्राह्मण' साहित्य का निर्माण हुआ इनका रचनाकाल वेदो के सहित होने के बाद अर्थात् गाथाकाल से कुछ पहले, लगभग ई० पू० तेरहवी चौदहवीं शती पड़ता है । 'ब्राह्मणो' मे याज्ञिक क्रिया कलाप की मीमासा मे प्रसग वश पुराने उपख्यान और घटनाएँ भी आई है किंतु ब्राह्मणकारो का दृष्टिकोण ऐतिहासिक न होने के कारणउनका रूप इस दृष्टि से विशेष प्रामाणिकता नही रखता । साथ ही उनका निर्माण क्षेत्र भी मत्रो की तरह कुरुपाचाल

नोट—१—इसका एक और कारण हो सकता है । वैदिक साहित्य का उपलब्ध अश उसका केवल वह भाग है, जो भरतों (अथवा उनकी मुख्य जातियो, कुरुपाचालो) के वैभव मे पल्लवित हुआ । एक तो वेदो के सकलयिता कृष्ण द्वैपायन भरतो ही से संबधित थे, दूसरे जिस समय उन्होने मत्रो को सहित किया उसके कई सौ वर्ष बाद तक ऐक्ष्वाको का प्रताप सूर्य अपराह्न मे पहुँच चुका था । फलतः उस समय तक मत्र भाग की वे शाखाएँ नष्टप्राय हो चुकी रही होगी जिनका संबध इक्ष्वाकु वश से था । इन कारणों से यही सभावित है कि वेद की ऐक्ष्वाक वाचनाएँ वेदव्यास के सग्रह मे प्राय. नही आई है । यदि मत्र भाग का वह अश उपलब्ध होता तो उसमे रामचद्र की यह प्रशस्ति अवश्य मिलती ।

जनपद होने के कारण उनकी बातें, आधार मंत्रो की भाँति एकांगी ही है ।

तो भी शतपथ ब्राह्मण मे एक स्थल पर रामचद्र के अनुज भरत की भूली भटकी स्मृति मिलती है । शतपथ (१३,५,४,६ तथा २१ के अनुसार भरत ने सत्वतो का आश्वमेधिक अश्व रोक लिया था । यहाँ भरत से, शतपथ का अभिप्राय दुष्यत पुत्र भरत से है, क्योकि इसी प्रसग मे वह लिखता है कि ये-- भरत की संतान, 'भरता' सभी राजाओ वढ चढ़कर थे । किंतु दौष्यंति भरत सात्वतो के वहुत पहले हो चुके थे, जैसाकि पार्जिटर द्वारा निर्धारित तुल्यकालता तथा वशावलियो स स्पष्ट है ।[2] हाँ, रामचद्र तथा उनके भाई भरत अवश्य सत्वतो के समकालीन थे और शत्रुघ्न ने उन्हे (सत्वतो को) विजय भी किया था तथा रामचद्र ने भरत को उनका राजा बनाया था । ऐसी अवस्था मे यही मनना पड़ेगा कि शतपथ की यह कथा उसी ऐक्ष्वाक सात्वत सघर्ष की प्रतिध्वनि मात्र है जिसे उस ब्राह्मण ने ऐक्ष्वाक भरत के स्थान पर दौष्यति भरत पर आरोपित कर दी है क्योकि वह (शतपथ) भरत की सतानो भरतो, कुरुपाचालो की छत्रच्छाया मे निर्मित हुआ और उसके रचियता की दृष्टि मे अपने आश्रयदाता के मूल पुरुष भरत ही एकमात्र भरत थे । वैदिक मत्र भाग मे रामचद्र का उल्लेख ढूटने की व्यर्थता के सबध मे हम ऊपर अपनी दलीले दे चुके है, फिर भी ऋग्वेद मे एक मत्र आता है जिसके सबध मे कई विद्वानो की राय है कि इसमे रामचद्र का चर्चा है । दशरथ का नाम ऋग्वेद मे कई बार आता है, किंतु निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि उन स्थलो मे रामचद्र के पिता का ही उल्लेख का अभिप्राय है ।

ऊपर जो पड़ताल हुई है उससे हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि रामचद्र की चर्चा ई० पू० दूसरी शती से लेकर आठवो नवी शती तक के वाङमय मे असदिग्ध रूप से विद्यमान है । यही नही, जातको की गाथाओ की रचना के समय भी रामकथा विद्यमान हो नही, काफी प्राचीन हो चुकी थी । इसका प्रमाण इससे वढ़कर क्या हो सकता है कि उस समय वह लोककथा मे आ चुकी थी और उसके एकाधिक रूप प्रचलित थे । सभव है, इन रूपो के सिवा उसके और रूप भी लोक मे रहे हो । उसके पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य मे भी कोई ऐसी बात नही मिलती जिससे रामचद्र का न होना प्रमाणित हो । प्रत्युत उसमे इस विषय का जो आभास मिलता है उससे उनकी सत्ता प्रतिपादित ही होती है । पुराण-इतिहास मे जो हमारे प्राचीन इतिहास का प्रामाणिक और वास्तविक स्रोत है उनके उल्लेख का चर्चा हम इस लेख के प्रारभ मे ही कर चुके है ।

जिस व्यक्ति के अस्तित्व के विषय मे हजारो वर्ष तक फैले हुए प्रमाण उपलब्ध हो वह कल्पनाप्रसूत हो, यह असभव है । किसी कल्पनाप्रसूत चरित के संबध मे न तो ऐसे प्रमाण मिल सकते है, न वह इतने समय तक जीवित ही रह सकता है ।

२-पार्टिजर 'एशेंट इडियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन" ११ से १४ तक

यहाँ तक राम की ऐतिहासिकता पर विचार करने के बाद अब हम यह देखने का प्रयत्न करेगे कि राम कथा का वाल्मीकीय रूप कितना प्राचीन है।

भारत के प्राचीन वाङमय के स्मार्त अंश मे रामकथा मुख्यत. वाल्मीकि रामायण, महाभारत के रामोपाख्यान, पुराणो के वंशानुचरित, पद्मपुराणातंर्गत रामायण तथा अध्यात्म रामायण मे है। उसके बौद्ध अंश मे वह दशरथ जातक में है और जैन अंश मे जिनशेणाचार्य के रामायण आदि मे है।

इनमे से स्मार्त ग्रंथोवाला वाल्मीकि ही सबसे प्रामाणिक और अनुश्रुति के अनुसार सवसे प्राचीन है। शेष ग्रंथ या तो उसी के साराश या पल्लवन एवं अति-रंजन है। जैन रामायण तथा अध्यात्म बहुत इधर के है, फलत. ऐतिहासिक विवेचन मे उनका कोई महत्व नहीं है। फिर भी, इनकी कथाएँ वाल्मीकि के विपरीत नही है, अर्थात् इन सब कथाओ की धारा एक है, किंतु जातक की रामकथा की धारा उक्त धारा से बिल्कुल भिन्न है। इसका साराश इस प्रकार है---

"एक समय वाराणसी मे दशरथ नामक राजा धर्मपूर्वक राज्य करते थे। उनकी सोलह हजार रानियो मे पटरानी से उन्हे दो पुत्र और एक कन्या हुई। ज्येष्ठ पुत्र का नाम राम पंडित, कनिष्ठ का लक्खन कुमार और कन्या का सीता देवी था।

कुछ काल मे पटरानी का देहात हो गया। अपने सदस्यो के समझाने से राजा ने बहुत काल उपरात, किसी दूसरी को पटरानी बना दिया। उनको भी भरत-कुमार नामक पुत्र हुआ।

एक दिन राजा ने इस पटरानी से कहा---देवि, मैं तुम्हे एक वर देता हूँ माँगो। रानी ने स्वीकृतिपूर्वक कहा---फिर माँग लूँगी। जब उनका पुत्र सात बरस का हुआ तो रानी ने वर की याद दिलाकर अपने पुत्र के लिये राज्य माँगा। राजा ने क्रुद्ध होकर उत्तर दिया---क्या मेरे दोनो पुत्रो को मार कर अपने पुत्र को राज्य दोगी? रानी डर कर अपने भवन को भाग गई, किंतु नित्य वही वर माँगती रही। राजा डरे कि कही यह मेरे पुत्रों को समाप्त न करा दे। उन्होने अपने दोनों पुत्रो को बुलाकर कहा कि किसी दूसरे देश वा वन चले जाओ और मेरी मृत्यु के बाद आकर अपना पैत्र-पैतामह राज्य करो। दैवज्ञो से पूछकर राजा ने अपनी आयु बारह वर्ष और जानी, अत. अपने पुत्रो से उन्होने बारह वर्ष पर लौटने को कहा। वे लोग पिता से विदा होकर रोते हुए चल पडे। सीता देवी ने उनका साथ दिया।

अनेक लोग उनके संग हुए। उन्हे लौटाकर चलते चलते वे हिमालय पहुँचे। वहाँ एक स्थान पर उन्होने अपना आवास बनाया और वन्य फलो पर काल-क्षेप करने लगे। लक्खन पंडित और सीता ने राम पंडित से कहा---आप हमारे पिता-स्थानीय है, आप यही कुटी मे रहा करे। मै आपका आहार लाया करूँगी। यही क्रम चला।

उधर पुत्र वियोग से दशरथ घुलने लगे और नवें वरस ही गत हो गए। भ
की माता ने चाहा कि उसके पुत्र को राज्य मिल जाय, किंतु परिषद् ने इसे स्वीः
नही किया। भरत ने कहा कि मै अपने भाई राम पडित को वन से लाकर गद्दी
बैंठाऊँगा। पाँचो राज्य चिह्न तथा चतुरगिणी सेना लेकर वे वन को गए और आः
से कुछ दूर सेना छोडकर कई अमात्यों के सग कुटी पर पहुँचे। उस समय र
कुटीर के द्वार पर स्वर्णप्रतिमा की तरह दृढ वैंठे हुए थे। लक्खन तथा सीता वन
फल वटोरने गई थी। राम से सब वृत्तात कहकर भरत रोने लगे, किंतु राम ज्यों
त्यो रहे। सध्या होते होते लक्खन तथा सीता वन से लौटे। राम ने मन मे विच
किया कि अभी ये वच्चे है, यह दुखद समाचार न सह सकेंगे। अतएव क्रोध दिख
हुए उन्होने कहा--तुमने आज देर की. तुम्हारा यही दड है कि सामने के जलाः
मे खडे रहो। वे तुरत पानी मे उतर गए, तव राम ने उन्हे वह दुखद समाच
सुनाया। सुनते ही वे मूर्छित हो गए, तीन वार ऐसा ही हुआ। तव अनुचरों ने उ
वाहर किया, वाहर निकलने पर भी वे रोते कलपते रहे, किंतु राम पडित ज्यों
त्यो रहे। भरत कुमार ने उनसे इसका कारण पूछा। राम पंडित ने उनसे शरं
की नश्वरता, मृत्यु की अवश्यंभाविता ग्रादि के सवंध मे कई गाथाएँ कही। सा
समाज उनकी अनित्यता का सिद्धात सुनकर विगतशोक हो गया। भरत ने प्रर
होकर राम से वाराणसी का राज्य लेने को कहा। उन्होने उत्तर दिया कि
लक्खन और सीता को ले जाओ और सव मिलकर राज्य करो। मैं पिता
आज्ञा भग न करूँगा। शेष तीन वर्ष वीतने पर लौटूँगा।

भरत ने भी राज्य करने से इनकार किया। तव राम ने कहा कि मे
पादुका ले जाओ, यह शासन करेगी और अपनी कुश की पादुका उन्हे दे दं
उसे लेकर लक्खन, सीता और भरत वाराणसी लौट आए।

तीन वरस तक राम-पादुका ने राज्य किया। जव कोई न्याय करना हो
था तो मत्री उसे सिहासन पर रख देते थे। यदि न्याय ठीक होता तो वह ज्यो की त
रहती। अन्यथा आपस मे टकराने लगती और तभी शात होती जव सच
न्याय हो जाता था।

तीन वर्ष वाद राम पडित वन से लौटे और सीता को राजमहि
वनाया। प्रजा एवं मत्रिमडल ने उन्हे सिहासनारूढ किया और सोलह हज
वर्ष राज्य करके वे दिवगत हुए।"

इस कथा को लेकर विद्वानो ने वडे वडे अनुमान लगाए हैं और इ
ही रामोपाख्यान का प्राचीनतम रूप माना है। किंतु उनकी उपपत्तियाँ नि स
हैं। हम ऊपर देख चुके हैं कि जातक की गाथाएँ त्रिपिटक मे सगृहीत है अं
वे वहुत पुरानी है। किंतु वहाँ केवल गाथाएँ भर सगृहीत है, फलत. वहाँ

बिलकुल असबद्ध और तात्पर्यहीन है। अपनी अपनी कथाओ मे खचित होने पर ही वे सार्थ और सबद्ध होती है।

ये कथाएँ त्रिपिटक के सकलन के बहुत समय बाद तक मौखिक परंपरा से चलती रही। हाँ, ई० पू० पहली-दूसरी शती से ई० तीसरी शती तक उनमे से बहुतेरी कथाओ के दृश्य भरहुत, साँची, मथुरा, अमरावती तथा नागार्जुन कोडा आदि पत्थरो पर उत्कीर्ण अवश्य किए गए। अस्तु, मौखिक परंपरा से पहले पहल वे सिहली भाषा मे, सिहल मे लिखी गईं। उनमे गाथा मात्र अपने मूल पाली रूप मे लिखी गई। फिर ई० छठी शती मे किसी अज्ञात लेखक ने उन्हें पाली रूप दिया। जातको का यही पाली रूप आज जातकमाला नाम से उपलब्ध है, जिसका एक प्रामाणिक सस्करण अध्यापक फौशबौल ने रोमन लिपि मे प्रकाशित किया है।

जातक के इस रूप के संबध मे विद्वानो की प्राय: एक स्वर से यही राय है कि इसमे कथाओ के रूप और ब्योरे प्राय' उसी रूप मे सुरक्षित है जिसमे वे परपरा से चले आते थे। अत. भारत मे बुद्ध युग के पूर्व जो धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय रीति नीति प्रचलित थी उसका इनमे पूरा स्वरूप निहित है।

किंतु बुद्ध के समय से जब तक सिहली भाषा में जातक कथाएँ पहली बार साहित्यिक रूप मे नही आईं, उसके लिये यदि आठ सौ बरस का समय (ई० दूसरी शती तक) भी रख लिया जाय तो भी यह बात बिलकुल ही युक्तिसगत नही कि मौखिक परपरा मे, सो भी कहानी ऐसी चीज की वस्तु और विन्यास मे कोई परिवर्तन न हुआ हो। कुछ जातक ऐसे भी मिलते हैं जिनकी गाथाओ का उनकी वस्तु से कोई मेल नही है। ऐसे जातक प्रमाणित करते है कि जातको की वस्तु-परपरा विकृत हो गई है। अत: उनके ब्योरो की प्रामाणिकता के सबध मे विद्वानो का आग्रह दुराग्रह मात्र है।

साराश यह कि जातको की गाथा भर प्राचीन--बुद्ध से भी पहले की है। उनकी वस्तु बहुत बाद को लिपिबद्ध हुई। तिस पर से, एक तो उसका प्रथम सिहली रूप अब अप्राप्य है (अनुवाद कितना ही शाब्दिक क्यो न हो, उसका मूल से भेद अवश्यभावी है); दूसरे यह निताल असंभव है कि एक ऐसा साहित्य जिसका आधार कल्पना हो और जो ऐसी मुखपरंपरा से चलता रहे जिसमे ऐतिह्य बुद्धि का अभाव हो, उसी रूप मे बना रहे, जिसमे वह सुनाया गया हो (वर्तमान प्रसग मे बुद्धदेव द्वारा)।

तो भी इस सबध मे हमे विशेष आग्रह नही है। जातक कथाएँ वस्तुत: लोक कथाएँ है, उनमे कितने ही प्रामाणिक आख्यानो के उपरूप मिलते है।

अतएव यदि हम मान भी ले कि दशरथ जातक पुराना ही है तो उससे केवल इतना ही प्रमाणित होता है कि राम का चरित्र बहुत पहले से लोक मे प्रचलित था। फलत उसका यह रूपातर होना सभव हुआ।

लोककथा मे किसी इतिहास या चरित का क्या से क्या रूप हो जाता है, यह बात छिपी नही है। रामकथा, कृष्णचरित तथा सावित्री उपाख्यान के आज भी हमने कहानियो मे ऐसे रूप सुने हैं जो उनसे कही भिन्न हैं और जिनमे उनके पात्र केवल 'राजा'-'रानी' रह गए हैं। तो भी है वे निस्सदेह उक्त उपाख्यान ही।

अस्तु; हमारा प्रतिपाद्य विषय यह था कि राम कथा का वाल्मीकीय रूप ही सबसे प्रामाणिक तथा अनुश्रुति के अनुसार सबसे प्राचीन है। अत उसका वह रूप जातकीय गाथाओ के समय मे विद्यमान था। इसके प्रमाण के लिये कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता नही, वह एक जातकीय गाथा मे ही प्रस्तुत है। इस गाथा मे रामकथा से सबध रखनेवाली दो बहुत महत्वपूर्ण घटनाएँ निहित है, जिनका एक ओर तो दशरथ जातक से पूर्ण विपर्यय है और दूसरी ओर वाल्मीकीय रामायण से पूर्ण सामंजस्य। इनमे से पहली घटना तो यह है कि राम के वनगमन के समय उनकी माता कौशल्या जीवित थी। दूसरी यह कि राम वनवास के लिये दडकारण्य गए थे, दशरथ जातक की भाँति हिमालय नही। सच्ची बात तो यह है कि इसमे कौसल्या शब्द मे राम वनवास के पूर्व की और दडकारण्य शब्द मे उसके बाद की सभी रामायणीय घटनाएँ विवक्षित है। इस गाथा के सामने दशरथ जातक के पक्ष मे कोई भी प्रमाण नही टिक सकता। यह इस बात का प्रमाण है कि रामकथा का वास्तविक वाल्मीकीय रूप बुद्धदेव से कई शती पहले विद्यमान था, जैसा ऊपर कह आए है। दशरथ जातक को राम कथा का मूल रूप मानना नितात भ्रम है। वह तो बौद्धो को भी मान्य नही था। उन्हे वाल्मीकीय रूप ही मान्य था, यह इसी से सिद्ध है कि अश्वघोष ने वाल्मीकीय रूप को ही ग्रहण किया है, जातक कथा की कोई चर्चा नही की है।

ऐसा अनुमान होता है कि बडे बड़े उपाख्यान ग्रथो के निर्माण की प्रथा बहुत प्राचीन है, जिस श्रेणी का ग्रंथ रामायण भी है। 'भारत' मे जितने बड़े बडे उपाख्यान आए है उनमे से किसी भी घटना का काल राम से इधर का नही है। इनमे से जिस प्रकार रामोपाख्यान 'वाल्मीकि' का मर्म है उसी प्रकार अन्य उपाख्यान भी अन्य स्वतन्त्र रचनाओ पर अवलम्बित होने चाहिए। यह दूसरी बात है कि आज उनके आधार ग्रंथ अप्राप्य है। वे ग्रथ रामायण के समान लोकप्रिय न थे, अतएव समय पाकर नष्ट हो गए, केवल उनके सक्षिप्त रूप 'भारत'

मे बच रहे हे, जिनसे इस प्रकार के ग्रंथो की प्राचीनता भली भाँति प्रतिपादित होती है।

पाणिनि ४।२।६० और उसपर के महाभाष्य से जान पड़ता है कि विभिन्न आख्यानों के विशिष्ट ज्ञाता होते थे, यथा यवक्रीत के आख्यान का ज्ञाता यावक्रीत, ययाति के आख्यान का ज्ञाता यायातिक यदि। ऐसे आख्यानो का स्वतन्त्र और विशद अस्तित्व न होता तो ऐसे नाम न पडते और न इस सूत्र के महार्थ की ही आवश्यकता होती। इससे भी प्रामाणित होता है कि आज जिन आख्यानो को हम भारत मे सकलित देखते है वे एक समय स्वतन्त्र ग्रथ थे।

अस्तु, रामायण के सबध मे अनुश्रुति यह है कि वाल्मीकि ने उसे रामचद्र के समय मे रचा था। अब देखना चाहिए कि रामायण की प्राचीनता कहाँ तक पहुँचती है।

बुद्धचरित मे अश्वघोष ने वाल्मीकि को पद्य का जन्मदाता माना है। यह अनुश्रुति उनके समय मे जब काफी पुरानी रही होगी तभी उन्हे ग्राह्य हुई होगी। इतना ही नही, यह उस समय की होनी चाहिए, जब बौद्ध मत का उदय नही हुआ था, तभी यह बौद्ध और ब्राह्मण दोनो को समान रूप से मान्य हो सकती है, बात है भी ऐसी ही, अश्वघोष ने इस अनुश्रुति के साथ और भी इसी तरह की अनुश्रुतियाँ दी है, वे सभी बहुत पुरानी है। अर्थात् यह असदिग्ध है कि वाल्मीकि ई० पू० छठी शती के पहले आदिकवि के रूप मे लोकसमत हो चुके थे। उनके सबध मे यह भावना उनकी रामायण रचना से ही उत्पन्न हुई थी और उसके उत्पन्न होने के लिये रामायण के निर्माण के बाद काफी समय बीत जाना चाहिए, जब कि लोग वाल्मीकि के कुल-वाचक 'कवि' शब्द के वास्तविक अर्थ को भूल गए हो। इस विस्मृति के लिये पाँच सौ वर्ष का समय तो चाहिए ही। इस प्रकार रामायण का रचनाकाल ई० पू० ग्यारहवी शता तक पहुँचता है।

ऊपर हमने देखा है कि जातक गाथाएँ ई० पू० आठवी, नवी शती से इधर की नही हो सकती। इन गाथाओ मे जो रामायण सबधी है उनमे से दो तीन रामायण के ही श्लोको की वाचनाएँ है। इसका तात्पर्य यह है कि उस समय वाल्मीकि के श्लोक रामचद्र की लोककथा मे आ चुके थे, जैसे आजकल तुलसी की चौपाइयाँ और दोहे लोक मे चल रहे है। इस युक्ति पर यदि यह आपत्ति की जाय कि लोक गाथाएँ ही वाल्मीकि रामायण मे समिलित कर ली गई, तो फिर क्या कारण था कि दशरथ जातक मे आयी हुई राम सबधी दस गाथाओ मे से केवल दो ही रामायण मे समिलित की गयी? अत. अधिक संभव यही है कि वाल्मीकीय मे से ही छिटक कर ये श्लोक लोक मे आए। और किसी ग्रंथ का खूब प्रचार हुए बिना ऐसा नही हो सकता; इसके लिए भी दो-तीन सौ वर्ष का समय चाहिए ही। इस प्रकार भी वाल्मीकि का निर्माणकाल ई० पू० ग्यारहवी शती तक पहुँचता है।

किंतु इन कारणो से ग्यारहवी शती मे भी इस प्रकार के निर्माण की संभावना बहुत कम रहती है ।

(१) राम को हुए उस समय कोई सतरह-अट्ठारह सौ वर्ष बीत चुके थे; (२) उनके वशज ऐक्ष्वाकु भी उस समय केवल साधारण राजा रह गये थे, जिनके लिये भी रामायण निर्मित होने की सभावना नही थी और (३) राम उस समय अवतार भी नही हुए थे, ऐसी दशा मे यही अधिक युक्तिसंगत है कि रामायण की रचना वाल्मीकि ने रामचन्द्र के ही युग मे की थी । पुराणों, महाभारत तथा स्वय रामायण की अनुश्रुति भी यही है । ऊपर के विमर्श मे इस अनुश्रुति के स्थापित होने मे कोई बाधा नही रह जाती, अत उसे अस्वीकार करने का कोई कारण नही है ।

रामायण मे तत्कालीन सस्कृति, सभ्यता और राजनीति एव राजनीतिक भूगोल सबधी जो परिस्थिति मिलती है उससे भी यही प्रतिपादित होता है कि वह ई० पू० ग्यारहवी शती (ब्राह्मण काल) से बहुत पहले की है, जिसे कोई तुल्य-कालीन मनुष्य ही गुंफित करने मे समर्थ हो सकता है । समय बीतने पर ऐसे ब्योरो मे स्वभावत गडबड़ी उत्पन्न हो जाती है ।

वाल्मीकीय मे से इस प्रकार की कुछ उल्लेखनीय बाते हम यहाँ प्रस्तुत करते है—

(१) ऐक्ष्वाको मे राजा का चुनाव होता था ।
(२) क्षत्रिय ऋषि-कन्याओ से विवाह करते थे ।
(३) ऋषिगण राजाओ का पूजन (समादर) करते थे ।
(४) क्षत्रिय पौरोहित्य और कर्मकांड मे ब्राह्मणो की भाँति निष्णात होते थे और बिना ब्राह्मण पुरोहित के वे कर्मकाड सपादित कर लेते थे ।
(५) देवपितृ कर्म मे मास का व्यवहार अबाध रूप मे होता था ।
(६) स्त्रियाँ हवन, तर्पण, उपस्थान एवं सध्या करती थी ।
(७) पुनर्जन्म की भावना न थी । दैव का अर्थ 'देवताओ की इच्छा' था, अदृष्ट वा भाग्य नही ।
(८) अनार्य निषादो का राज्य कोसल जनपद से मिला हुआ था ।
(९) दडकारण्य प्रयाग से ही आरभ होता था और उसमे कही कही ऋषियो के आश्रम मात्र थे । किष्किधा और लका विध्य मे ही थी ।
(१०) राक्षसो का धर्म, मंत्र और कर्मकाड भिन्न था । उनके मुर्दे गाड़े जाते थे । वे घोड़े के बदले गधे का व्यवहार करते थे । धनुर्बाण से वे अनभिज्ञ थे, शक्ति (बरछी) उनका मुख्य अस्त्र थी ।
(११) वानरो की अपनी निजी भाषा थी ।

यहाँ तक जो कुछ कहा गया है उसके आधार पर यह कहने के लिये कोई गुजाइश नही रह जाती कि वाल्मीकि रामायण रामचद्र की समकालीन रचना नही है। फिर भी, रामचद्र से रामायण के निर्माण की तुल्यकालता के विरुद्ध बहुत बडी आपत्ति यह है कि उसकी भाषा अपेक्षाकृत बहुत इधर की है, परतु इस दृष्टि से रामायण के रचनाकाल का निर्णय करना सर्वथा असगत है, क्योकि मूल वाल्मीकि की भाषा तो वर्तमान वाल्मीकि से बहुत भिन्न रही ही होगी। उसका मूल रूप मे सुरक्षित रहना असभव था। रामायण मत्र नही है जिसमे बिदु, विसर्ग का भी भेद पड जाय वा वह स्वर वर्ण से मिथ्या प्रयुक्त हो जाय तो लेने के देने पड जायँ। इसके विपरीत वह आरभ ही से एक लोकप्रिय रचना रही है। ऐसे लोकप्रिय साहित्य का अद्यतन बने रहना एक आवश्यक प्रक्रिया है, क्योकि तभी तो लोक उसे समझता रहेगा। फलत. भाषा की अपेक्षाकृत नूतनता रामायण के रामकालीन होने मे बाधक नही हो सकती।

०

तुलसीदास कृत रामचरितमानस के स्रोत और उनकी रचना[1]

सी० वांदवील

तुलसीदास की महत्ता और उनके काव्यो की विशेषतया रामचरितमानस की अतिशय लोकप्रियता के सबध मे जो आजतक भारत मे उन्हें प्राप्त है, बहुत कुछ कहा जा चुका है। पश्चिम मे महान् भाषाशास्त्री और भारतीय विद्या के पंडित जार्ज ग्रियर्सन के शब्दो मे वे "भारत मे उत्पन्न सभवत· सबमे महान् कवि थे।" (माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिंदुस्तान, प्रस्तावना पृष्ठ-२०)। भारतीय आलोचक मिश्रबधुओ ने अपने 'मिश्रबधु विनोद' मे तुलसीदास को पहला स्थान दिया है और वह उचित ही हे। यह श्लाघा का भाव उत्तरोत्तर बढा है और गत बीस वर्षो मे अनेक ग्रथ और लेख ऐसे प्रकाशित हुए है, जिनमे तुलसीदास की प्रतिभा और 'रामचरितमानस' के सौदर्य की प्रशस्ति हुई है, कभी कभी अतिशयोक्तिपूर्ण शब्दो मे भी।

इस विषय मे अर्वाचीन साहित्य की राशि पर ध्यान रखते हुए भी यह अचरज की बात है कि वास्तविक आलोचनात्मक कार्य जो अबतक हुआ है, बहुत ही कम है। आज भी कवि के व्यक्तित्व और उनके जीवन की घटनाओ के विषय मे निश्चितरूप से शायद ही हमे कुछ ज्ञात है। उनके समकालीन प्रमाण और ऐतिहासिक सामग्री के अभाव के कारण ही प्राय. यह स्थिति है। उनका जन्म सवत् भी अनिश्चित है। डा० माताप्रसाद गुप्त ग्रियर्सन से सहमत है कि वह सं० १५८९ या १५३२ ई० था (गोस्वामी तुलसीदास, प्रयाग १९४६)। उनकी मृत्यु की तिथि भी अविदित है। पर अनुश्रुति के अनुसार १६२३ ई० मानी जाती है। उनके जीवन के विषय मे प्रचलित अधिकाश वर्णन कथानक मात्र है। इसी प्रकार बहुत से ग्रथ भी, जो उनके लिखे कहे जाते है, सदिग्ध हे, तथापि ग्रियर्सन द्वारा स्थापित सूची सभी आधुनिक आलोचको द्वारा स्वीकार कर ली गई है। इस सूची मे छह छोटे और छह बड़े ग्रथ है, जिनमे रामचरितमानस, जिसे हिंदी रामायण भी कहते है, उनका सबसे विशिष्ट ग्रथ है। इसके चौपाई मे रचे जाने के कारण कभी कभी 'चौपाई रामायण' भी कहा जाता है।

तुलसीदास के ग्रथो मे केवल चार मे तिथि दी हुई है। सौभाग्य से राम-

१–अग्रेजी से अनुवाद : श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ।

चरितमानस इन चारो में से एक है। उसके कथारंभ मे कहा है कि यह संवत् १६-३१ (१५७४ ई०) मे अयोध्या मे शुरू हुआ। उसके समाप्त होने की तिथि ज्ञात नही। अयोध्या की एक अनुश्रुति के अनुसार यह सवत् १६३३ अर्थात् दो वर्ष बाद समाप्त हुआ। पर ग्रंथ के कलेवर को देखते हुए यह बहुत संभव नही जान पड़ता।

'वाल्मीकि रामायण" की भाँति "रामचरितमानस" सात खडो मे विभक्त है, जिनके नाम वाल्मीकि के काडो के समान ही है। केवल छठा वाल्मीकि के 'युद्धकाड' की जगह मानस मे लका काड कहा गया है। पर ये नाम यद्यपि लोक मे प्रचलित है तो भी वही नही है, जो स्वंय कवि ने अपने 'रामचरितमानस' के काडो के लिये रखे थे।

यह विपुलकाय ग्रथ आनुपातिक परिमाण की दृष्टि से सुविहित नही ज्ञात होता, और रचना की दृष्टि से भी विचित्र जान पड़ता है। बालकाड नामक पहले खंड मे, जो सबसे बड़ा है (३६०० अर्धाली या पक्तियो से अधिक) रामसबधी कथाओं के अतिरिक्त, बहुत सी सामग्री है। दूसरा खड अयोध्याकाड, जो भारत मे सबसे अधिक प्रशसित है, बहुत बड़ा है (३२०० अर्धाली से अधिक)। ये दोनो काड मिलकर सारे काव्य के दो तिहाई के लगभग हैं। उनके बाद के अरण्य, किष्किधा और सुदरकाड अपेक्षाकृत बहुत छोटे हैं। अतिम दो लका और उत्तर मध्यम परिमाण के है। पर प्रायः सारा उत्तरकांड और बालकांड का पूर्वार्ध, रामकथा से बाहर के हैं।

रामचरितमानस की हस्तलिखित प्रतियाँ बहुसख्यक है, पर सबसे अधिक रुचि की प्रतियाँ अक्सर पहुँच से बाहर है। राजापुर की सुप्रसिद्ध प्रति के विषय मे जो बहुत दिन तक कवि के हाथ लिखी मानी जाती रही, खासकर यही बात है। डा० माताप्रसाद गुप्त और पं० रामनरेश त्रिपाठी ने, जो इस प्रति की परीक्षा करने मे सफल हुए, सिद्ध किया है कि यद्यपि प्रति पुरानी है, पर स्वय कवि के हाथ की लिखी नहीं है। इस प्रति मे केवल अयोध्याकांड का पाठ है। सपूर्ण काव्य की सबसे प्राचीन प्रति जिसका वर्त-मान मे उपयोग किया जा सकता है, काशी की प्रति है, जो महाराज बनारस के पास सुरक्षित है।[२] यह सवत् १७०४ (१६४७ ई०) की प्रति है, पर तो भी आज तक उपलब्ध प्रतियो के आधार पर तैयार किया हुआ रामचरित-मानस का वस्तुत सशोधित सस्करण नही है। नए सस्करणो मे सबसे अच्छा इडियन प्रेस का सस्करण (श्यामसुदर दास की टीका सहित इलाहाबाद १९२७)[३] और गीता प्रेस का मानसाक सस्करण (गोरखपुर १९३८) है, जिनका इस अध्ययन मे उद्धरण देने के लिये उपयोग किया गया है।

टीकाएँ प्रायः अच्छी नही है और उनका उपयोग सोच समझकर करना

२. रामचरित मानस की सबसे प्राचीन प्रति 'हिंदुस्तानी' जनवरी, १९३४।

३. तुलसीदास और उनकी कविता, प्रयाग १९३९।

चाहिए। जैसा ग्रियर्सन ने लिखा है, 'अधिकाश टीकाकारो की यह गहरी प्रवृत्ति देखी जाती है कि वे कठिन स्थलो को बचा जाते है और सरलतम स्थलो का ऐसा रहस्यमय अर्थ करते है जो कवि को कभी इष्ट नही था।' नई टीकाओ मे श्याम-सुदरदास की संभवतः सबसे अच्छी है। अभी तक किसी यूरोपीय भाषा में रामचरितमानस का पूरा अनुवाद केवल अग्रेजी मे ग्राउसकृत (१८९७) था, जो कई बार पुनर्मुद्रित हो चुका है। यह बहुत उपयोगी है, यद्यपि प्रायः मूल से हटा हुआ है और सरलता से रहित है। अग्रेजी मे 'हिल' द्वारा किया हुआ नया अनुवाद अभी निकला है। फ्रेंच मे गार्सा-द-तासी (१८३९ ई०) का किया हुआ एक बहुत पुराना अनुवाद सुदरकाड का (सर्वप्रथम) था और हाल मे अयोध्याकाड का सुश्री सी० वादवील का, भूमिका और आलोचनात्मक टिप्पणियों के साथ प्रकाशित हुआ है (पेरिस १९५४)।

जार्ज ग्रियर्सन ने, जिन्हें तुलसीविषयक अध्ययन का आरंभकर्ता कहा जा सकता है, सर्वप्रथम इस महान् हिंदी कवि के ग्रथों के अध्ययन मे आलोचनात्मक शैली का उपयोग किया। उनके 'तुलसीदास पर टिप्पणियाँ' (नोट्स आन तुलसीदास) शीर्षक लेख ने, जो १८९३ ई० मे इडियन एटीक्वेरी मे प्रकाशित हुआ था, एक प्रकार से मार्ग का परिष्कार किया। मिश्रबंधुओ ने उनका उपयोग किया। रामचरित मानस के स्रोत के प्रश्न और वाल्मीकि रामायण पर उनकी निर्भरता को इटली के विद्वान तेसीतोरी ने उठाकर उसपर लंबी समीक्षा अपने रामचरितमानस और रामायण (इल रामचरितमानस ए इल रामायण) शीर्षक लेख मे की, जिसका अग्रेजी अनुवाद इडियन एटीक्वेरी मे प्रकाशित हुआ (१९१२-१३, भाग-४१-४२)। बालकाड के पूर्वार्ध और समस्त उत्तरकाड को, जिनका वाल्मीकि की कथा से कुछ सबध नही, अलग छोडकर तेसीतोरी ने यह दिखाने का प्रयत्न किया था कि तुलसीदास ने अपने काव्य के शेष भाग में वाल्मीकि रामायण का ही अधिक अनुगमन किया, अतएव इसे ही रामचरितमानस का मुख्य आधार ग्रथ मानना चाहिए। अपनी बात सिद्ध करने के लिये तेसीतोरी ने वाल्मीकि के उन स्थलो की एक लबी सूची दी है जिनकी छाया उन्हें रामचरितमानस मे दिखाई दी। उन्होने यह भी निश्चय करने का दावा किया कि वाल्मीकि रामायण की तीन मुख्य धाराओ मे से किस धारा का उपयोग तुलसीदास ने अपने काव्य के किस भाग मे किया है। तुलसी की कथावस्तु और वाल्मीकि के कथानक मे जो अनेक भेद है, उनका कारण तेसीतोरी के मत मे हिंदी कवि की स्मृति शक्ति की अक्षमता या अन्य कोई भ्राति थी। तेसीतोरी ने स्वय अपने मत को कुछ मर्यादा के साथ प्रकट किया था, 'क्योकि हमने केवल वाल्मीकिरामायण पर ही विचार किया है, इसलिये हमारी स्थापनाएँ स्वभावतः अस्थायी हो जाती है। हमे विदित है कि तुलसीदास ने अध्यात्मरामायण का भी उपयोग किया था, जो कि ब्रह्माडपुराण का

एक भाग है और रामायण का आध्यात्मिक पुनः संस्कार है। जब उस स्रोत की भी परीक्षा हो लेगी, तब रामचरितमानस के स्रोतों में रामायण की प्राथमिकता का अंतिम निश्चय किया जा सकेगा। किंतु रामायण को जो प्राथमिकता यहाँ दी गई है, उसे किसी अंश मे मर्यादित भी करना पड़े तो भी कुल की दृष्टि से हमारी सपूर्ण प्रमुख स्थापनाएँ बिल्कुल निश्चित पाई जाएँगी।

हमे ज्ञात है कि तुलसी ने स्वय अपने काव्य के आरभिक श्लोकों मे अपने स्रोतो का उल्लेख किया है जिसमे उन्होने कहा है कि वे रामकथा को विविध पुराण, निगम और आगमो के अनुसार तथा जो रामायण मे कहा है, उसके अनुसार एवं अन्य प्रमाणों के अनुसार (क्वचिदन्यतोऽपि) वर्णन करेंगे। 'अन्यतोऽपि' के अतर्गत टीकाकार अध्यात्म रामायण का और कुछ संप्रदायो मे मान्य रामायणो का, जिनमे भुशुंडी रामायण भी समिलित है और महानाटक 'हनुमन्नाटक' और 'प्रसन्नराघव' जैसे नाटको का उल्लेख करते है। तेसीतोरी के अध्ययन की आलोचना करते हुए ग्रियर्सन ने अपने निबंध के अल्प प्रमाणित स्थलो का निर्देश किया है और यह संमति प्रकट की है कि तेसीतोरी ने रामचरितमानस के उन स्रोतो को पर्याप्त महत्व नहीं दिया जो वाल्मीकि रामायण से बाहर के थे। ग्रियर्सन के अनुसार, इन बाहरी स्रोतों की समीक्षा से तुलसीदास और वाल्मीकि के ग्रथो के पारस्परिक स्रोतो की व्याख्या तेसीतोरी की अपेक्षा अधिक सरल ढंग से की जा सकेगी।[४]

सब मिलाकर ग्रियर्सन के निर्देश का अनुगमन करनेवाले भारतीय आलोचको ने रामचरितमानस के स्रोतो के प्रश्न पर अधिक ध्यान नहीं दिया है। सबने कवि के विस्तृत अध्ययन की प्रशसा की है और उनके द्वारा सस्कृत साहित्य के उपयोग पर अधिक बल दिया है। कुछ ने जैसे रामनरेश त्रिपाठी और शिवनदन सहाय ने बिना अवतरणाक दिए हुए ऐसे स्थलो की सूचियाँ दी है, जिनसे सस्कृत साहित्य के प्रति गुसाई जी का ऋण प्रकट होता है। शिवनदन सहाय ने अपनी पुस्तक के एक अध्ययन मे रामचरितमानस की एक ओर वाल्मीकि से और दूसरी ओर अध्यात्म रामायण से तुलना की है। उनका प्रयत्न रोचक है, पर उन्हे तेसीतोरी के कार्य का पता न था और उनका विश्लेषण भी पल्लवग्राही है।

रामचरितमानस के अधिकांश नवीन आलोचको ने उसकी रचना पर अध्यात्म रामायण के प्रभाव पर बल दिया है। रामनरेश त्रिपाठी और

४. रायल एशियाटिक सोसाइटी पत्रिका, १९१२ ई०, पृ० १९७
५. श्री गोस्वामी तुलसीदास जी का जीवन चरित्र, बाँकीपुर, १९१९

माताप्रसाद गुप्त के अनुसार, तुलसीदास ने अपने कथानक का सारा भाग अध्यात्म रामायण से लिया है। माताप्रसाद गुप्त का तो यहाँ तक कहना है कि तुलसी ने मानस के आरंभिक श्लोक मे जिस रामायण का उल्लेख किया है, वह वाल्मीकि रामायण नही, अध्यात्म रामायण ही है। 'तुलसीदास के ग्रंथ और जीवनचरित' नामक अपने ग्रथ के अतिम अध्याय मे उन्होने दार्शनिक और धार्मिक दृष्टि से रामचरितमानस का विनयपत्रिका और अध्यात्मरामायण के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया है।

इन कारणो से हमें भी ऐसा प्रतीत हुआ कि रामचरितमानस के स्रोतों के अध्ययन के लिये रामचरितमानस और अध्यात्म रामायण की सूक्ष्म तुलना आवश्यक है। वस्तुत हमारे कार्य का वही मूलबिंदु था। तुलसी ने अध्यात्म रामायण से कितनी बार और कितना लिया है, न केवल इसकी जाँच के लिये बल्कि तेसीतोरी के मतो की सत्यता जानने के लिये भी, ऐसा करना नितात आवश्यक था। यह स्पष्ट है कि रामचरितमानस की कथा मोटे तौर पर वाल्मीकि की कथा से मिलती है। इसके अतिरिक्त लोक में तुलसीदास वाल्मीकि के अवतार माने जाते है। अतएव एक अत्यंत सीमित अर्थ मे कहा जा सकता है कि वाल्मीकि रामायण रामचरितमानस का उस अश मे प्रमुख स्रोत ग्रंथ है जिस अश मे हिंदी रामायण वाल्मीकि की परंपरा पर निर्भर है। यह सभी मध्यकालीन रामायणो के लिये और विशेषत: अध्यात्मरामायण के लिये सत्य है। पर इस प्रश्न की खोज शेष रहती है कि क्या तुलसीदास ने सीधे वाल्मीकि से सामग्री ली और यदि हाँ तो कहाँ तक? वस्तुत: तेसीतोरी ने रामचरितमानस और वाल्मीकिकृत रामायण के जो सदृश स्थल संगृहीत किए थे, उनकी एक एक करके हमने परीक्षा ली, तो पता लगा कि उनमे से कम से कम आधे वाल्मीकि के समान ही अध्यात्मरामायण मे भी है और अधिकाश के विषय मे पूर्णत यह निश्चय करना असभव है कि इन दोनो ग्रथो मे से किससे तुलसी ने अपनी सामग्री उधार ली। और भी तेसीतोरी को जब रामचरितमानस के किसी अश का सादृश्य वाल्मीकि रामायण की तीन धाराओ मे से केवल किसी एक मे प्राप्त हुआ तो उन्होने स्वत: यह परिणाम निकाला कि तुलसीदास ने रामचरित मानस के उस विशेष अश मे उस धारा विशेष का प्रयोग किया था। वस्तुत इनमे से अधिकाश स्थलो मे वही अंग अध्यात्मरामायण मे भी उपलब्ध है, और यह बिल्कुल सभव है कि तुलसी ने सीधे वही से उसका ग्रहण किया हो।

प्रतीत होता है कि तुलसी ने अपने कथानक का ठाठ अध्यात्म से ही लिया है, क्योंकि रामचरितमानस के बालकाड मे जो शिव-पार्वती-संवाद है वह अध्यात्मरामायण की प्रस्तावना के रूप मे शिवपार्वती सवाद से मिलता

है। और भी हिंदी काव्य के कई स्थलो मे और विशेषतः अतिम पाँच काडो मे शिव, पार्वती के प्रति, रामकथा के प्रमुख वक्ता है। पर जैसा हम देखेंगे, रामचरितमानस के बालकाड मे शिव पार्वती सवाद ऐसे ढग से रखा गया है कि उसे कथा का वास्तविक आरभ नही मान सकते । वह एक सौ सात चौपाई मे आता है और वहाँ भी राम कथा का आरभ नही होता, वह तो बहुत आगे १५७ वी चौपाई से होता है । दोनो के बीच मे विभिन्न स्रोतो से आई हुई कथाओ की एक लड़ी है, जिनमे से किसी के जोड की वस्तु वाल्मीकि मे या अध्यात्म रामायण मे नही है बालकाड के उत्तरार्ध मे और समस्त अयोध्याकाड मे (अर्थात सपूर्ण काव्य के एक तिहाई से अधिक अश मे) शिव वक्ता के रूप मे कही नही आते । अतएव यह मानना पड़ेगा कि रामचरित मानस मे शिव-पार्वती-सवाद भले ही वह अध्यात्म रामायण से लिया गया हो अथवा नही, रामकथा के लिये कृत्रिम और अनिश्चित सा ठाट ज्ञात होता है। वह समस्त काव्य के साथ सगत नही है, जो पुराण तंत्र की विशेषताओ से रहित है ।

यद्यपि रामकथा के वर्णन मे अध्यात्म रामायण- वाल्मीकि रामायण की 'सी' सज्ञक पाठ परपरा का पालन करती है तो भी कथा के सूक्ष्म प्रपच अध्यात्मरामायण मे प्राय: भिन्न है । जहाँ तहाँ अध्यात्म रामायण मे वाल्मीकि से बाहर के प्रसग भी है, जिनमे से अधिकाश रामचरितमानस मे भी चले आए है और दोनो मूल ग्रथो की बारीक छानबीन से प्राय. ज्ञात होता है कि तुलसीदास ने अध्यात्म से ही अपनी सामग्री ली। साथ ही प्राय. ऐसा भी है कि रामचरित-मानस मे आते आते उन प्रसगो का स्वरूप बदल जाता है और यहाँ वे नया महत्व प्राप्त कर लेते है। इस प्रकार का स्वरूप परिवर्तन इसलिये रोचक है क्योकि इससे तुलसीदास के मन की प्रवृत्तियो और विशेष धार्मिक कल्पना शक्ति का परिचय प्राप्त होता है ।[६]

अध्यात्म रामायण का प्रभाव रामचरित मानस के गीतिप्रधान और नीतिप्रधान भागो मे अधिक स्पष्टता से लक्षित होता है । वस्तुतः अधिकाश 'स्तुतियाँ' और 'गीताएँ' जो मानस के कथाभाग मे बिखरी हुई है, सीधे अध्यात्म रामायण से ली गई है । दोनो काव्यो मे वक्ता, अवसर और उनके कथन के विषय एक समान है । फिर भी कभी कभी किसी कथन का सार विपय एक

६. एच जैकोवी के वर्गीकरण के अनुसार ए० बी० सी० (रामायण, बान १८९३) और भी देखिए कामिल बुल्के, रामायण की तीन पाठ परपराएँ (दी थ्री रिलेशस आफ दी रामायण, जर्नल आफ ओरियटल रिसर्च, भाग—१७, १९४१) ।

ग्रथ मे दूसरे से वहुत भिन्न है। परतु उसमे भी स्वय परिवर्तन से विशेष रूप मे यह प्रकट हो जाता है कि हिंदी के महाकवि की धार्मिक और दार्शनिक विषयो मे अभिरुचि या विमुखता किस प्रकार की थी।

अध्यात्मरामायण का प्रभाव असमान रूप मे ही सही, वालकाड के आरभिक सौ दोहे छोड़कर सारे रामचरित मानस पर है। किंतु तुलसीदास ने अपने ग्रथ के एक या दूसरे भाग मे और भी वहुत से स्रोतो से सहायता ली है। उनमे से जो सवसे अधिक महत्वपूर्ण है, उन्ही का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है।

एक विशेष महत्वपूर्ण शिवपुराण है, जो कि उपपुराण है और शैवपुराण से भिन्न है (जिसकी समानता 'वायु' से की जाती है) और जिसकी गणना कभी कभी अष्टादश महापुराणो की सूची मे की जाती है। इस पुराण की दूसरी संहिता से, जिसका नाम 'रुद्र संहिता' है, वालकाड के पूर्वार्द्ध मे वर्णित आख्यानो को तुलसी ने लिया प्रतीत होता है, पर उन्होने उनका कुछ सस्कार करके उनकी सगति अपनी रामभक्ति के मत से वैठा दी है।

सस्कृत नाटकों से भी बहुत सामग्री प्राप्त हुई। विशेपत. 'महानाटक' और 'प्रसन्नराघव' से। रामचरितमानस के आरभ के श्लोक से जिसमे हनुमान की, जो महानाटक के काल्पनिक रचयिता है, वाल्मीकि के साथ राम-कथा के वक्ता के रूप मे वदना की गई है, विदित होता है कि तुलसी के मन मे इस प्रसिद्ध नाटक के लिये कितनी आस्था थी। प्रसन्नराघव, जिसका तुलसी ने वालकाड के अंतिम भाग मे और सुदरकांड मे उपयोग किया है, तार्किकरत्न जयदेव की रचना है जो 'गीतगोविंद' के गायक वंगाल के जयदेव से भिन्न थे। कीथ के अनुसार इनकी रचना १२०० ई० के लगभग हुई। अध्यात्म रामायण के अतिरिक्त तुलसीदास को सप्रदायो की परपरा मे चली आती हुई कुछ रामायणो का भी परिचय था, जिनका सभवत उन्होने अपने ग्रंथ मे उपयोग भी किया था। इनमे योगवाशिष्ठ, अद्भुत और भुशुडि रामायण का सवसे अधिक नाम लिया जाता है।

टीकाकार रामचरितमानस के स्रोतो मे प्राय. भुशुडि रामायण का उल्लेख करते है। श्री प्रवोधचन्द्र वागची उसे अध्यात्मरामायण के स्रोतो से गिनते है। ग्रियर्सन का कहना है कि उन्होने न तो भुशुडि रामायण देखी और न उनका इसके अस्तित्व के विषय मे ज्ञान है यद्यपि इस समय वह अप्राप्य है किंतु यह मानने के लिए पर्याप्य कारण है कि भुशुडि रामायण नामक ग्रथ का अस्तित्व है, अथवा कम से कम वह तुलसीदास के समय मे अवश्य थी। भुशुडि नामक काग जो कि राम का महान् भक्त है रहस्यात्मक व्यक्ति है। योगवाशिष्ठ रामायण मे भी उसका प्रयोग है।

योगवाशिष्ठ रामायण और मराठी की एकनाथी भागवत मे तथा भक्तमाल मे भी इसका उल्लेख है, पर आख्यान के विषय मे उसके सिवाय जो तुलसी ने उत्तरकाड मे बताया है, हम और कुछ नही जानते ।

रामचरितमानस के आमुख भाग मे एक स्थल मे जो, जैसा कि हम देखेगे, बाद मे जोड़ा गया, रामकथा के वक्ताओ मे भुशुडि का उल्लेख है जो कि पक्षिराज गरुड़ के सामने कथा सुनाते है । किंतु तथ्य यह है कि भक्त कागभुशुडि वक्ता के रूप तृतीय काड से पहले दिखाई नही देते, अर्थात् रामचरितमानस के अतिम एक तिहाई अश मे ही वे दर्शन देते है। तीसरे से छठे काड तक प्राय शिव ही वक्ता है, यद्यपि भुशुडि कभी-कभी दिखाई पडते है । इसके प्रतिकूल सातवे काड मे शिव भुशुडि से भी बढ़ जाते है और वे रामचरितमानस सज्ञक राम-कथा के प्रमुख वक्ता वहे जाते है । उत्तरकाड का अतिम भाग भुशुडि कथापरक है और वही रामभक्ति के सबध मे गरुड़ के साथ उनका सवाद दिया हुआ है । हमे लगता है कि उत्तरकाड का वह अंतिम भाग कुछ परिशिष्ट जैसा है जो मूलकाव्य मे पैबंद के समान जुड़ा हुआ है । उसके सामान्य भाव और स्वरूप से, तथा उसमे निर्दिष्ट सिद्धातो की दृष्टि से भी उसका शेष ग्रथ के साथ मेल नही बैठता । दूसरे और तीसरे से छठे काड तक के कुछ स्थलो मे जहाँ भशुडि वक्ता है, रामचरितमानस के इस अतिम भाग के साथ कुछ सादृश्य दिखाई पड़ता है, जिससे अनुमान होता है कि वे भी उसी स्रोत मे लिए गए है, जो भागवत पुराण से प्रभावित किसी साम्प्रदायिक रामायण का था । यह संभाव्य प्रतीत होता है कि यह सप्रदायगत रामायण भुशुडि रामायण ही थी, जिसका टीकाकारो ने उल्लेख किया है । इस ग्रथ की विषयवस्तु के संबध मे जानकारी नही है, इसलिये और भी शोचनीय है, क्योकि रामचरितमानस की रचना की कुछ विशेषताओ की, और खासकर अतिम काड की सगति बैठाने के लिये इस प्रकार के ग्रथ का अस्तित्व मानना ही मड़ता है ।

भागवत पुराण का रामचरितमानस पर बहुत प्रभाव है, उससे कही अधिक प्राय स्वीकार किया जाता है और उस पर बल देने की आवश्यकता है । तुलसी ने इस ग्रंथ से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जितनी अधिक सामग्री ग्रहण की, वह इस प्रसिद्ध पुराण को रामचरितमानस के मुख्य स्रोतग्रंथो मे स्थान दिलाने के लिये पर्याप्त है । पर बात इससे भी अधिक है। इस प्रसिद्ध ग्रंथ ने विशेष रूप से रामचरित-मानस की समस्त रचना को प्रभावित किया ज्ञात होता है । मानस ने बहुत अधिक अंश मे उसकी भावात्मकता को आत्मसात् कर लिया है ।

इन मुख्य स्रोत ग्रथो के अतिरिक्त और भी कितनी पुस्तको से तुलसीदास को सामग्री मिली होगी । कुछ आलोचको ने इस प्रकार के ऋणग्रहण की लबी सूची दी है, किंतु अधिकाशत: उनके कथन का प्रमाण नही दिया जा सकता । और हमारा यह अध्ययन कुछ इस विषय मे नि:शेषीकृत भी नही है कि हम संपूर्ण राम-

चरितमानस की शल्यक्रिया करके यह निश्चित करने का प्रयत्न करे कि कवि ने किस पूर्ववर्ती ग्रथ से कौन कौन से भाव या शब्द लिए है, ऐसा करना असभव और व्यर्थ है। प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य दूसरी दिशा मे है, इससे रामचरितमानस को और भी अधिक अच्छी प्रकार समझने मे सहायता मिलनी चाहिए, विशेषत. इस काव्य के उद्भव, स्वरूप, उद्देश्य और अन्य विशेषताओ को जानने मे।

यह जानना अवश्य ही महत्वपूर्ण है कि तुलसीदास ने अपनी प्रेरणा कहाँ से ली, किंतु स्रोतो के साथ रामचरितमानस के तुलनात्मक अध्ययन का अधिक मूल्य इस बात मे है कि उससे कवि की विशेष प्रतिभा और लेखक, विचारक एवं अनुभव-कर्ता सत के रूप मे उनकी मौलिकता प्रकट होती है। जिस विशेष विधि से तुलसी-दास कुछ तथ्य और कुछ मतो और सिद्धातो को स्वीकार करके उन्हे गौरव देते है और साथही साथ कुछ दूसरे सिद्धातो को या तो वे परिवर्तित कर लेते है या बिलकुल छोड देते है, उससे उनके अत करण की निगूढतम प्रवृत्तियो का परिचय प्राप्त होता है।

स्रोतो का पृथक् पृथक् विवेचन किसी प्रकार महत्वपूर्ण नही है। हम पाते है कि कभी तुलसी एक स्रोत से प्रभावित होते है और कभी दूसरे से, और हम यह भी देखते है कि इस प्रकार की विविधता से उनके भाव कथा वर्णन और कभी कभी शब्दावली और वाक्यविन्यास के चुनाव मे भी पर्याप्त भेद हो जाता है। प्राय उनके कारण वक्ता के चुनाव मे और छदो के चुनाव मे भी भेद पड़ जाता है। स्रोतो के अनुकूल कभी स्वय कवि वक्ता के रूप मे आते है और कभी पौराणिक पात्र वक्ता बनता है। इस प्रकार के सयोग रामचरितमानस की रचनाविधि के सबध मे मूल्यवान सूचना देते है। वे प्रकट करते है कि काव्य की रचना लगातार रूप में नही हुई बल्कि उसे कई अवस्थाओ मे से पार होना पड़ा होगा। हिंदी रामायण का जितना अधिक अध्ययन किया जाता है, उतना ही अधिक उसका रचनागत पार्थक्य सामने आता है, यद्यपि उसके कर्ता ने जोड़ो को छिपाने के लिये बड़े कौशल से काम लिया है, जिससे पाठको पर उसकी एकसूत्रता की छाप पड़े। अतएव यह अनुभव होता है कि रामचरितमानस के स्रोतो का अध्ययन और उसकी रचना का अध्ययन एक समिलित समस्या है, जिस पर अलग अलग विचार नही किया जा सकता।

रामचरितमानस के स्रोत और रचना के अध्ययन से तुलसीदास के निजी दार्शनिक मत का विवादास्पद प्रश्न अनिवार्यत. उठ खड़ा होता है, जिसे 'तुलसी मत' कहा जाता है। वस्तुतः तुलसीदास को 'द्वैत', 'अद्वैत', 'विशिष्टा-द्वैत' इन परपराप्राप्त सप्रदायो मे वर्गीकृत करना नितात असंभव है, क्योकि अपने रामचरितमानस के विभिन्न भागो मे उन्होने विविध मतो का प्रतिपादन

किया है, तर्क द्वारा जिनकी परस्पर सगति नही बैठती। फलत॰ प्रत्येक आलोचक समस्या को पृथक् पृथक् रीति से प्रायः अपनी निजी रुचि के अनुसार सुलझाने का प्रयत्न करता रहता है। रामचरितमानस की दार्शनिक व्याख्या असमाधेय समस्या या अनबूझ पहेली रहती है, यदि हम इस ग्रथ के स्रोतो पर विशेषतः अध्यात्म रामायण पर ध्यान नही देते, और यदि हम स्वीकार नही करते कि अमुक अमुक पात्र ने कथा प्रसंग मे जो कुछ कहा है, वह उस विषय मे ग्रंथलेखक की निजी संमति निश्चय नही है—यदि यह मान भी लिया जाय कि उनका कोई निजी सिद्धात था। जैसा श्री माताप्रसाद गुप्त ने ठीक ही कहा है, कवि ने कितना जानबूझ कर अन्यत्र से लिया और कितना प्रासगिक रूप से आ गया, इन दोनो मे भेद करना प्राय॰ कठिन है। अतएव रामचरितमानस के किसी स्थल को पृथक् रूप से आधार मानकर उसके स्रोत का बिना विचार किए, मानस की दार्शनिक व्याख्या करना असभव है। अधिकाश आलोचकों ने ठीक यही किया है और इसलिये कुछ आश्चर्य नही कि वे परस्पर नितात विरुद्ध परिणामों पर पहुँचे है। रामचरित मानस की किसी भी व्याख्या मे इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि इसका निर्माण पृथक् भागो के पारस्परिक संघटन से हुआ और वह क्रम अनेक वर्षो तक जारी रहा। जैसा हम देखेंगे, काव्य के प्राचीनतम भाग मे जो अयोध्या मे लिखा गया, विपय और स्वरूप की कुछ ऐसी विशेपताएँ है जो काशी मे लिखे गए वाद के भागो में नही मिलती। अतएव यह मानने का कुछ आधार है कि कवि के विचारो मे विकास हुआ था।

रामचरितमानस के कथानक मे पाए जानेवाले बहुत से प्रयोगो का कारण यह था कि कवि ने विरोधी मतो का समन्वय करना चाहा। उन्होने ग्रथ की प्रस्तावना मे इस इच्छा का स्पष्ट उल्लेख किया है। रामानदी और भागवत इन दो अर्धरूढ धाराओ के सगम पर खडे होकर तुलसीदास ने यह प्रयत्न किया कि उनके समिलन से ठीक ऐसा शास्त्रानुमोदित धर्ममार्ग निर्मित हो, जो ब्राह्मणीय पुराण धर्म और वेदात के सर्व ब्रह्मवाद, इन दोनो अवस्थाओ की रक्षा करे, और ऐसा करते हुए उन्होने राम पर आश्रित अपने एकेश्वरवादपरक विश्वास से कोई बाधा नही आने दी। समन्वय जो हिंदू का विशेष स्वाभाविक गुण है, तुलसीदास की वास्तविक विशेषता थी। उनकी यह समन्वयात्मक प्रवृत्ति और साथ मे महती काव्य-प्रतिभा ही हिंदी रामचरितमानस की वहत् सफलता और उसके अभुद्त प्रभाव का कारण है जो उत्तर भारत की समस्त हिंदू जनता के मन पर मोहिनी की तरह पडा हुआ है।

तुलसीदास का अपना मत क्या था और अपने समकालीन अन्य दार्शनिक विचारो और धार्मिक मतों के साथ उसका क्या संबंध था, इस प्रश्न का उत्तर

विशेष कठिन है और उसके लिये एक पृथक् अध्ययन आवश्यक है। यहाँ हमने उसे सुलझाने का प्रयत्न नही किया क्योंकि हमारे विचार से रामचरितमानस का स्रोत और रचना का नियमित अध्ययन उस मार्ग का परिष्कार करेगा और जो समस्या अभी तक ठीक प्रकार से सामने नही आई है उसकी उद्भावना के सबध की सामग्री प्रस्तुत करेगा। हम समझते है कि हमारा उद्देश्य भली प्रकार पूरा हो जायगा यदि हम यह दिखा सके कि रामचरितमानस के लेखक ने अपनी प्रेरणा कहाँ से प्राप्त की, किस प्रकार का ग्रथ उन्होने लिखने का विचार किया था, और वे वस्तुत क्या लिख सके।

अब हम रामचरितमानस के आमुख भाग पर इस दृष्टिकोण से समीक्षा प्रस्तुत करते है।

रामचरितमानस का बालकाड, कथारभ—

रामचरितमानस का बालकाड परिमाण मे बहुत विपुल है। इसमें ३६१ दोहे (लगभग ३७०० अर्धालियाँ) है, अर्थात् समग्र ग्रंथ के एक तिहाई भाग से लगभग अधिक। न केवल उसका परिमाण वरन् उसकी रचना की जटिलता और उसमे एकसूत्रता का अभाव और भी ध्यान देने योग्य है। अतएव एक इकाई के समान समझकर उसपर विचार करना सभव नही। अपने विश्लेपण को स्पष्टतर बनाने के लिये हमने उसे कुछ भागो मे बाँटा है और प्रत्येक भाग पर अलग विचार करना आवश्यक होगा।

अध्याय एक— आमुख — बालकाड, दोहा　　१—४३
अध्याय दो— शिवचरित, बालकाड, दोहा　　४४-१०४
अध्याय तीन— शिव पार्वती सवाद, बालकाड　　१०५-१२०
अध्याय चार— अवतार के हेतु—बालकाड, दोहा　　१२१-१८४
अध्याय पाँच— राम जन्म और बालचरित - बालकाड, दोहा १८४—२०५
अध्याय छह— राम का यौवन और विवाह—बालकाड, दोहा २०६—३६१

आमुख (१—४३)

रामचरितमानस के पहले ४३ दोहे उसकी कथा के आमुख भाग है, जिसमे तुलसीदास ने अपने नाम की भणिति डालकर अपने काव्य का परिचय दिया है। जैसा कि ग्रियर्सन ने लिखा है, 'यह सपूर्ण ग्रंथ के अति विशिष्ट भागो मे से एक है (वर्नाक्यूलर लिटरेचर, पृ० १८७)। इस भाग मे समस्त काव्य के विपय मे मूल्यवान सूचना पाई जाती है, जैसे उसकी रचनातिथि उसके स्रोत, उसका उद्देश्य, उसके लिखने की भावना, ग्रथलेखक का धार्मिक अभिप्राय और अपने एव अपनी कला के विपय मे उसके विचार। इस भाग मे लगभग ४५० अर्धालियाँ हैं। यहाँ उसका सक्षिप्त विश्लेपण किया जाता है।

श्लोक १से५—वंदना, सरस्वती, गणेश, भवानी, शंकर, गुरु, वाल्मीकि, हनुमान, सीता

श्लोक—६— ईश्वर स्वरूप राम की वदना

श्लोक—७— कवि का कथन कि भाषा में होते हुए भी उसका निबंध नानापुराण निगमागम समत है।

सोरठा १—५ —वंदना का विकास। कवि गणेश, सरस्वती, विष्णु, शिव और गुरु से प्रार्थना करता है।

दोहा १—२ —गुरु प्रशंसा, उनकी चरणरज की महिमा, रामचरितमानस को समझने के लिये गुरु-पद—रज का प्रभाव।

दोहा २—३ —ब्राह्मण और संतों की वदना। सतसमाज मे होनेवाला आनद और फलदायक होने के कारण उसकी प्रयाग से तुलना।

दोहा ४-७ — खलो की वदना, जो सज्जनों से विपरीत होते है, जैसे दोष गुणो के प्रतिरूप है।

—दोष और गुण विधाता की सृष्टि मे एक दूसरे के पूरक है। कवि सारे जगत् को राममय जानता हुआ उसकी वंदना करता है।

दोहा ८—१० —कवि अपने आपको अपने कर्म के अनुपयुक्त समझता है और अपनी अयोग्यता के लिये क्षमा माँगता है। दुष्ट उसके काव्य पर हँसेगे, पर सज्जन इसमे रामका भक्तिपूर्ण यश सुनकर प्रसन्न होगे। उसके काव्य का मूल्य विषय की महिमा से है, जिससे ग्राम्य—भावो की त्रुटि का परिहार हो सकेगा।

दोहा १०—१४ — तुलसीदास कवि की प्रेरणा के स्वरूप पर प्रकाश डालते है। कविता का जन्म ईश्वरोपासना से होता है और काव्य का मूल्य बहुत कुछ उसके विषय पर निर्भर है। कवि पुनः अपने अवगुण स्वीकार करता है और अपने पूर्ववर्ती महान् कवियो से प्रार्थना करता है कि वे प्रसन्न होकर उसे वरदान दे।

दोहा १४ (सोरठा १-२)—तुलसी रामायण के निर्माता वाल्मीकि मुनि की, राम का यश गान करने वाले चारो वेदो की और भवसागर के रचयिता ब्रह्मा की एवं सब देवता, ब्राह्मण और विद्वानों की वदना करते है।

दोहा १५-१८ सरस्वती और गंगा की वंदना, राम के भक्त शिव-पार्वती की पुन. वदना, शावर मंत्रो के निर्माता शिव का यशकथन, तुलसी को शिवकृपा की प्राप्ति और अपनी सचाई का आश्वासन।

रामकथा के सब पात्रो की वदना—कौशल्या, दशरथ, जनक, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, हनुमान, सुग्रीव, जाम्बवंत, अगद, रावण, पशुपक्षी, मनुष्य, असुर, देवता आदि राम के सब उपासको की वंदना। सनत्कुमार, नारद आदि सब मुनियो की वदना और अत मे राम सीता की वंदना जो 'कहियत भिन्न न भिन्न' है।

दोहा १९-२७—कवि द्वारा रामनाम की महिमा का कथन। वह उन कथाओं का उल्लेख करते हैं जिनसे राम-नाम की महिमा प्रकट होती है। भगवान के नाम की बड़ाई और उसके गुण वर्णन स्वरूप विषयातर। ब्रह्म के निर्गुण सगुण दो स्वरूपों से भी नाम बड़ा है। राम नाम की पावन शक्ति का कथाओ द्वारा निदर्शन। कलियुग में राम नाम की विशेष महिमा, वही कलिकाल में एकमात्र मोक्ष का अवलबन है।

दोहा २८-२९—कवि की राम मे अगाध निष्ठा। राम ही हृदय का भाव पहिचान कर उसपर कृपा करेंगे।

दोहा ३०-३१—रामकथा की उत्पत्ति।

दोहा ३२-३३—रामकथा की महिमा और उसकी पापनाशिनी एवं पावन शक्ति का कथन। राम कथा का जन्म शिव-पार्वती-संवाद से हुआ। इस कथा का विस्तार अपरिमित है।

दोहा ३४— काव्य की तिथि का उल्लेख। इसका आरंभ अयोध्या मे हुआ। 'रामचरितमानस' नाम की व्याख्या जो शिव के द्वारा रखा गया था।

दोहा ३५-४३—रामचरितमानस काव्य का परिचय और मानसरोवर से उसकी तुलना। उसके अंतर्गत विभिन्न कथाविभागों का उल्लेख, उनमे से प्रत्येक की मानसरोवर के रूपक के विविध अगो से तुलना।

यह आमुख अनियत संख्या से युक्त चौपाइयो मे लिखा गया है, जिनमे १० से १८ तक अर्धालियाँ है। चौपाइयो के अत में एक ही जगह दो दोहे हैं। १४वां छंद लंबाई मे अपवाद रूप है। उसमे २६ अर्धालियाँ है। छंद १९ से २७ तक, जिनमे रामनाम की महिमा है, समान विशेषताओ से युक्त इकाई है जिसमे चार चौपाइयों के बाद एक दोहा नियत रूप से आता है।

संस्कृत वंदना को अलग रखते हुए आमुख के दो प्रधान भाग पहचाने जा सकते हैं। पहले में १ से २९ तक कवि मनुष्यो और देवों में अनेक व्यक्तियो की वंदना करता है और उनकी कृपा चाहता है। वह अपने काव्य मे त्रुटियाँ मानते हुए क्षमायाचना करता है। दूसरे भाग मे ३० से ४३ तक वह रामायण के उद्भव का कथन करके नाम की व्याख्या करता है और उसकी महिमा का गुणगान करता है।

वंदना :—

काव्य के आरंभ के संस्कृत श्लोको मे तुलसीदास ने प्रथा के अनुसार सरस्वती, गणेश, भवानी और शकर की वंदना की है। पुन. वे गुरु की वंदना करते हैं जो शंकर के अवतार हैं। और फिर कवियो के कवीश्वर अर्थात् वाल्मीकि और कपीश्वर हनुमान की वंदना करते हैं जो क्रमश संस्कृत रामायण और महानाटक या हनुमन्नाटक के रचयिता थे। इन दोनो को सीता और राम के गुणसमूह रूपी पवित्र अरण्य मे विहार करने वाला कहा गया है। इसके अनतर राम की वल्लभा सीता की वंदना है जो ससार के उद्भव, स्थिति और नाश का कारण है। और सबसे अंत में राम की अथवा राम कहलाने वाले ईश्वर हरि की वदना है। वे उस माया के अधिपति है जो विधाता ब्रह्मा और अन्य देवताओ के साथ अखिल विश्व को वश मे रखती है।

छठे और अंतिम श्लोक मे काव्य के स्रोतो का सीधा उल्लेख है—

नानापुराण निगमागम सम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा,
भाषा निर्बंधमतिमंजुलमातनोति॥

इससे हम मान सकते है कि तुलसी का उद्देश्य राम की पवित्र कथा को इस रूप में प्रस्तुत करना था जो सुनने मे अच्छी लगे और सबकी समझ मे आ सके। इस कार्य का बीडा उन्होने किसी दूसरे पक्ष समर्थन के उद्देश्य से नहीं बल्कि अपनी ही अतरात्मा को प्रसन्न करने की आस्था से उठाया था। इसी कथन के साथ वे अपनी निष्ठा की भी घोषणा करते हैं। उनका काव्य श्रुतिसंमत है,

जिसमे कवि ने तंत्र (आगम) और पुराणो को संमिलित किया है। तुलसी का पुराणो को श्रुति के अंतर्गत मानना मध्यकालीन हिंदू धर्म के अनुसार ही था, जिसके धार्मिक विश्वास अधिकत. विभिन्न साप्रदायिक पुराणो पर आश्रित थे। आगमो से तात्पर्य न केवल शाक्त से वरन् समस्त तान्त्रिक साहित्य से था। रामचरितमानस मे निगम और आगम का बराबर एक साथ उल्लेख आता है, निगम और आगम को एक दूसरे का पूरक कहा गया है (निगमागम गुन दोप विभागा १।६।५)। ज्ञात होता है कि शिव ने पार्वती से जिस ज्ञान का प्रकाश किया उसे तुलसी एक प्रकार से 'दूसरा वेद' ही मानते है।

पुराण, आगम और निगम, ये श्रुति के प्रतिनिधि थे। दूसरी ओर 'कवि' पद स्मृति या अनुश्रुति का सूचक है। तुलसी इस परपरा की खोज मे, रामायण तक जाते हैं अर्थात् उस प्रसिद्ध काव्य तक जो मुनि वाल्मीकि रचित कहा जाता है। ये वही वाल्मीकि हैं जिन्हें कवीश्वर कहकर आरंभ के श्लोक मे तुलसी ने वदना की है। संदर्भ से साफ प्रकट होता है कि यहाँ तुलसी का तात्पर्य और किसी दूसरी रामायण से नही है। अध्यात्म रामायण तुलसी की दृष्टि मे श्रुति थी। क्योकि सूत कथित होने के कारण उसमे पुराण के लक्षण है और शिव द्वारा पार्वती से कथित होने के कारण उसमे तत्र के लक्षण हैं। यही बात उन साप्रदायिक रामायणो के विषय मे कही जा सकती है जिनका उपयोग रामचरितमानस के लेखक ने किया होगा। वे चाहे कितनी ही बाद की हो, रहस्यार्थ का गंभीर प्रतिपादन करनेवाली श्रुति के सदृश मान्य थी।

वाल्मीकि रामायण पर अपने को निर्भर मानते हुए तुलसी ने यह स्वीकार किया है कि उन्हे कुछ सामग्री 'अन्यत्र' से भी मिली। हम समझते है कि इनमे मनु और भर्तृहरि की स्थिति होनी चाहिए, क्योकि काव्य भर में उनके उद्धरण पाए जाते है। उसी प्रकार रामकथा पर आश्रित हनुमन्नाटक और प्रसन्नराघव नामक नाटक 'क्वचिदन्यतोऽपि' की पृष्ठभूमि थे।

आरभ के सात सस्कृत श्लोको के बाद फिर पाँच सोरठे आते है जिनमे वंदना के विपय का ही विस्तार किया गया है। पहला सोरठा विघ्ननाशक गणेश के लिये है। दूसरा और तीसरा भगवान के लिये—

मूक होइ बाचाल पगु चढ़इ गिरिवर गहन।
जासु कृपा सो दयाल द्रवउ सकल कलिमल दहन॥
नील सरोरुह स्याम तरुन अरुन वारिज नयन।
करउ सो मम उर धाम सदा छीरसागर सयन॥

यहाँ तुलसी एक भागवत के रूप मे बोल रहे है। उन्होने यहाँ राम का नाम नही लिया, किंतु उनका एकात्म्य भगवान् से किया है, जो कि भागवतो के परम देवता विष्णु के एकात्मरूप है।

चौथा सोरठा शिवपरक और पाचवाँ गुरुपरक है--

वदउ गुरु पदकज कृपासिधु नर रूप हरि।
महामोहतम पुज जासु वचन रविकर निकर ॥

रामचरितमानस के प्रधान हस्तलेखों मे और सब अर्वाचीन सस्करणो मे (पं० विजयानद त्रिपाठी का सस्करण छोड़कर) पहली अर्धाली के अत मे 'हरि' पाठ है। इसी आधार पर तुलसीदास के गुरु का नाम प्राय नरहरि बताया जाता है।[७]

पर 'हरि' पाठ निश्चय रूप से अशुद्ध है। कुछ प्रतियो मे दिया हुआ 'हर' पाठ तुक मिलाने के लिये (हर- निकर) आवश्यक है। इसके अतिरिक्त अभी अभी शंकर का उल्लेख आ चुका है और पहले भी तीसरे श्लोक मे तुलसीदास ने गुरु को शंकर रूप कहा है (वदे बोधमय नित्य गुरुं शंकर रूपिणम्)।

अत मे जैसा कि माताप्रसाद गुप्त ने कहा है--
सोरठे का दूसरा पाद (महामोह तमपुंज आदि) विनय पत्रिका के कुछ पदो का स्मरण दिलाता है, जहा निश्चित रूप से शकर का वर्णन है।[८] अतएव इसमे सदेह नही कि तुलसीदास शिव को ही अलौकिक गुरु मानते थे।

किंतु शंकर के अवतार रूप मे वर्णित ये मानवी गुरु कौन थे? आमुख के अन्य स्थल मे तुलसी ने 'निज गुरु' का उल्लेख किया है (छद-३०, दोहा-१) किंतु पाँचवें सोरठे मे तीसरे श्लोक के जैसे सबधवाची शब्द का अभाव है। पर यह निश्चित है कि दोनों स्थलो का एक ही व्यक्ति होना चाहिए जिसके वर्णन के लिये नित्य, 'बोधमय' और 'नररूप हर' पद प्रयुक्त हुए है। अतएव सदर्भ मे जिस व्यक्ति से तात्पर्य है, वे तुलसी के निज गुरु नही हो सकते। वरन् कुछ अंश तक पौराणिक कोई अन्य व्यक्ति

नोट--७-- ग्रियर्सन (इंडियन एंटिक्वेरी २२,१८९३ पृ० २६६) दो गुरु परंपराएँ देते है किंतु उनकी विश्वसनीयता संदिग्ध है। देखिए श्री माताप्रसाद गुप्तरचित तुलसीदास, पृ० १४४ आदि।

८-- श्री माताप्रसाद गुप्त, तुलसी सदर्भ मे विनय पत्रिका के ९, १०, १२, १३ पद का प्रमाण देते है।

है, जो मनुष्य होते हुए भी देवतारूप मे वर्णित हुए है। हो सकता है, रामानन्द से[९] तात्पर्य हो जो रामानदी सप्रदाय के सस्थापक और उसके आदि गुरु थे। वे जो कुछ भी हो इस सोरठे से तुलसीदास के गुरु की पहिचान के बारे मे कोई सूचना नही मिलती, और इस पर आश्रित विवाद निरर्थक है।

मानस के पहले छद मे सोरठे के ही भाव का विस्तार हुआ है। इसमे गुरु के चरणकमलो की रज की महिमा का वर्णन है, जिसकी उपमा विवेक की दृष्टि उत्पन्न करनेवाले अंजन से दी गई है। उसी प्रकार अपने ज्ञानचक्षु को पवित्र करके तुलसी रामकथा वर्णन करने चलते है। यही वदनवाला अश समाप्त हो जाता है और एक लंवा विषयातर आरभ होता है जिसमे आमुख का पूर्व भाग समिलित है (१, २, २९)।

आमुख का प्रथम भाग—(२-२९)

रामचरितमानस के आमुख का प्रथम भाग कुछ उसी प्रकार की निजी क्षमा-याचना है, जैसी कालिदास के रघुवश के प्रथम सर्ग मे पाई जाती है (रघुवंश १।१०)।

सत् और असत् का भेद करनेवाले सज्जन मेरे इस काव्य को सुनें क्योकि सोने का खरा या खोटापन आग मे परखे जाने से ही प्रकट होता है।

तुलसी भी सज्जनो की प्रशसा करते हुए उनके गुणो का परिगणन करते है। उनकी संगति मे सबसे वडा लाभ है और नैतिक गुणो की परिपूर्णता है। पर हिंदी कवि साथ ही असाधुओं को नही भूलता (१।४।१)—

> वहुरि वंदि खल गन सति भाएँ, जे विनु काज दाहिनेहु वाएँ।
> परहित हानि लाभ जिन केरे, उजरे हरप विषाद वसेरे ॥

इस प्रकार असाधुओ का स्वभाव वर्णन कर तुलसी साधु और असाधु को एक दूसरे का पूरक मानते है (१।६।२) :

> भलेहु पोच सव विधि उपजाए, गनि गुन दोप वेद विलगाए।

दोनो के बीच मे कोई वहुत निश्चित सीमा रेखा नही है। भाग्यवश सज्जन

९—गुरु की भगवान के रूप मे पूजा कवीरपथी और नानक के सिख धर्म की विशेषता थी। कवीर के वचनो मे गुरु शब्द के दोनो अर्थ है, कभी सत्यपुरुष के लिये और कभी वह कवीर के लिये प्रयुक्त होता है, पर जान-पड़ता है कि उसी अश मे जिसमे कि ईश्वर की उसमे और उसके द्वारा अभिव्यक्ति हुई है। ऐसे ही नानक मे भी गुरु ईश्वर ही है। (देखिए मैकोलिक सिखधर्म १।५४) कवीर और नानक मे गुरु मनुष्य न होकर ईश्वर का रूप है ३ (६३-२)।

भी बुरा कर डालते है, असाधु भी कभी कभी भले काम कर देते है। भला बुरा, पाप पुण्य, परिस्थिति और संगति के वश होता है और वे एक-दूसरे के पूरक है। अतएव भक्त तुलसीदास सब प्राणियो को प्रणाम करते है (१७ दोहा -४)—

जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राममय जानि।
बंदउँ सबके पदकमल, सदा जोरि जुग पानि ॥
देव दनुज नर नाग खग, प्रेत पितर गंधर्व।
बंदउँ किन्नर रजनिचर, कृपा करहु अब सर्व ॥

यह कम संभव है कि तुलसीदास यहाँ किसी विशेष वर्ग के लोगों पर लक्ष्य कर रहे हैं। किंतु इन असाधुओ के प्रतिरूप, जिनके अवगुण उन्होने गिनाए है, स्वयं उनके भी शत्रु हो सकते है, जो अकारण ही भलाई करनेवाले के साथ शत्रुता का व्यवहार करते है, क्योकि खलो को दुश्चरित्र रूप और अनैतिक मर्यादाओ का उल्लघन करनेवाले और 'हरिहर' के विरोधी कहा गया है। अतः यह अनुमान हो सकता है कि इस प्रकार के दुष्ट लोग भक्त तुलसीदास का विरोध करते रहे होगे। कुछ यह भी ध्वनि निकलती है कि उनमे से कुछ तुलसी के प्रति द्वेष भावना से प्रेरित थे (१।८।५-६)।

हँसिहहिं कूर कुटिल कुविचारी। जे पर दूषन भूषन धारी।
निज कबित केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका।
जे पर भनिति सुनत हरषाही। ते बर पुरुष बहुत जग नाही।

इस पर भी तुलसी अपने दोषो को स्वीकार करते है और सच्ची विनय प्रकट करते है। रघुवंश के प्रथम सर्ग में कालिदास की विनय परिपाटी के अनुसार है, पर तुलसी की विनय अधिक सच्ची है (१।८।२-५)—

निज बुधि बल भरोस मोहि नाही। ताते विनय करउँ सब पाही ॥
करन चहउँ रघुपति गुनगाहा। लघु मति मोरि चरित अवगाहा ॥
सूझ न एकउ अंग उपाऊ। मन मति रंक मनोरथ राऊ॥
मति अति नीचि ऊँचि रुचि आछी। चहिय अमिय जग जुरइ न छाछी ॥
छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहि बाल बचन मन लाई ॥
जो बालक कह तोतरि बाता। सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता ॥

रामचरितमानस के लेखक के मन मे इस बात की बहुत ग्लानि है कि उनकी बुद्धि की क्षमता बहुत थोडी है और उनके विषय का प्रकर्ष महान् है किंतु उनकी समति मे विषय की यह उच्चता ही उनके काव्य को मूल्यवान् बनाती है। राम का यश वर्णन ही इसका उद्देश्य है और इसलिये सज्जन राम नाम के यश को इसमे देखकर प्रसन्न होगे। जो असज्जन है, वे भले ही हँसे, तुलसी को उसकी चिन्ता नही (१।९।३-दोहा १०।१)—

प्रभुपद प्रीति न सामुझि नीकी। तिन्हहिं कथा सुनि लागिहि फीकी ॥
हरिहर पद रति मति न कुतरकी। तिन्ह कहुँ मधुर कथा रघुवर की ॥३॥
राम भगति भूषित जियँ जानी। सुनिहहिं सुजन सराहि सुवानी ॥
कवि न होउँ नहि वचन प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू ॥४॥
भाव भेद रस भेद अपारा। कवित दोप गुन विविध प्रकारा ॥५॥
कवित विवेक एक नहि मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे ॥६॥
भनिति मोरि सब गुन रहित विस्व विदित गुन एक
सो विचारि सुनिहहिं सुमति जिन्हके विमल विवेक ॥६॥
एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा ॥

इस कथन मे भक्ति से उत्पन्न होनेवाली काव्य-प्रतिभा के सबंध मे कुछ विचित्र विचार पाए जाते है। कवि उसे भगवान् को समर्पित कर देना चाहता है, अथवा वह अपनी कृति को बिलकुल ही व्यर्थ मानता है।

तुलसी ऐसे कुटिलता भरे युग मे लिख रहे हैं, जब लोग बाहर से हँसते और भीतर से कौवे के समान आचरण करते हैं। सच्ची भक्ति विरल है। सब जगह द्वेप फैला हुआ है। और तुलसी अपने आप को भी उस युग के प्रभाव से बाहर नही समझते (१।१२।४-६) –

तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धीग धरमध्वज धधंक धोरी ॥२॥
जो अपने अवगुन सब कहऊँ। वाढइ कथा पार नही लहऊँ ॥
ताते मैं अति अलप वखाने। थोरे महुँ जानिहहिं सयाने ॥३॥
समुझि विविध विधि विनती मोरी। कोउ न कथा सुनि देइहि खोरी।
एतेहु पर करिहहिं जे असका। मोहि ते अधिक ते जड मतिरंका ॥४॥
कवि न होउँ नहि चतुर कहावउँ। मति अनुरूप राम गुन गावउँ ॥

इसमे केवल लकीर पीटने की बात नही है, वरन् कही अधिक गभीरता है। निश्चय ही सच्ची भक्ति और भगवान की सर्वोपरि महिमा की जाग्रत अनुभूति से ही इस प्रकार की अतिशय नम्रता की व्याख्या किसी अश मे की जा सकती है। किंतु उसका कारण लेखक का आत्म निरीक्षण भी हो सकता है, जिसका यश अभी तक स्थिर न हुआ था और जो लोगो की समति को चुनौती देने की तैयारी कर रहा था। ऐसा अनुभव होता है जैसे तुलसी निंदा के लिये तैयार कितने ही शत्रुओ से घिरे हो। अथवा कट्टरपन मे प्रसन्न होनेवाले ब्राह्मण, भापा कविता से द्वेप करने वाले पंडित, धर्म अर्थात् भक्ति के शत्रु जिन्हे राम कथा मे कोई रस न था, ऐसे लेखक और आलकारिक जो संस्कृत काव्यशास्त्र की जटिलताओ से गर्वित थे, जिनके विपय मे तुलसी अपना अज्ञान स्वीकार करते है, और अत मे उस प्रकार के तुक्कड जो सच्चे कवि को देखते ही उसको टाँग लेने के लिए लपकते है। इस प्रकार के व्यक्तियो ने जैसे उन्हे घेर रखा था। अतएव तुलसी सब ओर से अपनी रक्षा का प्रवन्ध करते हैं,

कुछ को समझाकर और कुछ को प्रसन्न करके। और सबसे ऊपर वे अपने प्रयत्न का अपनी सच्ची नम्रता द्वारा समर्थन करते है। इस नम्रता मे आत्मसंमान को छोडा नही गया है और इसमें उन द्वेष करनेवालो के प्रति कुछ व्यंग भी है, जो दूसरो के दोषों को अपना भूषण मान लेते है।

अपनी इस क्षमायाचना मे तुलसी कहते हैं कि मैं न कवि हूँ (कबि न होउँ) और न चतुर प्रसिद्ध हूँ (नहिं चतुर कहावउँ) और कविता के विभिन्न नियमो से भी अनभिज्ञ हूँ।[१०] ये कथन बहुत ही अपूर्व है। यह सभव नही कि वे इतने अज्ञ थे जितना कहते हैं। जिस ढंग से वे काव्य के अंगो की चर्चा करते है, उससे ही उनका कथन विपरीत सिद्ध हो जाता है। उनकी यह असत्यता रामचरितमानस के उन स्थलो से, जिनमें बढा हुआ सौदर्य और पर्याप्त मात्रा मे अलंकारादि भी है, अन्यथा प्रमाणित होती है। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसी उस कथन से यह सूचित कर रहे थे कि वे अपने काव्य को साहित्य के पचड़ो मे नही बांधना चाहते, क्योकि यह काव्य जनता के लिये था, जिसका उद्देश्य बुद्धि का कुतूहल नही वरन् राम-भक्तो के चित्त को सन्तुष्ट करना था। दूसरे शब्दो मे इस आमुख के पूर्वार्द्ध मे तुलसी ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि वे उसी विषय पर दूसरा काव्य रचकर अपने पूर्वकाल के महाकवि वाल्मीकि के साथ स्पर्धा करना नही चाहते। जब वे अपना कवि होना अस्वीकार करते है, तो सभवत: वे 'कवि' शब्द का सीमित अर्थ 'विद्वान या काव्य-विशेषज्ञ' लेते है जो कि सस्कृत के विशेषण कवि शब्द (क्रांतदर्शी प्रज्ञावान्) का अर्थ था। वे अपने ग्रंथ को कभी काव्य नही कहते वरन् उसके लिए अपेक्षाकृत कम गौरवपूर्ण एक साधारणसा शब्द कबित्त या कविता प्रयुक्त करते है, उदाहरण के लिए दसवे दोहे के छद में तुलसी का कथन है कि राम की महिमा ने उनकी भद्दी कविता की नदी को (कूर कविता) को पवित्र गंगा के समान बना दिया है।

अपने विरोधियो से इस प्रकार अपने ग्रंथ की रक्षा करके फिर अपने से पूर्ववर्ती महाकवियो का ऋण स्वीकार करते है, जिससे उनका कार्य सरल हो गया है—

मुनिन्ह प्रथम हरिकीरति गाई, तेहि मग चलत सुगम मोहिं भाई।
अति अपार जे सरितवर जौं नृप सेतु कराहिं।
चढि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहिं जाहिं।
एहि प्रकार बल मनहिं देखाई। करिहउँ रघुपति कथा सुहाई।
व्यास आदि कवि पुंगव नाना। जिन्ह सादर हरि सुजस बखाना।
चरन कमल बंदउँ तिन्ह केरे। पुरवहुँ सकल मनोरथ मेरे।

१०, इसी प्रकार की बात पार्वती मंगल की भूमिका में कही गई है।

वेद, महाभारत और पुराणो के कल्पित कर्ता, व्यास एवं वाल्मीकि महान और देवकल्प पूर्वज थे, जिन्होने तुलसी के समान लघु पिपीलिका के लिये मार्ग बनाया था। उनके बाद रामचरितमानस के कर्ता ने अपने से तुरंत पूर्व मे होनेवाले कलियुग के कवियो का उल्लेख किया है—

कलि के कबिन्ह करउँ परनामा। जिन्ह बरने रघुपति गुन ग्रामा॥
जे प्राकृत कबि परम सयाने। भाषा जिन्ह हरिचरित बखाने॥
भए जे अहहिं जे होइहहिं आगे। प्रनवउँ सबहि कपट सब त्यागे॥
होहु प्रसन्न देहु बरदानू। साधु समाज भनिति सनमानू॥

वे प्राकृत या केवल मानवीय कवि जिन्होने भाषा मे हरिचरित का बखान किया था, तुलसी से तुरत पूर्व मे हुए थे या उनके समकालीन ही थे, यह उल्लेख इतना अनिश्चित है कि उनकी पहिचान के विषय मे कल्पना करना उचित नही। यह भी ज्ञात नही कि उन्होने किस भाषा मे लिखा था और उनका भी संबंध राम से था या नही। 'हरि' विष्णु का ही पर्याय है और हरि के गुणगान करने वालों मे कृष्णचरित के कवि भी आ जाते है, जिनमे तुलसी के समसामयिक सूर सबसे प्रसिद्ध है। यदि तुलसी ने उन प्राकृत कवियो के समूह का उल्लेख करने की सावधानी बरती है, तो इसीलिये कि वे किसी को भी विस्मृत करना नही चाहते थे। किंतु वे उनका कोई ऋण स्वीकार नही करते, केवल उनके प्रति समान और प्रेम प्रकट करते हैं, और उनकी श्रेणी मे समिलित होना चाहते है, जिससे उनकी कविता को भी, यद्यपि वह भद्दी है, साधु समाज मे अर्थात् हरिभक्तो मे संमान प्राप्त हो—

करहु कृपा हरि जस कहउँ पुनि पुनि करउँ निहोर। (१४ ख)

प्राकृत कवियो के विषय का कथन १४ वे छद के दूसरे दोहे पर समाप्त हो जाता है। पर वह छद बहुत ही लबा है। उसमे ६ चौपाइयाँ, ३ दोहे और ३ सोरठे और एक और दोहा अर्थात् कुल २६ अर्धालियाँ है जब कि आमुख के दूसरे अधिकतया लबे छदो मे २६ अर्धालियो से अधिक नही है।

इस छद के तीसरे दोहे से विचारधारा कुछ विच्छिन्न जान पड़ती है। तुलसी पुन कवि और मुनियो के विषय मे कहने लगते है और राम के चरित्ररूपी मानसरोवर के सुदर हसो से उनकी तुलना करते है। यह संकेत 'रामचरितमानस' इस नाम की ओर जान पडता है, यद्यपि इस नाम का उल्लेख और व्याख्या अब तक कही आई नही है। इसका उल्लेख और व्याख्या तो छद २४ मे आमुख के उत्तरार्ध आएगी।

१४ वे छद के पहले सोरठे मे वाल्मीकि की पुन. वदना है—

बदउ मुनिपद कज, रामायन जेंहि निरमयउ।
सखर सुकोमल मजु दोप रहित दूषन सहित॥ (१४घ)॥

यह भी अप्रत्याशित है, क्योकि वाल्मीकि और रामायण का उल्लेख पहले ही वंदना प्रसग मे आ चुका है और वाल्मीकि की गणना तो उन प्रसिद्ध 'मुनियो' और 'कविपुगवो' मे हो ही जाएगी जिन्होने हरिचरित का गान किया है और जिनका उल्लेख १३वे छद मे और १४वे छद की पहली चौपाई मे अभी हो चुका है। वाल्मीकि के पुन उल्लेख का तुलसी के पास कोई कारण ज्ञात नही होता, सिवाय इसके कि उन्होने आशा के विपरीत रामायण के सबध मे अपनी सूक्ष्म कल्पना के अनुसार ढाली हुई एक पक्ति से परिचित कराना आवश्यक समझा हो। इस पक्ति मे उन्होने कहा है कि रामायण सुकोमल (करुण रस से पूर्ण) और सखर (कठोर) भयकर और खर नामक राक्षस के सहित) है एव साथ ही 'दोष रहित' और 'दूषन सहित' (दोष से मुक्त क्योकि रामकथा के आरभ मे ही राम के अन्यायपूर्ण वन गमन की कथा आती है)।[११] यहाँ तुलसी ने सच्चे कवि की वाक्चातुरी का परिचय दिया है। ऐसे वैदग्ध्यपूर्ण स्थलो से तुलसी के पहले कथन का खडन होता है और आमुख के इस भाग की सीधी सरल शैली से उसका मेल भी नही बैठता।

चौदहवें छंद का दूसरा सोरठा वेदो की वदना करता है, जो ससार सागर से तरने के लिये बोहित के समान है। तीसरे सोरठे मे तुलसी ने ब्रह्मा का स्मरण किया है, जो भवसागर का निर्माण करने वाले है और जिनसे अमृत, चद्रमा और कामधेनु के समान एव विष और वारुणी के समान रत्न उत्पन्न हुए है। ब्रह्मा का उल्लेख वदना के प्रसग मे नही आया। किंतु छद सख्या छह मे प्रसंग से जड चेतन और गुण दोषो के कर्ता के रूप मे उनका उल्लेख आ गया है। यदि कवि उनकी वदना करना चाहता, तो इतनी देर तक ठहरने की क्या आवश्यकता थी। शायद जो बात वे पहले भूल गए थे, उसका वे सुधार यहाँ कर रहे है। किंतु अनुमानत. यह एक नए अलकार से काव्य को सजाने के लिये ही है, जिसमे संसार-रूपी सागर की तुलना सुविदित क्षीरसागर के मथन के साथ की गई है इसके विपरीत इसी छद के अतिम दोहे मे श्लेष या अलकार नही है किंतु उसमें पूर्वकथित दूसरे छद के दूसरे दोहे मे सीधे सादे ढंग से कही गई प्रार्थना की ही पुनरावृत्ति है।

इस विश्लेषण से विदित होता है कि अतिम दस अर्धालियाँ प्रस्तुत छद से ठीक मेल नही खाती। जिन विशेषताओ की ओर हमने अभी ध्यान दिलाया है वे उस कल्पना को जन्म देती है कि ये दस पक्तियाँ छद की रचना के बाद उसमे जोडी गई। संभवतः उसी समय जब कथामुख का उत्तरार्ध रचा गया। मूल मे चौदहवे छद मे छह चौपाइयाँ और दो दोहो से अधिक न थे।

कथामुख का पूर्वार्ध, जैसा कि हम देख चुके है, मुख्यत क्षमायाचनापरक है। फिर भी धार्मिक कल्पनाओ का उसमे अभाव नही है। कवि ने अपने धार्मिक विचार

११–दूषन सहित का अर्थ 'दूषण' नामक राक्षस से युक्त भी है।

विषयांतर के रूप में, परतु बहुत ही स्वाभाविक रीति से आत्मीय शली मे व्यक्त किए है—

सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई॥
तहाँ वेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाखा॥
एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानद परधामा॥
व्यापक विस्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥
सो केवल भगतन्ह हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥
जेहि जन पर ममता अति छोहू। जेहि करुना करि कीन्ह न कोहू॥
गई बहोर गरीब नेवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू॥

इस प्रकार का शक्तिशाली ईश्वरवाद भक्तिमार्ग के अनुयायी के सर्वथा योग्य है। भागवतो के समान तुलसीसदास उस ईश्वर की उपासना करते है जो पुरुष रूप मे सगुण और निर्गुण रूप मे अगम अगोचर है, जिसने अपने भक्तो की प्रीति से मानव शरीर धारण किया है और जिसका सबसे बडा गुण दया है।

ऐसे ईश्वर को वे राम कहते हैं और उसे दशरथ के पुत्र रामकथा वाले राम से अभिन्न मानते हैं। किंतु यह रोचक है कि इस स्थल मे तुलसी ने अरबी फारसी के शब्दो को वेदात और भागवत की शब्दावली के साथ कितने सहज रूप मे मिला दिया है। गरीब नेवाजू, साहिब, ये शब्द रामचरितमानस मे बहुत कम प्रयुक्त हुए हैं। ये कथामुख के इस भाग मे और अयोध्याकाड मे आए हैं, अन्य कांडों में नही।[१२] यहाँ इनका प्रयोग निश्चित उद्देश्य से किया गया है। वे लेखक के मन की समन्वयात्मक प्रवृत्ति के सूचक है और राम भक्ति के मत को व्यापक स्वरूप मे ढालने की आकांक्षा को व्यक्त करते हैं।

मानव शरीर मे अवतार लेनेवाले ईश्वर राम की वेदात के विश्वव्यापी ब्रह्म से अभिन्नता दार्शनिक प्रश्नो से सबंधित है, जिनपर तुलसी ने आमुख मे विचार नही किया। फिर भी उसमे सगुण और निर्गुण ब्रह्म के मानने वालो के विवाद की प्रतिध्वनि सुनाई पडती है। सब संदेहो की निवृत्ति और आपत्तियो के निराकरण की इच्छा से तुलसी ने इन दो विरोधी मतो में एक प्रकार का समन्वय बैठाने का प्रयत्न किया है, जिसमे उन्होने राम के नाम को ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनो रूपो से ऊपर रखा है।

१२. गरीब (अरबी-गरीब) कथामुख मे तीन वार, अन्यत्र रामचरितमानस मे कही नही। नेवाजू (फारसी-नेवाज) कथामुख मे दो वार और अयोध्या काड मे दो वार। साहिब (अरबी-साहिब) कथामुख मे दो वार और अयोध्या काड मे कई बार और शेष काव्य मे कही नही।

राम नाम की महिमा मे आठ छद कहे गए है, जिनमें दोहे चौपाइयों की सख्या और क्रम व्यवस्थित है। सबसे पहले नाम को मन्त्रो का राजा (महामन्त्र) कहा गया है। कवि ने उस मन्त्र के चमत्कारो का उल्लेख किया है और उसके चमत्कारी अक्षरो के पुण्य प्रभाव का वर्णन किया है, जिन्हें कवि ने वेदों का सार कहा है। उसके बाद कवि नाम और रूप की वेदातगत मान्यता के विषय मे अपनी व्याख्या देते है। उनका कहना है कि रूप नाम से छोटा है, क्योकि नाम के द्वारा ही रूप का परिचय होता है, उसके विपरीत नही। पर इस रहस्यात्मक प्रक्रिया पर कोई प्रकाश नही डाला गया—

नाम रूप गति अकथ कहानी, समुझत सुखद न परति बखानी।
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी, उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी॥

राम नाम मनि दीप धरु, जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहु जौ चाहसि उजियार॥

पुनः राम के नाम की सहायता से ही योगी अपना लक्ष्य प्राप्त करता है और नाम रूप से अतीत परब्रह्म के साथ एक हो जाता है। नाम के द्वारा ही वह सिद्धि और गभीर रहस्यो का ज्ञान प्राप्त करता है। सब भक्तो मे नाम का जप करनेवाले राम को प्यारे हैं। नाम की अद्भुत महिमा तो है ही, यह भी कहा गया है कि राम नाम विभिन्न दार्शनिक मतो में समन्वय स्थापित कर सकता है। (१।२३।१)

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा, अकथ अगाध अनादि अनूपा।
मोरे मत बड नाम दुहू ते, किए जेहि जुग निज बस निज बूते।
प्रौढि सुजन जनि जानहि जन की, कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की।
एक दारुगत देखिय एकू, पावक सम जुग ब्रह्म बिवेकू।
उभय अगम जुग सुगम नाम ते, कहेउ नामु बड ब्रह्म राम ते।
ब्यापकु एकु ब्रह्म अविनासी, सत चेतन घन आनँदरासी।
अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी, सकल जीव जग दीन दुखारी।
नाम निरूपन नाम जतन ते, सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन ते।

निरगुन ते एहि भाँति बड़ नाम प्रभाउ अपार।
कहेउँ नामु बड़ राम ते निज बिचार अनुसार॥

यह एक विचित्र प्रकार का विषयातर है। इसमें तुलसी ईश्वर के विविध रूपो की समस्या पर विचार कर रहे हैं और उसे इस प्रकार सुलझाने का प्रयत्न कर रहे हैं, जो कि उनका व्यक्तिगत दृष्टिकोण ज्ञात होता है। निर्गुण और सगुण की खाई को पाटने के लिये राम का नाम सेतु के

समान कल्पित किया गया है, पर यह कुछ कमजोर कडी है और हम कवि को अपना मत प्रकट करते हुए कुछ सावधान सा पाते हैं। वे 'मोरे मत' कहकर उसे निजी समति के रूप मे आगे रखते हैं। तुलसी के मत मे नाम सब जीवो के लिये और विशेषत. मानव के लिए ईश्वरीय तत्व की अभिव्यक्ति है। इस कलियुग मे नाम ही वह तत्व हे जिसे मनुष्य ईश्वर के ग्राह्य अश के रूप मे आत्मसात् कर सकते है। अतएव उनके लिये केवल नाम ही मुक्ति का साधन है, उसी का उनके लिये मूल्य है। रामकथा जिसमे राम की महिमा कही गई है, राम के अवतार का कलियुग मे वर्णन करती है और मोक्ष के साधन को आगे बढाती है।

इस महिमावर्णन का विषय केवल राम का नाम ज्ञात होता है। किंतु जैसा आगे आता है, यह कहा गया है कि राम को केवल दशरथ का पुत्र ही नही समझना चाहिए। छद २५ के अतिम दोहे मे नाम को राम या ब्रह्म से भी बड़ा कहा गया है। उसके बाद के छंद में तुलसी ने शिव एवं शुकदेव, सनत्कुमार एव नारद आदि ऋषियो का उनमे परिगणन किया है, जिन्होने नाम के द्वारा परम सुख प्राप्त किया। उन्होने प्रह्लाद, ध्रुव और अजामिल जैसे निष्ठावान् साधुओ का भी उल्लेख किया है :

> नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू ॥
> ध्रुव सगलानि जपेउ हरि नाऊँ। पायउ अचल अनूपम ठाऊँ ॥
> सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू ॥
> अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ ॥
> कहौं कहाँ लगि नाम बडाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई ॥
> (१।२६।२-४।)

सब युगो मे नाम मुक्ति का निश्चित साधन है पर कलियुग मे तो एकमात्र नाम ही है—

> नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू ॥ १-२७-४ ॥

तुलसी की युक्ति का सार इस प्रकार है। ब्रह्म का सच्चा स्वरूप जैसा कि सब वेदो मे कहा है, अगम अगोचर है। राम स्वयं जो ईश्वर के अवतार और सब जीवो के लिये भक्ति के विषय है, उसी प्रकार दुष्प्राप्य है, क्योकि वे प्रत्येक त्रेता युग मे अवतार लेते है, अतएव कलियुग मे अर्थात् इस समय के मनुष्य जिसे प्राप्त कर सकते है, वह उनका नाम और कथा ही है। अतएव राम का नाम और राम-कथा ही वर्तमान युग मे मनुष्यो के लिये मुक्ति का एकमात्र साधन रह जाता है। अत: राम नाम के जप या राम कथा के श्रवण का सबसे अधिक महत्व है। इस विषय मे दृढोक्ति के साथ तुलसी का मत शाक्तो के दृष्टिकोण से कुछ-कुछ मिलता

है जो केवल मात्र ब्रह्म या परमतत्व की शक्ति मे विश्वास करते है और उस तत्व को निष्क्रिय और निर्गुण मानकर अलग छोड़ देते है।

इसी प्रकार जब तुलसी राम के नाम को निर्गुण ब्रह्म से भी ऊपर अधिक महान् और स्वय राम से भी अधिक मानते है, तो इसका कारण राम की विलक्षण सक्रियता ही है, तुलसी की दृष्टि मे नाम राम की शक्ति है।

और भी कुछ बातो पर ध्यान देना आवश्यक है। तुलसीदास की दृष्टि मे ब्रह्म, उपनिषदो का परमतत्व निर्गुण है और ईश्वर अवतार रूप मे सगुण है। किंतु ईश्वर का सगुण रूप जो भक्ति के योग्य है, दशरथ के पुत्र राम तक ही सीमित नही है। विष्णु या हरि के अवतार कृष्ण का भी वही रूप है। एक सीमित अर्थ मे राम दशरथ के पुत्र का नाम है जो रामायण के नायक है किंतु व्यापक अर्थ मे राम परब्रह्म के सगुण रूप या अवतार है जिन्हे भगवान् या देहधारी ईश्वर माना जाता है। इसी कारण इस प्रसग मे प्रह्लाद, ध्रुव, अजामिल, गज का उल्लेख है, जो विष्णु या कृष्ण के भक्त थे और जिनकी कथाएँ भागवत पुराण मे दी हुई है।[८] कहा गया है कि इन व्यक्तियो को भगवान् के नाम या हरि के नाम से मुक्ति मिली। हरि मे राम और कृष्ण दोनो का अंतर्भाव है। आमुख मे राम नाम की महिमा के प्रकरणों मे कृष्ण का भी नाम आया है जो कि रामचरितमानस मे बहुत ही कम स्थानो मे आता है। तुलसी का कथन है कि राम नाम के दो अक्षर 'रा-म' जिह्वा को ऐसे प्रिय है, जैसे यशोदा को हरि (कृष्ण) और बलराम, किंतु संपूर्ण आमुख मे, जैसे अयोध्याकाड मे, हरि से तात्पर्य ब्रह्म के सगुण रूप से है, अर्थात् वह देहधारी ईश्वर जो भक्तो का पूज्य है और जो ब्रह्मा, विष्णु और शिव, इन तीनो से ऊपर है। अतएव हरि और भी व्यापक अर्थ मे राम का ही पर्याय है। इन दोनों को इस प्रकार पर्याय मानने का कारण स्पष्ट है। तुलसी की इच्छा थी कि राम-भक्तिधारा का क्षेत्र विस्तृत हो और राममत मे कृष्णमत का भी समावेश किया जा सके।

रामनाम की महिमा का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है, १।२५।१

राम सुकंठ विभीषन दोऊ, राखे सरन जान सब कोऊ।
राम गरीब अनेक निवाजे, लोक बेद बर बिरिद बिराजे।

नोट—८—प्रह्लाद ७।३१-५-६, गज ८।२-३-४, ध्रुव ४।८-९-१२, अजामिल ६।१-२-३, पिंगला ११।८। इन्ही व्यक्तियो का रामचरितमानस मे काड ७।१३० छंद १ में पुनः वर्णन है।

अरबी गरीब और फारसी निवाज (हिंदी रूप मे) यहाँ जानकर रखे गए हैं। इस प्रकार के अनार्य प्राणी अधम और आर्यक्षेत्र से बहिर्भूत है जिन्हें राम-कथा मे बंदर वा राक्षसों का रूप दिया गया है। जिस प्रकार राम के दर्शन से कपीश्वर सुग्रीव और राक्षस योनि में उत्पन्न विभीषन पवित्र हो गए वैसे ही राम के नाम ने उन जैसे सब जीवो को पवित्र कर दिया जो दुर्भाग्य से द्विज कोटि से बाहर उत्पन्न हुए है।

इस दृष्टि से इन दोनो विदेशी शब्दो का यहाँ प्रयोग विशेष अर्थ रखता है। नाम धर्म की व्यापक महिमा ने भक्ति धर्म के उस उदार दृष्टिकोण मे जो सामान्यत उसकी विशेषता है और चार चाँद लगा दिए हैं।

आमुख से यह भी प्रकट होता है कि तुलसी की दृष्टि मे शिव का कितना उच्च स्थान था। शिव को अन्य सब देवताओ से ऊपर संमान दिया गया है। आरंभ के श्लोक मे कहा गया है कि शिव और उनकी शक्ति के बिना सिद्ध लोग अपने अंत.करण मे स्थित भगवान् का दर्शन नही कर सकते। गुरु को भी, जिन्हें तुलसी इतना पूजनीय समझते हैं, शिव का अवतार माना गया है। हरिहर के रूप मे विष्णु और शिव दोनो का साहचर्य है, और साधु लोग दोनो ही की उपासना करते हैं, जब कि रामकथा से द्वेष करने वाले खल हरि-हर-रूपी चंद्रमा के लिए राहु के समान कहे गए हैं।

आमुख मे जैसा कि रामचरितमानस मे अन्यत्र भी, शिव और पार्वती को राम का महान् भक्त कहा गया है—दोनो ही राम के नाम का जप करते हैं। यही वह महामंत्र है जिसका शिव, काशी मे मृत्यु को प्राप्त होने वालो के कान मे तारक या मोक्षदायक मंत्र की तरह उच्चारण करते है। शिव स्वयं ही इस मंत्र के कर्ता है, क्योकि मूल रामायण के शतकोटि श्लोकों में से इसी दो अक्षर के मंत्र को उन्होने लिया था।

राम के परम भक्त होने के अतिरिक्त शिव आगमो को प्रकट करने-वाले हैं। आगमो का अर्थ तंत्र है, जिन्हे तुलसी 'श्रुति' रूप मे अत्यत प्रमाण मानते है। आमुख मे उनका उल्लेख किया गया है (१/१५/२-३)—

गुरु पितु मातु महेस भवानी। प्रनवउँ दीनबंधु दिन दानी॥
सेवक स्वामि सखा सिय पी के। हित निरुपधि सब विधि तुलसी के॥
कलि बिलोकि जग हित हर गिरिजा। साबर मंत्र जाल जिन्ह सिरिजा॥
अनमिल आखर अरथ न जापू। प्रगट प्रभाउ महेस प्रतापू॥

अतएव तुलसी को तंत्र साहित्य का पता था और वे उनके मंत्रो की अद्भुत शक्ति को भी मानते थे। किंतु इतने ही से यह न समझना चाहिए

कि तुलसी ने रामचरित के निर्माण में उस प्रकार के साहित्य से कोई सीधी सहायता ली थी, अथवा उन्हे वाममार्ग के शाक्तमतो से कोई सहानुभूति थी, जिनमे एकमात्र इस प्रकार के साहित्य का उल्लेख आता है। तथ्य तो यह है कि रामचरित-मानस के कुछ स्थलो मे तुलसी ने शाक्तो के आचारो के विषय मे अरुचि प्रकट की है। कोई इतना मान सकता है कि तुलसी ने अपने कथानक को शिव-पार्वती के संवाद रूप मे बाँधने का भाव तन्त्रो से ग्रहण किया। किंतु कथाबंध की यह प्रणाली अध्यात्म रामायण और दूसरे सांप्रदायिक ग्रंथो मे भी पहले से थी, जहाँ से तुलसी ने उसे लिया होगा।

शिव-पार्वती-सवाद का कोई उल्लेख आमुख के पूर्वार्द्ध मे नही है, यद्यपि रामचरितमानस का एक अंश इस सवाद की पृष्ठभूमि मे कहा गया है। तुलसी ने शिव की बड़ाई करते हुए उन्हें राम का परमभक्त माना है। उन्होने अपने आपको शिव की शरण मे रखते हुए रामकथा के वर्णन मे सफलता की प्राप्ति के लिये उनके वरदान या कृपा की प्रार्थना की है। पर वे यह कही नही कहते कि शिव ही रामकथा के आदि कर्ता या प्रथम वक्ता है। इसके विपरीत सब प्रकार से यही प्रतीत होता है कि अपनी कथा की रचना का सारा दायित्व स्वयं तुलसी का ही है। यह तो इस बात से ही प्रकट है कि कितने श्रम से कवि ने क्षमायाचना द्वारा अपनी रक्षा का प्रयत्न किया है और कहा है कि यह कथा श्रुति और स्मृति दोनो से संमत है।

कोई कह सकता है कि शिव-पार्वती-संवाद एक साहित्यिक युक्ति मात्र है। चाहे शिव का नाम इसमे आवे या न आवे, पाठक को कोई भ्राति नही हो सकती, क्योंकि रामचरितमानस किसी अज्ञात रचयिता का ग्रथ नही है। किंतु यदि यह मान लिया जाय कि रामकथा के वक्ता के रूप मे शिव का कोई विशेष महत्व नही है तो भी यह तो ज्ञात होता है कि आरम्भ से ही शिव को इस कथा मे स्थान प्राप्त था। किंतु आमुख के पूर्वार्द्ध मे एक ओर जहाँ शिव का कई बार नाम लिया गया है और उन्हे कथा का कर्ता या वक्ता नही कहा गया वही तुलसी ने स्वय अपने लिये यह घोषणा की है कि वे रामकथा कहने जा रहे है जिसमे वे शिव-पार्वती-सवाद की कोई चर्चा नही करते।

कथामुख के प्रथम भाग मे रामचरितमानस——इस नाम के विषय मे भी कुछ नही कहा गया। छद चौदह के दोहा तीन मे जो बाद मे जोड़ा गया जान पड़ता है, कवि ने अन्य कवियो को रामचरित रूपी मानसरोवर का हस कहा है, पर वहाँ तक काव्य का यह नाम कही नही आया। सर्वत्र उसे भणिति, गाथा या चरित कहा है। आमुख के उत्तरार्द्ध मे छंद पैतीस तक पहुँचकर ग्रंथ का विशेष नाम रामचरितमानस और उसके पौराणिक उद्भव की कुछ व्याख्या की गई है।

आमुख का उत्तरार्द्धः--

छद ३०-४३

आमुख के पूर्वार्द्ध मे जिसका ऊपर विश्लेपण किया गया है, तुलसी ने चार वार कथा के आरंभ करने का उल्लेख किया है—

(१)	वर्तमान काल मे	सस्कृत वंदना मे	आतनोति
(२)	वर्तमान काल मे	वरनउँ रामचरित	(२।१)
(३)	भविष्यत् काल मे	करिहउँ रघुपति कथा	(१४।१)
(४)	वर्तमान काल मे	वरनउँ रघुवर विसद जसु	(२९ दोहा २)

अतिम वर्तमान काल आसन्न भविष्य के लिये है अर्थात् मै राम के विशद यश का वर्णन करने ही वाला हूँ।

अतएव कथा का आरंभ तुरंत वाद तीसवे छद में होने की आशा थी। पर वस्तुत वह वहुत बाद मे चौवालीसवे छद मे होता है। २९वे और ४४वें छंद के वीच में एक लंबा व्यवधान है जो ऊपर कहे हुए सदर्भ से बिलकुल नही मिलता। उस अंश में एक प्रकार का दूसरा आमुख पाया जाता है, जो पहले से वहुत वातो मे भिन्न है।

छंद तीस मे एकदम से ऋषि याज्ञवल्क्य और उनके श्रोता ऋषि भरद्वाज का परिचय मिलता है :—

जागबलिक जो कथा सुहाई, भरद्वाज मुनिबरहि सुनाई।
कहिहउँ सोइ संवाद बखानी, सुनहुँ सकल सज्जन सुखु मानी।

इसमे क्रिया का काल बदल गया है। इसमे वह वर्तमान (अर्थात् आसन्न भविष्य) नही है, जैसा पहली पंक्तियों मे है, वरन् भविष्य है। वस्तुत दोनों ऋषियो का सवाद छद ४७ से आरंभ होगा। इस वीच में तुलसी अपनी कथा की उत्पत्ति बताने लगते है

सभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा।
सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। रामभगत अधिकारी चीन्हा।
तेहि सन जागवलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा।
ते श्रोता वकता समसीला। सवदरसी जानहिं हरिलीला।
जानहिं तीनि काल निज ग्याना। करतल गत आमलक समाना।
औरउ जे हरि भगत सुजाना। कहहिं सुनहिं समुझहि विधि नाना।
मै पुनि निज गुरु मन सुनी कथा सो सूकर खेत।
(१।३०।२ दोहा १)

यहाँ तुलसी ने रामकथा के काल्पनिक वक्ताओ का उल्लेख किया है— क्रमानुसार उनके नाम ये है—

शिव, भुशुंडि और याज्ञवल्क्य। स्पष्ट ही शिव को इस चरित का कर्ता कहा गया है।

तथ्य यह है, जैसा हम देखेंगे, कि ग्रथ के अधिकाश भाग में अर्थात् बालकाड के अतिम भाग और सपूर्ण अयोध्याकाड मे इन तीनो मे से एक भी वक्ता का उल्लेख नही आता, और कवि स्वयं अपनी कथा के वक्ता है। किंतु रामचरितमानस के अवशिष्ट भाग मे इनमें से किसी न किसी वक्ता का नाम ठहर-ठहर कर आता रहता है।

इस स्थल से यह अनुमान करना सुसगत है कि यह कथा चार सवादो के रूप मे चली आती थी, अर्थात् शिव, पार्वती, शिव भुशुडि, भुशुडि-याज्ञवल्क्य और अत मे याज्ञवल्क्य-भरद्वाज किंतु इन चार सवादो मे से केवल दो और चौथे का ही रामचरितमानस मे वर्णन आया है। आमुख मे इस स्थल के अतिरिक्त और कही भी न तो यह कहा गया है और न इसकी कोई ध्वनि है कि शिव ने इस कथा को भुशुडि से कहा था या भुशुडि ने याज्ञवल्क्य से। वक्ता के रूप में भुशुडि और याज्ञवल्क्य परस्पर स्वतत्र विदित होते है, शिव और भुशुडि पर निर्भर नही। काड ३ से ६ तक शिव और भुशुडि क्रम से वक्ता के रूप मे आते है, किंतु उनमे से कोई दूसरे की बात नही दोहराता। केवल सातवे कांड के अंत मे शिव ने भुशुडि का उल्लेख किया है, भुशुडि ने शिव का कही नही। अतएव आमुख का उक्त उल्लेख समस्त ग्रंथ से अन्यथा सिद्ध हो जाता है और ग्रंथ के तथ्यों से मेल नही खाता।

तुलसी अपने पाठको को सूचित करते है कि उन्होने यह कथा अपने गुरु से सूकरखेत मे सुनी थी, पर पहले उनकी समझ मे नही आई, क्योकि वे उस समय इतने मूढ और विषयासक्त थे कि उस गूढ़ रामकथा का जिसके श्रोता वक्ता ज्ञाननिधि थे समझ पाना उनके लिये सभव न था। तुलसी ने जो कथा सूकरखेत में सुनी थी वह वाल्मीकिकृत कथा नहीं हो सकती थी। वह कोई ऐसी रामायण थी, जिसके रचयिता शिव कहे जाते थे और जिसके वक्ता पौराणिक पुरुष थे और जिसके द्वारा किसी अध्यात्म तत्व का उपदेश देने का दावा था। संभवत. यह कथा संस्कृत मे थी, क्योकि तुलसी उसे भाषा मे करना चाहते है—

भाषाबद्ध करब मैं सोई। (१।३१।१)

राम कथा की उत्पत्ति के विषय मे इस प्रकार की व्याख्या की उससे संगति नही बैठती जो आमुख के पूर्वार्द्ध मे कहा गया है। क्योंकि यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि इस काव्य का उद्भव इसी स्रोत से हुआ था, तो तुलसी का दायित्व बहुत कुछ कम हो जाता है और उनकी लबी क्षमा-याचना अर्थहीन हो जाती है।

छंद तीस मे एक नया विचार रामकथा की अनतता के विषय मे है। शिव को अग्रस्थान देने पर भी यह कहा गया है कि सब वक्ता समान है, और कवि का यह भी कहना है कि कुछ और भी ऋषि हैं, जिन्होने इसी कथा को 'अनेक प्रकार से' (बिधि नाना) कहा है। राम कथा के वर्तमान रूपो और अन्य रूपो मे जो भेद पाए जाएँ, उन्हे परस्पर विरोधी नही मानना चाहिए। वे सभी रूप एक समान 'सत्य' है, क्योकि ऐसे मुनियो ने उन्हे कहा है जो सब एक समान हरिलीला के विज्ञ और सूक्ष्म दृष्टियुक्त थे। आगे तुलसी ने अपने पाठको को यह यह चेतावनी दी है। (१।३३।२। दोहा—३४।१)

जेंहि यह कथा सुनी नहिं होई। जनि आचरजु करै सुनि सोई।
कथा अलौकिक सुनहिं जे ग्यानी। नहिं आचरजु करहिं अस जानी।
राम कथा कै मिति जग नाही। असि प्रतीति तिन्ह के मन माही।
नाना भाँति राम अवतारा। रामायन सत कोटि अपारा।
कलप भेद हरि चरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए।
करिअ न ससय अस उर आनी। सुनिअ कथा सादर रति मानी।

राम अनंत अनत गुन, अमित कथा विस्तार।
सुनि आचरज न मानिहहिं, जिन्ह के विमल विचार॥

एहि बिधि सब संसय करि दूरी। सिर धरि गुरुपद पंकज धूरी।
पुनि सबही बिनवउँ कर जोरी। करत कथा जेंहि लाग न खोरी।

राम के अवतारो की अनेकता और उसके कारण रामायण की अमितता का भाव रामावत सप्रदाय मे भागवत धर्म से लिया गया जान पडता है। भागवत के अनुसार कृष्ण प्रत्येक कल्प मे अवतार लेते है और नरचरित करते है जो उनकी माया की लीला या क्रीड़ा है। रामकथा की अनंतता मे विश्वास अधिकाश मध्य-कालीन रामायणो मे पाया जाता है। जैसे योगवाशिष्ठ, अध्यात्मरामायण, अद्भुत-रामायण, आनदरामायण, सभवत भुशुडिरामायण मे भी। अद्भुतरामायण वाल्मीकिरामायण का परिशिष्ट या आठवाँ काड कही जाती है। कहा जाता है कि महर्षि वाल्मीकि ने दो रामायणे बनाई थी। एक देवताओ के लिये सौ करोड श्लोको की, दूसरी चौबीस हजार श्लोको की मनुष्यो के लिये, जो कि वर्तमान वाल्मीकिरामायण है। अद्भुतरामायण पहली का एक अश होने का दावा करती है। जैसा कि उसमे लिखा है।

अध्यात्मरामायण को भी किसी अपरिमित समग्र ग्रथ का एक छोटा सा अश कहा जाता है। पहले अध्याय मे ब्रह्मा नारद से कहते है. (प्रस्तावना श्लोक ४६-४७)

'रामगीता की महिमा का पूरा ज्ञान केवल शंकर को है, पार्वती केवल उसका आधा भाग जानती है और मैं उस आधे का आधा जानता हूँ। मै तुम्हे उसका एक अंश सुनाऊँगा, पूरे का वर्णन नही हो सकता।'

रामकथा की अनंतता और राम अवतारो की अनेकता एक दूसरे से पृथक् नही की जा सकती, अतएव अध्यात्मरामायण मे सोता राम से वन चलने का आग्रह करती हुई यह अकाट्य युक्ति देती है (२।४।७६)—

"मैं तुमसे और भी यह कहूँगी, जिसे जानकर तुम्हे मुझे वन मे ले चलना चाहिए। बहुत से ब्राह्मणो से अनेको रामायणे सुनी है। कब और कहाँ राम सीता के बिना वन मे गए है, मुझे बताइए।"

अतएव हम देखते है कि तुलसी ने आमुख के इस भाग मे भागवत पुराण और साप्रदायिक रामायणो का दृष्टिकोण ग्रहण किया है। बालकाड के पूर्वार्ध मे और उत्तरकाड मे रामकथा और रामअवतारो की अनतता के विषय मे उसी प्रकार के कथन है। पर शेष काव्य मे कही ऐसा नही मिलता। उन्ही भागो मे हम देखते है कि राम के चरित को लीला कहा गया है और सप्रदायप्राप्त रामायणो का उनपर स्पष्ट प्रभाव है।

अपने पाठको को इस प्रकार आश्वस्त करके और पहले से ही उनकी शकाओ का निराकरण करके तुलसी ने अपने काव्य की निश्चित तिथि और समय बताया है. (१।१३।४।२ = ३)

संवत सोरह सै एकतीसा। करउँ कथा हरिपद धरि सीसा।
नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा।
जेहि दिन रामजनम श्रुति गावहिं। तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं।

उस शुभ दिन सब सत तथा देवता अयोध्या मे आते हैं, जिससे उसकी पवित्रता और भी बढ जाती है (१।३५।३)

सब बिधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धिप्रद मंगल खानी।
बिमल कथा कर कीन्ह अरभा। सुनत नसाहिं काम मद दभा।

अपने काव्य के नाम की इस प्रकार व्याख्या करके तुलसी कहते है—

कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई।

(१।३५।७)

यह चौपाई जिसमे 'रामचरितमानस' की रचना के संबध मे निश्चित सूचना दी हुई है; अपनी व्याख्या के विषय मे एक समस्या उत्पन्न करती है। यदि सब टीकाकारो के साथ हम भी यह माने कि छद ३४ की अर्धाली ३, ४ मिलकर एक तिथि सूचित करती है, तो मानना पड़ेगा कि तुलसी ने अपना काव्य स० १६३१

(१५७४ ई०) मे चैत महीने की नवमी को जिन दिन मंगल था, लिखना शुरू किया था। पर जैकोबी और ग्रियर्सन की गणना के अनुसार सं० १६३१ मे चैत की नवमी के दिन बुधवार था, मगल नही।

इस विरोध को मिटाने के लिए ग्रियर्सन का सुझाव है कि चान्द्रगणना और दूसरी प्रचलित गणना मे अतर था।[९]

माताप्रसाद गुप्त ने इस कठिनाई का दूसरा हल सुझाया है।[१०] उनका कहना है कि छंद के पहले अनुच्छेद मे (छद ३४, अर्धाली १–४) क्रियाएँ वर्तमान काल की है (बरनउँ-करउँ)। इसके विरुद्ध दूसरे अनुच्छेद मे क्रियाएँ भूतकाल की हैं (प्रकासा, कीन्हा)। तीसरे अनुच्छेद मे (छद ३५ अर्धाली ७-१३) क्रिया फिर वर्तमान काल मे हे (कहउँ)। उमसे वह यह यथार्थ परिणाम निकालते है कि दूसरा अनुच्छेद (छद १४, अर्धाली १–६) राम नवमी को नही लिखा गया होगा, क्योकि उस दशा मे छद ३४ अर्धाली ८ मे 'जेहि दिन' के स्थान पर 'आज' होना चाहिए था, इसी प्रकार वह दूसरा अनुच्छेद अयोध्या मे नही लिखा गया होगा, क्योकि उसका सकेत निकटवाची 'यहाँ' से न करके दूरवाची 'वहाँ' से किया गया हे।

इस कठिनाई को सुलझाने के लिए उन्होने एक सुझाव दिया है। उनका कहना है कि दूसरा अनुच्छेद उस समय नही लिखा गया जब पहले और तीसरे लिखे गए वरन् बहुत बाद मे लिखा गया जब कवि अयोध्या से चले आए थे और उनके ग्रंथ का अधिकाश भाग लिखा जा चुका था। वैसी हालत मे दिन की गड़बडी (बुद्ध की जगह मगल) कवि की विस्मृति के कारण हुई होगी, क्योकि उस घटना को बहुत समय बीत चुका था। सक्षेप मे माताप्रसाद जी का मत इस प्रकार है––

"तुलसीदास ने पहला और तीसरा अनुच्छेद अयोध्या मे स० १६३१ की रामनवमी को लिखा। उसी समय उन्होने सवत् का उल्लेख कर दिया था, पर मास और दिन या स्थान का उल्लेख नही किया। कुछ वर्ष बाद उन्होने महीने की तिथि और स्थान का उल्लेख जोडकर उस भूल का सुधार कर दिया। पर अब उन्हे उस विषय मे ठीक स्मृति न रही थी इसलिये दिन लिखने मे भूल हुई।

९–नोट्स आन तुलसीदास, इडियन एंटीक्वेरी २२।८९
१०–रायल एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका, १९३५, ४।७७७

यह कल्पना संभाव्य नही जान पडती। इस प्रकार तिथि और दिन का छूट जाना बहुत कम सभव है। इसके अतिरिक्त उक्त चौपाइयो मे घटाने बढाने का कोई चिह्न नही मिलता। सारा अंश एक साथ लिखा गया जान पड़ता है। यदि हम मूल की और गहराई से समीक्षा करें तो पता चलता है कि छंद ३४ की अर्धाली ४–५ जो दो अलग अलग चौपाइयो के अंतर्गत है मिलकर एक ही तिथि सूचित नही करती, क्योकि दोनो पक्तियो मे क्रिया के काल भिन्न भिन्न है। अतएव संवत् १६३१ जिसमे कवि ने आमुख का वह अश लिखा है और रामचरितमानस नामक ग्रथ के आरंभ करने की सूचना दी है, वही वर्ष नही था जब उसने रामकथा लिखना आरभ किया था। हमारी संमति मे रामचरित-मानस ग्रंथ और कवि द्वारा रामकथा के आरंभ करने के वर्ष भिन्न भिन्न थे। तुलसी ने उक्त अर्धालियो वाला अश स० १६३१ मे लिखा। पर अयोध्या और रामनौमीवाले अंश का स्मरण तब किया जब पहले पहल रामकथा लिखना आरभ किया था। इसमे आश्चर्य नही कि यह स्थान और वह दिन उनकी स्मृति मे छप गया था, उन्हे सप्ताह का दिन मंगल भी याद था। पर उस पहले वर्ष का उल्लेख उन्होने नही किया अन्यथा उन्हे दो तारीखे देनी पडती जो कि कुछ अटपटा लगता। अतएव हम निम्नलिखित परिणाम पर पहुँचते है। तुलसी ने अयोध्या मे राम का चरित सं० १६३१ से पहले किसी वर्ष में लिखना शुरू किया था। पर सवत् १६३१ मे उन्होने रामचरितमानस अर्थात् शिव के मानस जो में रहस्यात्मक कथा थी उसे आरभ किया। उस समय रामचरित का महत्वपूर्ण भाग वे लिख चुके थे और प्रथम लिखित अश को उन्होने अपने बडे ग्रंथ मे समिलित कर लिया। जब वे अपने काव्य के लिये प्रस्तावना लिखने लगे (आमुख का उत्तरार्ध) तो तुलसी ने सावधानी से इस बात का स्मरण किया कि किस शुभ स्थान और किस शुभ दिन मे उन्होने रामचरित लिखा था, जो संवत् १६३१ मे सघटित किए जाने वाले रामचरित मानस का अंश बन गया। इस कल्पना की सभावना इस बात से और भी बढ जाती है कि काव्य का बीच का भाग जिसमें तुलसी ही वक्ता है पहले लिखा जा चुका था। और ग्रथ का अवशिष्ट अश एवम् आमुख का उत्तरार्ध बाद मे लिखा गया।[११] सवत् के साथ काव्य का भी इस प्रकार उल्लेख किया गया है—

रामचरित मानस एहि नामा। सुनत स्रवन पाइय विश्रामा।
मन करि विषय अनल बन जरई। होइ सुखी जो यहि सर परई॥
(१।३५।५)

११—परिच्छेद ७–४ अयोध्याकाड का पूर्व लेखन।

तुलसी ने उस नाम के कारण और महत्व पर भी प्रकाश डाला है--

रामचरित मानस मुनि भावन। बिरचेउ संभु सुहावन पावन ॥
त्रिविध दोष दुख दारिद दावन। कलि कुचालि कुलि कलुष नसावन ॥
रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाखा ॥
तातें रामचरित मानस बर। धरेउ नाम हियँ हेरि हरषि हर ॥
कहौं कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई ॥

यहाँ नाम रामचरित के कर्ता के रूप में शिव की करनी से संबंधित बताया गया है। उसका आधार मानस के श्लेषपरक दो अर्थों पर है। एक मन और दूसरा मानसरोवर। अतएव मानसरोवर का अर्थ समझा जा सकता है 'राम के चरित का मानस अर्थात् मानसरोवर' या अंतरात्मा। मानस काव्य पर इस प्रकार का श्लेष तीसरे कांड में दो बार[12] और सातवें कांड में कई बार आया है पर वहाँ काव्य के नाम का संकेत नहीं है। इसी प्रकार (१।१४६ में) स्वायंभुव मनु ने राम की स्तुति करते हुए उन्हें भुशुंडि के मन रूपी मानसरोवर का हंस कहा है (जो भुसुंडि मन मानस हंसा)। वस्तुतः हिंदी रामायण में 'रामचरितमानस' नाम का उल्लेख आश्चर्यजनक रूप से विरल है। आमुख के ऊपर लिखे स्थल के अतिरिक्त वह केवल दो बार और आया है। एक तो बालकांड के छंद १२० के एक अतिरिक्त सोरठे में जहाँ भुशुंडि को रामचरितमानस का वक्ता कहा गया है, और दूसरे सातवें कांड भुशुंडिचरित में जहाँ लोमश ऋषि कागभुशुंडि को रामचरितमानस सुनाते हैं। हो सकता है कि तुलसी ने यह नाम वहीं से लिया हो जहाँ से सातवें कांड के भुशुंडिचरित की सामग्री ली थी। कुछ भी हो, वह नाम रामकथा के वक्ता भुशुंडि से जान पडता है। यह संभव है कि अपने ग्रंथ का यह नाम रखने का विचार तुलसी को कुछ बाद में आया हो।[13]

इस प्रकार रामचरितमानस की दिव्य उत्पत्ति और नाम की सार्थकता बताकर कवि पुन वर्तमानकाल में (कहउँ) अपनी कथा के आरंभ की घोषणा करता है, जिसमें यह आशा हुई थी कि शिव-पार्वती-संवाद का आरंभ होगा। पर वस्तुतः वह संवाद बहुत बाद में छंद १०५ पर आता है। एक दूसरे आकस्मिक विचार को बीच में रखते हुए तुलसी बताते हैं कि उनके काव्य के साथ रामचरितमानस नाम की संगति किस प्रकार है। पर जो कुछ कहा गया है उसमें नाम की व्याख्या कम है

१२--३।८।१ ११।४
१३--परिच्छेद १४, २ रामचरितमानस की रचना।

और ग्रंथ की मानसरोवर के साथ अलंकारात्मक और प्रतीकात्मक तुलना हम अधिक देखते है। यहाँ कवि मे आमुख के पूर्वार्ध की अपेक्षा आत्मविश्वास की मात्रा कही अधिक है :

सभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरितमानस कवि तुलसी।
(१।३६।१)

शिव की कृपा से तुलसी के हृदय में सुमति (काव्य स्फूर्ति) जाग्रत हुई है और वह रामचरितमानस का कवि हो गया।

पर दूसरा अर्थ भी संभव है और हम समझते है वही अधिक संभाव्य है——
शिव की कृपा धन्य है जिससे तुलसी के हृदय मे स्फूर्ति हुई और रामचरित-मानस धन्य है, जिससे तुलसी कवि बन गया।

उस मानस के वर्णन मे आमुख का शेषाश अर्थात् आठ छंद प्रयुक्त हुए है। इस विचित्र वर्णन को ठीक ठीक साराश कहना उपयुक्त नही होगा। फिर भी यह निश्चित है कि बाद मे लिखकर कवि ने अपने ग्रंथ की सौदर्यपरक विशेषताओ और उससे मिलनेवाले आध्यात्मिक लाभो की ओर संकेत किया है :

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू, वेद पुरान उदधि घन साधू।
बरषहि राम सुजस बर बारी, मधुर मनोहर मगलकारी।
लीला सगुन जो कहहिं बखानी, सोइ स्वच्छता करइ मल हानी।
प्रेम भगति जो बरनि न जाई, सोइ मधुरता सु सीतलताई।
सो जल सुकृत सालि हित होई, राम भगत जन जीवन सोई।
मेधा महि गत सो जल पावन, सकिलि स्रवन मग चलेउ सोहावन।
भरेउ सुमानस सुथल थिराना, सुखद सीत रुचि चारु चिराना।
सुठि सदर संवाद बर बिरचे बुद्धि बिचारि।
तेइ एहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि।
सप्त प्रबंध सुभग सोपाना, ज्ञान नयन निरखत मन माना।
रघुपति महिमा अगुन अबाधा, बरनव सोइ बरबारि अगाधा।
रामसीय जस सलिल सुधा सम, उपमा बीचि बिलास मनोरम।
पुरइनि सघन चारु चौपाई, जुगुति मंजु मनि सीप सुहाई।
छद सोरठा सुदर दोहा, सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा।
अरथ अनूप सुभाव सुभासा, सोइ पराग मकरंद सुबासा।
सुकृत पुज मंजुल अलि माला, ज्ञान बिराग बिचार मराला।
धुनि अवरेब कवित गुन जाती, मीन मनोहर ते बहु भाँती।
(१।३६।२ दोहा ३७।१-४)

कवि ने कुछ भी विवरण पाठको के सोचने के लिये नहीं छोडा। सुकृती साधुओ और रामनाम के गुणो की जलपक्षियो मे तुलना की गई है। भक्ति के अनेक विधान वृक्षो के समान कहे गए है जिनमे शम, दम और नियम के फूल फूलते है और ज्ञान के फल लगते हैं। एवम् अनेक प्रसग और उपकथाएँ उन वृक्षो पर कलरव करनेवाले 'शुकपिक' के समान है। जो इस कथा को गाते या सुनते है वे इस मानस के रखवाले अधिकारी हैं। उसके विपरीत जो विषयो मे डूबे हुए है वे उन बगुलो और कौओ के समान है जो उस सर के निकट नही आते।

अस मानस मानस चप चाही। भइ कवि बुद्धि बिमल अवगाही।
भएउ हृदय आनद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू।
चली सुभग कविता सरिता सो। राम बिमल जस जल भरिता सो।
(१।३६।५-६)

कथा के प्रत्येक भाग की तुलना उस मानस के किसी न किसी भाग से की गई है। काव्य के मुख्य भागो को छह ऋतुओ के समान माना है। शिव-पार्वती-विवाह हेमंत है, राम के जन्म का आनद शिशिर है, राम का विवाह बसत है। राम का वन गमन निर्मम ग्रीष्म है। राक्षसो से घोर युद्ध वर्षा है। राम का सुखी राज्य सुदर शरद् ऋतु है। यह विचित्र है कि कवि अपनी विनय और दीनता का भी उल्लेख करता है जो कि आमुख के पूर्वार्ध मे वर्णित है। उसका कहना है कि मेरी यह दीनता ही उस मानस के जल का हलकापन (ललित लघुता) है।

उस स्थल के अत मे भूतकाल का प्रयोग इस वर्णन के बाद की रचना होने का समर्थन करता है।

मति अनुहारि सुबारि गुन गन गनि मन अन्हवाइ।
सुमिरि भवानी सकरहिं कह कवि कथा सुहाइ॥ (१।४३।दोहा १)

यह लंबा सदर्भ कई कारणों से आश्चर्यजनक है। इसमे रामचरितमानस का वर्णन ग्रथ के रूप मे उतना नही, जितना नीति या धर्म प्रधान काव्य के रूप मे है, जिसमे गभीर संवाद, दार्शनिक विचार ही मुख्य विषय है। कथात्मक भाग के बीच की उपकथा और आख्यानो को शुकपिक के समान कहा गया है। इस प्रकार का वर्णन सांप्रदायिक रामायणो के सदृश ज्ञान या अध्यात्म प्रधान ग्रंथों के लिये अधिक चरितार्थ होता है। संपूर्ण हिंदी रामायण के लिये यह इतना उपयुक्त नही है जितना केवल उसके कुछ अशो के लिये, विशेषत: सातवें काड के लिये जिसका अतिम भाग (कागभुशुडि सवाद) सांप्रदायिक रामायण के ढंग पर निर्मित हुआ है।

उन संवादो का उल्लेख जो उस मानस के चार घाट है, स्पष्ट नही है। वे कौन से संवाद है ? रामकथा के पात्रों मे जो पारस्परिक संवाद हुए हैं उनसे तो

तात्पर्य हो नही सकता क्योकि इस प्रकार के कथनोपकथन बहुत से है और उन्हें उस प्रकार के घाट नही माना जा सकता जिनसे रामचरितमानस तक पहुँचा जाता है। स्पष्टत इनका सकेत उन सवादो से होना चाहिए जो कथा के विभिन्न वक्ता, श्रोताओ के बीच हुए हे । सब टीकाकारो ने सवादो को उसी अर्थ मे समझा है पर उसकी पहिचान करने मे सबको कठिनता पड़ती है। शिव-पार्वती, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज और भुशुडि-गरुड़, इन तीनो सवादो के विषय मे सब एक मत है, पर चौथा सवाद कौन सा लिया जाय ? किसी ने तुलसी और सतो के बीच मे एक सवाद माना है, दूसरे ने राम और उनके भक्तो के बीच मे, पर ऐसे सुझावो का कोई आधार नही है।

हमारी सम्मति मे इस प्रश्न का समाधान हो सकता है, यदि सातवे काड की विशेष रचना पर ध्यान दे। वस्तुत रामचरितमानस मे दो शिव-पार्वती-सवाद है, एक बालकाड मे, दूसरा उत्तरकाड मे। जैसा आगे विचार करेगे, तुलसी ने उन दोनो सवादो के समिश्रण का प्रयत्न किया है जिससे वे भुशुडि द्वारा कही रामायण को शिव द्वारा वर्णित रामायण के समकक्ष ला सके ।[१४] पर वस्तुत. बालकाड मे शिव की वही स्थिति है जो प्रथम काड मे याज्ञवल्क्य की । पहले काड मे कथा के प्रथम वक्ता शिव है, सातवे काड मे वे भुशुडि की अपेक्षा गौण हो जाते है । काड एक और सात की रचना समान ढंग से हुई है । दोनो मे एक सवाद और एक एक उपसवाद को नीचे ऊपर रखकर काड का रूप खड़ा किया गया है। अतएव आमुख मे चार संवादो का सकेत ग्रथ के तथ्यो से पूर्णत. समन्वित होता है ।

रामचरितमानस के आलकारिक वर्णन मे तुलसी ने अपने ग्रथ के काव्यात्मक गुणो पर बल दिया है । और यह बात कुछ आश्चर्यजनक है, क्योकि आमुख के पूर्वार्द्ध मे वे इससे कुछ अन्यथा कह चुके है। अब हम देखते है कि हिंदी रामायण का रचयिता अपने कवि होने की घोषणा करता है और उसका विचार है कि इस ग्रथ में कार्य की सब आवश्यकताओ का निर्वाह किया गया है । विज्ञजन इसके छद, चौपाई और दोहो के के कारण एवम् ध्वनि, वक्रोक्ति आदि कवित्वगुणो के कारण इसका रसपान करेगे। तुलसी ने अपने ग्रंथ और अपनी शक्ति के बारे मे पूर्व की अपेक्षा बिलकुल ही दूसरे प्रकार का विचार व्यक्त किया है। जो पहले भक्तिप्रधान ग्रथ था और सुखदायक होने पर भी काव्यगुणो के विषय मे जिसका दावा न था, अब इस प्रकार का काव्य बन गया है जिसके विषय मे उसके लेखक को गर्व है ।

अतिम विश्लेषण करते हुए प्रतीत होता है कि ऊपर के इस वर्णन का कोई अर्थ नही है। यदि हम सातवे काड की रचना और विषय पर ध्यान दे जिसमे शिव

नोट–१४–परिच्छेद १३३, भुशुंडि द्वारा कथित रामायण।

नही वरन् भुशुडि रामकथा या रामचरितमानस के साक्षात् वक्ता है। उसी काड मे यह बताया गया है कि भुशुडि की रामकथा का आरभ रामचरित रूपी मानस के वर्णन से किया गया है—

रामचरित सर कहेसि वखानी। —७।६४।४।

भुशुडि का वह वर्णन उसी प्रकार का रहा होगा जैसा तुलसी ने आमुख के उत्तरार्ध में दिया है। यहाँ और वहाँ दोनो का स्रोत एक ही रहा होगा।

रामचरितमानस के आमुख पर व्यापक दृष्टि

रामचरितमानस का आमुख विशेष रूप से जटिल है जैसा हमने अभी देखा, क्योकि इसमे ग्रथ की जटिलता का प्रतिनिधित्व है। उसका पूर्वार्द्ध (१-२९) भाव सरलता के कारण विशिष्ट है, जिसमे कवि के निजी विचार और कही कही कथानक भी है और किसी प्रकार का काव्यात्मक ठाठ नही है। इसके द्वारा जिस वस्तु का आरभ किया गया है वह स्वातः सुखाय और सर्वशास्त्रसमंत तुलसी की विचरित रामकथा है।

उसमे रामचरित रूपी मानस या कथा के काल्पनिक वक्ताओ का कोई उल्लेख नही है और न कथा की अनतता या शिव-पार्वती-सवाद का उल्लेख है।

आमुख के पूर्वार्ध मे कुछ शब्दगत विशेषताएँ भी हैं। 'हरि' शब्द का अर्थ विष्णु लिया जाता है, जैसे हरिहर (विष्णु और शिव या विधि हरिहर- ब्रह्मा-विष्णु और शिव) शब्दो मे। जब हरि शब्द का अकेले प्रयोग होता है तब वह राम का पर्यायवाची है और उसका अर्थ भगवान् परब्रह्म या उपनिषदो का ब्रह्म आत्मतत्व है, जो कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव से भी महान् है। केवल एक स्थल मे (२०-४) उसका अर्थ कृष्ण है। हरि सज्ञक राम के मानवीय कर्मो को 'चरित' कहा गया है, 'लीला' नही। अंत मे धार्मिक शब्दावली के अतर्गत 'गरीब', नेवाजु', 'साहिव' जैसे अरवी, फारसी के शब्द है जो कि आमुख के उस भाग मे और अयोध्याकाड मे ही आए है। शेष काव्य मे अन्यत्र नही। इसमे धार्मिक अभिमत कुछ अस्पष्ट सा है। उसकी मुख्य विशेषता एक प्रकार का समन्वय है जो भागवत पुराण से लिया गया है पर जो उससे आगे वढ़कर कवीरपथी कोटि तक पहुँच जाता है। जैसा विदित है, गुरु की ईश्वर रूप मे कल्पना, ईश्वर के नाम उच्चारण या जप की महिमा उसी पथ की विशेषताएँ है। और भी, यद्यपि कवीर अवतारवाद को नही मानते, पर वे अपने ईश्वर को राम हरि कहते हैं।

आमुख का उत्तरार्ध, पूर्वार्ध से भाव और रचना मे भिन्न है और कई वातो मे विरुद्ध भी। अव रामचरितमानस अर्थात् राम के चरित रूपी सरोवर का कवि परिचय देते है, जिसे मूलत. शिव ने पार्वती से कहा था और जो कई संवादो की

परंपरा से तुलसी को प्राप्त हुआ है, जैसे, शिव, कागभुशुंडि, याज्ञवल्क्य, भरद्वाज की शृंखला, जिनकी शरण कवि ग्रहण करता है। यह मानस अनेक कथाओ का भंडार है जो सब सत्य है और उस नित्य रामायण से उत्पन्न है जो शिव के मुख से उत्पन्न हुई थी, क्योकि राम के अवतार अनेक हैं, उनकी कथा भी अनत है उनके नरचरित भागवत पुराण के कृष्ण के चरितों के समान उनकी माया की लीला या क्रीड़ा है।

ग्रथ के इस भाग को समझने मे कठिनाई होती है। सपूर्ण काव्य के साथ मिलान करने से और विशेषत. सातवे काड से तुलना करने पर ही, जो यहाँ अवश्य विवक्षित है, इस प्रसग को समझा जा सकता है। अतएव यह भाग सबसे अंत मे लिखा गया होगा। वस्तुत· इसमे ग्रंथकर्ता ने अपने काव्य के विभिन्न भागो के पारस्परिक विरोधो को मिटाने का और उसे एकात्मकता का रूप प्रदान करने का भारी प्रयत्न किया है।

*

तुलसी की सांस्कृतिक चेतना

सुरेशचंद्र झा किंकर

'रामचरितमानस' भारतीय मनीषा की संस्कृतिसम्पन्न आध्यात्मिक उपलब्धि है। इसने हिंदी का ही नही सम्पूर्ण भारतीय साहित्य का भी गौरव बढ़ाया है। 'मानस' हिंदी साहित्य गगनागन का एक जाज्वल्यमान नक्षत्र है, जिसके प्रकाश का वर्णन करना दीप्त दिवाकर को दीपक दिखाना है। वह भूमि धन्य है, जिसमे तुलसीदास जैसे सत कविसम्राट् ने जन्म लिया और वह साहित्य धन्य है, जिसके अचल मे 'रामचरितमानस' जैसा सस्कृतिसपन्न, अद्भुत, अप्रतिम, अविनश्वर ग्रथ-रत्न देदीप्यमान है।

अगर कवि रागी होता है तो भक्त अनुरागी और सत विरागी। कवि होना अगर भाग्य है तो भक्तकवि होना एक सद्भाग्य और संत होना अहोभाग्य है। तुलसी एक ही साथ भक्त, कवि और सत—तीनो ही थे। कवि के कवित्व, भक्त की भक्ति और सत के सतत्व की त्रिवेणी 'मानस' के सास्कृतिक उत्तुंग-शृग से नि.सृत होकर भारत की भावभूमि पर कल्-कल्, छल्-छल् निनाद करती हुई प्रवाहित हो रही है।

कवि परिभू-स्वयंम्भू वेदव्यास ने भारतीय संस्कृति के मूलभूत तात्विक सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए कहा.—

"अष्टादश पुराणेपु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकार. पुण्याय पापाय परपीडनम्॥"

अर्थात् अठारह पुराणो के अन्तर्गत व्यासजी के मुख्य दो ही वचन है—परोपकार से बढकर दूसरा पुण्य नही है और परपीडन से बढकर कोई अन्य पाप नही। प्रात.स्मरणीय सत तुलसी ने भी अपने 'रामचरितमानस' मे इसी सास्कृतिक तथ्य की उद्घोषणा करते हुए कहा है :—

"परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥"

इसी को गुजराती सत नरसी मेहता ने यो प्रस्तुत किया है—

"वैष्णवजन तो तेणे कहिए जे पीर पराई जाणे रे"

वेद, पुराण, शास्त्र महाभारत, गीता, रामायण—सभी ने इस सास्कृतिक मूलभूत तत्व की एक स्वर से पुष्टि की है। इतना ही नही, गीता से लेकर

गांधीवाद तक के सभी धर्मप्रवर्तकों ने भी परोपकार को पुण्य और परपीड़न को पाप कहा है।

गाधीवाद की भारतीय सस्कृति पूर्णत: सत्य, अहिंसा, प्रेम पर ही आधारित है। श्वेतावरी संन्यासी विनोबाजी की सस्कृति का आधारस्तभ तो 'सर्वोदय' ही है। सर्वोदय और कुछ भी नही, व्यापक प्रेम, उपकार, उन्नयन और उदय का ही प्रतीक है।

'रामचरितमानस' की भूमिका मे तुलसी ने मंगलाचरण स्वरूप दो उद्घोषणाएँ प्रस्तुत की है। पहली यह कि रामचरितमानस 'वर्णानाम् अर्थसंघानाम् रसानाम् छन्दसामपि' से सपुष्ट है और दूसरी यह कि 'नाना पुराण निगमागम समतम्' है। उपर्युक्त संस्कृत शब्द-सम्पन्न मगलस्वरूप दोनो ही घोषणाओ से मानसकार ने डके की चोट पर यह एलान कर दिया है कि अक्षरों, अर्थसमूहो, रसो, छदो तथा मंगलो की कर्त्री सरस्वतीजी एवं गणेशजी की मै वंदना करता हूँ। और आगे दूसरे श्लोक में उन्होंने कहा---वेद, शास्त्र से संमत तथा रामायण मे वर्णित एवं कुछ अन्य साधनो से उपलब्ध श्रीरघुनाथ जी की कथा को मै अपने अन्त.करण के सुख के लिये विस्तृत करता हूँ।

मंगलाचरण रूपी इस भावभूमि मे भारतीय संस्कृति के विशाल वट-वृक्ष में बीज समाए हुए है। यही सास्कृतिक वट-बीज रामचरित की उर्वर भूमि मे अकुरित होकर एव सत तुलसी की भक्ति का सिचन पाकर सपूर्ण रामायण की भावभूमि मे हरित, पल्लवित-पुष्पित एव विकसित-फलित हो रहा है।

संतशिरोमणि, भक्तचूडामणि, कवि-कुल-श्रेष्ठ तुलसीदास का आविर्भाव आज से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व हुआ था। इनका 'रामचरितमानस' तत्कालीन समाज की एक महत्वपूर्ण घटना है। केवल भारतीय साहित्य ही नही अपितु विश्व-साहित्य के अतर्गत जितना अधिक प्रचार 'रामचरितमानस' का हुआ, उतना और किसी ग्रंथ का नही। अबतक 'मानस' की लगभग एक करोड प्रतियाँ छप चुकी है। इसकी माँग न केवल भारत मे, अपितु विदेशो मे भी दिनों दिन बढ रही है। इसके अनेक अनुवाद अग्रेजी में हुए है। अग्रेजी के अलावा संस्कृत, फ्रेच तथा रूसी भाषाओ में भी इसके अनुवाद हो चुके है। 'मानस' अपनी अद्वितीय आभा से मानव मात्र को "सत्यं शिवं सुदरम" के सुदर्शन तथा "सीय राममय सब जग जानी" का दिव्य सदेश देता आ रहा है। 'मानस' की रचना 'वाल्मीकि रामायण' के समान ही कुल सात काण्डो मे हुई है। परंतु उसके छठे काण्ड का नामकरण जहाँ 'वाल्मीकि रामायण' मे 'युद्ध काड' है, वहाँ 'मानस' मे 'लंका कांड' है। 'मानस' का 'उत्तर काड' सर्वथा स्वतत्र है। उसका अधिकांश भाग मूलकथा से सवद्ध भी नही है। संत तुलसी ने बड़े कौशल के साथ जहाँ, एक ओर इतिहास और कल्पना का सुंदर

सामंजस्य स्थापित किया है, वहाँ दूसरी ओर कथानक की सर्वांग सुंदरता के साथ साथ भक्ति की अक्षुण्ण धारा भी प्रवाहित की है। इस ग्रंथ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसका व्यापक प्रचार-प्रसार सभी वर्गों के लोगो मे है। क्या विद्यालय–विश्वविद्यालय के शिक्षक-शिक्षार्थी, क्या मठ-मदिरो के पडे पुजारी, क्या खेत-खलिहान एवं कल-कारखानो में काम करनेवाले किसान मजदूर, क्या महल और झोपडी मे रहनेवाले राजा और रंक– सबको 'रामचरितमानस' ने समान रूप से अनुप्राणित किया है। उत्तर भारत मे पंजाब से लेकर बिहार तक की हिंदू जाति का तो यह जीवन सर्वस्व और कंठहार है। वहाँ किसी भी हिंदू का ऐसा घर नही मिलेगा, जिस घर मे 'रामचरितमानस' की कम से-कम एक प्रति न हो। आज केवल उत्तर भारत ही नही, वरन् सपूर्ण भारत मे––कश्मीर से कन्याकुमारी तक और अटक से कटक तक 'रामचरितमानस' का व्यापक प्रचार हो रहा है। 'रामचरितमानस' के सास्कृतिक मूल्यो और रामायण की आदर्श परपराओ के प्रति अपनी प्रबल आस्था को व्यक्त करने के लिये १९७३-७४ में 'रामचरितमानस' की चतु.शती सपूर्ण देश में मनायी जा रही है। इस संदर्भ में देशभर मे पूरे वर्ष चलनेवाले समारोहो की योजना बनाने के लिये एक राष्ट्रीय समिति का गठन भी किया गया है। आज क्या देश, क्या विदेश––सर्वत्र 'श्रीरामचरितमानस' चतु.शती समारोह सोल्लास मनाया जा रहा है। 'हरे राम, हरे कृष्ण' की धुन आज विदेशो मे भी मची हुई है। काशीस्थित रामनगर के रामलीला-मैदान मे ही रामलीला (राम की लीला) जनता को आध्यात्मिक तथा सास्कृतिक चेतना से ओतप्रोत नही करती, वरन् संपूर्ण भारत आज मर्यादा पुरुपोत्तम राम के जीवन चरित से लाभान्वित हो रहा है। अयोध्या, मथुरा, वृदावन, काशी तथा मिथिला की रामलीला मंडिलियाँ, भारतीय सस्कृति की धरोहर शक्ति, शील तथा सौंदर्य से समन्वित भगवान् राम के भव्य जीवन चरित्र की झाकियाँ संपूर्ण भारत मे घूम घूम कर कर रही है। साहित्यिक पक्ष हो या रातनीतिक, सामाजिक पक्ष हो या ध र्मिक, दार्शनिक पक्ष हो या आध्यात्मिक, जिस किसी भी दृष्टि से हम 'मानस' को देखे, उसी दृष्टि से यह एक अभूतपूर्व, अद्वितीय ग्रथ सिद्ध होता है। सत साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् डा० अम्बाशकर नागर कहते हैं––"कवि-कुल-कमल-दिवाकर भक्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास की अमर कृति 'रामचरित-मानस' हिंदी साहित्य की एक ऐसी अनुपम कृति है कि उसे हम जिस दृष्टि से भी देखना चाहें देख सकते है। प्रत्येक दृष्टि से वह अद्भुत, अप्रतिम ही दिखाई देगी।※"

※ भारतीय जीवन की आचार सहिता 'रामचरिमानस', राष्ट्रवीणा : मानस चतु.शती विशेषांक : पृष्ठ ४८, डा० अम्बाशकर नागर।

'मानस' मृत्युलोक का कल्पवृक्ष है, भारतीय संस्कृति का संवाहक है। 'मानन' की यह सास्कृतिक पृष्ठभूमि बहुचर्चित तथा बहुप्रशसित है। संत तुलसी का यह सास्कृतिक चेतनामय महाकाव्य हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है, जो अन्य भाषा साहित्यो के लिये ईर्ष्या की वस्तु हो सकता है। 'मानस' की सांस्कृतिक चेतना से आचार्य सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के मन.प्राण इतने प्रभावित एव अनुप्राणित हो उठते है कि मुँह से ये उद्गार फूट पडते है —"मै बगाली हूँ। मैं अपनी बगाली जाति के लिये यह दुर्भाग्य समझता हूँ कि तुलसी जैसे महापुरुष हमारे प्रदेश मे प्रादुर्भूत नही हुए। कुछ कुछ भाषा के पर्याय के कारण हम तुलसीदास को अपना नही सके। ··· ·अपने व्यक्तिगत जीवन मे मैने उनको ऊँचे-से-ऊँचे आसन पर बिठाकर अपने आपको उनका दास ही माना है।"*

भारतीय सस्कृति की परपरा अति प्राचीन है। इस सबध मे व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, बाण भट्ट, भवभूति आदि कवियो तथा नाट्यकारो एवं कुमारिल भट्ट, शकराचार्य, रामानुजाचार्य प्रभृति आचार्यो के नाम बड़े ही सम्मान व गौरव के साथ लिए जा सकते है। भारतीय सस्कृति की एव परपरा मे तुलसी एक 'नूतन किन्तु बेजोड़ कडी है। सत तुलसी को अगर भारतीय सस्कृति का अमर गायक कहा जाय, तो किचिन्मात्र भी अत्युक्ति नही होगी। भारतीय साहित्य व सस्कृति के वयोवृद्ध विद्वान् डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने एक जगह ठीक ही कहा है —"········तुलसी ने एक तीसरे स्वरूप को भी उरेहा है। वह है भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन मे अनादिकाल से प्रवाहित रामतत्व, जिसके माध्यम से तुलसीदास ने अपने समय के तमाम वैमत्यो, तनावो और उलझनो को समेटकर सम्पूर्ण समाज के ऐतिहासिक सास्कृतिक प्रवाह को अनन्त विस्तार और उत्तरोत्तर ऊर्ध्वगामी दिशा दी है।"**

मानसकार तुलसी एक सामान्य व्यक्ति थे। पारिवारिक उपेक्षा एवं सामाजिक भर्त्सना मे जीनेवाले, पत्नी प्रेम पर दीवाने बनकर सामाजिक मर्यादा को तिलाजलि देनेवाले प्रेमोन्मत्त जीव थे। साँप को रस्सी और मुर्दे को नाव समझकर लोकलाज त्यागकर गाढी निद्रा मे लीन अपनी पत्नी से आधी रात मे मिलने-वाले पहले दरजे के कामातुर स्त्रैण थे। तभी तो उनकी स्त्री ने यह कहकर उन्हे फटकारा था :—

* 'गुसाई तुलसीदास', पृष्ठ: १६ आ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या।
** 'हिंदी प्रचारक पत्रिका, मई-जून १९७३ [illegible]।
डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

"लाज न आवत आपको, दौरे आए साथ।
धिक् धिक् ऐसे प्रेम को, कहा कहौ मै नाथ॥
अस्थि चर्ममय देह मम, तामे एती प्रीत।
जो होती श्रीराम मे, काहे को भवभीति॥"

पत्नी के ये शब्द उन्हें वाण के समान लगे और उसी समय राग रंग मे डूबे अनुरागी तुलसी वैरागी बनकर घर से निकल पड़े। इसी कामातुर तुलसी का 'काम' आगे चलकर उनका 'राम' बन गया। तुलसी ने 'काम' से जूझकर ही 'राम' पाया है।

तुलसी ने युगीन वैषम्यो को खुलकर देखा था, प्रत्येक अनुभव को छककर पिया था, और पीकर रस संग्रह किया था। क्या लोक, क्या वेद, क्या परपरा, क्या पुराण, क्या धर्म, क्या जीवन और क्या जगत्—प्रत्येक के उलझाव को उन्होने समझा था। इसीलिये तो साहित्यकार के दायित्व को वहन करने के लिये तुलसी ने लोकनायक का विरुद लिया था। ऐसे लोकनायक के 'मानस' की समाजचेतना को समझने के लिये उनके युग पर एक विहगम दृष्टि डालना अप्रासंगिक न होगा।

भारत पर मुसलमानो, तुर्को, पठानो और ईरानियो के आक्रमण के पूर्व ही प्राचीन भारतीय सस्कृति के महान् पुरुष भारतीय संस्कृति का उद्घोष अपनी अपनी काव्यात्मक वाणी द्वारा एव वेद-शास्त्र-समत गभीर विचारो द्वारा कर चुके थे। तत्कालीन समाज मे सुख-शाति, आचार-विचार, नियम-निष्टा, मान-प्रतिष्ठा, समानता-एकता, सभ्यता-सस्कृति की स्थिति इतनी दयनीय नही थी। किंतु वाद मे भारत पर मुसलमानो, तुर्को, पठानों, ईरानियो के भयकर आक्रमण हुए। मुहम्मद गोरी, महमूद गजनवी, तैमूरलग, नादिरशाह के लोमहर्षक आक्रमणो को भारत कभी भूल नही सकता। आततायियो के इन आक्रमणो से भारतीय सस्कृति को जबरदस्त चोट पहुँची। इस चोट के फलस्वरूप भारतीय सभ्यता और संस्कृति छिन्न भिन्न हो गई। इस छिन्न भिन्नता के कारण भारत की एकता की कमर टूट गई। सपूर्ण देश में वर्गवाद, वर्णवाद, धर्मवाद, सप्रदायवाद का विष फैल गया। हिंदू जाति त्राहि त्राहि करने लगी। सबको रोटी, वेटी और चोटी बचाने की चिंता होने लगी। हिंदुओ के सामने ही उनके मंदिर और मूर्तियाँ बडी बेरहमी के साथ तोडी जाने लगी। उनके गुरुजनो, इष्टजनों के अपमान उनके समक्ष ही किए जाने लगे। धन-जन की अपार क्षति होने लगी। उनकी बहू बेटियो की अस्मत खतरे मे पड गई। इतना ही नही, देश की स्थिति इतनी दयनीय और शोचनीय हो गई कि—कहाँ जाएँ, क्या करे—यही विकट समस्या सबके सामने खडी हो गई। समाज तथा धर्म के ठेकेदार बाह्याडबरी, नकली साधु संन्यासी भी चुप कैसे वैठे रहते? ढोगी साधु-संत, पाखंडी सिद्ध-नाथ, भ्रष्टाचारी निर्गुणिए तथा अनाचारी अलख निरंजनपंथी—सभी मिलकर अपने अपने चमत्कारों एवं आडवरों से भोली भाली हिंदू जनता को

ठगने लगे। नारी की स्थिति और भी करुणापूर्ण हो गई थी । वह मात्र भोगविलास का साधन वनकर रह गई थी। समाज की स्थिति इतनी दयनीय हो गई थी कि किसान के पास खेती करने के लिये खेत नही, वणिक् के पास व्यवसाय करने के लिये वाणिज्य नही। सभी लोग दरिद्र, निराश, दुखी, हताश और हतप्रभ हो गए थे।

इस निरीह और निर्वल, थकी और हारी जाति के लिये एकमात्र सबल 'निर्वल के वल राम' रह गए थे। 'हारे को हरि नाम' के सिवा और दूसरा चारा ही क्या रह गया था ? इस दारुण परिस्थिति मे एक ऐसे लोकनायक की आवश्यकता थी जो हतप्रभ और दिग्भ्रात हारी हुई हिदू जाति को सही रास्ता वता सके। उसका मार्गदर्शन कर सके। ऐसे समय मे तुलसी ने 'निर्वल के वल राम' को अपना आराध्य-देव मानकर 'रामचरितमानस' महाकाव्य का प्रणयन किया। इस 'रामचरितमानस' मे तुलसी ने भारतीय सस्कृति की गरिमा से सपन्न मर्यादा पुरुषोत्तम राम का आदर्श जीवन जनसमुदाय के समक्ष रखा। डा० भगीरथ मिश्र के शब्दो मे :—'भारतीय संस्कृति के क्षेत्र मे गोस्वामी तुलसीदास जी की महत्वपूर्ण देन है। उनकी रचनाओ में जन्म से लेकर मृत्यु पर्यत के सस्कारो का वर्णन है। उत्सव, समारोह, विश्वास तथा रूढियो का उनका चित्रण मानो लोकजीवन का यथार्थ प्रवाह हमारे सामने प्रस्तुत करता है। ये चित्रण जैसे हमारे जीवन के चित्रण है। परतु राम और सीता कही भी क्यो न हो, वे हमारी सस्कृति और शिष्टाचार के आदर्श मानव और मानवी है।'[1] इस तरह आदर्श राम के चरित्र को जनता के सामने रखकर विनाश के अतिम कगार पर खड़ी जनता को पतन के महागर्त मे गिरने से तुलसी ने वचाया। भारतीय सस्कृति की ढहती हुई इमारत को धर्म, मर्यादा तथा शील के 'सीमेट' से जोड़कर उन्होने मजबूत बनाया। नीति न्याय की चेतना से जन-जीवन को चेतनामय वनाया। भारतीय जनता मे आमूलचूल व्याप्त भाँति भाँति की विरोधिनी सभ्यताओ तथा सस्कृतियो मे समन्वय स्थापित किया। वही पुरुष लोकनायक के रूप मे जनमानस के सिहासन पर अधिष्ठित हो सकता है, जो नाना विरोधिनी सस्कृतियो मे समन्वय स्थापित कर सके। तुलसी मे समन्वय की विराट् क्षमता थी। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं :—"लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके। क्योकि भारतीय जनता मे परस्पर विरोधिनी सस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ, आचारनिष्ठा और विचार पद्धतियाँ प्रचलित है। इस दृष्टि से देखा जाय तो बुद्धदेव समन्वयकारी थे, गीता मे समन्वय की चेष्टा है। 'रामचरितमानस' मे तुलसी ने समन्वय किया है। अतः

१. भारतीय सस्कृति के कवि गोस्वामी तुलसीदास, 'राष्ट्रवीणा' 'मानस' चतु:शती विशेषाक : पृष्ठ ३६, डॉ० भगीरथ मिश्र।

तुलसीदास भी लोकनायक है।"[1] इन तथ्यो से इस बात की पूर्णत. पुष्टि होती है कि संत तुलसी भारतीय सस्कृति के अमर गायक है। सस्कृति के इस गायक की गेयता का स्वर और लय कभी मद नही पड़ सकती।

भारत के मध्यकाल मे तीन महान् विभूतियाँ हुई--सम्राट अकवर, महाराणा प्रताप और सत तुलसीदास। भारत का यह दुर्भाग्य है कि इन तीन महान् विभूतियो का एक साथ मेल नही हुआ। अकवर की विद्या-वुद्धि और कार्य-क्षमता, महाराणा की वीरोचित कर्मशक्ति और देशभक्ति एव तुलसीदास की भगवद्भक्ति और समन्वय-शक्ति का यदि एक साथ मिलन हुआ होता तो भारत को आज इस विपन्न अवस्था से नही गुजरना पड़ता। आचार्य सुनीतकुमार चाटुर्ज्या एक स्थान पर कहते है :— "अकवर जनता के लिये केवल अतीत की कहानी के न्यायी वादशाह वन गए है। प्रताप की देशभक्ति विद्यालयो मे वच्चो को सिखाने की वस्तु वन गई है। पर तुलसी पीढियो से हमारे हृदय, सामाजिक बोध-विचार और हमारी आध्यात्मिक अनुभूति को अपने अमर ग्रथो द्वारा द्योतित कर रहे है। उत्तर भारत के हिंदुओ के मन मे सस्कृति और अपने हिंदूपन का यदि कुछ भी अभिमान हो, तो उसके लिये उन्हे गोस्वामी तुलसीदास का आभारी होना चाहिए।"[2]

सत तुलसी ने अपने नाम से कोई संप्रदाय नही चलाया, क्योकि सप्रदाय की साप्रदायिकता विश्ववधुत्व के मार्ग मे सवसे वडी वाधा है। साप्रदायिकता सकुचितता की ही द्योतक और पोषक है जिससे हम अखिल विश्व को एकता के सूत्र मे नहीं वाँध सकते। साप्रदायिकता अपने मे कितनी ही आदर्शोन्मुखी क्यो न हो, तो भी आखिर मे उसमे संकीर्णता आ ही जाती है। कवीर, नानक आदि संतो ने हिंदू मुसलमान आदि अनेक धर्मवालो को एक करने की चेष्टा की। परिणाम यह हुआ कि वे धर्म तो वने ही रहे, साथ ही कवीरपथ, नानकपथ आदि नए पथ और नए संप्रदाय वढ गए। सवको समेटकर चलनेवाले तुलसी ने कदाचित् इसीलिये सप्रदाय वनाने की कभी चेष्टा नही की। जिस उद्देश्य के आधार पर तुलसी मत का प्रचार हुआ है, उसी उद्देश्य को लेकर रामकृष्ण मिशन के साधु सज्जन, आर्यसमाज के कार्यकर्तागण, थियोसाफी के प्रेमीगण आदि अपनी ओर जनसमूह को आकृष्ट व प्रभावित करने का प्रयत्न कर रहे है। परन्तु उनके सिद्धातो को वह लोकप्रियता नही मिल पाई है जो तुलसीमत को मिली है। लोकधर्म मे जो आवश्यकता विवेक की है, वही वैराग्य की भी है। वही धर्म विश्वधर्म कहा जा सकता है जो त्याग और वैराग्य की भित्ति पर स्थित हो। त्याग और वैराग्य के विना विश्व मे स्थायी

१—लोकनायक तुलसीदास, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी।
२—'गुसाईं तुलसीदास' पृष्ठ, १७, डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या।

शाति स्थापित ही नही हो सकती। रावण के समान तपस्वी तथा याज्ञिक और कौन हो सकता है ? किंतु उसके तप और यज्ञ याग उसको भोगविलास, ऐश्वर्य-वृद्धि और अजेयता के लिये थे, त्याग और वैराग्य के लिये नही। यही कारण है कि जगत् मे उसके कारण सकट ही उत्पन्न हुआ। साथ ही अत मे भगवान् को उसके यज्ञ को विध्वस करना पडा। हमे तो उस त्याग और वैराग्य की आवश्यकता है जो हमे लोकसेवा का मत्र पाठ पढाए। यह सपूर्ण जगत राममय है, अत. लोकसेवा ही रामसेवा है। परतु यह तभी सभव है जब मनुष्य भोगविलास और सुख-सपत्ति की आशा छोड़ दे। ऐसे धर्मशील व्यक्ति के पास सारो सुख सुविधाएँ—जिनसे इहलोक के साथ साथ परलोक भी बनता है, उसी तरह स्वत. दौडी चली आती है, जिस तरह समुद्र के पास बिना बुलाए नदियाँ।

हमारा विवेकबल कितना ही प्रबल क्यो न हो, फिर भी वह हृदयबल की अपेक्षा न्यून ही कहा जायगा। महात्मा गाँधी ने ठीक ही कहा है:—"बुद्धिबल से हृदयबल सहस्रश. अधिक है।"[1]

तुलसी भारतीय जनजीवन मे सास्कृतिक जागृति की ज्योति जगानेवाले युगद्रष्टा और युगस्रष्टा है। उनमे युग की नाडी को पहचानने की अद्‌भुत् शक्ति थी और नाडी को पहचान कर तदनुरूप औषधोपचार करने की अपूर्व क्षमता भी। यही कारण है कि युगद्रष्टा के रूप मे उन्होने अपने युग मे व्याप्त सस्कृतिविरोधिनी जाति पाँति, छूत-अछूत, ऊँच नीच, भेद भाव, वर्ण-वर्गवाद, निराशावाद, धर्म अध्यात्म से पराङमुख जनसमाज, शीलमर्यादा से हीन तथा भोगविलास के दलबल मे आकण्ठमग्न जन-मानस—सबको बड़ी बारीकी के साथ करीब से देखा, सुना और परखा। सत तुलसी जिस युग मे पैदा हुए उसमे विषयी जीवो की भरमार थी। कलि वर्णन मे मानो उन्होने अपनी ही सामाजिक परिस्थिति का चित्र खीचा है। वे कहते है :—

"नारि बिबस नर सकल गुसाईं। नाचहिं नट मरकट की नाईं॥
गुन मदिर सुदर पति त्यागी। भजहिं नारि पर पुरुष अभागी॥"

उत्तर काण्ड: ९९/४

संसार के समस्त विषयो मे सबसे प्रबल है—कामोपभोग, और पुरुषमात्र के लिये इसका प्रमुख साधन है नारी। यही कारण है कि सत तुलसी ने विषय-वासना कि निंदा अपना प्रधान लक्ष्य बनाया और नारी निंदा मे कोई कसर नही रखी। जिन्हे स्त्रियो का नियत्रण अभीष्ट है वे तो सत तुलसी की पक्तियो की दुहाई देकर अब भी "ढोल गँवार सूद्र पसु नारी" पर दो चार बाते तुलसी के विरोध मे

१—'धर्मपथ' पृष्ठ : १२५।

लिख ही देते हैं । इन्होने पाप को रोग कहा है और मोह को उन सब रोगो का मूल बताया है । कचनमोह से भी बढकर कामिनीमोह होता है । कचनमोह अगर प्रबल है तो कामिनीमोह प्रबलतर ही नही, प्रबलतम है । इतना होने पर भी यह कहा जा सकता है कि तुलसी ज्ञानपूर्वक नारी के निंदक नहीं थे । गांधीजी कहते है—"'रामचरितमानस' मे स्त्री-जाति की काफी निंदा मिलती है, परतु उसी ग्रथ द्वारा सीताजी के पुनीत चरित्र का भी हमे परिचय मिलता है। बिना सीता के राम कैसे ? राम का यश सीताजी पर निर्भर है, सीताजी का रामजी पर नही । कौशल्या, सुमित्रा आदि भी 'मानस' के पूजनीय पात्र है । शबरी और अहिल्या की भक्ति आज भी सराहनीय है । रावण राक्षस था, मगर मदोदरी सती थी । ऐसे अनेक दृष्टात इस पवित्र भडार मे से मिल सकते है । मेरे विचार से इन सब दृष्टातो से यही सिद्ध होता है कि तुलसीदास जी ज्ञानपूर्वक स्त्रीजाति के निन्दक नही थे ।"[1]

युगस्रष्टा के रूप मे भी उन्होने सस्कृतिविरोधिनी तमाम बातो के विरुद्ध डटकर लोहा लिया था । तुलसी के इस जेहाद के फलस्वरूप सस्कृतिविरोधिनी सारी बुराइयाँ जाती रही । समाज मे सर्वत्र धर्म-अध्यात्म, एकता- बधुता, नियम-निष्ठा, सदाचार-अनुशासन, कष्ट-सहिष्णुता, सेवाव्रत, परोपकार आदि की पुन स्थापना हुई । सभी लोग आचार-विचार, नियम-निष्ठा, धर्म-मर्यादा, वेद-पुराण से समत मार्ग पर चलने लगे । जनजीवन निस्वार्थमय तथा सेवापरायण बन गया । ईर्ष्या-द्वेष को लोग भूल गए । सभी एक दूसरे से प्रेम और प्रीति रखने लगे । सभी सदाचारी, सुसस्कारी सुविवेकी, सहजधर्मावलम्बी बन गए व्यष्टि समष्टि के लिये, व्यक्ति समाज के लिये, एक अनेक के लिए मरने-मिटने लगे ।

'रामचरितमानस' कर्त्तव्यो की सर्वोत्कृष्ट पाठशाला है, जिसमे अखिल विश्व के शिक्षार्थी कर्त्तव्य का उत्तम शिक्षण प्राप्त करते हैं । 'मानस' की यह पाठशाला सर्वदेशीय, सर्वकालीन एव सार्वजनीन है । कर्त्तव्य की यह पाठशाला देश, काल, लिंग, जाति तथा सीमा से परे है । ऐसा प्रतीत होता है कि विश्व के किसी भी साहित्य मे कर्तव्य की ऐसी सुदर पाठशाला अब तक नही खुली है । समाज के विभिन्न सदस्यो के लिये ऐसा सागोपाग कर्त्तव्य-शिक्षण हमे सत तुलसीदास के 'रामचरितमानस' मे ही मिलेगा । समाज के हर क्षेत्र के लोगो का यह पुनीत कर्त्तव्य है कि रामचरित का व्यापक प्रचारप्रसार, श्रवण मनन, अध्ययनचिंतन भक्तिपूर्वक करें । इस संबंध मे श्री जेठालाल जोशी जी का कथन दृष्टव्य है.—"माताओ को चाहिए कि वे अपने बच्चो को बचपन से ही 'मानस' की कथा सुनाएँ । शिक्षक विद्यार्थियो को 'मानस' के पाठ पढाएँ । व्यापार और राजकीय क्षेत्र वगैरह भिन्न

१ 'बापू की कलम से' मे से साभार।

भिन्न व्यवसायों मे जुटे हुए व्यक्तियो को चाहिए कि वे 'मानस' से आचार-संहिता प्राप्त करके उसे अपने आचरण मे उतारे तथा सामान्य जनता के लिये शुद्ध जीवन जीने का मार्ग बताएँ ।"[१]

सत तुलसी के प्राय सभी पात्र आदर्श पात्र के रूप में चित्रित हुए है । पिता-पुत्र, माता-पति, पत्नी, भाई-भाई, मित्र-मित्र, गुरु-शिष्य, राजा-प्रजा, भक्त-भगवान्, आराधक-आराध्य, स्वामी-सेवक--इन सबके कर्त्तव्यो का सुदर सामंजस्य हमे 'मानस' मे मिलता है । डा० इंद्रनाथ मदान के शब्दो मे —"परिवार और व्यक्तित्व की दृष्टि से तुलसीदास ने जिन पात्रो की कल्पना की है वे सब ऐसे है जो आदर्श पिता, आदर्श पुत्र, आदर्श माता, आदर्श भाई, आदर्श सेवक और आदर्श मित्र का श्रेष्ठतम स्थान प्राप्त करते है ।"[२] इस ग्रथ मे त्रिविध परिवर्तन · विचार-परिवर्तन, हृदय-परिवर्तन, और जीवन-परिवर्तन के दर्शन हमे होते है । उदाहरणस्वरूप कैकेयी को ही लिया जाय । व्यक्तिगत क्षुद्र स्वार्थ से पथभ्रष्ट कैकेयी चित्रकूट पहुँचकर समष्टिगत हित के लिये घोर पश्चत्ताप करने लगती है, तब वे कितनी शिष्ट, सभ्य और सुसंस्कृत हो जाती है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दो में :--"भारतीय शिष्टता और सभ्यता का चित्र यदि देखना हो तो इस राज-समाज मे देखिए । कैसी परिष्कृत भाषा मे, कैसी प्रवचनपटुता के साथ उत्तर दिए जाते है । छोटे वडे की मर्यादा का पालन होता है । चित्रकूट मे राम और भरत का मिलन शील और शील, स्नेह और स्नेहनीति और नीति का मिलन है ।"[३] चित्रकूट में भरत और राम के मिलन के समय एक ऐसा शात, गंभीर और उदात्त वातावरण उपस्थित हो जाता है, जिस वातावरण की तुलना तीनों लोको के किसी भी शातिमय वातावरण से नही हो सकती । राम भरत के मिलन के अवसर पर ऐसा प्रतीत होता है कि सभी तीर्थ एवं उनके तटो पर तल्लीन ऋषि-महर्षि चित्रकूट मे उपस्थित हो गए है । उस समय की अद्भुत सौदर्यसृष्टि का वर्णन शब्दो से परे है। आचार्य शुक्ल जी ने भरत और राम की सभा को 'रामचरितमानस' की "आध्यात्मिक घटना"[४] बतलाया है । धर्म के इतने स्वरूपो की एक साथ योजना, हृदय की उदार व उदात्त वृत्तियो की एक साथ उद्भावना सत तुलसीदास के 'रामचरितमानस' मे ही संभव है । राम के द्वारा सीतात्याग व्यक्तिगत जीवन के स्थान पर समाज के कल्याण का कारण बन

१ 'राष्ट्रवीणा' के मानस चतु.शती विशेपांक के ४६ वें पृष्ठ पर ।
२ 'तुलसी · चितन और कला', पृष्ठ : ३०
३ 'गोस्वामी तुलसीदास', पृष्ठ ७१ ।
४ वही, पृष्ठ ७२ ।

जाता है। चाहे राम के वनगमन का प्रसंग हो, चाहे भरत के राजगद्दी त्याग का या फिर चाहे लक्ष्मण की अनन्य भ्रातृनिष्ठा का ही प्रसग हो—सर्वत्र हमे कर्त्तव्योचित उदात्त भवनाएँ ही दिखाई पडती है। भ्रातृनिष्ठा का भाव लक्ष्मण के रोम रोम मे स्पदित है। 'मानस' के लक्ष्मण की भ्रातृनिष्ठा वर्तमान युग के सदर्भो मे परखी जानी चाहिए, जिसमे चतुर्दिक् स्वार्थ और केवल स्वार्थ का बोलबाला है। हमारे देश का यह सबसे बड़ा दुर्भाग्य है कि आज भौतिक स'.न्नता ही मानवता का मापदड बनी हुई है। स्वार्थ के वशीभूत हो भौतिक सपन्नता से सपन्न बनने के लिये आज एक खून का भाई अपने भाई के गले पर छुरी चला रहा है। भ्रातृस्नेह के ऐसे सकट काल मे लक्ष्मण की भ्रातृनिष्ठा से हमे प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिए। राम के द्वारा शबरी के जूठे फलो का आस्वादन करना, केवट सरीखे सामान्य जन को गले लगाना, शरण मे आए हुए अपने शत्रु के भाई विभीषण तक को अपनाना, सुग्रीव जैसे प्रियाविरही एव भ्रातृप्रताडित को अपना अनन्य सखा बनाना, भालू बंदर जैसे प्राणियो की सहायता स्वीकार करना—ये सभी घटनाएँ हेय, तिरस्कृत, पददलित और निम्नवर्ग के लोगो के प्रति अपनत्व, ममत्व, स्नेह, सहानुभूति, प्रेमरीति की ही प्रतीक है। 'मानस' जनसमाज के लिये सर्वतोभावेन अनुकूल रचना है। हिंदू जनता के लिये यह वेद के समान है। कारपेंटर महोदय अंग्रेजी विश्वकोश का उद्धरण देते हुए कहते है—'गोस्वामी तुलसीदास की रचना जनसमाज के लिये इतनी अनुकूल पडी है कि उनके वचनों को जनता कहावतो की तरह प्रयोग करती है। इतना ही नही बल्कि सैद्धातिक दृष्टि से भी उनकी रचना बडी उत्कृष्ट है। वर्तमान समय मे हिदुत्व के अदर उनके उपदेशो का जो प्रभाव है वह अन्य किसी का नही। साप्रदायिक साधुओ की तरह उन्होने अपना निज का कोई सप्रदाय नही चलाया तथापि उनको भारत की तमाम हिंदू जनता अपने चरित्रनिर्माण और धार्मिक कार्यों मे एक बहुत ही आप्त और प्रामाणिक पथप्रदर्शक मानती है।"[1]

राजनीतिक दृष्टि से यद्यपि तुलसी का युग पूर्णत अधिनायकवाद का युग था, मगर इस राजशाही युग मे भी जिस प्रकार के आदर्श राजा की कल्पना की गई है, वह आज के इस लोकतत्र से कही उत्तम है। तभी तो राष्ट्रपिता महात्मा गाधी हमारे देश मे 'रामराज्य' स्थापित करना चाहते थे। यह हमारे लिये मनन चितन करने का विषय है कि वह रामराज्य कैसा सुदर और स्वस्थ रहा होगा, जिसकी स्थापना के लिये अतिम समय तक गाधी जी लालायित बने रहे। श्री रामचरित्र कितना ऊर्ध्वगामी, कितना उदात्त रहा होगा! गाधी जी ने अपने जीवन के

१ 'थियोलॉजी आव तुलसीदास', पृष्ठ २।

अंतिम क्षणो मे तीन तीन गोली खाने पर भी अपने होठों पर 'हे राम' ही उच्चरित किया था। यह भी विचारणीय प्रश्न है कि उन्होने 'हे राम' ही का उच्चारण क्यो किया, 'हाय राम' क्यों नही ?

संत तुलसी ने अपने 'मानस' में भारतीय सस्कृति का सार्वजनीन, सर्वग्राह्य एवं प्रामाणिक रूप चित्रित किया है। सर्वग्राह्यता धर्म के सार्वत्रिक तथा सनातन प्रभाव पर ही आधारित है। जो ग्रथ जितना ही धर्ममय होगा वह उतना ही शाश्वत, चिरतन और सनातन होगा। अत 'मानस' हमे यह बताता है कि अन्य वातो की अपेक्षा धर्म ही धारण करने की वस्तु है। कहा भी गया है "धार्यते इति धर्मः"—जो धारण किया जाय वह धर्म है। श्री राम ने दृढतापूर्वक इस धर्म को धारण कर अपने जीवन मे इसका निर्वाह किया है। इसके उदाहरण सपूर्ण 'रामचरितमानस' मे 'वालकाड' से लेकर 'उत्तर काड' तक भरे पड़े है। राम धर्म-आचार की दृढ़ता के कठोर हिमायती थे। इस धर्म के कारण राम ने अपने जीवन में कभी द्विमुखी बातो को फटकने नही दिया। खुद कैकेयी भी राम के इस गुण की मुक्त कंठ से सराहना करती हुई अघाती नही। राम एक बार जो वचन कहते थे, उसके पालन मे प्राणपण से सदैव कटिबद्ध रहते थे। एक बार का बोला हुआ वचन वचनपालन हेतु उनके लिये 'वेद वाक्य' हो जाता था। धर्म एक ऐसा सिक्का है जिसका एक पहलू है—सत्य, तो दूसरा है—त्याग। राम का जीवन धर्म के इन्ही दो पहलुओ—'सत्य और त्याग' से समन्वित था। सत्य-पालन के लिये उन्होंने राजगद्दी को तृणवत् समझा। यहाँ तक कि राम ने सीता त्याग की चरम-विरक्ति दिखाकर अपने जीवन मे कर्तव्य को सर्वोपरि स्थान दिया। सीता की पवित्रता के प्रति कोई अँगुली तक न उठा सके, इसके लिये उन्होने सीता जी की अग्नि-परीक्षा भी ली। राम का 'रामत्व' सती सीता के ही कारण हैं। राम और सीता के चरित्र परम पावन और आदर्शमय है। ऐसा पवित्र और आदर्शमय चरित्र हमारे लिए सर्वतोभावेन अनुकरणीय है। राष्ट्रपति डा० वी० वी० गिरि का कथन यहाँ द्रष्टव्य है :—"राम एक ऐसे आदर्श पुरुष है जो किसी भी परिस्थिति मे धर्मपथ से विचलित नहीं होते। ईश्वर की आराधना सदा से ही मै एक राम के रूप मे करता रहा हूँ। सीता का चरित्र एक उच्च आदर्श है जो हमारी महिलाओ के लिये अनुकरण करने योग्य है। मेरा विश्वास है कि सीता का मनोबल, उनके चरित्र की पवित्रता और उनकी धर्मपरायणता सबके लिए प्रेरणा-स्रोत वने रहेगे।"*

* भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति का 'मानस' के संवध मे सदेश।

भारत देश के विभिन्न प्रदेशों मे भी, यहाँ तक कि अहिंदी भाषा-भाषी प्रदेशों मे भी साधु-सज्जनो द्वारा, संत-महात्माओ द्वारा 'मानस' का प्रचार-प्रसार समय-समय पर होता रहा है। उत्तर भारत से दूर सुदूर-पश्चिम के अन्तिम छोर पर स्थित गुजरात जैसे अहिंदी भाषा-भाषी प्रदेश मे पूज्य राष्ट्रपिता महात्मा गांधीजी ने 'मानस' के प्रचार-प्रसार का वीडा उठाकर समस्त गुजरातवासियो को 'मानस' जैसे मान-सरोवर मे अवगाहन करने का अवसर प्रदान किया। गुजरात उनके इस कृत-कार्य को युग-युग तक याद करता रहेगा। डा० रणधीर उपाध्याय जी कहते हैं :—"आधुनिक युग मे गुजरात में 'मानस' और तुलसी को लोकप्रिय बनाने का श्रेय राष्ट्रपिता महात्मा गांधी को है। उन्हे राम का व्यक्तित्व और कृतित्व इतना उत्कृष्ट कोटि का और आदर्शसंपन्न प्रतीत हुआ कि उन्होने 'रामचरितमानस' से 'रामराज्य' की कल्पना अगीकार की और साबरमती आश्रम की दैनिक प्रार्थना के लिये "रघुपति राघव राजा राम। पतित पावन सीताराम।" की धुन अपनाई। यही नही, 'मानस' का पाठ करने के लिये उसे उन्होने हमेशा अपने पास रखा। सत्याग्रह आश्रम की स्थापना के अनंतर स्वर्गीय मोरेश्वर नारायण खरे द्वारा जब उन्होंने आश्रम की भजनावली का संपादन करवाया, तब उसमे तुलसी के कुछ दोहे, चौपाइयाँ और पद समिलित करवाए :

"परहित सरिस धरम नहिं भाई। परपीडा सम नहिं अधमाई ॥"
"जेहि कै जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलत न कछु संदेहू ॥"

इत्यादि कई सुप्रसिद्ध अर्धालियाँ भजनावली मे संकलित है। आश्रम मे गाधी जी स्वय रामायण का पाठ करते और अपने अतेवासियो को उसका पाठ करने का आदेश देते है ?[1]

सत तुलसीदास के 'मानस' के राम मे दैवी-रूप एवं नर-रूप, दोनो ही रूपो का 'मणि-काचन संयोग' हुआ है। 'विद्या ददाति विनय' वाली बात राम मे कूट-कूट कर भरी हुई है। हृदय को उद्वेलित, मन को विचलित एव शरीर को उत्तेजित कर देने वाली विषम परिस्थितियो मे भी विनय की प्रतिमूर्ति राम प्रशात महासागर की तरह शात-प्रशात ही रहते हैं। दीपक लेकर ढूँढने पर भी अखिल विश्व मे राम जैसे विनयी, शांत-मूर्ति, दिव्य पुरुष मिलना दुर्लभ है। राम की विनम्रता से गांधी जी बडे प्रभावित थे। यही कारण है कि गाधीजी जीवन भर विषम परिस्थितियो मे भी विनयी ही बने रहे, एक बेहतर इसान बने रहे। भारतीय विद्या के विशेषज्ञ डा० कामिल बुल्के के एक मित्र ने जब इडोनेशिया के एक मुसलमान भाई से यह पूछा कि—"आप रामायण क्यो पढते है ?" तो उन्होने उत्तर दिया—"मैं एक

१ 'राष्ट्रवीणा' 'मानस' चतु शती विशेपाक पृष्ठ १२९।

बेहतर इसान बनने के लिये रामायण पढता हूँ।" गाधीजी ने अपने देशवासियों को एक बेहतर इंसान बनाने के लिये ही रामायण पाठ का विशेष आग्रह रखा था। इस दिशा मे प्रात स्मरणीय भिक्षु अखंडानद जी ने भी 'मानस' का गुजराती भाषा मे अनुवाद करवाकर अहमदाबाद के 'सस्तु साहित्य यद्धक कार्यालय' द्वारा प्रकाशित कराया। इन दोनो ही सत-सज्जनो का प्रयास स्तुत्य है। हम सभी इनके ऋणी है।

'मानस' के राम और सीता के त्यागमय चरित्र ही भारतीय सस्कृति के भव्य-भवन के अधारस्तभ है। गाधीजी 'राम-सीता' के इसी सत्य और त्याग से प्रभावित तथा प्रेरित होकर त्यागमय जीवन स्वीकार करके सत्य की खोज मे जीवन के अंतिम क्षणो तक लगे रहे। कदाचित् गाँधीजी को अग्रेजो के अत्याचार के विरुद्ध सत्याग्रह करने की प्रेरणा रावण के समक्ष विभीषण द्वारा किए गए सत्याग्रह से ही मिली होगी। आचार्य शुक्लजी कहते है—"यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सबसे अधिक विस्तृत अधिकार रखनेवाला हिंदो का सबसे बड़ा कवि कौन है, तो उसका एकमात्र उत्तर यही ठीक हो सकता है कि भारत-हृदय, भारती-कठ, भक्त-चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास।"[1]

आज के इस भोग-रोगवादी वैज्ञानिक युग मे मानवचरित्र पर प्रश्नवाचक चिह्न लग गया है। मानवोचित चरित्र का अध.पतन हो रहा है। विशेषकर आज की इस नई पीढ़ी के बहुलाश नवयुवक, नवयुवतियो के जीवन के हर क्षेत्र मे शील-चरित्र का बड़ा ही दुष्काल पड़ गया है। उनके किसी भी कार्यकलाप का आज शील-चरित्र से कोई सबध नही रह गया है। आज हमारे देश मे आए दिन सर्वत्र चरित्र-हीनता के काले करनामे देखने सुनने को मिलते है। उनके तरह तरह के लज्जास्पद कुकर्मो से स्वय निर्लज्जता भी लजा रही है। अधिकाश छात्र छात्राओ की कोमल भावभूमि मे अनास्था व अनुशासनहीनता के बीज अकुरित हो रहे है। परिवार, समाज तथा राष्ट्र का चरित्र गलत दिशा की ओर उन्मुख हो रहा है। राष्ट्रीय चरित्र का नितात अभाव सपूर्ण देश मे दिखाई पड़ रहा है। अत. इस पारिवारिक, सामाजिक व राष्ट्रीय चरित्र के सक्रातिकाल मे 'रामचरितमानस' एक चुनौती है। आवश्यकता है इस शील और चरित्र से सपन्न ग्रथ 'मानस' के सर्वत्र व्यापक प्रचार-प्रसार की।

इस उदीप्त ग्रंथ का जितना ही प्रचार प्रसार होगा उतना ही अधिक मानव-जाति का उत्तरोत्तर कल्याण होगा। डा० भगीरथ मिश्र के अनुसार 'मानस' मे तुलसी ने तत्कालीन भारतीय समाज की अनेक समस्याओ को युग युग की समस्याओ के

१. 'तुलसी ग्रंथावली' भाग तृतीय की प्रस्तावना का पृष्ठ २४१।

रूप में देखकर उन्हें शाश्वत रूप से सुलझाने का प्रयत्न किया था।"[1] समाज के प्रत्येक वर्ग को सतुष्ट करनेवाला तुलसी का 'मानस' भारतीय संस्कृति की जाज्वल्यमान अमर कृति है। जबतक हिंदू धर्म और हिंदू समाज का अस्तित्व रहेगा, तबतक 'मानस' का स्थान अक्षुण्ण बना रहेगा।

संत तुलसी ने भारतीय संस्कृति से सपन्न 'मानस' कृति की रचना कर मानव-जाति के चारित्रिक उत्थान व सास्कृतिक उन्नयन के लिये बड़ा ही स्तुत्य कार्य किया है। भारतीय सस्कृति के अमर गायक तुलसी की यह सास्कृतिक चेतना युग-युग तक मानव जाति मे प्राण सचार करती रहेगी, मानव जाति का परित्राण और कल्याण करती रहेगी।

०॰०

१. तुलसी रसायन' पृष्ठ: १११।

रामपरक प्रबंधकाव्यों में नायक राम

डा० विष्णुदत्त शर्मा

मर्यादा पुरुषोत्तम राम खडी, अवधी, व्रज एव राजस्थानी भापाओ मे लिखे गए अनेक प्रवधकाव्यो मे नायक के पद पर प्रतिष्ठित है। नायक पद पर प्रतिष्ठित होने के लिये जितने भी शुभ गुणो की आवश्यकता है वे सभी हमे उनके व्यक्तित्व मे प्राप्त होते है। विनय, माधुर्य, त्याग, दक्षता, शुचिता, स्थिरता, उत्साह, आत्मसमान, शौर्य, दृढ़ता, तेजस्विता, एवं धार्मिकता, आदि गुण उनके चरित्र मे सर्वत्र वर्तमान है। यही कारण है कि राम के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर अनेक कवियो ने उनके चरित्र को प्रधान सवल वनाकर काव्य-सर्जना की एवं उन काव्यों मे सर्वत्र उनके आदर्श गुणो की छटा का प्रसारण किया है।

रामचरितमानस मे राम के चरित्र के सभी पक्ष आदर्श की भूमि पर प्रतिष्ठित है। उनका दिव्य रूप, अलौकिकता, सच्चरित्रता, विनयशीलता, वीरता, उदारता, दक्षता, आज्ञाकारिता आदि सभी गुण अनुकरणीय है। उनके जन्म होते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि ये अलौकिक पुरुष है। उनका रंग अद्भुत है, नेत्र सुंदर है तथा चार हाथ वाले है, जिसमे एक हाथ मे वे धनुष धारण किए हुए हैं :—

भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी।
हरषित महतारी मुनि मनहारी अद्भुत रूप विचारी॥
लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुध भुजचारी।
भूषन बनमाला नयन बिसाला सोभासिंधु खरारी॥[1]

आगे चलकर राम की अलौकिकता का परिचय और भी स्पष्ट रूप से मिलता है। माता कौशल्या ने शिशु राम को स्नान कराकर पालने मे सुला दिया और अपने इष्टदेव की पूजा के लिये स्नान करने चली गई। तत्पश्चात् उन्होने पूजा की एवं भगवान् को पकवान अर्पित किए और वे पकवान बनाने पुनः पाकशाला मे चली गई। परंतु जैसे ही पुनः पूजा के स्थान

१. रामचरित मानस, बालकांड, पृ० १४१, संस्करण २१।

पर गईं उन्होंने शिशु राम को भोजन करते हुए देखा। इस अलौकिकता को देखकर माता कौशल्या भयभीत होकर उस स्थान पर गईं जहाँ राम शयन कर रहे थे लेकिन उन्होंने वहाँ भी राम को सोते देखा। विस्मयातुर होकर पूजा के स्थान पर उन्होंने पुन राम को वही देखा। इस चमत्कार को देखकर कौशल्या का हृदय कंपित हो गया। इस प्रकार पालने एव पाकशाला दोनो स्थानो पर शिशु राम को देखकर वे भ्रमित हो गई :—

एक वार जननीं अन्हवाए। करि सिंगार पलना पौढाए॥
निज कुल इष्टदेव भगवाना। पूजा हेतु कीन्ह अस्नाना॥
करि पूजा नैवेद्य चढावा। आपु गई जहँ पाक वनावा॥
वहुरि मात तहवाँ चलि आई। भोजन करत देख सुत जाई॥
गै जननी सिसु पहिं भयभीता। देखा वाल तहाँ पुनि सूता॥
वहुरि आइ देखा सुत सोई। हृदयँ कप मन धीर न होई॥
इहाँ उहाँ दुइ वालक देखा। मतिभ्रम मोर कि आन विसेषा॥
देखि राम जननी अकुलानी। प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी॥[1]

इसके पश्चात् तो उन्होंने विराट् स्वरूप को ही दिखला दिया —

देखरावा मातहिं निज अद्भुत रूप अखड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि व्रह्मड॥[2]

धनुष टूटने के पश्चात् परशुराम के क्रुद्ध होने पर राम ने अपने मर्म का आभास उनको करा दिया तव परशुराम ने राम की अलौकिकता को जानने के लिये कहा :—

राम रमापति कर धनु लेहू। खैंचहुँ मोर मिटै सदेहू॥
देत चापु आपुहिं चलि गयऊ। परसुराम मन विसमय भयऊ॥[3]

इस प्रकार मानस मे राम की अलौकिकता उनके चरित्र को असाधारण वना देती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राम वस्तुत. अलौकिक नायक हैं। अत: उनके समस्त गुण अनुकरणीय एव आदर्श के पद पर प्रतिष्ठित है।

सच्चरित्रता राम के व्यक्तित्व मे प्रधान स्थान रखती है। यही कारण है कि उनको मर्यादा पुरुषोत्तम के पद पर प्रतिष्ठित किया गया है। रामचरित-मानस मे राम की सच्चरित्रता एवं मर्यादा का भान उस स्थल पर होता है जब

१. रामचरित मानस, वालकांड, पृ० १४६, २१वां संस्करण।
२. वही, दोहा २०१
३. वही, पृ० १८६

वे पुष्पवाटिका मे सीता को देखकर अपने लघुभ्राता लक्ष्मण से कहते हैं कि मुझे अपने मन पर पूर्ण विश्वास है कि मैने स्वप्न मे भी किसी स्त्री को नही देखा है :—

रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपंथ पगु धरइ न काऊ ।।
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहिं सपनेहुँ परनारि न हेरी ।।[१]

इसके पश्चात् वे अपने जैसे क्षत्रिय पुरुष का होना भी दुर्लभ बतलाते हैं। वे लक्ष्मण से कहते है कि जो कभी शत्रु को पीठ नही दिखाते, कभी दूसरे की स्त्री को दृष्टि मे नही लाते, जिनके यहाँ से माँगनेवाले बिना दान लिए नही जाते ऐसे श्रेष्ठ क्षत्रिय बहुत ही कम मिलते है .—

जिन्हकै लहहिं न रिपु रन पीठी। नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी ।।
मंगन लहहिं न जिन्ह कै नाही। ते नरवर थोरे जग माही ।।[२]

राम की उदारता भी उनके नायकत्व को निखार देती है। जिस समय भरत अपनी माता एवं गुरुजन वृद के साथ चित्रकूट पर राम को अयोध्या में लौटा लाने के लिये जाते है, उस समय रामके हृदय में कैकेयी के प्रति दुर्भाव जागृत नही हुआ अपितु उन्होने सरल स्वभाव एवं भक्ति भाव रखते हुए अपनी माता से भेट की। इससे अधिक उदारता उस समय स्पष्ट होती है जब राम कैकेयी के चरणो में गिरकर बार बार उनको सात्वना दिलाते है और अपने वनवास को केवल प्रारब्ध का ही योग बतलाते है :—

देखी राम दुखित महतारी। जनु सुबेलि अवली हिम मारी ।।
प्रथम राम भेटी कैकेई । सरल सुभायँ भगति मति भेई ।।
पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी ।।
भेटीं रघुबर मातु सब करि प्रबोधु परितोषु।
अब ईस आधीन जगु काहु न देइअ दोषु ।।[३]

'मानस' मे राम माता-पिता की आज्ञा का पालन करना अपना धर्म समझते है। राम के राज्याभिषेक का निश्चय होने के पश्चात् कैकेयी के द्वारा दशरथ से रामवनगमन का वरदान माँगने पर राम अपने पिता की आज्ञा का पालन तत्काल करते है। उनको राज्य का लोभ किंचित् भी स्पर्श नही कर पाता और वे वनगमन की तैयारी मे सलग्न हो जाते हैं :—

१. वही, पृ० १६२
२. वही
३. रामचरितमानस, अयोध्याकाड, पृ० ३६१, २१ वाँ संस्करण

मन मुसुकाइ भानुकूल भानू। रामु सहज आनंद निधानू ॥
बोले वचन विगत सब दूपन। मृदु मजुल जनु बाग विभूपन ॥
सुनु जननी सोइ सुतु बडभागी। जो पितु मातु वचन अनुरागी ॥
तनय मातु पितु तोपनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा ॥[1]

'मानस' मे राम की विनयशीलता तब स्पष्ट होती है जब राम धनुष तोड़ देते हैं एव परशुराम उन्हे कटु वचन कहते हैं तथा धनुष तोड़नेवाले को पूछते हैं उस समय वे बडे विनयशील एव शात होकर आदरपूर्वक उत्तर देते हैं :—

नाथ सभुधनु भंजनिहारा। होइहि केउ एक दास तुम्हारा ॥
आयसु काह कहिअ किन मोहि। सुनि रिसाइ बोले मुनि कोही ॥[2]

वे लक्ष्मण के वचनो से क्रोधित परशुराम को शाति एवं विनयशीलता से संतुष्ट करते हैं। इससे उनकी विनयशीलता का परिचय मिलता है :—

अति विनीत मृदु सीतल बानी। बोले राम जोरि जुग पानी ॥
सुनहु नाथ तुम्ह सहज सुजाना। बालक बचनु करिअ नहि काना ॥
बररै बालकु एक सुभाऊ। इन्हहि न सत विदूपहि काऊ ॥
तेहि नाही कछु काज बिगारा। अपराधी मै नाथ तुम्हारा ॥[3]

वीरता उनके व्यक्तित्व मे कूट कूट कर भरी हुई है। 'मानस' में राम और रावण के परस्पर युद्ध मे, राम की वीरता का वर्णन मिलता है। जिस समय रावण ने राम के रथ घोडो को मार दिया उस समय राम ने क्रोध करके वीरता प्रदर्शित की। रावण के मस्तक एव भुजाओं को राम बार बार काटते थे और वे फिर नवीन हो जाते थे। इस युद्ध मे राम की वीरता का वर्णन भली प्रकार मिलता है —

तुरग उठाइ कोपि रघुनायक। खैंचि सरासन छांडे सायक ॥
रावन सिर सरोज बनचारी। चलि रघुवीर सिलीमुख धारी ॥
दस दस बान भाल दस मारे। निसरि गए चले रुधिर पनारे ॥
स्रवत रुधिर धायउ बलवाना। प्रभु पुनि कृत धनु सर संधाना ॥
तीस तीर रघुवीर पवारे। भुजन्हि समेत सीस महि पारे ॥
काटतही पुनि भए नवीने। राम बहोरि भुजा सिर छीने ॥
प्रभु बहुबार बाहु सिर हए। कटत झटिति पुनि नूतन भए ॥

१. वही पृ० २५८
२ वही, बालकाड प० १८३
३. रामचरितमानस, पृ० १८७, बालकांड, संस्करण २१

पुनि पुनि प्रभु काटत भुज सीसा। अति कौतुकी कोसलाधीसा॥
रहे छाइ नभ सिर अरु बाहू। मानहुँ अमित केतु अरु राहू॥[1]

रावण की मृत्यु के समय राम की वीरता का रूप और भी निखर आया है। उन्होने इकतीस बाण रावण की ओर चलाए, जिनमे से एक बाण ने नाभि के अमृत को सोख लिया और दूसरो ने रावण की भुजाओं एवं सिरों को समाप्त कर दिया :—

खैंचि सरासन श्रवन लागि छाड़े सर एकतीस।
रघुनायक सायक चले मानहुँ काल फनीस॥
सायक एक नाभि सर सोषा। अपर लगे भुज सिर करि रोपा॥
लै सिर बाहु चले नाराचा। सिर भुज हीन रुड महि नाचा॥
धरनि धसहि धर धाव प्रचंडा। तब सर हति प्रभु कृत दुइ खडा॥
गर्जेउ मरत घोर रव भारी। कहाँ रामु रन हतौ पचारी॥[2]

युवावस्था और सौदर्य दोनो ही नायक के लिये बहुत आवश्यक है। 'मानस' में राम की युवावस्था एव सौदर्य का वर्णन उस समय मिलता है जव सीता एवं उनकी सखियाँ गौरी पूजन के लिये पुष्पवाटिका मे जाती हैं। उस समय वह राम एवं लक्ष्मण के रूप को देखकर आकर्षित हो गईं और कह उठी :—

देखन बागु कुअँर दुइ आए। बय किसोर सब भाँति सुहाए॥
स्याम गौर किमि कहौ बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥[3]

आगे चलकर उनके रूप का प्रभाव और भी स्पष्ट हो जाता है —

जिन्ह निज रूप मोहनी डारी। कीन्हे स्ववस नगर नर नारी॥
बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू। अवसि देखियहि देखन जोगू॥[4]

सीता के नेत्र राम की छवि को देखकर थकित हो गए :—

लता ओट तब सखिन्ह लखाए। स्यामल गौर किसोर सुहाए॥
देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥
थके नयन रघुपति छबि देखे। पलकन्हिहूँ परिहरी निमेषे॥
अधिक सनेहँ देह भइ भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥[5]

१. वही, पृ० ५६४-६५, लकाकाड
२. वही, पृ० ५७४
३. वही, पृ० १६१ बालकाड
४. रामचरितमानस, पृ० १६१, बालकाड २१ संस्करण
५. वही, पृ० १६३.

उनके रूप एवं सौंदर्य का मानस मे साकार वर्णन मिलता है :—

सोभा सींवँ सुभग दोउ बीरा। नील पीत जलजाभ सरीरा ।।
मोरपंख सिर सोहत नीके। गुच्छ बीच बिच कुसुम कली के ।।
भाल तिलक श्रमबिंदु सुहाए। श्रवन सुभग भूषन छवि छाए ।।
बिकट भ्रकुटि कच घूंघरवारे। नव सरोज लोचन रतनारे ।।
चारु चिबुक नासिका कपोला। हास बिलास लेत मनु मोला ।।
मुखछवि कहि न जाइ मोहि पाहीं। जो बिलोकि बहु काम लजाहीं ।।
उर मनिमाल कंबु कल ग्रीवा। काम कलभ कर भुज बल सींवा ।।
सुमन समेत बामकर दोना। सावँर कुँअर सखी सुठि लोना ।।
केहरि कटि पट पीत धर सुषमा सील निधान ।
देखि भानुकुल भूषनहिं बिसरा सखिन्ह अपान ।।[1]

उनकी दक्षता एवं प्रतिभा का स्पष्टीकरण गुरु के यहाँ विद्या पढते समय होता है :—

गुरगृहँ गए पढन रघुराई । अलपकाल विद्या सब आई ।
जाकी सहज स्वास श्रुति चारी । सो हरि पढ यह कौतुक भारी ।।
विद्या विनय निपुन गुन सीला । खेलहिं खेल सकल नृपलीला ।।[2]

'साकेत' मे राम के चरित्र मे तेजस्विता, धीरता, गंभीरता, कर्तव्यनिष्ठा, आदर्श स्थापना आदि गुण मिलते है। एक श्रेष्ठ नायक के लिये गुणों का होना परमावश्यक है। उनकी तेजस्विता का भान हमको 'साकेत' के प्रथम सर्ग मे ही हो जाता है। कवि राम की तेजस्विता का भाव सूर्य की समता से प्रकट करता है :—

सूर्य का यद्यपि नही आना हुआ, किंतु समझो रात का जाना हुआ।
क्योंकि उसके अंग पीले पड़ चले, रम्य रत्नाभरण ढीले पड़ चले ।।[3]

धीरता, गंभीरता राम के चरित्र की विशेषता है। कठिन परिस्थितियो मे भी वे धैर्य नही छोड़ते । साकेत के द्वितीय सर्ग मे कवि उनके धैर्य एवं गंभीरता का वर्णन करता है। वे हिमालय पर्वत के समान धैर्यवान् और समुद्र के समान गभीर है—

१. वही
२. वही, पृ० १४८
३. साकेत, प्रथम सर्ग, पृ० २४

उच्च हिमगिरि से भी वे धीर, सिंधु सम वे संप्रति गंभीर।
उपस्थित वह अपार अधिकार, दीख पड़ता था उनको भार ॥[1]

उनकी कर्तव्यनिष्ठा इस स्थल पर प्रकट होती है—

माँ अब भी तुमसे राम विनय चाहेगा, अपने ऊपर आप क्या आह ढाहेगा।
अब तो आज्ञा की अम्ब तुम्हारी बारी, प्रस्तुत हूँ मै भी धर्म धनुर्धृतधारी[2] ॥

आदर्श की प्रतिष्ठा करना वे अपना कर्तव्य समझते है। अष्टम सर्ग मे वे स्वयं कहते है कि मै आर्यो के आदर्श की स्थापना करने आया हूँ और मानव के समुख धन को तुच्छ वतलाने आया हूँ। वे शाति की स्थापना करना चाहते है, विश्वासी के विश्वास की प्रतिष्ठा करना चाहते है—

मै आर्यों का आदर्श बताने आया, जन समुख धन को तुच्छ जताने आया।
सुख शाति हेतु मैं क्राति मचाने आया, विश्वासी का विश्वास वचाने आया ॥[3]

'वैदेही वनवास' मे हम राम का स्वरूप महान् त्यागी एव अहिंसक का प्राप्त करते है। उनके चरित्र मे त्याग, धैर्य, सहिष्णुता और लोकहित की इच्छा वर्तमान है। सीता ने भी राम के त्याग की प्रशसा की है और सहनशीलता को भी लोकोत्तर ही वतलाया है। उनमे लोकहित की भावना समाहित है और वे नीति के मर्मज्ञ हैं—

त्याग आपका धृति धन्य है, लोकोत्तर है आपकी सहनशीलता।
है अपूर्व आदर्श लोकहित का जनक, है महान भवदीय नीति मर्मज्ञता ॥[4]

वे किसी का दमन नही चाहते एव किसी को भयभीत नहीं करना चाहते। उनकी इच्छा तो यही है कि त्याग के द्वारा दूसरो का लाभ करूँ एव इस त्याग को ही वे सच्ची पूजा समझते है—

दमन है मुझे कभी न इष्ट क्योकि वह है भयमूलक नीति।
चाह है लाभ करूँ कर त्याग, प्रजा की सच्ची प्रीति प्रतीति ॥[5]

अहिंसक होने का दूसरा प्रमाण इसी प्रवध काव्य मे उस समय मिलता है जव वे लवणासुर को मारने मे सयम और रक्तपातरहित रहने का परामर्श देते है—

१. साकेत, प्रथम सर्ग, पृ० ५६.
२. वही, आठवाँ सर्ग, पृ० २५५
३. वही, पृ० २३४
४. वैदेही वनवास, सर्ग, ४, पृ० ४६
५. वही, सर्ग ३, छंद ६३

'रामाज्ञा प्रश्न' और राम शलाका

श्री माताप्रसाद गुप्त

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित 'तुलसी ग्रथावली' मे जिस ग्रथ का नाम 'रामाज्ञा प्रश्न' है, उसी के विभिन्न नाम विभिन्न प्रतियो मिलते है—(१) रामायण सगुनौती[१] (२) सगुनावली[२] (३) सगुनमाला[३] (४) रामाज्ञा[४] (५) रामाज्ञा प्रश्न[५] (६) रामशलाका[६] और (७) रघुवर शलाका[७]।

इन नामो मे पहले नाम को अधिक महत्व देने के दो कारण हो सकते है। एक तो इस समय हमे उसकी जो सबसे प्राचीन प्रति प्राप्त है, और जो कवि के देहान्त के केवल नौ वर्ष पीछे की लिखी हुई है, उसमे इसका नाम 'रामायण सगुनौती' है और दूसरे ग्रथ के अंतिम दोहे मे उसके नाम का उल्लेख इस प्रकार होता है—

> गुन विस्वास विचित्र मनि, सगुन मनोहर हारु।
> तुलसी रघुबर-भगत-उर, बिलसत बिमल विचारु ॥ ७-७-७ ॥

(१)—लिपिकाल स० १६८९, काशिराज पुस्तकालय, (विशेष खोज रिपोर्ट १९०० नो०)

(२) लिपिकाल स० १८८१, प० गयादत्त शुक्ल, गुरूटोला, आजमगढ़ (खोज रि० १९०९-११ नो० ३२३ ह)

(३) लिपिकाल अनिश्चित, साहित्यरजन पं० विजयानंद त्रिपाठी, काशी।

(४) (क) लिपिकाल अनिश्चित, काशिराज पुस्तकालय (खोजरिपोर्ट १९०३ । नो० ८७) तथा (ख) लिपिकाल अनिश्चित, दतियाराज पुस्तकालय (खोज रिपोर्ट १९०६—०८, नोट. २४५.द).

(५) प्रकाशन सवत् १९७७. 'षोडश रामायण सग्रह'।

(६) लिपिकाल स० १८२२ काशिराज पुस्तकालय, (खोजरिपोर्ट १९०३ नो० ९८)

(७) लिपिकाल अनिश्चित, पं० रामप्रताप द्विवेदी, गोपालपुरा (खोज-रिपोर्ट १९२०-२२ नो० १९८ ह)

(८) खोज रिपोर्ट १९००, नो० ७)

अर्थात् गुण रूपी गुण (धागे) और विश्वास रूपी विचित्र मणि के संयोग से यह 'सगुन' रूपी मनोहर हार बना है। इसको धारण करने वाले रघुवर-भक्त के हृदय मे निर्मल विचारो की सृष्टि होती है।

यो तो 'सगुन' शब्द ग्रंथ भर मे आया है, किंतु उसका ऐसा विशेष प्रयोग केवल इसी दोहे मे मिलता है, अत. इस अंतिम दोहे का 'सगुन' अवश्य ही पूरे नाम का सर्व प्रमुख अंश रहा होगा और सगुन के साथ पूरी रामकथा का भी ग्रंथ मे समावेश किया गया है, इसलिये उसका 'रामायण सगुनौती' नाम ही सबमे अधिक संभाव्य जान पड़ता है। किंतु सुविधा के लिये यहाँ हम उसका सबसे अधिक परिचित नाम 'रामाज्ञा प्रश्न' का ही प्रयोग करेंगे।

ऊपर के नामो मे मैंने 'रामशलाका' और 'रघुवर शलाका' भी रखा है। अब से लगभग ४० वर्ष पूर्व 'इंडियन ऐंटीक्वेरी'[1] मे लिखते हुए सर जार्ज ग्रियर्सन ने लिखा था—"छक्कन लाल कहते है कि १८२७ ई० मे उन्होंने 'रामाज्ञा' की एक प्रतिलिपि मूल प्रति से की थी जो कवि के हाथ की लिखी थी और जिसकी तिथि कवि ने स्वयं सं० १६५५ ज्येष्ठ शुक्ल १० रविवार दी थी।" और उसी पृष्ठ पर फुटनोट मे उन्होने छक्कनलाल के शब्द दिये थे।—"श्री सं० १६५५ जेठ सुदि १० रविवार की लिखी पुस्तक श्री गुसाईं जी के हस्त कमल की प्रह्लादघाट श्री काशी जी मे रही। उस पुस्तक पर से श्री पंडित रामगुलाम जी के सतसंगी छक्कन लाल कायस्थ रामायणी मिरजापुर वासी ने अपने हाथ से सं० १८८४ मे लिखा था।" उसी पत्रिका के एक अन्य पृष्ठ पर पुन. उन्होंने लिखा था—"रामाज्ञा की वह प्रति गोस्वामी जी के हाथ की, नरकुल द्वारा लिखी हुई थी और प्रह्लादघाट पर ३० वर्ष पूर्व (अर्थात् सन् १८६० के लगभग) तक विद्यमान थी।"

इन उल्लेखो का प्रतिवाद करते हुए प्रह्लाद घाट के श्री रणछोड़ लाल व्यास ने थोड़े ही दिनो पीछे 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' मे जो अपना वक्तव्य प्रकाशित किया था उसका उल्लेख स्वर्गीय श्री शिवनन्दन सहाय ने 'श्री गोस्वामी तुलसीदास जी' नामक ग्रंथ मे[3] इस प्रकार किया है—

"यह जीवनी छपने के थोड़े ही दिन पहले हमको काशी नागरीप्रचारिणी पत्रिका (भाग-१६ संख्या-१०) मे रणछोण लाल व्यास जी का एक लेख देखने मे आया। आप अपने को गंगाराम ज्योतिषी का वंशधर बताते है और लिखते हैं कि "गंगाराम जी दो भाई थे। दूसरे का नाम दौलतराम था। उनके वंशजो मे

नोट:—१—'इंडियन ऐंटीक्केरी' सन् १८९३ ई०, पृ० ९६

२—'इंडियन ऐंटीक्केरी', सन् १८९३ ई०, पृ० १९७

३—'श्रीगोस्वामी तुलसीदास जी', पृ० ३५३

गिरिवर व्यास हुए। मैं उनका भांजा हूँ। असल में 'रामाज्ञा' नही किंतु 'रामशलाका' थी जो रामचंद्र (मेरे बहनोई के भाई) और गंगाधर (मेरी बुआ के पुत्र) के हाथ से स० १९२०-२२ के करीब लुटेरो ने श्रीनाथ जी की यात्रा के समय उदयपुर के निकट लूट ली थी। उस 'रामशलाका' की नकल मिर्जापुर-निवासी पं० रामगुलाम जी द्विवेदी के श्रोता छगनलाल जी के पास है। 'रामाज्ञा' की रचना के सबंध में जो बाते ग्रियर्सन साहब ने लिखी है उन्ही का साराश इन्होने 'रामशलाका' के विषय मे लिखा है।"

फलत. दोनो प्रामाणिक कथनो के अन्य अशो मे नितात साम्य होते हुए भी यह विवाद अभी तक चला आ रहा है कि वह स० १६५५ ज्येष्ठ शुक्ल १०, रविवार की प्रति 'रामाज्ञा' की थी अथवा 'रामशलाका' की।[1] अब यदि यह सिद्ध हो जाय कि वस्तुत. 'रामाज्ञा' और 'रामशलाका' एक ही है, और दोनो मे नाममात्र का अंतर है, तो इस विवाद का यही अत हो जाता है।

इस प्रश्न पर भली भाँति विचार करने के लिये मैं यह अनिवार्य समझता हूँ कि खोज रिपोर्टों में दिए हुए 'रामशलाका' और 'रघुवर शलाका' के प्रारभिक और अतिम दोहो के साथ नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'रामाज्ञाप्रश्न' के भी प्रारंभिक और अंतिम दोहे एकत्र उद्धृत करूँ।

'रामशलाका' के[2] दोहे इस प्रकार है—

प्रारंभिक—बानि बिनायकु अव रवि, गुरु हर रमा रमेस।
सुमिरि करहु सब काज सुभ, मगल देस बिदेस॥ १
गुरु सरसइ सिंधुरबदन ससि सुरसरि सुरगाइ।
सुमिरि चलहु मग मुदित मन, होइहि सुकृत सहाइ॥ २
गिरा गौरि गुरु गनप हर, मगल मंगल मूल।
सुमिरत करतल सिद्धि सब, होइ ईस अनुकूल॥ ३

अतिम—सुदिन साँझ पोथी नेवति, पूजि प्रभात सप्रेम।
सगुन बिचारब चारुमति, सादर सत्य सनेम॥ १
मुनि गनि, दिन गनि, धातु गनि, दोहा देखि बिचारि।
देस, करम, करता, बचन, सगुन समय अनुहारि॥ २
सगुन सत्य ससिनयन गुन, अवधि अधिक नयवान।
होइ सुफल सुभ जासु जसु प्रीति प्रतीति प्रमान॥ ३

नोट—१—'हिंदी नवरत्न' सं० १९८५, पृ० ७८।
२—खोज रिपोर्ट १९०३, नो० ९८।

गुर गनेस हरु गौरि सिय, राम लखन हनुमान ।
तुलसी सारद सुमिरि सब, सगुन विचार विधान ।। ४
हनूमान सानुज भरत, राम सीय उर आनि ।
लपन सुमिरि तुलसी कहत, सगुन विचारु वपानि ।। ५
जो जेहि काजहि अनुहरइ, सो दोहा जब होइ ।
सगुन समय सब सत्य सब, कहब रामगति गोइ ।। ६
गुन विस्वास, विचित्र मनि, सगुन मनोहर हारु ।
तुलसी रघुवर-भगत-उर, विलसत विमल विचारु ।। ७

'रघुवरशलाका' के[1] दोहे इस प्रकार हैं--

प्रारंभिक--बानि विनायक अव हर रवि गुरु रमा रमेस ।
सुमिरि करहु सभ काज सुभ मगल देस विदेस ।। १
गुरु रक्षसि सिंधुरवदन ससि सुरसरिता गाइ ।
सुमिरि चलहु मग मुदित मन होइहि सुकृत सहाइ ।। २
गिरा गौरि गुरु गणप हर मगलहु मगल मूल ।
सुमिरत करतल सिद्ध सब होइ ईस अनुकूल ।। ३
भरत भारती रिपुदमन गुरु गणेश वुधवार ।
सुमिरत सुलभ सुधर्म फल विद्या विनय विचार ।। ४
अंतिम--गुण विश्वास विचित्र मणि सगुण मनोहर सार ।
तुलसी रघुवर भाग वड विलसत विमल विचार ।। ७

विपय—रामजन्म, सीता विवाह, अवध सुख-वर्णन, राम-वन-गमन, मुनियो से मिलन, खर-दूपन-वध, सीता-हरण, रावणादि वध, अयोध्या आगमन, सब वदरादि का विदा करना, ब्राह्मण के वालक का सवाद ।

नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के 'रामाज्ञा प्रश्न' का विषय भी वही है जो ऊपर उद्धृत किया गया है, अत आगे हम केवल उसके प्रारंभिक और अंतिम दोहे उद्धृत करेंगे ।

प्रारंभिक—बानि विनायकु अव रवि गुरु हर रमा रमेस ।
सुमिरि करहु सब काज सुभ, मंगल देस विदेस ।। १
गुरु सरसइ सिंधुरवदन, ससि सुरसरि सुरगाइ ।
सुमिरि चलहु मग मुदित मन, होइहि सुकृत सहाइ ।। २

नोट—१—खोज रिपोर्ट १९२०-२२, नं० १९८ ह ।

गिरा गौरि गुरु गनप हर, मंगल मंगलमूल।
सुमिरत करतल सिद्ध सब, होइ ईस अनुकूल ॥ ३ ॥
भरत भारती रिपुदवनु, गुरु गनेस बुधवार।
सुमिरत सुलभ सुधरम फल, बिद्या बिनय बिचार ॥ ४ ॥
अंतिम—सुदिन साँझ पोथी नेवति, पूजि प्रभात सप्रेम।
सगुन बिचारब चारुमति, सादर सत्य सनेम ॥ १ ॥
मुनि गनि, दिन गनि, धातु गनि, दोहा देखि बिचारि।
देस, करम, करता, वचन, सगुन समय अनुहारि ॥ २ ॥
सगुन सत्य ससिनयन गुन, अवधि अधिक नयवान।
होइ सुफल सुभ जासु जसु, प्रीति प्रतीति प्रमान ॥ ३ ॥
गुरु गनेस हरु गौरि सिय, राम लषनु हनुमान।
तुलसी सादर सुमिरि सब, सगुन बिचार बिधानु ॥ ४ ॥
हनूमान सानुज भरत, राम सीय उर आनि।
लषन सुमिरि तुलसी कहत, सगुन बिचारु बखानि ॥ ५ ॥
जो जेहि काजहि अनुहरइ, सो दोहा जब होइ।
सगुन समय सब सत्य सब, कहब रामगति गोइ ॥ ६ ॥
गुन बिस्वास, बिचित्र मनि, सगुन मनोहर हारु।
तुलसी रघुबर-भगत-उर, बिलसत बिमल बिचारु ॥ ७ ॥

अतएव इन उद्धरणो से यह नितात स्पष्ट हो जाना चाहिए कि वस्तुत: 'रामशलाका' भी उसी ग्रथ का एक नाम है जिसका दूसरा नाम 'रामाज्ञा प्रश्न' है।

अब इस संबंध में केवल तीन प्रश्न रह जाते है :

(१) क्या सं० १६५५, जेठ सुदि १० रविवार की तिथि ठीक है ?

(२) क्या वह प्रति प्रह्लाद घाट पर थी ? और

(३) क्या उसके लिपिकार तुलसीदास थे ?

इन तीनो प्रश्नो के संबध मे ऊपर हम श्री छक्कन लाल का कथन महामहोपाध्याय स्वर्गीय प० सुधाकर द्विवेदी और सर जॉर्ज ग्रियर्सन की खोज, और श्री रणछोड लाल व्यास प्रह्लाद घाट, काशी का प्रतिवाद-स्वरूप मे भी किया हुआ उक्त कथन और खोज की पुष्टि हम देख चुके है। वस्तुत इन साक्ष्यो को ही पर्याप्त होना चाहिए, किंतु नीचे हम और भी दृढ साक्ष्यो का उल्लेख करेगे।

'षोडश रामायण संग्रह' मे संगृहीत 'रामज्ञाप्रश्न' की समाप्ति इस प्रकार होती है--"हस्ताक्षर श्री गुसाई जी सं० १६५५ रविवार ज्येष्ठ शुक्ल १०।" इस समाप्ति से यह भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि उक्त तिथि के लिखे हुए गोस्वामी जी के हस्ताक्षर के सहित 'रामज्ञाप्रश्न' की कोई प्रति अवश्य थी, जिसकी प्रतिलिपि

के आधार पर 'षोडश रामायण संग्रह' के 'रामाज्ञा प्रश्न' का संपादन किया गया है। मेरा अनुमान है कि उस मूल प्रति मे 'लिखितं तुलसीदासेन' या इसी आशय की अन्य शब्दावली अवश्य रही होगी जिसको यथोचित रीति से प्रकट करने के लिये प्रतिलिपिकार ने "हस्ताक्षर श्री गुसाईं जी" का आश्रय लिया है।

ज्योतिष की गणना के अनुसार भी यह तिथि शुद्ध निकलती है। 'कवि का समय' शीर्षक देकर 'इंडियन ऐंटीक्वेरी' मे लिखते हुए[1] इस तिथि के संबंध में सर जार्ज ग्रियर्सन ने लिखा है—'यह अनावश्यक है कि हम गणना का विस्तार दें। चैत्रादि वर्ष लेने पर यह तिथि रविवार ४ जून सन् १५९८ ई० के बराबर होती है।"

इन सब साक्ष्यो के आधार पर यह संदेहातीत हो जाता है कि सं० १६५५ ज्येष्ठ शुक्ल १० रविवार की तिथि देते हुए गोस्वामी जी के हस्ताक्षर सहित 'रामाज्ञा-प्रश्न' की एक प्रति कुछ समय पूर्व विद्यमान थी।

और, वह प्रति प्रह्लादघाट, काशी मे थी। इस संबंध में भी श्री छक्कन लाल, सर जार्ज ग्रियर्सन और श्री रणछोड लाल व्यास के कथनो के पढने के उपरांत संदेह न रहना चाहिए, किंतु इस विषय मे भी मैं एक दृढ साक्ष्य का उल्लेख करूँगा और वह है गोस्वामी जी के ही शब्दो में—

सगुन प्रथम उनचास शुभ, तुलसी अति अभिराम।
सब प्रसन्न सुर भूमिसुर, गोगन गंगाराम ॥ १-७-७ ॥

यह दोहा ग्रंथ मे प्रथम सर्ग की समाप्ति पर आता है और स्पष्ट ही गंगाराम को संबोधित करके कहा गया है, अतएव जब अन्य प्रामाणिक साक्ष्यो द्वारा हमे यह ज्ञात होता है कि गंगाराम के उत्तराधिकारियो के पास 'रामाज्ञाप्रश्न' की एक प्रति बहुत दिनो तक थी तब हमे उसपर भी विश्वास होना ही चाहिए।

अब केवल अंतिम प्रश्न शेष रह जाता है- क्या वह प्रति गोस्वामी जी के ही हाथ की लिखी थी? इस संबंध मे श्री छक्कनलाल तथा श्री रणछोड़ लाल व्यास के कथनो के होते हुए भी निश्चय के विषय मे हम संदिग्ध हो तो कदाचित् अनुचित न होगा, क्योंकि आज से दस वर्ष पूर्व अनेक कृतियाँ गोस्वामी जी के हाथ की लिखी मानी जाती थीं किंतु आज उन मे से एक भी ऐसी नही मानी जा रही है—यहाँ तक की राजापुर के अयोध्याकांड की प्रति को भी अब विद्वान् गोस्वामी जी के हाथ की लिखी हुई नहीं मान रहे है[2]। यदि 'रामाज्ञाप्रश्न' की वह प्रति

नोट—(१) 'इंडियन ऐंटीक्वेरी' १८९३, पृ० ९६।
नोट—(२) रामनरेश त्रिपाठी, माधुरी वर्ष ४, खंड १, पृ० ४४।

प्राप्य होती तो बहुत कुछ सभव था कि एक निश्चित धारणा उसके संबध मे सभव होती। इसलिये प्रस्तुत सामग्री के आधार पर दृढतापूर्वक हम केवल इतना कह सकते है कि कम से कम उक्त प्रति के अंत मे दिया हुआ हस्ताक्षर और उसके साथ स० १६५५ ज्येष्ठ शुक्ल १० रविवार की तिथि गोस्वामी जी के ही अक्षरो मे थी। शेष के लिये अनुमानो का आश्रय लेना पड़ेगा।

मेरा अनुमान है कि वह प्रति गोस्वामी जी के ही हाथ लिखी थी। ऊपर के साक्ष्यो के अतिरिक्त मेरे इस अनुमान का भी आधार 'षोडश रामायण सग्रह' मे सगृहीत 'रामाज्ञाप्रश्न' की समाप्ति है। मेरा अनुमान है कि उसके 'हस्ताक्षर श्री गुसाई जी' के स्थान पर उस मूल प्रति मे 'लिखित तुलसीदासेन' या ठीक इसी आशय के दूसरे शब्द रहे होगे—क्योकि केवल हस्ताक्षर करने की प्रथा मैने किसी भी प्राचीन हस्तलिखित प्रति मे नही देखी है। अधिक सभावना तो यही है कि उस स्थान पर 'लिखित तुलसीदासेन' शब्द ही रहे होगे।

इस प्रसग मे यह स्मरण रखना चाहिए कि स० १६५५ को मै 'रामाज्ञा-प्रश्न' का रचना काल इस प्रकार नही मान लेता, उसके रचनाकाल के सबध मे मै विस्तारपूर्वक पहले विचार कर चुका हूँ[1] और अब भी उसे 'मानस' के पूर्व की रचना मानता हूँ। फलत: एक अन्य प्रश्न यह किया जा सकता है—जिसका प्रस्तुत विषय से सीधा सबध नही है—कि तब तक गोस्वामी जी को सं० १६५५ मे पुन. उसे लिखने की क्या आवश्यकता पड़ी होगी? इस सबध मे भी हमारे सामने अनुमान के अतिरिक्त दूसरा मार्ग नही है।

गोस्वामी जी के संबध मे खोज करते हुए काशी मे मुझे श्री रणछोड़लाल व्यास से मिलने का सुयोग प्राप्त हुआ। उन्होने मुझसे कहा कि गोस्वामी जी जब पहले पहल काशी आए तब उन्हे गगाराम जी के यहाँ ही आश्रय मिला और यही से उनकी प्रसिद्धि का प्रारभ हुआ। गगाराम को कारागृह दड से बचाने के लिये यही उन्होने 'रामाज्ञाप्रश्न' की रचना की। चोरों वाली प्रसिद्ध घटना भी यही हुई। पीछे गोस्वामी तुलसीदास ने अन्य बहुत से आश्चर्यजनक कार्य किए। उदाहरणार्थ, मृत व्यक्तियो को जिलाना आदि—जिसका समाचार पाकर दिल्लीपति ने उन्हें दिल्ली बुलवाया और करामात दिखाने को उनसे कहा किंतु परिणामस्वरूप किले का विध्वस होते देखकर वह गोस्वामी जी के पैरो पर पड़ा। वहाँ से लौट कर गोस्वामी जी ने प्रह्लादघाट पर कुछ दिनो तक रहने के पश्चात् अन्यत्र अपना स्थान बनाया। यह अन्य स्थान अस्सीघाट (?) था।

नोट १—हिंदुस्तानी, जनवरी १९३२।

व्यास जी के पूरे कथन से सहमत होने के लिये मैं नही कह सकता, किंतु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि गोस्वामी जी प्रह्लादघाट पर कई वर्ष लगातार रहे, अन्य कई कारणो से भी, जिनका उल्लेख प्रस्तुत विषय से बाहर होगा अतएव आगे कभी हो सकेगा, मेरा अनुमान है कि प्रह्लादघाट गोस्वामी जी ने सं० १६५५ मे छोडा । मैं यह कल्पना करता हूँ कि अपनी स्मृति और प्रह्लादघाट छोड़ने की स्मृति बनाए रखने के लिये वे अपने हाथो लिखी हुई 'रामाज्ञाप्रश्न' की प्रति इस प्रकार छोडते गए। बहुत सभव है कि यह प्रति पहले की लिखकर रखी रही हो और उसकी पुष्पिका मात्र उक्त तिथि को लिखी गई हो, अथवा उक्त तिथि को ही उन्होने अपनी मूल प्रति से प्रतिलिपि करके दी हो। मैं इन दोनो मे से प्रथम को अधिक सभव समझता हूँ। 'रामाज्ञाप्रश्न' की ही प्रति गोस्वामी जी ने क्यो दी होगी ? इसका स्वत. समाधान यह है कि उसकी रचना के नैमित्तिक कारण गंगाराम थे ।

अनुमानो और कल्पनाओ के द्वारा तथ्यो को खीच खाँचकर सुलझाने मे मुझे अधिक विश्वास नही है इसलिये मैं यह कहने मे सकोच करता हूँ कि तीसरे प्रश्न के सबध मे भी मेरे विचार मान्य हो सकेंगे। किंतु जब तक इससे अधिक दृढ सामग्री प्राप्त नही होती तब तक इन्ही अथवा इसी प्रकार के अन्य अनुमानो का आश्रय लेकर किसी परिणाम पर पहुँचना होगा।

फलत. आवश्यकता इस बात की है कि हम और खोज करें, और मनन करे। कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास पर हिंदी मे बहुत कार्य हुआ है। इस कथन मे यदि अधिक सत्य नही है तो इतना निस्सदेह है कि तुलसीदास के बराबर हिंदी साहित्य के किसी अन्य कवि या लेखक के सबध मे कार्य नही हुआ है । किंतु वह कार्य भी वास्तविक कार्य के महत्व की तुलना में कितना अधूरा है यही दिखाने के लिये उदाहरणस्वरूप मैंने प्रस्तुत निबध मे उस महाकवि की एक छोटी सी कृति के सबध मे एक युग से चले आ रहे एक विवाद को उठाया है। दूसरी ओर अभी सूरदास पर हमने क्या कार्य किया है? कबीर पर क्या किया है? नददास पर क्या किया है ? हितहरिवश पर क्या किया है ? और केशवदास पर क्या किया है ? हमारा पुराना साहित्य इतने महत्वपूर्ण अभावो के रहते हुए नवोत्थित साहित्यो के समकक्ष खडा होने की क्यो लालसा करता है ? कहानियो और चुटकुलो को कुछ दिनो तक एक ओर रखकर उद्योग करना पडेगा, तभी हम अपना ईप्सित स्थान प्राप्त कर सकेंगे ।

मानस में शब्दशक्ति

डा० देवदत्त शर्मा

•

अर्थ की दृष्टि से तुलसी की भाषा का अध्ययन करते समय उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दो के अर्थ प्रयोग पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। जिस व्यापार के द्वारा शब्दो के अर्थ का भान होता है, उसे शब्दशक्ति कहते है। मानस मे शब्दशक्तियो का सशक्त प्रयोग मिलता है। इसके तीन भेद है--अभिधा, लक्षणा तथा व्यजना।[1]

अभिधा--सकेतित अर्थ को व्यक्त करनेवाले व्यापार को अभिधा शब्द-शक्ति कहते है।[2] इन वाच्य शब्दो के तीन प्रकार है--१. रूढ, २. यौगिक, ३. योगरूढ।

१. रूढ--जिन शब्दो का अर्थ रूढ होता है या प्रकृति प्रत्ययो के आधार पर नही होता, उसे रूढ़ कहते है :

(क) सनमुख आयउ दधि अरु मीना। कर पुस्तक दुइ बिप्र प्रबीना॥
—मा० १।३०२-४।

(ख) उर धरि धीरजु गयउ दुआरे। पूछहिं सकल देखि मनु मारे॥
—मा० २।३८-२।

उपर्युक्त पदो मे दधि, मीना, पुस्तक, उर, दुआरे, सकल आदि सभी रूढ़ शब्द है जिनका अपना अपना एक ही रूढ अर्थ निकलता है। यहाँ इनके प्रयोग से वाक्य का भी सकेतित अर्थ ही प्रतीत होता है, उससे इतर नही।

२. यौगिक--जहाँ पर शब्द दो या दो से अधिक शब्दो के योग से बने तथा उसका अर्थ अवयवानुसार या प्रकृति-प्रत्ययानुसार हो।

(क) सूपोदन सुरभी सरपि सुदर स्वादु पुनीत।—मा० १।३२८।

(ख) आपु प्रतापपुज रनधीरा॥--मा० १।१५३-१।

(ग) त्रिविध तापहर त्रिविध बयारी॥--मा० २।२४८-३।

उपर्युक्त पदो मे – सूपोदन – सूप + ओदन = दाल भात, प्रताप + पुज, प्रताप का समूह, त्रि + विध = तीन प्रकार---आदि अर्थ प्रकृति-प्रत्ययानुसार है।

१--साहित्यदर्पण २।३-विश्वनाथ।

२--वही २।१२

३. योगरूढ़--जो शब्द रचना की दृष्टि से यौगिक होने पर भी अर्थ की दृष्टि से रूढ होते है, उन्हे योगरूढ कहते है--

(क) जेहि सुमिरत सिधि होइ, गननायक करिवर बदन ॥
—मा० १ । आरम्भिक सोरठा ।

(ख) सुनु गिरिजा अति दृढ मति तोरी ॥--मा० १ । १६५-२ ।

(ग) नव सरोज लोचन रतनारे ॥—मा० १ । २३२-२ ।

उपर्युक्त पक्तियो मे गननायक (गन + नायक), गिरिजा (गिरि + जा), सरोज (सर. + ज) से गणेश, पार्वती एव कमल का ही अर्थ निकलता है-उससे सवद्ध अन्य अर्थ नही ।

उपर्युक्त तीनो प्रकार के शब्दो के प्रयोग मे जो अर्थ निकलता है, वह अततोगत्वा सकेतित ही रहता है । इसलिये यहाँ अभिधा शब्दशक्ति का ही चमत्कार रहता है ।

२. लक्षणा--मुख्यार्थ-या सकेतित अर्थ के बाध होने से उससे संबद्ध अर्थ की प्रतीति होने पर लक्षणा शब्दशक्ति होती है । इसका चमत्कार रूढ़ि तथा प्रयोजन के माध्यम से दिखाई देता है ।[1]

वैसे तो लक्षणा के विश्वनाथ ने ८० भेद तक गिनाए है[2], पर मुख्य रूप से उन्होने ४० भेदो का ही उल्लेख किया है जिनमे रूढि के ८ तथा प्रयोजनवती के ३२ भेद गिनाए है ।[3] इनमे भी १६ भेदो का ही वर्णन किया जा रहा है--
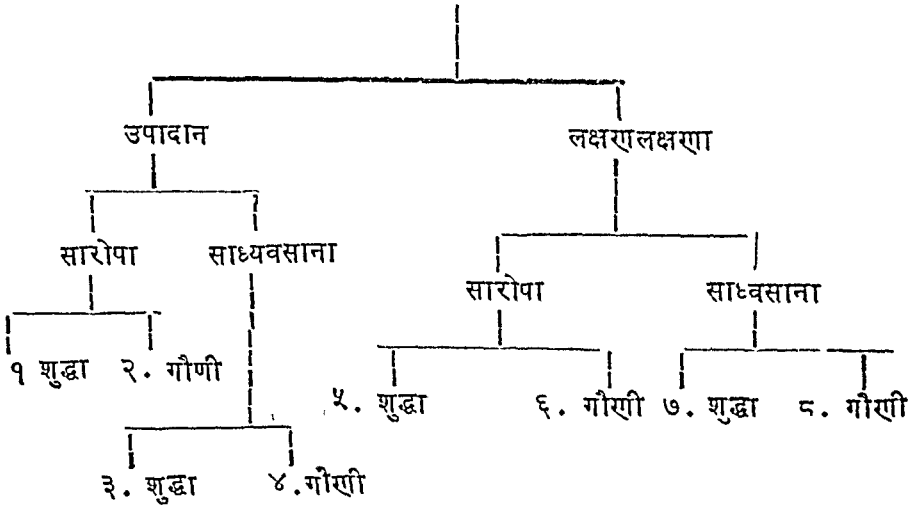
१. साहित्यदर्पण– विश्वनाथ– २ । ५

२. साहित्यदर्पण– शशिकला – डा० सत्यव्रत सिह, पृ० ७४

३. वही, पृ० ७२–७३

रूढ़ि—जहाँ पर रूढि (प्रयोग-प्रवाह) के कारण मुख्यार्थ को छोडकर उससे संबद्ध अन्य अर्थ ग्रहण किया जाय वहाँ रूढि लक्षणा होती है। मानस के मुहावरो एवं लोकोक्तियो में रूढिलक्षणा के उदाहरण भरे पडे है क्योकि चमत्कार उनके अभिधेयार्थ मे न होकर लक्ष्यार्थ मे ही पाया जाता है —

हमहुँ कहबि अब ठकुर सोहाती ।।—मा० १।१५-२

ठकुर सोहाती का साधारण अर्थ है–जो ठाकुरस्वामी को भावे अर्थात् मुँह देखी यहाँ इस अर्थ का बाध होकर रूढि से लक्ष्यार्थ निकलता है कि आज मै वह बात कहूँगी जो तुम्हें वैसे तो अच्छी लगेगी पर होगी हानिकारक।

उपादान लक्षणा—जिस शक्ति के द्वारा किसी शब्द का मुख्यार्थ, किसी वाक्यार्थ मे, अपने स्वरूप का त्याग किये विना भी, अपने अन्वय अर्थात् अन्य पदार्थ के साथ युक्तियुक्त सवधो की सिद्धि के लिए, अपने से भिन्न किसी अर्थ का आक्षेप अथवा प्रत्यायन किया करता है, वह शक्ति उपादानलक्षणा कही जाती है।[1]

उदाहरण—हँसि कह रानि गालु बड़ तोरे।—मा० २।१२-४

यहाँ बड़े गाल होने का अर्थ है बढ चढ़ कर वाते करना। इससे मुख्यार्थ मिजाज मे गाल वजाने का बोध तो होता है, पर पूर्ण रूप से अपना अर्थ त्यागे बिना ही इसका अर्थ हो जाता है, बढ चढ़कर बाते करना।

लक्षणलक्षणा—जिस शक्ति के द्वारा किसी शब्द का मुख्यार्थ किसी वाक्यार्थ मे, अपने स्वरूप का इसलिये सर्वथा परित्याग कर दिया करता है जिससे वहाँ उससे भिन्न (किंतु किसी न किसी सवध से संबद्ध) किसी अर्थ का युक्तियुक्त समन्वय स्थापित हो जाय और ऐसा करते हुए एक मुख्यार्थ, मात्र लक्ष्यार्थ का उपलक्ष्यक बन जाया करता है, वह शब्द शक्ति लक्षणलक्षणा कही जाती है।[2]

उदाहरण—१. रेख खँचाइ कहों बलु भाषी। भामिनि भइहु दूध कइ माखी।।
मा०२।१८-४।
२. दीन्ह लखन सिख अस मन मोरे ।।—मा० २।१२-४

उपर्दुक्त पंक्तियो मे दूध की माखी एवं दीन्ह लखन सिख ने अपने मुख्यार्थ का त्याग इसी से संबद्ध अर्थ उपेक्षित एवं दण्ड के लिये किया है। यहाँ दूध की माखी का अपना अर्थ समाप्त हो गया तथा उसका अर्थ लिया गया उपेक्षित।

१. साहित्यदर्पण-विश्वनाथ-२।६
२. वही, २।७

सारोपा--वह लक्षणा सारोपा कही जाती है जिसमे विषय (अर्थात् आरोप्य विषय-जिस पर आरोप किया जाय) अपने स्वरूप मे विद्यमात रहते हुए भी एक साथ एक रूप (अभिन्न) प्रतीत हुआ करता है[1]–उपर्युक्त उदाहरण "माया मृग पाछे सो धावा" (३।२६-६), यहाँ पर मृग विषय अपने स्वरूप मे विद्यमान रहते हुए भी माया से अभिन्न प्रतीत होता है। साधारण रूप मे कहना चाहिए था कि राम माया के मृग के पीछे दौडने लगें–पर यहाँ पर सीधा मायामृग ही कहा गया है–यह प्रयोग से रूढ हो गया है।

साध्यवसाना--जिसमे विषयी के द्वारा आच्छन्न स्वरूप विषय के अभेद का अनुभव हो वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है।[2]

"हमहु कहवि अब ठकुर सोहाती" मे विषयी 'ठकुर सोहाती' के द्वारा विषय बात का अनुभव हो रहा है, इसलिये यहाँ पर साध्यवसाना रूढि-लक्षणा है।

शुद्धा एवं गौणी--जहाँ सादृश्य रूप संबंध से भिन्न प्रकार के ही संबंध, जैसे कार्य कारण, भावादि रूप संबध पाए जायँ, वहाँ शुद्धा तथा जहाँ सादृश्य आदि सबध से अन्य अर्थ लिया जाय वहाँ गौणी रूढि लक्षणा होती है।[3]

जैसे 'भामिनि भइहु दूध कइ माखी' मे सादृश्य को कारण कहा गया है। यहाँ रानी दूध की माखी नही होगी अपितु दूध की माखी के समान रानी की दशा हो जायगी। जैसे दूध से माखी को बेकार की दूपित समझ कर निकाल फेंका जाता है, उसी प्रकार रानी को भी उपेक्षित कर दिया जायगा। इसलिये यहाँ पर गौणी का प्रयोग है।

एकहिं बार आस सब पूजी। अब कछु कहब जीभ करि दूजी।।--मा० २।१५-१
यहाँ पर जीभ कारण तथा कहना कार्य है। मंथरा के द्वारा दूसरी जीभ लगाकर कहने मे चमत्कार है अर्थात् अब मै इस जीभ से कुछ नही कह सकती। मुझे तो अब दूसरी जीभ ही लानी पडेगी।

प्रयोजनवती लक्षणा--जहाँ पर कारण विशेष से ही शब्द के मुख्यार्थ का बाध होता है, वहाँ पर प्रयोजनवती लक्षणा होती है--

व्याकुल विलपत राजगृह मानहुं सोक नेवासु।–(मा० २।१९९) मे राजगृह का प्रयोजन के कारण राजाओ का घर मुख्य अर्थ है जो 'विलपत' के कारण बाधित

१. साहित्यदर्पण २।८–९
२. वही २।९
३. वही २।९

शब्द को (Dread disturbance) इन दो शब्दो मे किस विचित्र सौंदर्य के साथ प्रस्तुत किया है। तुलसीदास जी ने भी "घन घमड नभ गरजत घोरा" इन शब्दो मे पावस गर्जन का दृश्य हमारे सामने उपस्थित कर दिया है।

यह तो प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि प्रत्येक शब्द के और विशेषकर ऐसे गर्जन के शब्द के तीन भाग होते है। पहला भाग (Original sound) या मूल शब्द है। गर्जन के आरभिक शब्द को डिकस D और T, ड और ट इन दोनो शब्दो मे व्यक्त करता है, और तुलसीदास जी उसे घ और भ से व्यक्त करते है। शब्द का दूसरा भाग, 'शब्द' का पैदा होते ही वायु मडल मे तरगित हो उठना है जिसे (Reverberations) गूँजना कहते है। शब्द के इस भाव को दोनो शाब्दिक चित्रकारो ने R या 'र' से व्यक्त किया है। प्रत्येक शब्द का तृतीय भाग अत मे समाप्त होता है। उस समाप्ति को डिकस ने "S, C", से और तुलसीदास ने 'आ' से व्यक्त किया है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि (Dread desturbance) मे डिकस ने D और T तथा तुलसीदास ने 'घन घमड नभ गरजत घोरा' मे घ और भ से ही शब्द की प्रारंभिक प्रक्रिया को क्यो व्यक्त किया ? बात यह है कि शीतप्रधान इग्लैड के भयकर तूफान की गरज मे गूँज कम और शब्द की कर्कशता अधिक होती है। हमारे देश मे भी पत्थर की कड़क प्रसिद्ध है। किंतु भारत के वर्षाऋतु के मेघ गर्जन की गूँज में शब्द की गूँज अधिक होती है। हाली ने कहा भी है—

जाते हैं तो कोई जाने। हमराह है लाखो तोपखाने।

इद्र महाराज की तोपो की गड़गड़ाहट से जमीन दहल जाती है।

अब रहा द्वितीय भाग का विवरण, सो डिकस के शब्दो में 'र' का शब्द बहुत ही स्पष्ट रूप मे है। किंतु क्या तुलसीदास की चौपाई मे नही ? उत्तर स्पष्ट है। ओले की कड़क मे दो शब्दो की कर्कशता की तरग का वेग अधिक होता है, वर्षा ऋतु के गर्जन मे कम।

डिकंस "S, C" से शब्द क्यो समाप्त करता है और तुलसीदास जी 'आ' से क्यो ? इसको ईश्वरीय प्रसाद के अतिरिक्त और क्या कहा जाय की स्थान और ऋतु का चित्र दो दो, चार चार शब्दो मे पूर्णरूप मे खीच दिया है। कहा जाय कि स्थान और ऋतु का चित्र दो दो, चार चार शब्दो मे पूर्णरूप से खीच दिया है। डिकंस समुद्र के किनारे एक ऐसे तूफान की चर्चा कर रहा है कि जहाँ गरज और कड़क कम होते ही प्रबल पवन तथा समुद्र की लहरे :—

"चलत पुरवाई सूम सूम सनानानानां"

की भाँति अपने शब्द का चित्र खीच देती है और तुलसीदास ने प्रतिध्वनि के रूप मे आ, प्लुत आ, से श्री रामचद्र जी से ऐसे स्थल पर (उपदेशपूर्ण आध्यात्मिक पाठ के साथ) वर्षाऋतु का दृश्य खिचवा दिया, जहाँ पपापुर के निकट एक छोटी पहाड़ी

पर महाराज रामचद्र बैठे है और चारों ओर प्रतिध्वनि को ध्वनित करने वाली पहाडियाँ उपस्थित है। ऐसी एक नहीं, सहस्रो अमूल्य चौपाइयाँ मोतियों की भाँति तुलसीदास जी के अतुल कोष मे भरी पडी है। आप इस कोष को पश्चिमी सिद्धात की ही कुजी से खोलिए और उसे अपने ही नही, वरन् सारे जगत् के साहित्य के गौरव का कारण बनाइये।

काव्य की दूसरी शक्ति चित्रशक्ति (Picture force) है। चित्रशक्ति के उदाहरण प्रस्तुत करने के पूर्व चित्र के गुण निश्चित कर लेना उचित है। गहरे रग और बाँकेपन के आधुनिक चित्र वास्तव मे चित्रकला के नाम पर कलक लगाते है। चित्र वह है कि जिसमे चित्रकार की लेखनी चित्र खीचते हुए समस्त भावों का फोटो लाकर सामने उपस्थित कर दे, चित्र का प्रत्येक अग आतरिक भाव को बता दे। इस समय हमको अपने मित्र सहर (हगामी) का एक शेर स्मरण आ गया है, जिसमे उन्होने आनदोल्लास और लज्जा के भाव को एक साथ ही अमित सौंदर्य के साथ इस प्रकार प्रकट किया हे मानो जीता जागता चित्र सामने खड़ा है——

आह यह जोशे मसर्रत यह तक़ाजाए हया।
खद· ज़ेरे लब निगाहे शौक़ शरमाई हुई।

तुलसीदास जी ने भी इस दोहे मे——

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जत्रिका, प्रान जाहि केहि बाट।

जिस सुदरता तथा सफलता से अशोक के नीचे राम के स्मरण मे तल्लीन बैठी हुई सीता की पदपृष्ठ पर आँखो की टकटकी लगी हुई दशा का चित्र खीचा है उसे मर्मज्ञ ही समझ सकता है। उन्होने पचज्ञानेद्रियो मे विशेष कार्यकर्ता श्रवण, नेत्र और जिह्वा को रूपक के बदीगृह मे कैसा जकड़ा है। जिह्वा पर राम नाम का पहरा है। अतएव इस मार्ग से प्राण का निकलना अथवा मृत्यु का आना कठिन है। इसी तरह जिह्वा तो राम नाम के आनद मे लीन है और श्रवण जिह्वा से निकले हुए आध्यात्मिक आनद से पूर्ण उस नाम के सुनने मे तल्लीन है। (यह स्मरण रहना चाहिए कि अपनी जिह्वा का शब्द चाहे वह कितान ही मद क्यो न हो, कानो को अवश्य सुनाई पड़ता है।) आह ! फिर यह तन्मयता का पहरा भी किस गजब का है कि "दिवस निसि" दिन रात रहता है, कोई समय खाली नही, आलस्य का कही पता नही। 'लोचन निज पद जत्रिका' दृष्टि मे सूत्र की कैसी सुदर जजीर है। पैर पर तल्लीनता की टकटकी लगी हुई है। जब मनुष्य या ध्यान अधिक गहराई मे होता है, तब बाह्येद्रियाँ इसी प्रकार प्रकट रूप मे एकाग्र हो जाती है। टेनिसन (Tennyson) ने भी Passing of Arthur मे, जब सर बेडीवेर (Sir Bedivere) आर्थर की तलवार फेकने अथवा छिपाने के सबध मे सोच विचार कर

रहा था तब, लिखा है कि वह (counting the dewi bebbles) ओसकरण की गणना कर रहा था। अब उन अतरेंद्रियो को लीजिए जिनके लिये 'ध्यान तुम्हार कपाट' राम के ध्यान का कपाट है। दर्शन शास्त्र का कहना है कि मनुष्य अपने मन से जिस वस्तु का ध्यान निकाल डाले, उसका अस्तित्व वहाँ नही रह सकता। भला जब भीतरी और बाहरी इद्रियो को राम के अतिरिक्त किसी और बात को स्मरण करने का समय ही नही, तब फिर मृत्यु बेचारी की क्या शक्ति है कि इस सदेह तन्मयता मे प्रवेश कर सके। ऐसे उत्तम शब्दचित्र उन लोगो की भाषाओं में कितने है जो हमारी भाषा को गँवारी भाषा कहने का दुस्साहस करते है? हमारा कहना यह नही कि ऐसे चित्र अन्य भाषाओ मे है ही नही, परतु प्रश्न यह है कि इस श्रेणी के चित्र कितने और किस ढग के है ?

अंग्रेजी भाषा के पंडित प्राय: कहा करते है कि शेक्सपियर के चित्रो का प्रभाव बायस्कोप (Bioscope) का सा होता है। अर्थात चलती फिरती तस्वीर सामने आ खड़ी होती है। वास्तव मे है भी ऐसा ही। शेक्सपियर इन्ही विशेषणो के कारण काव्य संसार के राजाओ मे समझा जाता है। किंतु क्या विविध आकर्षणों तथा प्रेम प्रभावो का चित्र निम्नलिखित प्रसिद्ध दोहे से बढ़कर और कही मिल सकता है—

अमी हलाहल मद भरे, स्वेत स्याम रतनार।
जियत, मरत, झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार।

अब तुलसीदास का भी एक वैसा ही चित्र देखिए। जब धनुप यज्ञ मे देश-देशांतरो के बड़े बड़े राजाओ से शिवजी का धनुप तिल भर भी न हट सका और स्वभावत: राजा जनक ने क्रोध और निराशा के ये वाक्य कि, "बीर विहीन मही मैं जानी" भरी सभा मे कह डाले, तब लक्ष्मण जी को वे असह्य हो गए। जनक के क्रोधपूर्ण शब्दो ने बाण से भी अधिक काम किया। वीर क्षत्री बालक तड़प गया।

माखे लखन कुटिल भइँ भौहे। रदपुट फरकत नयन रिसौहैं।

इन शब्दो मे उस दशा के आवेग के समस्त भावो का चित्र कवि ने किस सुदरता और कुशलता से खीचा है।

इस समय हमे लक्ष्मण के रूप मे बीसवी शताब्दी का एक स्वाभिमानी युवक आवेश की स्टीम से भरा हुआ देख पडता है। किंतु खेद है कि इस स्टीम को एकाएक रोक देने के लिये कभी कभी हमारे नवयुवको में अनुशासन (D-sciplıne) नही होता। किंतु लक्ष्मण के उस आवेग के रोकने के लिए श्री रामचद्र जी का सकेत पर्याप्त था, "सैनहि रघुवर लखन निवारे"

इन दोनो शक्तियो के अतिरिक्त एक और तीसरी शक्ति है जिसके बिना कविता कविता नही कही जा सकती। वर्तमान समय के सबसे बड़े कवि रवींद्र बाबू का कहना है कि कवि वह है जो अपने को वस्तुओ के अतस्तल मे तन्मय कर दे। (A Poet is he who lives himself in the heart of things) 'नसीम' का भी कहना है कि "मरकज पे कशिश मेरी पहुँच जाय।" मरकज (केंद्र) से नसीम का तात्पर्य भावुकता के केंद्र से है। इस शक्ति को भावशक्ति (heart force) कहते है। जिस प्रकार तर्क शास्त्री (नैयायिक) बुद्धि के रूप मे अपने सिद्धात को क्रमश मस्तिष्क तक पहुँचा देता है। उसी प्रकार कवि अपनी बात को एक ऐसे मनभावने रूप मे प्रस्तुत करता है उसका साक्षात् चित्र सामने उपस्थित हो जाय। यह वाक् शक्ति से मानवी श्रवण शक्ति को ऐसा मुग्ध कर लेता है कि उस राग के अतिरिक्त और कोइ राग अच्छा ही नहीं लगता; और इस प्रकार हृदय पर अधिकार जमा लेता है। इसका फल यह होता है कि तर्कशास्त्री (नैयायिक) की बातो का प्रभाव कदाचित् मस्तिष्क ही तक परिमित रह जाय, परतु कवि श्रोताओ को नख से शिख तक मंत्रमुग्ध कर देता है।

अब मै वर्तमान काल के मनचले पाश्चात्य साहित्य प्रेमियो को पहले उन्ही की वाटिका की सैर कराता हूँ। मै उनको यह बतलाने का प्रयत्न करूँगा कि अँग्रेजी के जिस उद्यान मे वे टहलते है और जिसके पुष्पो के साधारण परीक्षण ने उनको इतना प्रमत्त बना रखा है, यदि वे उसके फूलो के 'रस' को मधुप की भाँति ठहर ठहर कर पान करे तो अनुभव करेंगे कि वास्तव मे हमारी वाटिका नंदन वन से कम नही। उन्हे 'नरगिस' की निराली चितवन 'सौसन' की जुबाँ दराजी और 'कुमरी' के उन्मत्तकारी राग और 'सर्व' के माशूकाना ढग का उसी समय ठीक पता लगता है। आइए, पहले 'रसकिन' के कथनानुसार किसी अंग्रेजी वाक्य का शाब्दिक निरीक्षण करे। किगस्ले नामक सफल कथाकार ने एक ऐसे स्थान की चर्चा करते हुए, जहाँ सदैव वसत विराजता है पतझड़ की प्रसशा मे कहा है कि "गत वर्ष, नवीन वर्ष के लिये हार गूँथने को मुस्कराता हुआ घसिट रहा है।" (The old year lingers smilingly to twina a garland for the new) इस रूपक मे पतझड की ऋतु को वृद्ध पुरुष के रूप मे मनुष्य का जामा पहनाने मे ऋतु का फोटो सामने लाकर खडा कर दिया गया है। हिम का श्वेत वर्ण वृद्धावस्था के श्वेत केशो की भाँति है। यौवन की आवेशपूर्ण उष्णता का भी समय शेप नही रहा है, इसलिये (Lingais) घसिटना बड़ा ही सार्थक शब्द है। वृद्ध वर्ष उस रमणीक स्थान मे जहाँ वह प्रकृति के शृगार पर आसक्त रह कर १२ मास तक रहा, जाना नही चाहता। प्रकट रूप मे वह [illegible], खेद और अभिलाषा के भावो से युक्त है। जैसे 'सहर' साहब शकुतला के कण्व ऋषि के आश्रम से बिदाई की

चर्चा करते हुए कहते है "दीवार से दर से मिल के रोई", कुछ वही बात इस शब्द Lingers मे भी है किंतु स्वार्थ अथवा खेद का दोप हमारे वृद्ध वर्ष मे नही है। उसका ठहरना या रुकना कुछ और ही अर्थ रखता है क्योंकि Smilingly ने स्पष्ट रूप मे प्रकट कर दिया है कि यद्यपि मनोरम दृश्य होने के कारण हमारे वृद्ध वर्ष को उसका वियोग बुरा लगा है, तथापि मुस्कराहट इस बात का प्रमाण है कि इस कृतज्ञ 'वर्ष' ने १२ मास तक अपना कर्तव्य पूर्ण रीति से पालन किया। अतएव अब 'सादी' के कहने के अनुसार—

आँ चुनाँ जी कि वक्त मुरदने तो,
हम. गिरियाँ बुवदो तो खंदा।

संतोष की प्रसन्नता मुसकराहट के रूप में प्रकट है। फिर शब्द मुसकराहट है, ठट्ठा मारकर हँसना नही। यह क्यो ? कारण स्पष्ट है कि ठट्टा मारकर हँसना यौवन का चिह्न है जो वृद्धावस्था की गंभीरता के विरुद्ध है।

दूसरे बिदाई का समय है। ठट्ठा मारकर हँसना हार्दिक भावों के विरुद्ध होता है। तीसरे रूपक के रूप मे ठट्ठा मारकर हँसना फूलो के खिलने का द्योतक है। अतएव पतझड़ के थोड़े से फूलो की उपमा वृद्ध वर्ष की मुसकराहट से दी गई है। अब दूसरा दोष स्वार्थ रहा। वह "To twine a garland for the new." (नूतन वर्ष के लिये हार गूँथने के लिये) शब्दों से किस खूबी के साथ दूर हो जाता है अर्थात् उदारचित्त 'वर्ष' के ठहरने का अभिप्राय यह है कि वह अपने आनेवाले पदाधिकारी के स्वागत के लिये एक सुंदर हार गूँथ ले। यह भी सोचने की बात है कि केवल एक ही हार गूँथने की कृपणता क्यो ? पुष्पवृष्टि क्यो नही ? इसके कारण निम्नलिखित है—

(१) पतझड़ से थोड़े से बचे खुचे फूल रहे है। इतनी अधिकता नही कि लुटाए जा सके। वृद्ध वर्ष परिश्रम से एक एक फूल चुनकर हार गूँथ रहा है।

(२) उपेक्षा के साथ डलियों से फूल लुटाना वृद्धावस्था की गंभीरता के विरुद्ध है।

(६) फूलो के लुटा देने मे यौवन के थोड़ी देर के उबल पड़नेवाले आनंद वेग का भान होता है; इतने गहरे और चिरस्थायी प्रेम का नही, जो परिश्रमपूर्वक एक एक फूल चुनकर केवल एक हार गूँथने में पाया जाता है।

वसत की मनोहरता के चिह्न अब भी शेष है। गद्यलेखक ने किस सौदर्य के साथ विगत वर्ष की प्रशसा की है और साथ ही नूतन वर्ष का आगमन तथा नव आशाओं का चित्र सामने उपस्थित किया है। ऐसा कौन हृदय

होगा जो इस विगत वर्ष को, जिसने अपने सरक्षण में बारह मास तक उपवनो का सौंदर्य स्थिर रखा, आनद और प्रेम के साथ नूतन वर्ष का स्वागत करते देख प्रसन्नता से इस ध्यान मे मग्न न हो जाय कि कृतज्ञ 'वर्ष' को नवागत होनहार वर्ष से अनेक आशाएँ है ।

इसी प्रकार शब्दो के पारखी एक एक शब्द को परखकर अनमोल हार तैयार करते है । विषय वढ गया इसलिये उर्दू भाषा से केवल एक ही उदाहरण पाठको के सामने और उपस्थित किया जाता है । यदि कभी अवकाश मिला तो दिखाऊँगा कि 'नसीम' का यह सादा शेर—

'बाकी साकी शराब दे दे ।
साकी बाकी जो कुछ हो ले ले ।।

इस साहित्य कसौटी पर कैसा खरा उतरता है। यहाँ कवि के शब्दो का वदलना तो दूर रहा, उनमे उलट-फेर भी नही कर सकते ।

अब उस भाग की तरफ भी आइए जिसे लोग गवाँरू कहते है जो बहुमूल्य रत्नजटित हार आपको हिंदी के कोष से भेट किया जाता है, वह एक देहाती गीत का प्रथम चरण है . 'कहे मँदोदरि सुनो लकपति सिया न तेरे काम की है । दे दे सिया को पीया तू यह प्यारी सीताराम की है ।" भाषा प्राकृतिक रग मे ऐसी रँगी है और कृत्रिमता से इतनी दूर है कि वाह्य काव्य की कृत्रिमता पसद करनेवाले लोगो को हिंदी की सरलता ही उसका दोष प्रतीत होती है । जिन्होने Scott के Ballads नही पढे, उनकी 'मोहबेवाले वड़े लड़ैया जिनके बल कर वार न पार' आल्हे के सादे चरण का क्या ज्ञान ? उनको कदाचित् जामी की भाँति युद्ध मे अस्थियो को चूर चूर होने का एक रूपक वादाम चवाना ही भला जान पडेगा। हर्ष की वात है कि समय के साथ साथ साहित्य-संसार ने भी रग वदला है; और हिंदी अग्रेजी के स्वाभाविक सौदर्य ने कालगति के कारण भारत के साहित्य ससार पर अपना रंग जमाना आरभ कर दिया है। आइए, लकापुरी मे महाराजा रावण और उनकी पटरानी मदोदरी का वार्तालाप सुने । कवि कहता है—

'कहे मदोदरि सुनो लकपति सिया न तेरे काम की है ।
दे दे सिया को पीया तू यह प्यारी सीता राम की है ।

कवि अवश्य देहाती है; क्योकि उसने 'मंदोदरी' के स्थान पर 'मँदोदरि' का प्रयोग किया है । यद्यपि इसके भीतर भावो का वह कोष है जिसका मूल्य भावुक हृदय ही परख सकता है, किंतु जहाँ तक वाक्-शक्ति इनको प्रकट कर सकती है, वहाँ तक मैं अपने पाठको के सामने निवेदन करने का प्रयत्न करूँगा ।

पहले पद्य का प्रथम अर्द्ध चरण लीजिए । मंदोदरी उन पाँच पवित्र महिलाओ में से है जिन्हे पंचकन्या कहते है और प्रात.काल जिनका नाम लेना शुभ समझा

जाता है। ऐसी स्त्री का पति एक ऐसा घोर पाप करना चाहता है जिसके स्मरण-मात्र से आत्मा काँप उठती है। रानी किसी प्रकार उसे इस कार्य से वचित रखना चाहती है। वह बुद्धिमती रानी जानती है कि मेरे पतिदेवता रावण का भी अपनी आन-बान (मान-मर्यादा) की सरक्षकता का भाव एक ओर तो परिणत होकर आचारिक सौंदर्य के रूप मे और उससे भी अधिक दूसरी ओर अहकार के रूप मे काम कर रहा है।

मिल्टन के कथनानुसार निर्बल आत्माओ मे आदि से अत तक अहकार का दोप होता है; और महान् आत्माओ मे यह अतिम दोष है जो समस्त दोषो के दूर हो जाने पर भी प्राय शेष रहता है। अर्द्ध चरण मे रानी इसी आन-बान के ध्यान और अहंकार के भाव को सम्मिलित करके अपना काम निकालना चाहती है। यह भी ठीक है; क्योकि अगर किसी से उसके विचारो को दृष्टि मे रखते हुए प्रार्थना की जाय तो उसी समय सफलता की आशा होती है। इसीलिये मंदोदरी रानी की हैसियत से महाराज रावण से मान के साथ कहती है। इसी सबध मे 'कहे' का जिसमे प्रतिष्ठा का भाव पाया जाता है, प्रयोग किया गया है; और रावण को भी लकपति (लका के राजा) के संबोधन से सबोधित किया गया है। फिर सिया और लकपति ! मदोदरी रावण की शान मे लकापति जैसे शानदार नाम का प्रयोग करती है और उसके समुख सीता जी के लिये 'सिया' जैसा छोटा नाम जिह्वा पर लाती है। अभिप्राय यह कि लंकपति को यह कदापि उचित नही कि 'सिया' जैसी तुच्छ स्त्री पर दृष्टि डाले। यही नही, वरन् किसी किसी समय कवि, जिसकी रवींद्रनाथ टैगोर उस प्यारी बाँसुरी से उपमा देते है जिसके छिद्रो से प्रकृति के शब्द निकलते हैं, ऐसी उत्तम बाते लिखता है जिनके सौंदर्य को सभवत. वह स्वय भी न समझे, किंतु जिसकी खूबियाँ बाद मे प्रकट हुए बिना नही रह सकती। कवि देहाती है अतएव मेरी धारणा है कि शब्दो का वह सौंदर्य जो अब वर्णन किया जायगा, सभव है उसके ध्यान मे उस समय न आया हो। किंतु वह इन दोनो शब्दो के विरोधाभास अलंकार के सौंदर्य को दूना कर रहा है। फिर 'सिया' का शाब्दिक अर्थ 'हल के कूँड़े से पैदा होनेवाली' है और सीता जी का नाम भी इस कारण सिया था कि वे राजा जनक को खेत में मिली थी। कैसा सुदर सबध है। ऐसी तुच्छ हैसियतवाली स्त्री लका जैसी काचन-पुरी के राजा की स्त्री बनने के योग्य कैसे हो सकती है ?

जहाँ पूरा पद समाप्त होने पर हमे कुछ विराम की आवश्यकता है कि वहाँ उसी विराम की इसलिये भी आवश्यकता है कि मदोदरी को इस बात का पता लगे कि उसकी बातो का रावण पर क्या प्रभाव पडा। ज्योही रावण के मुख पर मदोदरी की दृष्टि पड़ी कि तत्क्षण विद्युत् के सदृश यह भाव उसके मस्तिष्क में दौड़ गया कि वासना के दास रावण की प्रतिष्ठा और अहकार का भाव भी चला

गया। और अब उसको अपनी राजसी मर्यादा की भी परवाह नही। रानी तड़प जाती है, और अत्यत बुद्धिमत्ता के साथ, जिसमे कुछ निराशा की झलक भी है, अपनी बातो का ढग बदलती है और अपने पति को इस पाप से वचित रखने के लिये जी तोड़कर अतिम चेष्टा करती है।

पाठको को यह तो मालूम होगा कि इस अवनति काल मे भी आर्य स्त्रियाँ सेवा, कृतज्ञता और सहिष्णुता मे ससार मे भी अपनी उपमा नही रखती। कैसी सहिष्णुता है कि पत्नी की हैसियत से अपने पत्नीत्व के स्वत्व पर विवाद करते हुए अपने स्वार्थ से लगाव रखनेवाली प्रार्थना कभी उसके जिह्वा पर न आवे।

परंतु मदोदरी की अतिम चेष्टा है। पति को पाप से बचाने का कठिन प्रश्न उपस्थित है। पति का गर्व भी कुछ सहायता नही करता। अस्तु, विवश होकर अतिम उपाय का अवलवन करती है और पत्नीत्व के स्वत्व का स्मरण दिलाते हुए, कैसे जोर साथ के कहती है--

'दे दे सिया को पीया तू !' अहाहा ! इस एकाएक परिर्वतन मे नाटक की जवनिका बदलने का सा आनंद आता है। पल भर मे ही राजा-रानी के स्थान पर पति और पत्नी समुख है। 'कहे' के प्रतिष्ठापूर्ण शब्द के स्थान पर सीधा सादा बल और स्वत्व से भरा हुआ 'दे दे' का शब्द कहा जाता है (वास्तव में घर मे और विशेषकर ऐसे स्थल पर कृत्रिमता के शब्द बुरे लगते है)। 'पिया' का प्यारा शब्द, वह जिसको हिंदू स्त्रियाँ अपने प्रेम भरे सच्चे भावो के प्रकट करने को संसार के कानो से दूर प्रयोग करती है, इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि पत्नीत्व के स्वत्व पर पूरा विश्वास है और पति के भावो के उभारने की पूर्ण चेष्टा की जा रही है। कुछ क्रोध की झलक भी अवश्यक है। कहना यह है--हे दुष्ट रावण ! तेरी स्त्री तो मै हूँ। क्यो पर-स्त्री को अपनाना चाहता है ? मेरे होते हुए तुझे इस बात का कोई स्वत्व नही। किंतु पूजनीय हिंदू स्त्रियो की जिह्वा से, जो कभी सदाचार की परिधि से बाहर नही जाती, ऐसे स्थल पर भी पति के लिये कटु शब्द नही निकलते। अत. रानी इसी बात को बड़ी सुदरता के साथ यो कहती है--

"यह प्यारी सीता राम की है।"

अभिप्राय यह कि तेरी तो मै हूँ, यह सीता राम की है। तुझे सीता पर कोई अधिकार नही। यह सब बाते वह ऐसे प्रबल ढंग से कहती है कि तेरी स्त्री होने की हैसियत से मुझे यह स्वत्व प्राप्त है कि मै तुझको बलपूर्वक ऐसा करने के लिये विवश करूँ। 'दे दे' इसीलिये कहा गया है। (कटु बातो को मृदुलता से कहने का) इससे बढ़कर और कोई उदाहरण नही हो सकता।

बिहारी, तुलसी और सूर का तो कहना ही क्या, जिस भाषा के तुच्छ से तुच्छ पद्यों मे भी ऐसी खूबियाँ उपस्थित है, क्या वह भाषा या उसका साहित्य इस योग्य नही कि विश्वविद्यालयों की कक्षा मे पढाया जा सके ? मेरा अंतिम निवेदन यह है इस प्रबंध को कालेज के विद्यार्थी विशेषरूप से पढे और उनसे अधिक वे महापुरुष पढ़े जिन्होने हिंदूविश्वविद्यालय के पाठ्य विषय नियत किए है ।

'शवनम से जो वजहे गिरियाँ पूछी तो कहा ।
रोना फकत अपनी बे-सबाती का है ।'

ठीक इसी प्रकार हम प्रयाग विश्वविद्यालय को दोष क्यो दे, जबकि अपनी जाति के लोगो को अपनी भाषा पर इतना भरोसा नही कि उसको कम से कम आवश्यक विषय ही की भाँति रख सके । क्या केवल हिंदी लेखन-कला से ही काम चल सकता है ? आह ! क्या नवरत्न तथा तीस से अधिक प्रथम श्रेणी के, सत्तर से अधिक द्वितीय श्रेणी के और तीन सहस्र से अधिक और कवि रखने वाली शताब्दियों की वह भाषा, जिसके भक्त कबीर, रहीम, मलिक मुहम्मद जायसी और अमीर खुसरो जैसे उच्च विचार के मुसलमान तक रहे है और जिसकी प्रतिष्ठा 'नियाज' फतेहपुरी जैसे प्रसिद्ध कवि अब भी करते है, इस योग्य नही कि हिंदू उसे अपने विश्वविद्यालय मे विशेष स्थान दे ? क्या विना हिंदी के 'हिंदू विश्वविद्यालय' नाम रखना अनुचित नही ? क्या निजाम सरकार हैदराबाद के कार्यक्रम से उपदेश नही लिया जायगा ?

काव्य के दो बड़े भेद है,—एक तो वह जिसकी कसौटी शेक्सपियर 'प्रकृति-दर्पण' ठहराता है, जिसमे प्रतिदिन के सामान्य गीतो से लेकर नाट्यकला के उच्च आदर्श तक सम्मिलित है । इस कला का निपुण कवि मनुष्य के हृदयगत भाव, उनके संबंध और प्राकृतिक दृश्य का यथातथ्य चित्र 'दर्पण के समान' सामने रख देता है । यदि कुछ अंतर होता है तो केवल इतना ही कि देखनेवालो को उससे शिक्षा मिल सके; और उसकी अच्छाइयाँ ऐसे चित्ताकर्षक ढंग से सामने लाई जाती है कि हृदय अवश्य ही उनकी ओर खिंच जाय । किंतु ऐसा कवि शिक्षक के रूप प्रत्येक समय सामने नही रहता, इसलिये प्राय. सामान्य त्रुटियो के उभारने मे भी निस्संदेह कुछ न कुछ सहायता पहुँच जाती है; कवि का अभिप्राय चाहे इसके प्रतिकूल ही क्यो न रहा हो । उदाहरण-रूप मे वह प्रभाव सामने है जो आजकल देश के नवयुवको की नाटक तथा उपन्यास के अध्ययन वाली 'लत' दिखला रही है ।

दूसरे प्रकर का भेद वह है जो लोगो के सामने अनुकरण करने के लिये चुने हुए नियमो को रखता है । ऐसे कवि का हार्दिक अभिप्राय यह होता है कि उन व्यक्तियो के चित्र सामने लाए जायँ जिनके दर्शन से प्रभावित होना हमारे लिये उन्नति का कारण हो । कवि अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रायः ससार को छोड़कर स्वर्ग, नरक, देवताओ और राक्षसों के चित्र खीचता है जिससे हमारी विचार-शक्ति इस प्रकार

प्रभावित हो जाय जैसी केवल सामान्य मानवीय क्षुद्र चरित्र-चित्रण से संभव नही। ऐसी रचना की उच्च कक्षा पर महाकाव्य (Epic poetry) है। किसी ने कितना अच्छा कहा है–Shakespeare's imaginatio 1 was horizontal and that of Milton Vertical,, अर्थात् शेक्सपियर की रचना प्राकृतिक थी और मिल्टन की जो दूसरी श्रेणी का बहुत बडा कवि हुआ–अप्राकृत तथा ऊँची उडान भरनेवाली। एक सासारिक दृश्यो का वर्णन करता है और दूसरा पृथ्वी पर पैर नही रखता। इसी कारण अग्रेजी काव्यकला के समालोचको की धारणा है कि शेक्सपियर मिल्टन नही हो सकता और न मिल्टन शेक्सपियर। किंतु हिन्दी के प्रसिद्ध और विख्यात कवि तुलसीदास ने इस असंभव वात को सभव करके दिखला दिया है।

तुलसीकृत रामायण के वालकाड मे एक स्थान पर महाराज रामचंद्र और महारानी सीता दोनो राजकुमार और राजकुमारी के रूप मे जनकपुर के एक मनोहर उपवन मे टहलते हुए शृगाररस मे निमग्न दिखलाई देते है। जीते-जागते प्रेम की पारस्परिक आकुलता देखकर हृदय एकाएक वोल उठता है कि मेरा पूर्ण-त्रुटिहीन-चित्र यही है। आभूपणो और घुंघरू की झनकार इस वात के लिये पर्याप्त होती है कि राजकुमार के हृदय को अधीर करके स्वय उसी के मुँह से प्रेम की विजयघोषणा करा दे,—

मानहुँ मदन दुदुभी दीन्ही। मनसा विस्व विजय कहँ कीन्ही॥

इससे भी अधिक रोचक वह वातचीत है जिसमे राजकुमार अपनी प्रेम-निमग्नता की चर्चा लक्ष्मण से करते है :—

करत वतकही अनुज सन, मन सिय - रूप लुभान।
मुख—सरोज—मकरद-छवि, करै मधुप इव पान॥

वातें तो भाई से हो रही है। पर ध्यान सीता की सौदर्य-कल्पना मे लगा हुआ है। भ्रमर के समान कमल से रस चूसना कितनी उत्तम उपमा है–

धरि वड़ि धीर राम उर आने। फिरी अपनपौ पितु वस जाने॥
देखन मिस मृग विहँग तरु, फिरइ वहोरि वहोरि।
निरखि निरखि रघुवीर छवि, वाढी प्रीति न थोरि॥

प्रेम का भाव-वेग हृदय को अधीर किए हुए है। तरुणाई का स्वाभाविक लजीलापन, जो मानवीय सभ्यता का एक प्रधान अग है, इस वात की आज्ञा नही देता कि फिरकर प्रेमाधार के दर्शन कर सके। सखियाँ साथ है और फिर प्रिय-मिलन भी पिता के कठिन प्रण पर निर्भर है। अतृप्त आकुल हृदय चाहता है कि फल, फूल, पेड और पक्षियो को देखने के वहाने से ही उस आत्म-मुग्धकारी सौदर्य की एक झलक देखले; और देखने मे :—

मरज वढ़ता गया ज्यो ज्यो दवा की।

किंतु पलक झपकते ही दोनो पात्र मानवीय वेश छोड़कर देवता और देवी

का स्वरूप ग्रहण कर लेते है और ऊपर का संपूर्ण दृश्य उनकी 'लीलाओं' के रूप मे पलट जाता है। सीता की सुकुमार सौदर्य-प्रतिमा "जगत जननि अतुलित छबि भारी" मे मातृत्व (Beauty of the universal motherhood) का भाव आ जाता है और राम 'जगतपति रामसुजान' बनकर सामने आते है। शेषावतार लक्ष्मण के "सकोर वचन" से "डगमगानि महि दिग्गज डोले" संसार को हिला देने का दारुण विभीषिकामय दृश्य सामने आता है। यहाँ पर तुलसीदास ने अपनी कला की पराकाष्ठा का एक महान् अद्भुत उदाहरण दे दिया है।

वास्तव में तुलसीदास नाट्य लेखन कला के पडित है। कौन नही जानता कि सारी रामायण अको और दृश्यो मे बॉटकर रामलीला के अवसर पर किस मनोमोहकता के साथ दिखलाई जाती है। यूनान के नाटक-लेखको का सिद्धात था कि नाटक लिखने मे अवसर, स्थान और घटना के सकलन (Unities of Time, place and action) पर ध्यान रहना चाहिए। वे नाटक को इस प्रकार अनुक्रमित करते थे कि अभिनीत काल की अपेक्षा न सही, तब भी थोड़े ही समय में नाटक की समूची मूलकथा समाप्त हो जाय। अर्थात् ऐसा नही कि एक दृश्य मे आज की बात है तो दूसरे मे १०० वर्ष पीछे की। इसी प्रकार स्थान और घटना के सकलन का विचार भी अनिवार्य समझा जाता था। परंतु शेक्सपियर जैसे स्वतत्र विचार के नाटक-लेखक ने उन सिद्धातो को पूर्णत: कृत्रिम समझकर त्याग दिया। है भी सचमुच अत्यत ही कठिन काम, कि प्रेम भाव की सब श्रेणियाँ किसी ऐसे नाटक मे दिखला दी जायँ जिसका समय केवल दो-तीन दिन मे समाप्त हो जाय। शेक्सपियर से महाकवि को भी अपने "Tempest" नामक नाटक मे उपर्युक्त सकलन का ध्यान रखने के कारण प्रेमिक का हृदयावेग परखने के लिये लट्ठो के उठाने आदि कृत्रिम उपायो से काम लेना पड़ा है। लेकिन तुलसीदास ने जनकपुर-वाली बाजार की सैर से धनुषयज्ञ के अंत तक एक पूरा नाटक समाप्त कर दिया है। इस नाटक को इस प्रकार क्रम दिया गया है कि इसमे काव्य के सभी, नवो, रस आगए है। राजाओ की आपस मे खीचातानी, जनक की निराशा, लक्ष्मण का कोप, सीता की माता की व्याकुलता, सीता की अधीरता तथा लक्ष्मण और परशुराम की बातचीत बीच मे लाकर प्रेमभाव की वह परख की है कि सीता जी निराशा की मूर्ति बनी सामने खडी है। और प्रेम इस परख मे खरा उतरकर अपने विश्वास की ऊँची कसौटी पर (जापर जाकर सत्य सनेहू, अवसि मिलै नहिं कछु संदेहू) एक आशान्वित विचार बन गया है। जो लोग प्रेम की उलझन और काव्य की बारीकी समझते है वे भली प्रकार जानते है कि इस श्रेणी पर पहुँचाने के लिये कितना समय चाहिए और यह मार्ग कितना कठिन है। शेक्सपियर की चित्रशाला मे "Portia" के अतिरिक्त कदाचित् ही कोई

महिला इस श्रेणी के निकट तक पहुँची होगी। पदों की व्याख्या करते हुए मैं पाठकों को बताऊँगा कि प्रेम के आरंभ से इस श्रेणी मे पहुँचने तक उसकी सब श्रेणियाँ और कठिनाइयाँ इतने ही समय में कितनी सुदरता के साथ तै कराई गई हैं और आनद यह है कि कही कोई बात मानवीय स्वभाव के प्रतिकूल नही जान पड़ती और न यही जान पड़ता है कि कवि ने अपना मस्तिष्क खरोंचकर, बडी कठिनाई से, सोच-साचकर लिखा है।

काव्यकला के समालोचको की यह भी धारणा थी कि खेद और आनंद काव्य की दो विपरीत शक्तियाँ है। इनका मिश्रण कठिन है किंतु अंग्रेजी के महाकवि शेक्सपियर ने Merchant of Ve ice के न्यायालय वाले दृश्य मे यह दिखलाया है कि दोनो शक्तियाँ किस उत्तमता के साथ मिलाई जा सकती हैं। उधर तो Antonio (अटोनियो) के प्राणो पर आ बनी है और इधर निर्दय Shylo:k (शायलाक) का पत्थर-सा हृदय पिघलता ही नही, जिसके लिये ठीक ही कहा है :--

Not on the sole but on thy soul, harsh jew, thou makest thy knife keen (ऐ दुष्ट यहूदी ! तू अपने पदतल पर नही, प्रत्युत अपनी आत्मा पर छूरी तेज कर रहा है)। और पास ही पास मुस्कराहट के साथ महिलाओ और अगूठी के उपहास है। तुलसीदास की रामायण मे इससे कही अच्छे ढंग पर 'धनुषयज्ञ' मे एक तो लक्ष्मण का परशुराम के साथ 'राजपूती' और निर्भीकता से भरा हुआ चुलबुला उपहास है और दूसरी ओर सीता जी, उनकी माता और महाराज जनक के निराशाजनित ज्वार-भाटे के दृश्य है। अब यह अनुमान करने की बात है कि एक का दूसरे पर क्या प्रभाव है।

तुलसीदास केवल कवि न थे। रामायण लिखने से उनका अभिप्राय केवल यह नही था कि काव्य की एक अनोखी रचना ससार मे छोड़ जायँ, वरन् मिल्टन के समान उनका भी यही उद्देश्य था कि अपनी आयु का एक वहुत वडा भाग तैयारी मे लगाकर--

श्रीगुरु-चरन - सरोज-रज, निजमन-मुकुर सुधारि।
बरनौ रघुवर विमल जस, जो दायक फल चारि॥

गुरु के कमलरूपी चरणो की धूल से अपने मन-मुकुर को स्वच्छ करके राम के उस पवित्र चरित्र का वर्णन करे जिससे चारो फल अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष प्राप्त हो। और इसीलिये उन्होने अपने नायक के जीवनचरित्र का ऐसे विस्तार के साथ वर्णन किया है कि हम उसका अनुकरण कर सकते है और उससे अपने जीवन के लिये अनेक उचित शिक्षाएँ ले सकते हैं। फुलवारी मे दोनो राजकुमारों का टाइम-टेबुल बाँधा गया है। शिक्षा का समय समाप्त हो चुका है और अब अवकाश पाकर सैर और भ्रमण में लगे हुए हैं। इसलिये यद्यपि टाइम-टेबुल में पढने के समय की सी कड़ाई नही है; परतु फिर भी प्रत्येक कार्य-प्रणाली स्पष्ट रूप से पुकार कर कह रही है कि

काम करना प्रारंभ करो, स्वभाव स्थिर करो, सौजन्य आप आ जाएगा। सौजन्य राम और लक्ष्मण के चरित्र का अंश बन चुका है और इसलिये स्पष्ट है कि "सौजन्य ग्रहण करो" भाग्य आप बन जायगा।

इस प्रकार के स्वभाव और ढंग वाले संसार में क्या न कर जाएँगे ? उत्तम शिक्षा और सुधार का प्रभाव उनके प्रत्येक भाव, गति और वार्तालाप से प्रकट है। अधिक नहीं तो केवल इसी सुधार के साथ वर्तमान शिक्षा के प्रभाव की तुलना कीजिए कि लक्ष्मण जैसे आवेशयुक्त राजकुमार का सपूर्ण आवेश और आवेग एक क्षण में दवा देने के लिये राम की पलक का केवल एक सकेत पर्याप्त होता है,

'सैनहि रघुपति लखन निवारे'

बस पराकाष्ठा। शृंगार की तल्लीनता मे भी सौजन्य हाथ से नही गया। संसार के पुस्तकालय में शृगार रचना ढूँढ दिखालाइए तो सही कि यहाँ शृंगार की बारीकियाँ पूर्ण प्रकार वर्णन की गई है। वहाँ सौजन्य और सभ्यता की भी वही कसौटी स्थिर रही हो जो तुलसीदास के इस आनदोत्पादक वर्णन में है। क्या कालिदास और क्या शेक्सपियर कोई ऐसे अवसर पर नही बच सके। मिल्टन ने इस संबंध मे कुछ प्रयत्न किया तो परिणाम यह हुआ कि (Paradise lost) मे नितात मनोरजकता से रिक्त और प्रेमभाव से शून्य रूखा-फीका विषय रह गया। यहाँ तुलसीदास के उपदेश उपहास और प्रेम के आनंदमय दृश्यो के साथ कितने सुंदर लगते है और उपदेश भी कैसे कि वेद, शास्त्र, स्मृति और पुराण सबका निचोड़ कहिए।

इग्लैड-निवासी कहते है कि 'मिल्टन' की रचना हम अपना कर्तव्य समझकर पढ़ते है और शेक्सपियर की रचना आनंद के लिये, किंतु एक हिंदीविज्ञ कह सकता है कि मैं तुलसीदास की रचना का अध्ययन कर्तव्य समझकर भी करता हूँ और उससे मुझे असीम आनंद भी प्राप्त होता है। तुलसीदास न केवल उपदेशक थे, और न केवल कवि। इनकी रचना मे पद-पद पर उपदेश का पुट है और काव्य-रसास्वादन तो कभी हाथ से जाने ही नही पाया।

पाठक महोदय, अब अपने मुख्य दृश्य की ओर आइए। पहले प्रेमिक और प्रेमिका के हृदयो मे प्रेमभाव पैदा करने के लिये उनकी सौदर्य-परिचायक शक्ति (Aesthetic Faculties) को उभारना आवश्यक है। इसलिये वसत ऋतु, प्रात काल और उपवन के भ्रमण का समेलन कराया गया है। परतु इस विचार से कि यह उपर्युक्त शक्ति सौजन्य की परिधि से बाहर न निकल जाय और इस पवित्र दृश्य (Scene) में पाश्चात्य साहित्य के Scenes of old courtship की गुप्त 'Appointment' (विवाह होने से पूर्व ही नियत समय पर होनेवाली भेंट) की

बुराइयाँ न आ जायँ। हमारे राम और सीता एक पवित्र उद्देश्य के लिये रंगमंच पर लाए जाते है। आवश्यक पद्य की व्याख्या की जाती है—

उठे लखन निसि विगत सुनि, अरुनसिखा-धुनि-कान।
गुरु ते पहिलेहि जगतपति, जागे रामु सुजान॥

(१) 'लखन'—यह छोटा सा प्यारा (घर मे लिया जाने वाला नाम इसलिये लाया गया है कि यह बात स्पष्ट प्रकट हो जाय कि कृत्रिमता और बनावट का पता भी नही है, वरन् दिन-रात के सीधे सादे सबंध की चर्चा है। छोटा भाई लखन किस नियम-बद्धता के साथ अपने सेवाधर्म के अनुसार सबसे पहले उठता है। यह नही कि बीसवी शताब्दी के मनचले नवयुवको के समान सूर्योदय के पश्चात् भी करवटें बदला करे। प्यार और दुलार का अर्थ कर्तव्य का परित्याग करा देना कभी नही है।

(२) अरुनसिखा-धुनि कान—कृत्रिम सहायता न थी और न उसकी आवश्यकता थी। ऋषियो की गोद में पडे नवयुवक के लिये प्रकृति के बिगुल बजानेवाले की ध्वनि पर्याप्त थी। इसलिये मुर्ग की बाँग सुनते ही राजकुमार उठ बैठा। (नोट—अरुन = लाल + शिखा = चोटी) अधकार के विचार मे यह लाल रग की कल्पना क्या आनद देती है, मानो आने वाली अरुणता के गुलाबी चित्र की सूचना दे रही है।

(३) जगतपति और सुजान—संसार के स्वामी होने पर भी श्रेष्ठ ज्ञान का यह प्रभाव है कि समय, स्थान और कर्तव्य का विचार बराबर बना हुआ है। सेवाधर्म के अनुसार अपने गुरु से पहले ही जागते है। सच है, वह दूसरो पर क्या शासन कर सकेगा, जो अपने ऊपर शासन न कर सके। स्वतंत्रता (Liberty) और स्वनिर्धारित नियमो (self-adopted limitation) पर चलने मे कोई विभिन्नता नही है। क्या आप नही जानते कि यद्यपि हमारे सम्राट् के राज्य मे सूर्य नही अस्त होता, परतु सन् १६१२ ई० मे यात्रा और राज्यसभा अधिवेशन के के समय सम्राट् के प्रोग्रामों में कुछ भी अतर न पडा। नामधारी रईस विलासप्रियता की झोंक मे समय, नियम, और कर्तव्य की पूर्ति के विचार को अलग रख देते है। विष्णु के अवतार और ससार के स्वामी सदाचारिक नियमो के परिपालन का कितना ध्यान रखते है। इसका कारण तुलसीदास ने स्पष्ट बता दिया है कि उनका ज्ञान पवित्र और निर्मल है।

(सूचना) यद्यपि कोई चौपाई ऐसी नही है जो काव्य-चमत्कार से भरी न हो, किंतु मेरा अभिप्राय प्रत्येक चौपाई की व्याख्या लिखने का नहीं है, इसलिये प्राय. चौपाइयाँ छोड दी जाएँगी या इनकी शाब्दिक व्याख्या न की जाएगी।

सकल सौच करि जाइ नहाए। नित्य निबाहि मुनिहि सिर नाए॥

समय विभाग का भी स्पष्ट पता चल गया। परतु इसका विस्तृत विवरण या तो कवित्वहीन होता या अलंकारों से परिपूर्ण होने के कारण मुख्य

उद्देश्य से दूर होता। अत इस दशा मे काव्य की दृष्टि से एक त्रुटि पडती। इसलिये सक्षेप से काम लिया गया है। किन्तु भावो का कोई प्रधान अश हाथ से नही जाने दिया गया। सचमुच प्राचीन प्राच्य-नियम कितने हृदयस्पर्शी है (आह! आजकल ये किस प्रकार लुप्त होते जा रहे है।) कि प्रतिदिन प्रात काल स्वच्छता-सबधी कर्तव्य से निपट कर गुरुजनो के सामने सिर झुकाकर उनका आशीर्वाद लिया जाय। वास्तव मे मर्यादापुरुषोत्तम राम की एक एक बात अनुकरणीय है।

'समय जानि गुरु आयसु पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई॥'

और आगे चलकर लिखा है--

गिरिजा पूजन जननि पठाई।

इधर नवयुबक राजकुमारो का उचित समय पर स्वय गुरु की आज्ञा लेकर फूल लेने जाना और उधर पूर्वी सभ्यता की गोद मे पली हुई राजकुमारी का अपनी माता के भेजने पर आना--यह सयोग स्वयमेव अत्यत पुनीत और शिक्षाप्रद है।

दोनो पूजा के पवित्र सकल्प की पूर्णता के लिये जा रहे है, इसलिये शृगार रस के लिये पर्याप्त रुकावट है कि सभ्यता की परिधि से बाहर पैर न रखा जा सके और गुप्त भेट की छूत न लगने पावे और इसी अभिप्राय से एक ओर 'दोउ भाई' एक साथ है और दूसरी ओर सीता के सबध मे 'सखी लै आई' के शब्द लाए गए है। सौदर्य और प्रेम का कैसा पवित्र और पूर्वीय जीवन से भरा हुआ दृश्य है। इसका अन्य उदाहरण ससार की सभ्यता की चित्रशाला मे मिलना कठिन है। तुलसीदास के अतिरिक्त और कौन कवि इस सफलता के साथ शृगार और आचार एकत्र कर सकता है। फुलवारी का सपूर्ण दृश्य उर्दू कवि 'जौक' के इस पद्याश के अनुसार है--

इस तरह जाते है देखा पाक दामन[1] आब[2] मे।

नही तो सासारिक शृगाररस की निराशापूर्ण पुकार तो यह है--

दरमियाने कअरे-दरिया तख्ताबंदम् करदई।
बाज़ मी गोई कि दामन तर मकुन हुशियार बाश॥

तूने मुझे नदी की तह मे डाल दिया है और फिर कहता है कि सावधान रह, कपड़े न भीगने पावें।

१. सज्जन।
२. जल।

भूप बागु बर देखेउ जाई। जहँ बसत रितु रही लुभाई॥

भूप बागुबर--किसी बडे साहित्यज्ञ का कथन है कि किसी भाषा मे दो शब्द ठीक एक ही अर्थ के नही हुआ करते। साधारण विद्यार्थी समझते है कि भूप का अर्थ राजा है और नृप का अर्थ भी राजा है। इसीलिये बोलने और लिखने मे बिना झिझके हुए एक शब्द के स्थान पर दूसरे शब्द से काम ले लेते है। वास्तव मे यह बडी भूल है। परंतु भाषा का जौहरी तुलसीदास इस प्रकार परख-परख कर रत्न जडता है कि जो रत्न जहाँ फबता है उसे वही रखता है। निसदेह भूमि के स्वामी भूप का बाग अवश्य अच्छा ही होगा। 'नृप' अर्थात् 'नृपति', 'मनुष्यो के स्वामी' इसी दृश्य मे वहाँ पर लाया गया है जहाँ राजकुमारो की छवि का वर्णन है। 'नृप बालक दोऊ'। 'बर' शब्द यद्यपि यहाँ श्रेष्ठता का द्योतक है फिर भी सकेत कर रहा है कि विवाह का प्रबंध प्रकृति मे और जनकपुर मे दोनो जगह है। 'नसीम' उर्दू भाषा मे इस अलंकार का पूर्ण पंडित है। उसके पहले ही पद्य मे--

'हर शाख़ मे है शिगूफ़ःकारी। समरा है कलम का हमदेवारी॥'

शब्द 'हर' का जो सकेत है, उसे प्रत्येक भाषाविज्ञ भली प्रकार जानता है। 'जाई' की शब्दयोजना मे बाग की मनोरमता का कितना आनद है।

'बसत रितु रही लुभाई।'

प्राकृतिक दृश्य के वर्णन मे अंगरेजी कवियो मे वर्ड्स्वर्थ (Wordsworth) ही से तुलसीदास की समानता हो सकती है, क्योकि दोनो की दृष्टियो में प्रकृति सजीव है। तुलसीदास टेनीसन (Tennyson) की भाँति निर्जीव अभिनय के चित्रपट नही रँगते। वे अपनी विस्मयकारिणी लेखनशैली से कभी मानवीय घटनाओ के अनुसार, जैसा कि जनकपुर मे, जहाँ प्रत्येक व्यक्तिगत हृदय शृगार रस मे भीगा हुआ है; वहाँ उसी रस मे निमग्न प्रकृति मे भी एक विवाह रचते है, और कभी इसके प्रतिकूल जैसा कि बनवास से पहले अयोध्या मे आनद का चित्र है और जिसे प्राकृतिक दृश्य के रूपक से अयोध्या काड के प्रारभ मे वर्णन किया है प्रकृति के मनोरम दृश्य सामने रखते है और पाठको को मुग्ध कर देते है। प्राय कवियो ने बसत ऋतु का सदा रहना बाँधा है, परतु तुलसीदास ने इस ऋतु का बनी सँवरी दुलहिन की भाँति (लिंगविचार से ऋतु का स्त्रीत्व कितना सुदर है) अपने दूल्हे बाग (बाग-बर को पुरुषत्व कितना अच्छा चपकता है) पर लुभाकर रह जाना बाँध कर काव्य-शैली मे ऋतु के सदा रहने का कारण बतला दिया और प्रेम की तल्लीनता के जीते-जागते चित्र को राम और सीता के मुग्ध प्रेम का अग्रसूचक बनाकर सामने रख दिया। यह इन्ही का काम था। लुभाकर वही रह जाने मे अर्थात् प्राकृतिक बसत ऋतु के आचरण का जो विरोधाभास दिखाया गया है, वह उच्च सदाचार के आदर्श-

स्वरूप राजकुमार और राजकुमारी के रुकने और लौटने के संवंध से कितना सार्थक है। बाग मे राम और सीता का परस्पर हृदय-विनिमय अवश्य हो जाता है, किंतु फिर भी प्रेम के आचारिक अश की पूर्ति अनिवार्य है। इसलिये तुलसीदास एक को अपने गुरु और दूसरे को अपनी माता की ओर लौटा देते है।

'लागे विटप मनोहर नाना। बरन बरन बर बेलिविताना॥'

पेड, वेले, सब भिन्न भिन्न रगो की लगी हुई है। अद्भुत कवि है। टेनिसन की भाँति तुलसीदास की लेखनी की शक्ति देखिए। वह अग्रेजी कवि कीट्स या अन्य उर्दू हिंदी के कवियो की भाँति ऐसे विवरण मे नही लग जाता कि जिससे प्रधान उद्देश्य हाथ से जाता रहे। जैसे यदि बाग के पेडो और वेलो की प्रशसा काव्य मे वर्णन करना प्रारभ करता, तो नरगिस की निगाहबाजियो और सोसन की जुबानदराजियो, वुलवुल की गजलखानियो और लाला के प्याले के लाल मद्य मे सीता और राम के भावो की संपूर्ण सलग्नता लीन हो जाती। परतु तुलसीदास मार्मिक कवित्व का ऐसा पडित है कि चित्र के प्रधान अग के बनाव-शृगार की ओर इस उत्तमता से सकेत कर देता है कि हमारे मस्तिष्क की प्राकृतिक भावना-शक्ति उस चित्र के शेष अगो को अपने आनदवर्धक प्रयत्न से स्वयं ही पूरा कर लेती है। 'मनोहर' भावो का वह परिणाम जो ऐसे दृश्यो से उत्पन्न हो सकता है—सामने है; और हमारी चितना को सकेत है कि ऐसे रंग और प्रकार के वृक्षों की चितना से, जिनमे मनोमुग्धकारी गुण है, आनद उठाया जाय, पर इतनी देर तक नही कि सीता और राम की छवि भूल जाय। बाग का बयान इसलिये आवश्यक है कि पाठको को इस वर्णन से उस श्रेष्ठता का पता लग जाय जिसके द्वारा राम और सीता के सौदर्य और प्रेम के भावो को उभारने का अवसर मिला है[1]। 'बिटप' बडे पेड (जिनपर बेले झालर का काम दे रही है) का वर्णन, एक सुदर कुज की प्रतिच्छाया, चितना शक्ति की चित्रशाला को भेट करता है। इसके अतिरिक्त दूसरे चरण मे एक ही अक्षर का बार बार आना कितना सुदर है।

"नव पल्लव फल सुमन सुहाए। निज सपति सुर रूख लजाए।"

१–शृगार रस का दृश्य है जिसके प्रधान अक्षर 'स' 'र' आदि है। अस्तु, सारे दृश्य मे इन्ही अक्षरो की अधिकता है। तुलसीदास की काव्य-दक्षता का यह पाडित्य है कि उसके वर्णन मे बनावट नही होती, वरन्, प्राय: अनुप्रास (छेकानुप्रास) ऐसा होता है कि आनद दे जाता है। यह नही जान पड़ता कि यह किसी विशेष यत्न का परिणाम है। यहाँ 'सुमन सुहाए' इसका एक अच्छा उदाहरण है।

२–इसके पहलेवाली चौपाई मे वाटिका के चित्र की एक प्रतिच्छाया थी, अब उसके मनोहर अंश की चर्चा है, किंतु उसी काव्यसौदर्य, समास और सकेत के साथ, जिसकी चर्चा ऊपर की गई है।

३—वसत ऋतु और उसके नए नए पत्ते तथा फल फूल की चर्चा राजकुमार और राजकुमारी के प्रारभिक यौवन के प्रेम-भावो के साथ कितनी तुली हुई है। यदि प्रतिच्छाया मे मनोहरता थी तो वसत के नए नए पत्ते, फल और फूल अपने सौदर्य से उसकी छवि को और भी वढाते है। सुहाए' यह सीधा ठेठ शब्द उनके सुदर रूप की छटा को दूना करता है और 'लजाए' शब्द ने इसमे ऐसा जीवन डाल दिया है। जो प्राय प्रात कालीन समीर के वर्णन मे पाया जाता है।

कितना सुदर और क्रमयुक्त अलकार है। प्रत्येक वस्तु का क्रम सुदरता के विचार से पाया जाता है। सवसे सुदर वस्तु सुमन (फूल) फल के अत मे रखा गया है। जिस प्रकार कोई चित्रकार पहले चित्र की मौलिक रेखाएँ खीचता है और फिर उस चित्र मे छटा लानेवाली रेखाएँ वनाता है। राम के निरीक्षण का क्रम भी यही रहा होगा कि पहले दूर से चित्र को मौलिक रेखाएँ ही देख पड़ी होगी, फिर उसके भीतरी मनोहर विभगो पर दृष्टि पड़ी होगी। अव तक दृष्टिशक्ति को वश मे करने का यत्न था, अर्थात् वह आँख पैदा कर दी जाय जिससे प्रेमपात्र का समान करने की दृष्टि प्रकट हो। अव श्रवण शक्ति का क्रम प्रारभ होता है और फिर दोनो एक तल्लीनता के साथ शृगार रस मे इस प्रकार रँगे है कि केवल घुँघुरुओ की झनकार प्रेमभाव उभारने के लिये पर्याप्त होती है, और जव प्रेमपात्र सामने हो तव वास्तव मे—

'सिय मुख ससि भए नयन चकोरा।' की तल्लीनता आ जाती है।

"चातक कोकिल कीर चकोरा। कूजत विहँग नचत कलमोरा।"

इसमे कवि की सगीत शक्ति का एक अनुपम उदाहरण है। जितनी भाषाएँ है, सव मे जव चिडियाँ एक साथ वोलती है तव उनकी ध्वनि व्यक्त करने के लिये जो शब्द होते है, उनमे 'च' और 'क' की ध्वनि अधिक होती है। जैसे चहक, 'चहचहाना' इत्यादि, क्योकि वास्तव मे इस ध्वनि मे प्राकृतिक रूप से यही ध्वनियाँ अधिक हैं। कवि ने कितनी उत्तमता से पहले चरण मे विभिन्न चिड़ियो के नाम वता दिए और साथ ही उनके वोलने का चित्र भी खीच दिया है।

'कूजत विहँग' मे 'गूँज' का कितना सुदर चित्र है। 'विहँग' शब्द वास्तव मे चिड़ियो के लिये उसी समय उपयुक्त है जव उनकी ध्वनि की गूँज की चर्चा हो।

'नचत कल मोरा—'च' 'त' और अत मे 'र' अक्षरो के उच्चारण मे जीभ स्वयं मोर के समान नाचने लगती है।

एक चौपाई मे तीन विभिन्न ध्वनियो का परिवर्तन अद्भुत आनद दे रहा है। 'नाच' में तथा मोर की चर्चा मे निरीक्षण शक्ति पर भी साथ ही साथ प्रभाव डाला गया है। 'कल' के छोटे शब्द मे सौदर्य का सार उपस्थित है। प्रकृति मे वसत ऋतु और 'वाग वर' के विवाह के अवसर पर नाच, रग और गाना सभी है।

'मध्य भाग सरु सोह सुहावा। मनिसोपान विचित्र बनावा॥'

(१) सरु सोह सुहावा—मे छेकानुप्रास (Alliteration) विशेषकर 'स' के सुंदर 'रसभरे' अक्षर के व्यवहार से कितना आनदप्रद है।

(२) 'मध्य बाग' सचमुच अद्भुत मनोमोहक क्रम है। कदाचित् कुसुमकानन का इससे बढकर क्रम दूसरा कोई न हो सके। बेकन ने भी अपनी रचना मे उपवन का क्रम ऐसा ही रखा है, जिसकी बडाई उसके प्रशंसक बडे गर्व के साथ करते है। बाग के बीच मे जहाँ से प्रत्येक ओर के दृश्य देखे जा सके और जहाँ प्रत्येक दिशा से घूमता हुआ मनुष्य पहुँच जाय और स्वभावत. यह जी चाहे कि थोड़ी देर के लिये बैठ जायँ, वहाँ एक सुंदर जलकुड का होना कितना आनंददायक है।

जब कभी बैठते थे वाँ लबे आब[1]।
धोके उठते थे दिल के दाग शिताब[2]।—हाली

संसार के सबसे मनोहर भवन ताज बीबी के रौजे मे भी इसी क्रम पर ध्यान रखा गया है।

'बाग'—तुलसीदास की हिंदी वही हिंदी है जो उस समय बन चुकी थी। यदि कुछ अन्य भाषा के शब्द अपने आप आ चुके तो तुलसीदास को उनसे घृणा नही हो सकती थी। जैसे—

'भये राम सब विधि सब लायक।'

हाँ, उनमे जो परिवर्तन भापा के आवश्यकतानुसार हो चुका है वह बना रहने दिया जाता है। 'लायक' से लायक और 'बाग' से बाग इसका प्रमाण है।

(३) दूसरा चरण—कही यह विस्मरण न हो जाय कि यह एक राजा का बाग है। अत: उसमे प्राकृतिक कौशल की छटा के साथ उत्कृष्ट मानवीय कौशल—पच्चीकारी भी है। किंतु कितना बेढब सक्षेप है। और साथ ही साथ विचित्र कि चुने हुए शब्द ने कवि की भावना को पूरी सहायता भी दे दी है।

सूचना—प्रत्येक कवि की रुचि का झुकाव एक मुख्य दिशा मे होता है। किंतु प्रशंसा तो इसमे है कि जिस ओर रुचि का झुकाव न हो उसका वर्णन संक्षेपत इस प्रकार कर दिया जाय कि किसी को अनुभव न हो कि यह संक्षेप में क्यो है। वरन् उस स्थान पर संक्षेप भी प्राकृतिक दृश्य के वर्णन मे त्रुटिहीन योग्यता रखते है। किंतु मानवीय निर्माण की ओर जैसे राजा के 'बाग' और 'सभा' आदि की ओर उनकी रुचि स्वभावत. नही है। इसलिये रामायण मे किसी ऐसे दृश्य का

१. जल के किनारे।
२. शीघ्र।

विवरण नही है। यद्यपि प्रकृति की छटाओ का वर्णन कुछ विस्तार के साथ किया जाता है। किंतु फिर--

'राम सीय सुदर परिछाही। जगमगात मनि खंभन माँही॥'

इसमे किस उत्तमत्ता से महाराजा जनक के राजप्रासाद की सक्षिप्त किंतु पूर्ण प्रशसा कर दी गई है। वैसे ही यहाँ भी सर की प्रशसा है। विवरणात्मक संक्षेप कभी अवसर की प्रकृत आवश्यकताओ के प्रतिकूल नही होता। यहाँ भी प्राकृतिक दृश्यो के प्रेमी राजकुमार पर जितना विशेष प्रभाव वसत की प्राकृतिक छटाओ का हुआ होगा उतना सरोवर के बनाव चुनाव का नहीं। इसलिये सक्षेप करने की आवश्यकता हुई।

(४) टेनीसन की भाँति छेकानुप्रास (Alliterative Compounds) का पाडित्य तुलसीदास मे भी है। 'विचित्र बनावा' आह ! कौन जान सकता है कि इस विनम्र चारुता से उच्चारण किए जानेवाली शब्द-योजना के व्यवहार से कदाचित् यह भी अभिप्राय हो कि यह योजना जो एक मानवी चित्र की बानगी है, अन्य मानवीय चित्रकारी के वर्णन के लिये अत्यंत उपयुक्त है।

विमल सलिल सरसिज बहुरंगा।
जलखग कूजत गुजत भृगा॥"

(१) मैने पहले बतलाया है कि शृंगार रस के अक्षर कौन से हैं। यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि काव्य के अलकार भी प्राकृतिक रहस्यो के प्रतिचित्र है। वास्तव मे यदि आप कोई स्वादिष्ट वस्तु खायँ या यदि किसी कारण से आनद की उमग या प्रेम की तल्लीनता मे हो, तो जिह्वा पर अधिकतर वे ही अक्षर आएँगे अर्थात् 'स', 'व', 'ल' आदि। ऊपर के चरण मे आरभ मे 'स' 'र', की अधिकता है। पर आनद की बाढ के समय अधिकतर 'र' अक्षर 'ल' का रूप धारण कर लेता है। जैसा स्वभावत हुआ करता है---और अतिम 'गूंज' मे मानो इस आनद की असीम बाढ के कारण जीभ बद हुई जाती है। ये कविता के ऐसे विनोद-विजडित रहस्य है जिनसे काव्यमर्मज्ञ ही आनद उठा सकते है और जिनकी व्याख्या करना उस मादकता मे रग चढ़ाना है।

(२) रगो का भी कितना सुदर क्रम है। बिल्लौर के समान स्वच्छ पानी के धरातल पर रग रग के कमल खिले है।

(३) "सरसिज"---शब्दो के चुनने मे कैसी व्युत्पन्नता है! कमल के अनेक नाम है, फिर कवि ने "पकज" क्यो नही लिखा है। 'सरसिज' ही क्यो रखा है ?

क--"सर" शब्द के साथ "सरसिज" ही उपयुक्त है।

ख--'पकज' का अर्थ "कीचड़ से उत्पन्न" हुआ है, इसलिये इस स्थान का

जहाँ कमल की सुंदरता के साथ उसके जन्म की बुराई दिखानी होती, जैसे--"कीच" से कमल का ध्यान बँधाना होता तो, वह शब्द उपयुक्त होता। पर जहाँ 'विमल' (मैल से रहित) शब्द पहले व्यवहृत किया जा चुका है वहाँ "सरसिज" के अतिरिक्त और कोई नाम ठीक नही वैठता। तुलसीदास ने स्वयं एक स्थान पर लिखा---

"जान सकहु तो जानहू निर्गुन सगुन सरूप।
मम हृद पकज भृग इव, बसहु राम नर रूप॥"

अपने हृदय को 'पकज' की उपमा देकर कितनी सुदर चाहना प्रकट की गई है। यदि आपका हृदय आत्मिक विकास से "कमल" के समान पवित्र और स्वच्छ है, तो उसका मूल पहले किन अपवित्र मानवी भावो मे था, यह 'पकज' के लाने से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। साथ ही यह भी आवश्यक हो सकता है कि जो मानवीय भावना से अत्यंत उच्च वेदात के आकाश पर केवल आनुमानिक उड़ान लगा रहे है, उन्हें छोड़कर जिनके ईश्वरीय प्रेम का कारण अब भी मानवी भावना है, उनके लिये प्रेम और भक्ति ही मुक्ति के द्वार हो सकते है। और कौतुक यह है कि ईश्वर ऐसे हृदय पर भ्रमर की भाँति स्वय मस्त होकर लट्टू होता है। प्रिय पाठकवृद, शब्दो की परख मे भी क्या आनद है?

(४) 'जल खल कूजत"--कैसा अविकल ध्वन्यात्मक कथन है?

(५) "गुजत भृगा"--शब्दो मे भी कैसी गूँज है। भौरा सचमुच ऐसे अवसर पर "भृग" है, "मधुप" नही। क्या इस चित्ताकर्षक निरीक्षण से श्रीराम और सीता के हृदयो मे सौदर्य के परखनेवाले भाव न जनमे होगे।

बागु तड़ागु बिलोकि प्रभु, हरषे बधु समेत।
परम रम्य आराम एह, जो रामहि सुख देत॥

(१) तुलसी बिलकुल यूनानी नाटक के "कोरस" (chorus) का काम करते हैं। "कोरस" का यह काम था कि कही तो उस भाव और गति को कर दिखावे जो अभिनेता नही कर सकते और कही नाटक की घटनाओ, व्यक्तित्व और वर्णनों पर समति दें या उनसे शिक्षाप्रद परिणाम निकाले।

(२) प्रभावजनक अभिनय-रचयिताओ की व्यावहारिक गति पर तुलसीदास का भी आदर्श यही है। "जादू वह जो सर पे चढ के बोले।" या यों कहिए:--

"सूरत बंबी, हालम् मपुर्स"*

ऊपर के दोनो सिद्धातो के अनुसार जो वस्तु सुमन सुगधि से बसी है, उसे सामने लाकर उस सुमन की प्रशसा करता है। जो व्यक्ति किसी भाव से प्रभावित हैं उसे सामने करके, उसके भाव और उसके कारण का गुण गाता है। इस अलंकार का श्रेष्ठ उदाहरण आगे आवेगा जिसकी तुलना उचित अवसर पर की जाएगी। अंग्रेजी

* सूरत देख लो, हाल न पूछो। आकृति से ही आतरिक अवस्था का पता चल जायगा।

काव्य मे कोलरिज (Coleridge) के "Ancient Marine" पद्य से बढकर इस रचना की अन्य उपमा नही है। इससे एक मुख्य लाभ यह है कि कवि की अत्युक्ति नही होने पाती।

(३) "प्रभु"

(क) तुलसीदास स्वय ग्रंथकार है, अतएव राम के लिये वे उस विशेष शब्द का, जो उनको बहुत प्रिय है, व्यवहार करते है।

(ख) जो अपना "प्रभु" अवश्य होगा, वही दूसरे का भी प्रभु हो सकेगा। सजग आत्मा को सुख देनेवाली वस्तु (बाग) की क्या बात ?

(ग) जब ऐसे प्रभु के लिए वहाँ आनद का ढेर है तब औरो के लिये भी वह अवश्य आनद का कारण होगा।

(४) "रम्य", "आराम" और "राम" के 'र' 'म' की पुनरुक्ति का आनंद कितना रुचिकर है। ऐसा जान पडता है कि ये तीनो शाब्दिक रत्न इसी प्रकार जड़े जाने के लिये बनाए गए थे।

(क) 'राम' का शाब्दिक अर्थ = "हर जगह रमा हुआ"। ऐसे राम को यदि किसी स्थानिक पदार्थ से विशेष आनंद मिलता है, तो यह कहने मे विलंब ही क्या है कि सारे ब्रह्माड मे उसमे बढकर और कोई पदार्थ नही।

(ख) "राम" और "रम्य" मे धातु रूपातर की कैसी छटा है।

(५) "बधु-समेत"—कवि भाई की उपस्थिति पर इधर और उधर सयानी सखियो की उपस्थिति पर, समय-समय पर विशेष ध्यान दिलाना चाहता है। इससे ये अभिप्राय हैं—

(क) (Milton) मिल्टन के सिद्धांतानुसार अपने से विचार रखवाले के साथ आनद का उपभोग करना बहुत ही अधिक सुखदायी होता है।

(ख) जहाँ तक केवल सौदर्य-परिचायक शक्ति और उसके आनंद का संबंध है, वहाँ तक दोनो एक ही अवस्था मे हैं। परंतु केवल विचारो मे अतर होने के कारण और "सो सब कारन जान विधाता" के दैवी प्रभाव की प्रतिकूलता से प्रेम के वे आवेश जो राम के हृदय मे उत्पन्न हुए, लक्ष्मण के हृदय मे नही हुए।

(ग) दोनो ओर 'राम और सीता' के साथ मे सहचर और सहचरियो का होना और उनके आने का कारण इस बात के स्पष्ट प्रमाण है कि यह निश्चित भेंट सदाचार के विपरीत नही थी।

चहुँदिसि चितइ पूछि मालीगन।
लगे लेन दल फूल मुदितमन॥

(१) "चहुँ दिसि चितइ"—इस पर टीकाकारो में मतभेद है :—

(क) कोई कहता है कि चारो ओर देखना मालियो के खोज से संबंध रखता है। परंतु मालियो का वही उपस्थित होना, जैसा कि तत्काल ही 'पूछि' के आ जाने से प्रकट है, इस व्याख्या के विपरीत है।

(ख) कोई कहता है कि चारो ओर इसलिये देखा कि राजवाटिका है कही स्त्रियाँ यहाँ पर न हो। परंतु प्रारभ से इस समय तक इस बात का सकेत भी नही किया गया कि यह वाटिका विशेष रूप से स्त्रियो के लिये है। गौरी जी के मदिर का होना, यह होते हुए भी गौरी की उपासक सामान्यत. स्त्रियाँ होती है, इस बात का कोई विशेष प्रमाण नही है। वाटिका का दूरस्थ होना ही, जहाँ केवल सखियो की संरक्षता मे ही जाना उचित हो, इस विचार का काट देता है। यदि ऐसा होने की भी कल्पना कर ली जाय तो पहले भीतर तक बेधड़क चले जाना और फिर यह झिझक ! इसका क्या अर्थ ? मेरा विचार यह है कि तुलसीदास ऐसा मार्मिक कवि रचना के अभिप्राय के लिये क्षुद्र, गति वा काम को व्यवहार मे लाए बिना नही रह सकता।

(क) दोनो राजकुमार अभी एक पटरी से आकर जल-कुड के पास खड़े हुए है, तो स्वाभाविक याचना यह है कि अपने चारो ओर देखें, और काव्योद्देश्य यह है कि एक पटरी का वर्णन चारो ओर के लिये ठीक हो जाय। इस प्रकार इच्छुक राम की चारो ओर की सैर हो जाय तथा दूसरी ओर सौदर्य-वर्णन चौगुना हो जाय।

(ख) चारो ओर देखने का अभिप्राय यह भी था कि प्रत्येक ओर देखकर पूजा के योग्य 'दल', 'फूल' लिए जायँ।

(२) 'पूछि मालीगन'—राम का अन्यतम सदाचार उनकी प्रत्येक गति और काम से प्रकट है।

(३) "लगे लेन दल फूल" मे 'ल' बार बार आना पहले दो शब्दों के प्रारंभ मे और दूसरे दो के अंत मे बहुत ही भला जान पडता है।

(४) "मुदित मन"—कवि का अभिप्राय राम को इसी अवस्था मे पहुँचाने का था। और जब उधर सीता जी भी ऐसी अवस्था मे पहुँच जाती है, तो उसी समय एक को दूसरे के दर्शन होते है। (यह मुक्त पुरुष "राम" की शाश्वत अवस्था है। इसमे अनिवार्य प्रभाव है। तनिक देर के लिये, जैसे सीताहरण के समय इसमे विपर्यय होता है, पर वह समुद्र की ऊपरी तरंगो से अधिक गहरा नही।) अभिनय-लेखन के गुणो पर विचार कीजिये,—

(क) प्रवेश (Enter) और प्रस्थान (Exit) कैसा सुदर है कि एक क्षण समय से पहले और न एक क्षण समय से पीछे। ज्योही 'राम' 'मुदितमन' की शृंगारावस्था मे पहुँचते है, हमारी प्रधान पात्री सीता भी वाटिका में प्रवेश करती है।

(ख) जिस समय सीता वाटिका मे प्रवेश करती है उस समय कवि ने किस सुंदरता और उपयुक्तता से राम को फूल इत्यादि लेने मे लगा दिया है जिसमे सीता जी आँख से बचकर निकल जायँ और उनके हार्दिक भावो को भी उसी

"मुदित मन" की श्रेणी तक विकसित होने का अवसर मिले। कितना सुंदर चित्रपट है कि राम फूल तोड़ते हुए जलकुंड से किसी ओर को अलग निकल जाते हैं, जिसमें सीता इत्यादि को जलकुंड पर आने का समय मिले। यदि, "चहुँ दिसि चितइ" के समय महारानी जी वहाँ होती तो यह अवसर कभी न हाथ आता। सारांश, एक क्षण भी समय के पहले महारानी जी वहाँ नहीं लाई गईं।

(ग) अभिनयस्थल पर वार्तालाप के अतिरिक्त मन को आकर्षित करने-वाली अन्य सामग्री भी पर्याप्त है जो नाटक के दर्शकों के लिये अत्यंत मन लुभानेवाली हुआ करती है।

'तेहि अवसर सीता तहँ आई। गिरिजा पूजन जननि पठाई॥

(१) पहले दो शब्दों की व्याख्या, ऊपर नाट्य-लेखन कला के गुण वर्णन करने में, की जा चुकी है। 'अवसर' शब्द इस बात का प्रमाण है कि कवि ने आने जाने का यह क्रम जान बूझकर रखा है। अनेक अवसरों पर इससे भी अधिक स्पष्ट प्रकट हो जायगा कि तुलसीदास को अपनी इस काव्य-मर्मज्ञता का ज्ञान था।

(२) पठाई और आई में 'ई' स्पष्ट कह रही है कि सुकुमारी नववयस्का सीता केवल एक राजकुमारी के समान लाई जा रही है। नववयस्कता के कारण भावी की अनभिज्ञता आदि के प्रकट करने का आनंद आ गया है।

(३) 'ज' का दूसरे चरण में कई बार आना बड़ा भला लगता है।

(४) "गिरिजा" (महाराज हिमाचल की कन्या) इस उपाधि से एक कन्या (सीता) का उन्हें पूजना अत्यंत उपयुक्त है। फिर यह कि इसी अवतार में पार्वती जी की वह सारी तपस्या अपने पति के लिये थी जिसके कारण उनकी प्रशंसा में "सुतीय महुँ मातु प्रथम तव रेख" कहा गया है। इस अवसर पर पातिव्रत धर्मवाले भावों को उभारने के लिये देवी के इस अवतार की पूजा अत्यंत उपयुक्त है।

(५) 'जननि पठाई' की टीका "लेन प्रसून चले दोउ भाई" में हो चुकी है।

संग सखी सब सुभग सयानी।
गावहिं गीत मनोहर बानी॥

(१) पहले चरण में "स" की और दूसरे चरण के प्रथम दो शब्दों में "ग" और अंतिम दो में 'न' की पुनरुक्ति--वृत्त्यनुप्रास--उच्चारण में बड़ी सुखदायक है। कवि ने इन परिवर्तनों से आगमन का प्रभाव किस सुंदरता से मिटा दिया।

(२) यहाँ भी आँख और कान का सहयोग एक साथ है, जिससे तल्लीनता और अधीनता पूरी हो।

(३) "सब" छोटा सा शब्द इस बात को प्रकट करता है कि एक अद्भुत अन्यतम समूह है जिसमें प्रत्येक सौंदर्य की प्रतिमा है।

(४) "सुभग" का अर्थ सुडौल है। इसमे उनके रूप-सौदर्य का जो आनद है, उसे 'सयानी' का आचारिक सौदर्य दूना कर रहा है। "सुभग" का आनद तो सौदर्य को समाहृत करनेवाली आँखो ने तत्काल पा ही लिया। "सयानी" के आनद को कवि ने आगे आनेवाली चौपाइयो मे जिस सुदरता से दिखाया है, वह वास्तव मे उसीका काम है। यदि प्रत्येक व्यक्ति यह न कह उठे कि वास्तव मे ऐसी ही सयानी सखियो की आवश्यकता थी तो बात ही क्या है!

सूचना—इस "स" के अनुप्रास ने उनकी सहयोगिता को और भी स्पष्ट कर दिया है।

(५) 'गावहिं गीत'—कौन ? वह मनोहर वाणीवाली सखियाँ! शृंगार रस,, रूप–सौदर्य स्वभावसौदर्य के साथ उमड़ता आता है। सौदर्य का कैसा पूर्ण चित्र है।

(६) जो लोग अभिनय मचो पर अच्छे नाटक देखते है वे ऐसे हर्षप्रद आगमन की अवश्य प्रशसा करेगे।

[सूचना—आर्य सभ्यता मे कोई रीति गाने के बिना नही होती। गाना, जो ससार मे अधिकतर तात्विक व्यवहार के लिये प्रयुक्त होता है; आर्यसभ्यता मे आत्मिक और धर्म का विशेष अश होकर घर घर प्रत्येक रीति के साथ सबद्ध है। क्या स्नान के मेलो मे स्त्रियो को शात रसवाले भजन गाते हुए, "भक्ति मे तल्लीन" दल बाँधकर जाते हुए आपने नही देखा ?]

कैसा प्राकृतिक दृश्य है कि एक हिंदू राजकुमारी शात रस के गीत गानेवाली सुदर सखियो के साथ गिरिजा पूजने जा रही है। यदि तुलसीदास काव्य और अभिनय रचना के कोई अलकार उपयोग मे लाये है तो इस प्रकार का प्राकृतिक सत्य कही हाथ से नही जाने पाया है।

(७) गीत का विवरण इसलिये नही किया गया कि बहुत सभव है—गीत स्वय "शांतरस" वाले हो तो शृगार मे त्रुटि पड़े और यह भी कारण था कि दूर से मनोहर वाणी तो सुनाई देती है, पर शब्द स्पष्ट जान नही पड़ते। शृगार रस के लिये "मनोहर बानी" पर्याप्त है।

(८) 'बानी' शब्द स्वय ही सुदर ध्वनि के लिये आता है। उसपर मनोहर, फिर वह भी ऐसी सखियो के मुँह से जो रूप-सौदर्य और स्वभाव-सौदर्य की देवियाँ है। ऐसे गाने का क्या कहना! वास्तव मे बात भी यही है कि "गाना" किसी छवि–प्रतिमा के मुँह से विशेषकर जब सौदर्य के साथ सदाचारिता भी हो, एक निराली पवित्रता और हृदयनिमग्नता का प्रभाव उत्पन्न करता है।

"सर समीप गिरिजा - गृह सोहा।
बरनि न जाइ देखि मन मोहा॥"

(१) "सर समीप गिरिजा-गृह"—कैसी सुदर शब्द-योजना (Alliterative) है।

(२) ससार मे जितने सुदर निकेतन है, जैसे (ताजगज का रौजा) वे सब अधिकतर जलतट पर निर्मित है। इसलिये कि उनका मनोहर प्रतिबिंब लहरो के हिंडोले मे लहराकर दृश्य के आनद को दूना कर दे।

(३) धार्मिक उद्देश्य—जैसे, स्नान आदि करना, भी मदिर को ऐसे ही स्थान पर बनाने की प्रेरणा करते हैं।

(४) तुलसीदास ने मानवीय व्यक्तित्व और प्राकृतिक दृश्य को परस्पर इस प्रकार सबद्ध कर दिया है कि वे कारण और कार्य बनकर एक दूसरे पर अद्भुत प्रभाव उत्पन्न करे।

टेनीसन के पद्यो मे भी प्राय: (जैसे—(Oenone) और "The Lotus Eaters) मे यही दशा पाई जाती है। ज्यो ज्यो दृश्य आगे बढता जाता है, यह आनद भी बढता जाता है। यहाँ—"लता ओट तब सखिन लखाए" और अत मे "देखन मिस मृग विहग तरु" मे यह सलग्नता का आनद अत्यत स्पष्ट और मनोहर ढग पर पाया जाता है।

पाठकवृद तुलसीदास प्राय अपना काम ऐसे ही ढग से करते है कि प्रकट मे उसका पता भी नही लगता। पर गभीर साहित्यप्रेमी तत्काल ताड जाते है। जैसे 'परम रम्य' आदि पर प्रकट रूप से वाटिका की प्रशसा समाप्त हो जाती है। परतु उसका वह भाग जो मानवीय व्यक्तित्व के प्राकृतिक भावो से सलग्न है और जिसमे राम और सीता सौंदर्य के निरालेपन से लिपटे हुए है, क्रमश. दृश्य के अत तक पाया जाता है।

(५) "वरनि न जाइ देखि मन मोहा"—पहले ही "गुजत भृगा" की व्याख्या मे बतलाया जा चुका है कि किस प्रकार आनद की अधिकता से जिह्वा बद हुई जाती है। आगे चलकर मानवीय व्यक्तित्व से वर्णन मे वाक्शक्ति ने कुछ सहायता की, किंतु जिस समय फिर वे ही प्राकृतिक दृश्य सामने आते है, प्रशसा करना कठिन है, मन मोहा जाता है। यदि इस चौपाई को प्रशसा की पूर्णता के इस क्रम मे न रखे तो "वरनि न जाइ"—केवल पाद-पूरणार्थ रह जाता है। जो काव्य का एक दोष होगा।

मज्जन करि सर सखी समेता, गई मुदित-मन गौरि-निकेता॥

'बाग' सीता जी आदि का देखा हुआ है। इसलिये उसकी ओर आने मे ध्यान दिलाने की आवश्यकता न थी। इस प्रकार पुनरुक्ति दोप बचा लिया गया। दूसरे राग की तल्लीनता मे सभव है कि ध्यान न गया हो, यद्यपि इस अवसर पर प्राकृतिक दृश्य के प्रभाव ने राग की उमग को अवश्य दूना कर दिया होगा।

(१) "मज्जन करि सर सखी समेता"

क–पूजा के लिए स्थान आवश्यक है।

ख–"सखी-समेता"–पर विशेष जोर इसलिये है कि सकेत से नववयस्का सखियो के साथ जलक्रीड़ा का दृश्य शीघ्रता के साथ आँखो के सामने से निकल जाय, फिर भी तुलसीदास ने (शृगार रस की) उमंग का यह अश इच्छापूर्वक नही उत्पन्न होने दिया जो मलिक मुहम्मद जायसी की 'पदमावत' मे सखियो के साथ स्नान करने मे रखा गया है और जो इस अवसर पर 'शातरस' (जो पूज्य के लिये आवश्यक है) और सदाचार के विपरीत होता है। हाँ, इतना अवश्य है कि "मुदितमन" की अवस्था आ जाय। प्रात·काल गायन–सलग्नता, आनद-पूर्ण कानन, उसमे मनोहर सरोवर, उस सरोवर मे सीता का सखियो के साथ मज्जन करना मुदित अवस्था लाने के लिये पर्याप्त है।

(२) "मुदितमन"–प्रकट रहे कि कवि ने इसके पहले राम को भी इसी अवस्था मे पहुँचा दिया है। जनकपुर मे और विशेपत: सखीमडली में शृगार का वास पहले से ही है। इसीलिये सुदरता के भावो को जगाने के लिये यहाँ इतना प्रयत्न करने की आवश्यकता नही अनुभूति हुई जितना प्रयत्न कि मुनि की सरक्षता मे सुधारप्राप्त राम के लिये करना पड़ा था।

"पूजा कीन्ह अधिक अनुरागा।
निज अनुरूप सुभग बर माँगा ॥"

(१) "अधिक अनुरागा"

(क) शब्द योजना (Alliterative) का आनद पहले ही का सा है।

(ख) जीवन मे एक विशेष विपर्यास घटित होनेवाला है। ऐसा प्रेम प्राकृतिक है, विशेपकर जब यह न ज्ञात हो कि परिणाम क्या होगा।

(२) दूसरा चरण अत्यंत अमूल्य है। उत्तम काव्य उस कौशल का उदाहरण है कि एक चित्र मे दो विभिन्न भाव (जो लगभग विपरीत हो) देख पड़े। जिन्होने ऐसे चित्र देखे है जो एक ओर से देखने मे कुछ और, दूसरी ओर से कुछ और देख पडते है, वे इसको भली प्रकार समझते है कि शिव जी के और पार्वती जी के ऐसे चित्र प्राय हाट-बाट मे बिका करते है। किंतु एक ही व्यक्ति के विभिन्न भावो को जिनमे कुछ वैपरीत्य अवश्य हो। एकही चित्र मे दिखाना और भी आनन्ददायक है। एक ओर (सीता जी के मन मे) प्राकृतिक ढंग पर कुछ सौदर्य-गर्व भी पाया जाता है। शृंगार रस की अवस्था मे सौदर्य की गुण-ग्राहकता के लिये हृदय और नयन का होना भी प्रकट है। दूसरी ओर सीता जी जैसे वर की अधिकारिणी थी, उससे उत्तम की इच्छा नही है। लज्जा ने प्रार्थना मे केवल यही कहने दिया कि—"जैसी मैं हूँ, वैसा ही पति मिले।"

(३) देवी के सामने सच्चे प्रेम का प्रकाशन ठीक है। इसलिये संसार की जितनी प्रधान पात्री है, क्या मिराडा (Miranda), क्या "शकुतला" कोई अपने सच्चे भावो को प्रकट करने मे अनुचित लज्जा और सकोच से काम नही लेती, क्योकि बनावट की तो वहाँ चर्चा ही नही है। हाँ, शकुन्तला कण्व ऋषि के सरक्षण के कारण, प्राकृतिक "शातरस" मे पलने के कारण और सीता, जनक ऐसे ज्ञानी राजा के राजप्रासाद "शातरस" मे परिपालित होने से, बहुत स्पष्ट शब्द मे भावो को व्यक्त नही करती। जार्ज 'मेराडिथ' (George Meradith) का शिक्षा का वह आदर्श जिसमे सुधार प्राकृतिक और प्रकृति सुधारप्राप्त हो, यही है।

"चु यावद बूए- गुल ख्वाहद कि बीनद।
चु बीनद रूए-गुल ख्वाहद कि चीनद॥"[1]

ऊपर के पद्य मे किसी कवि ने प्रेम-भाव की अवस्थाएँ किस सुंदरता से बतलाई है। यद्यपि कवि ने केवल दो अवस्थाओ का विवरण दिया है; परतु सकेत से सब अवस्थाओ को बतला दिया है।

जनकपुर की सैर से लेकर धनुपयज्ञ के अत तक दो तीन दिन के भीतर, इन सब अवस्थाओ की पूर्ति तुलसीदास ने जिस पाडित्य से की है, उसको काव्य-गुण-ग्राही सरलता से समझ सकते है।

राम को गुरु के यहाँ के शातरस से शृंगार की मुदित अवस्था तक लाना था। किंतु सीता जनकपुर मे, जहाँ शृंगार उस समय बस रहा था, उपस्थित ही थीं। आपने देखा कि प्रेम की प्रथम अवस्था पार करने मे राम को सीता की अपेक्षा कितना अधिक समय लगा।

एक सखी सिय सग विहाई, गई रही देखन फुलवाई॥

(१) तुलसीदास ने उस सखी के जाने का समाचार इतने विलव के पश्चात् क्यो दिया?

(क) इसलिये कि दूसरी दशा मे पाटको का आधा ध्यान उसके साथ बँट जाता। क्या केवल यही कारण था? महाकवियो मे रचना-कौशल के उद्देश्य प्रकृति के विपरीत नही हुआ करते। कारण निम्नलिखित हैं—

(ख) सखी ऐसे साधारण हृदय की थी कि जिसे "सियसंगु", जो ऐसा मनोहर था, छोडकर फुलवारी देखना अधिक प्रिय था। इसलिये सखियों मे सभवत. किसी ने उसके चले जाने का अनुभव नही किया।

१—सौरभ पाने-पर सुमन को देखने की इच्छा होती है और सुमन का रग-रूप देखने पर जी चाहता है कि उसको तोड़ लिया जाय।

(ग) "एक सखी" गुणवाचक शब्द का प्रयोग न होना भी इस बात का प्रमाण है कि उस सखी में कोई विशेषता न थी ।

(घ) 'सिय संग बिहाई'—कैसी सखी है कि उसको सीता का साथ छोड़कर फुलवाई की सैर सूझी है ।

(२) परतु आवश्यकता भी ऐसी ही सखी की थी । फूल की सुगंध के लिये भी ऐसी कोमल वस्तु की आवश्यकता होती है, जिसके छिद्रो मे वह तत्काल प्रवेशकर जाय। ठोस और भारी वस्तु का काम नही । उसकी सखी मे यह स्पष्ट रूप से प्रकट है कि कम से कम प्राकृतिक सौदर्य के परिचय की शक्ति उसमे विकास पा चुकी है । इसीलिये तो वाटिका-विहार उसे अधिक प्रिय है । सीता को छोडकर वाटिका देखने के लिये जाना इसका प्रमाण है ।

(३) रामरूपी फूल की सुगध सीता के मस्तिष्क तक पहुँचाने के लिये ऐसे ही स्वभाव की "श्रृगार रस" वाली सखी की आवश्यकता थी, जिसके रोम रोम मे राम-सौरभ बसकर, (तासु दसा देखी सखिन) सीता तक पहुँचे ।

पलक मारते ही सखी पर प्रभाव पडता है और तत्काल, इसके पहले कि राजकुमार वाटिका से लौट जॉय या सीता जी लौट सकें, सीता जी तक राम का सौरभ पहुँच जाता है ।

पाठको को स्मरण रहे कि सीताजी के प्रेम की "चु यावद बूए गुल" अवस्था का वर्णन है । इसलिये प्रात समीर का गुण रखनेवाली सखी, जिसे फूलों को देखने का चाव उत्पन्न हुआ है, पाठको के विचारकेंद्र के भीतर उस समय लाई जाती है, जब सीता जी अपने जीवन के परिवर्तन की चितना मे है । यदि पागल और खिन्न नही है तो चिंतित अवश्य है और जबकि वह सखी प्रातः-समीर के रूप मे प्रियतम की "बूए गुल" लाने के लिये राम के समीप हैं यह भी एक कारण उस समय सवाद देने का था ।

तेइ दोउ बंधु बिलोकेउ जाई । प्रेमबिबस सीता पहँ आई ।।

[सूचना—यहाँ "दोउ" रखते समय स्वयं सखी के मुँह से निकने हुए—आने वाले "दोउ" का भी विचार कर लिया गया है जिससे पुनर्वार व्याख्या न करनी पड़ी ।]

(१)—"दोउ" इसमे 'उ' कितना सुदर साकेतिक अर्थसूचक है, इस शब्द का व्यवहार और थोडा सा पारस्परिक वार्तालाप जो उसके पश्चात् है, इस बात को किस सुंदरता के साथ प्रकट करता है कि पहले दिन का नगर—जनकपुर—विहार केवल लक्ष्मण के उत्सुक हृदय को शात करने के अभिप्राय से न था, वरन् वह भी सीता जी के लिये इस "चु यावद बूए गुल" अवस्था का पहला रूप था । राजा महाराजा दूर दूर से आ रहे थे और जनकपुर मे ठहरे हुए थे। नगर-विहार अवसर और अवस्था के अनुरूप अवश्य ही होता रहा होगा; किंतु वह केवल एक पुनीत भावोवाले राजकुमार ही की सैर थी कि नगर भर को मोहित कर लिया । याज्ञवल्क्य ऋषि के

समय के दर्शन-योगी राजा जनक के राजप्रासाद का वर्णन है। ऐसे सदाचारपूर्ण जलवायु मे और ऐसे राजप्रासाद मे सामान्य राजकुमारो का संवाद पहुँचना भी कठिन था और बहुत संभव था कि महाराज राम जैसे राजकुमार का भी संवाद वहाँ न पहुँचता। यदि संपूर्ण नगर मोहित न हो गया होता तो बहुत संभव था कि फुलवारी देखनेवाली सखी का यदि कुछ प्रभाव पडता भी तो इस धारणा के साथ कि सीता-सी राजकुमारी के योग्य हैं और यदि ऐसा न होता तो सीता के मस्तिष्क तक "वुए गुल" कैसे पहुँचती ? "दोउ" का शब्द इस बात का प्रमाण है कि सखी के हृदय में उनका सौंदर्य, उनकी कौटुम्बिक प्रतिष्ठा आदि का विचार इस विचार के साथ ही कि ये वे ही राजकुमार हैं जो अगले दिन जनकपुर की सैर कर चुके है, बिजली के समान कौंध गया।

जिस अलंकार के उपक्रम से सौरभ की परख होती है, उसकी क्रमिक उत्तमता (climex) विचारणीय है। पहले जनकपुर के साधारण लोग कसौटी की भाँति व्यवहार किए जाते हैं। कितने राजकुमार आए होगे और कितनो ने लोगो को मोहित किया होगा। परंतु कोई इस परख मे खरा न उतरा कि सपूर्ण जनकपुर को मोहित करता। पर नगर का मोहित हो जाना केवल इसीलिए बस था कि राजभवन की सखियो के चित्ताकर्षण का कारण हो, क्योंकि राजभवन की निम्न श्रेणी वाली सखी का भी आदर्श जनसाधारण से बढकर होना चाहिए। तत्पश्चात् सामान्य, पर रँगीले स्वभाव की राजसखी पर प्रभाव डाला जाता है। परंतु वह भी यथेष्ट नहीं, क्योंकि सौंदर्य-परिचय के लिये एक राजकुमारी का आचारिक आदर्श विशेषकर ऐसी सामान्य सखी के आदर्श से अवश्य ही ऊँचा होगा। वे स्वयं चतुर सखियाँ, जो अपने विवेक और बुद्धि के कारण इस योग्य थी कि उनके संरक्षण मे सीता की माता उसको भेज सकी, राम के रूप-सौंदर्य और स्वभाव-सौंदर्य से इतनी प्रभावित हो जाती है कि उनके मुँह से एकाएक···"अवसि देखिए देखन जोगू" निकलता है। इसी से सीता जी भी प्रभावित होती हैं। यह बात भी विचारणीय है कि किस भलेपन से एक अवस्था अपने पीछेवाली ऊँची अवस्था के लिये कारण बनकर श्रेणी का काम देती है।

(२) "देखन और विलोकेउ" का अतर ध्यान देने योग्य है। पहला सामान्य शब्द सखी के सामान्य अभिप्राय, फुलवारी की सैर को प्रकट करता है। किंतु पीछे से मनोहर जोडी के देखने मे उनकी निरीक्षण-गति मे जो विपर्यय घटित होता है, उसके उचित वर्णन के लिये "विलोकेउ" शब्द ही उपयुक्त है।

(३) यह बात अधिक ध्यान देने योग्य है कि जहाँ प्रथम चरण समाप्त होता है, वहीं वह अवसर है जब कम से कम कुछ क्षण के लिये यह सखी 'मनोहर जोड़ी' की छवि देखकर ठिठक गई होगी।

(४) उस तल्लीनता की ठिठक को किस सुदरता के साथ "प्रेम विबस" की योजना दिखलाती है। इस तल्लीनता मे यदि कोई आचारिक भूल भी हो जाती है, तो कवि उस पर तरस खाता है और कहता है—

जंजीरे जनूं* कड़ी न पडियो। दीवाने† का पाँव दरमियाँ है।

"नसीम"

परतु, सदाचार देखिए कि एक साधारण सखी ने भी श्रेणी-विवेक नहीं भुलाया। वह राजकुँवर को राजकुमारी के योग्य समझ कर पहली ठिठक के पीछे ही, तत्काल सीता के पास लौट आती है। ठिठक कितने कम समय तक रही होगी कि कवि ने केवल दोनो चरणो के मध्यवर्ती उच्चारण के अतर से उसको प्रकट करना उचित समझा है। लखनऊ-निवासी "नसीम" कहते है—

उल्फत है बिरादरी मे जेबा। निस्बत है बराबरी मे जेबा।

(५) "सीता पहँ आई"—उसी पद्य-पाद मे 'पहुँचना', 'प्रभाव पड़ना', 'रुकना' और 'लौट आना' या आलंकारिक रूपात्मक भाषा मे यो कहिए कि प्रातः-समीर के फूल तक पहुँचने, तत्काल रुकते ही सौरभान्वित होने और निःस्वार्थ उदारता के साथ लोगो के मस्तिष्क तक सौरभ-सुमन ले जाने का वर्णन करने मे किस असाधारण द्रुत गति से काम लिया गया है।

तासु दसा देखी सखिन्ह, पुलक गात जल नैन ।
कहु कारन निज हरष कर, पूछहि सब मृदु बैन ॥

"मृगमद वही है जो स्वय सुगध दे, न कि अत्तार को कहना पड़े", के सिद्धातानुकूल इस चौपाई मे किस प्रकार सखी की दशा का वर्णन करके 'राम' के सौदर्य की प्रशसा की गई है। वास्तव मे सौदर्य का गुणगान करने मे वाणी असमर्थ है 'पुलक गात' से रोम रोम मे प्रेम और प्रसन्नता की एकरूपता का भाव प्रत्यक्ष है। 'जल नैन' दोनो शब्द काव्योत्कृष्टता की किस उत्तम श्रेणी का वर्णन करते है। भाषाभिज्ञ स्वय समझते होगे कि 'पानी' और 'जल' मे क्या अतर है और 'आँख' कब 'नैन' बन जाती है। प्रेम की विवशता का भाव राम के रूप से बसी हुई आँखो मे प्रेम और आनंद के रूप मे प्रकट है।

(२) जिज्ञासा—(Curiosity) की प्रथम श्रेणी किस सौंदर्य से सामने रखी गई है और 'कहु' का सरल प्रश्न कितना उपयुक्त है? महाकवि के कथन मे शब्दो का स्थान भी एक विशेष बात होती है, और रस्किन (Ruskin) के कथनानुसार शब्दक्रम के परिवर्तन मे आनद जाता रहता है। यदि 'कहु' शब्द 'कारन' के पीछे

*उन्मत्तता की शृंखला।
†उन्मत्त (प्रेमोन्मत्त)

हो जाता तो अस्वाभाविक होता, क्योंकि उस समय सरलता जाती रहती और प्रेम की सहजता (Spontaneity) को प्रकट न कर सकता।

इस दोहे से आरंभ होकर आगेवाले दोहे तक कवि की लेखनी सखियों की वाणी द्वारा प्रकटित हृदयगत भावों की व्यंजक है और सखियों की वाणी सीता के मनोभावों की द्योतक। क्यों? इसलिये कि जब किसी भाव का अनुभव प्रथम बार किसी के हृदय में होता है, तो वह स्वयं नहीं समझ सकता कि वह भाव वास्तव में क्या है। केवल एक प्रकार की व्याकुलता सी अनुभूत होती है। परंतु यदि कोई सहानुभवी उसकी व्याख्या करने लगता है, तो व्याकुल हृदय भी उसका अनुमोदन करता जाता है। "सयानीं" सखियाँ कितनी आवश्यक हैं कि अछूते, कोमल, सूक्ष्म और प्राथमिक प्रेमभाव की उत्पत्ति को अनुभव करनेवाले हृदय की वेदना की व्यंजक बनें और सीता को स्वयं उसके मनोगत भावों के समझने में सहायता दें।

(३) 'सब' कितना छोटा लेकिन कितना अर्थपूर्ण शब्द है। कोई सखी भी इतना न कर सकी कि इस बात की प्रतीक्षा करती कि एक का पूछना ही अलम् होगा। वरन्, उस प्रेम का प्रभाव बिजली की तरह सबपर एक साथ ही पड़ता है और प्रत्येक के मुख से बिना विचारे दशा जानने का प्रश्न निकल ही जाता है।

(४) 'मृदुबैन' एक तो 'बैन' शब्द ही कोमल वाणी को व्यक्त करता है, क्योंकि सुंदर राजकुमारी की सहेलियाँ हैं। उसपर 'मृदु' शब्द सोने में सुहागे का काम करता है। यह प्रभाव भी उसी प्रेम और आनंद का है जिसने एक सखी से सब सखियों पर अपना अधिकार उत्पन्न करना आरंभ कर दिया है। प्रेम भाव से प्रभावित होकर कठोर वाणी भी कोमल हो जाती है (दुष्ट की वाणी भी अपने प्रेमिक के प्रेम में मृदु हो जाती है)। फिर भला सुंदर सयानी सखियों की वाणी में, जो स्वभावतः ही कोमल हो, ऐसे भावों के प्रभाव से कितना माधुर्य आ जाएगा, इसका केवल अनुमान कर लेना ही पर्याप्त होगा। परंतु पाठक-वर्ग! सीता जी के भाव अतुलनीय हैं। सीता जी के मुख पर ऐसा कोई प्रश्न नहीं है जो उनके हृदय में अवश्य हो, क्योंकि सखियों की वाणी उन्हीं की हृदय-व्यंजिका तो है। बेशक—कुछ तो है जिसकी परदादारी है। फिर सीता जी गंभीरता और गुरुता की देवी भी तो हैं।

'देखन बाग कुँवर दोउ आए। बै किसोर सब भाँति सुहाए॥

(१) एक ओर तो प्रेममग्नता है जो वाणी पर चुप्पी का ताला लगाती है; और दूसरी ओर सखियों का प्रश्न वर्णन का उत्सुक है। कैसी द्विधा है और इस द्विधा का चित्र तुलसीदास ने पाठकों को दिखलाया है। यदि यही संदिग्धता रहती तो शायद सखी का मुख ही नहीं खुलता। परंतु सीता को सूचना देने का वह बलवान् विचार जो उसे पर्यवेक्षण के पश्चात् ही

इधर खींच लाता है, चुन्नी के ताले को ताली बन जाता है। सीता जैसी राजकुमारी के लिये केवल बाह्य रूप का वर्णन पर्याप्त न होगा, जब तक कि राजकुमार के कुल-प्रतिष्ठा तथा शील आदि का वृत्तात उनको ज्ञात न हो जाय। इन सब बातो को व्याख्या के लिये एक दफ्तर चाहिए और यहाँ वाणी तक निमग्नता मे बद हो जाती है। काव्य-विशारद कवि ने जितने कम शब्दो मे ये सब बाते सखी के द्वारा व्यक्त हो सकती थी, व्यक्त कर दी और सयानी सखियो का वार्तालाप व्यजक बनकर उनकी व्याख्या के लिये मौजूद है जिससे सीता को कुल बातो का पता चल जाय। यदि संक्षिप्तता, बुद्धिमत्ता का गुण है तो इस कोटि की सक्षिप्तता, कि विषय का भाव समझने की कोई त्रुटि न रह जाय, कितनी अच्छी है ! सब राम-दर्शन के विचार मे व्याकुला थीं। अधिक वार्तालाप का अवकाश किसे था ? यहाँ सक्षिप्तता की स्वाभाविक आवश्यकता थी।

(२) 'कुँवर' शब्द से उनका राजकुमार होना प्रकट है। और, 'दोऊ' शब्द से सकेत रूप से उनकी कुल-प्रतिष्ठा और शील आदि का पता लगता है परतु व्याख्या की जो आवश्यकता शेष है; वह सखियो के वार्तालाप से पूर्ण हो जाती है, क्योंकि सखी साधारण श्रेणी की है, इसलिये उसकी भाषा भी वैसी ही है। दूसरी सखी जो उससे अधिक सस्कृत है, "नृप सुत, आली" आदि शब्दो का प्रयोग करती है।

(३) अभी तक शृगार की अधिक चर्चा नही है, इसलिये सखी की वाणी नें रुकावट नही। परतु वे प्यारे दो शब्द "वय किशोर" जो दोनो भाइयो के यौवन-रूप का चित्र सामने खड़ा करते है, वाणी पर आते ही हृदय मे प्रेम की लहर उमड उठती है और सखी की वाणी साथ नही देती। वह विवश होती है कि बिना पूर्णताबोधक शब्द लाए केवल इन्ही दो शब्दो पर अपना वर्णन समाप्त करे और सिवा "सब भाँति सुहाए" के और कुछ न कह सके। साधारण लेखको और कवियो मे अतर यही है कि साधारण लेखक ऐसे वाक्य जैसे "वर्णनातीत है" आरंभ मे लिखकर अपनी वर्णन-त्रुटि का साथ देते है; और काव्य-मर्मज्ञ कवि ऐसे वाक्यो को ऐसे ही अवसरो पर प्रयुक्त करता है जिनसे एक आवश्यक अग का वर्णन हो जाय और उन वाक्यो के सिवा किसी प्रकार अर्थ की अभिव्यक्ति ही न हो सके।

(४) "सुहाए" कैसा अनूठा ठेठ सरल शब्द है जो अपनी सरलता मे मन पर एक अद्भुत प्रभाव डालता है।

"स्याम गौर किमि कहौ बखानी। गिरा अनैन नैन बिनु बानी ।।

(१) एक बार फिर कुछ वर्णन करने का उद्योग किया जाता है। परंतु, आह ! इस बार शृगार रस का पूर्ण साम्राज्य है, उतने शब्द भी नही निकलते जितने

पहले निकले थे। केवल "स्यामगौर" से राजकुमारो के यौवन रूप का साकेतिक वर्णन करके वाणी मौन हो जाती है और सखी के मन मे प्रकृत्या यह प्रश्न उठता है कि वर्णन-सामर्थ्य क्यो नही ? यह प्रश्न भी केवल काव्यपूर्ति के लिये नही, वरन् इसका भाव भी स्वाभाविक है। निसदेह कविता कोई कृत्रिम पदार्थ नही। सच्चे भावों का स्वाभाविक प्रकाशन प्राय कविता के रूप मे होता है, चाहे प्रकाशक उसका स्वय भी अनुभव न करे। इसीलिये तो कहते है कि भावुकता मे वार्तालाप गीत वन जाता है। कृत्रिमता वस्तुत' कविता की त्रुटि है। सखी की प्रेम-पराकाष्ठा की दशा प्रत्यक्ष है। दो वार के प्रवल प्रयत्न से भी जिह्वा इच्छानुसार नही खुलती। मस्तिष्क चकराता है। कारण क्या है ? ऐसी दशा मे कैसा अच्छा सूक्ष्म विचार ऐसे रूप मे उपस्थित किया जाता है कि कविता अपनी कृत्रिमता को उसपर निछावर करके फेक दे। "गिरा अनयन नयन विनु बानी" कैसा प्रभावपूर्ण सारल्य है ! और फिर सखी का कुल वार्तालाप वरन् सखी भी सरलता की मूर्ति है। इसलिये यह सारल्य और भी उपयुक्त है। विचारी वाणी जो कुछ वर्णन करने का प्रयत्न कर रही है, उसने राजकुमारो को देखा ही नही है। और जिन आँखो ने देखा है--उनके जिह्वा नही। अहा ! कैसी विवशता है। यह चौपाई और यह—

सुनहु पवनसुत रहनि हमारी। जिमि दसनन मँह जीभ विचारी ॥

(जो विभीषण ने अपनी दशा का चित्र खीचते हुए हनुमान जी से कहा था) ऐसी सरलता के दृष्टात है जिनमे कवित्व कूट-कूट कर भरा है। तुलसीदास से पहले किसी कवि ने इन्हे छन्दोबद्ध ही नही किया।

(२) कैसा शब्द-क्रम है कि यदि "नैन विनु बानी" वाले शब्द पहले रख दिए जायँ तो वह आनंद ही उड़ जाय जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। वाणी से सबद्ध शब्द का पहले होना इसलिये और भी उपयुक्त है कि वाणी की सहायता न करने के कारण मस्तिष्क को चिंता हुई और इसलिये कि पहले उसी से सम्बद्ध उत्तर की आवश्यकता थी।

(३) "वय किसोर, कुँवर दोउ, स्याम गौर" इन शब्दो मे सारा जादू भरा हुआ है और सौदर्य के सवंध में ये ही शब्द सखी की जिह्वा कर आ सकते है। "बानी" उन्ही की सजावट है, यद्यपि ऐसे ढग पर कि जिह्वा के वद होते होते पूर्णता की सीमा आ जाय। कविता के उच्च कक्षा पर पहुँचते ही शब्दो मे स्वय कुछ उत्तमता आ ही जाती है। इसीलिये 'वर्ड्सवर्थ' यद्यपि सरलता-प्रेमी था, तथापि जव वह कविता के किसी उच्च स्थल पर पहुँचता है तो विना किसी वनावट के उसके शब्दो मे भी उत्तमता प्रकट हो जाती है : कॉलरिज (Coleridge) ने ठीक ही कहा है कि वर्ड्सवर्थ (wordsworth) ने अपने

कविता के सिद्धातों को ऐसे शब्दो मे व्यक्त किया है जो परिवर्तन की सीमा से बाहर है और इसीलिये सर्वत्र उन्हे नही निभा सका। इसमे संदेह नही कि बिना किसी बनावट के भी कवि की उत्तम भाषा भावाभिव्यक्ति के समय साधारण बोलचाल से स्वयं ही पृथक् हो जाती है। वह सादी सखी भी मानो इस पद पर पहुँचकर सुदर शब्दो से बनी हुई एक मोती की लड़ी पिरोकर पेश करती है। "गिरा अनैन नैन बिनु बानी"—यहाँ "न" के अनुप्रास की गूँज भी निमग्नता मे कैसी भली जान पड़ती है।

"सुनि हरषी सब सखी सयानी। सिय हिय अति उत्कठा जानी।"

१—ऐसे आनद का वर्णन सुनकर प्रसन्न होना एक तो प्राकृतिक है। फिर सीता के मन मे उत्कंठा देखकर और भी अधिक प्रसन्नता हुई।

२—जब दूसरा चरण पहले चरण के कारण और पहले और दूसरे चरण के क्रम और समाप्ति के कारण चौपाई की रचना पर कुछ प्रभाव नही पडता, तो फिर यह क्रम क्यो? कारण यह है कि यद्यपि हर्ष का मूल कारण दूसरे चरण मे व्यक्त किया गया है, तथापि और भी कारण है। जैसे, बिना किसी अन्य कारण के ऐसे अवसर पर प्रसन्नता का होना। यदि दूसरा चरण पहले होता तो हर्ष बिल्कुल ही उक्त चरण से बँध जाता है और किसी अन्य कारण का ध्यान भी कठिन होता। परन्तु तुलसीदास के क्रम मे बडी उत्तमता के साथ इसके लिये स्थान है, वरन् जब तक कि शब्द 'सयानी' और दूसरे चरण तक पहुँचा जाय, तब तक यही जान पडता है कि यह प्रसन्नता बिलकुल स्वाभाविक है। इसमे भावो का यह अतर भी आजाता है कि वर्तमान शब्दक्रम मे सखियो की भावुकता की प्रसन्नता भी ज्यो की त्यो रहती है। यह नही कि किसी पत्र की भाँति अपना कोई विशेष भाव ही न हो।

३—'सयानी' (१) यह शब्द सखियो का लगभग स्थायी सबोधन बन गया है और विशेषत ऐसे अवसर पर प्रयुक्त किया जाता है जहाँ वह गुण उपयुक्त हो। यह नही कि यूनानी कवियो की भाँति ऐसा संबोधन निरा निरर्थक हो। स्थायी विशेषण (Permanent epithet) का ऐसा प्रयोग टेनिसन के Passing of Arther नामक पद्य मे Bold sir Belivere के संबध मे अत्युत्तम है। (२) यहाँ 'सयानी' इसलिए कहा गया है कि (अ) सीता की उत्कठा को वह तुरत उसी के चेहरे से ताड जाती है, (आ) निस्वार्थ प्रसन्नता किसी धीमान हृदय मे ही उत्पन्न हो सकती है, (इ) सीता के भविष्य का विचार कर लेती है।

(४) 'सिय हिय' मे अनुप्रास का आनद भी मौजूद है। बिल्कुल स्वाभाविक और सरल शब्द 'हिय' प्राकृतिक निर्दोष भावो के लिये बहुत ही उपयुक्त

है और सखियो के समीपी सवध के कारण 'सिय' नाम भी (जिससे सहेलियाँ सदा ही उन्हे सबोधित करती रही होगी और जो उनके शैशव-स्वाभाविक भावों का सकेत बन गया है) भी अत्युपयुक्त है।

(५) 'अति' के कारण उपर्युक्त प्रसन्नता के कारणो का आनंद द्विगुण हो जाता है।

इसके पीछे आने वाली चौपाइयो के पहले तो वार्तालाप मे नाटकीय सजीवता उत्पन्न हो जाती है, दूसरे पहली सखी के कहे हुए शब्द 'दोउ' की व्याख्या हो जाती है। तीसरे सीता के प्रेमभाव के लिये एक ओर अकुश बन जाता है और सीता के भावो को 'अवसि देखिए' की लालसा के पद पर पहुँचा देता है। परतु फिर भी सखियो का भाव कैसा स्वाभाविक है ! जो अधिक अभिज्ञ है वह ऐसे अवसर पर प्रेम की वदात्यता के साथ उसे व्यक्त किए विना नही रह सकती। यह किस गर्व से कहा गया होगा, इसका अनुमान मर्मज्ञ पाठक स्वय ही कर सकते है।

एक कहहि नृपसुत तेइ आली। सुने जे मुनि सँग आए काली।।

१--'नृप सुत' (अ) 'भूप' की व्याख्या करते समय वताया जा चुका है कि जब राजकुमार का मनुष्योत्तर वर्णन करना अभीष्ट हो तो 'नृप वा नरपति' शब्द प्रयुक्त किया जाएगा। (आ) यहाँ 'कुँवर' के स्थान मे यह शब्द होना सखी की अच्छी शिक्षा और सस्कृति का साक्ष्य है। वार्तालाप मे शाही दरबार का भी पास करना आवश्यक समझा जाता है और सखी के लिए 'आली' शब्द इसी का प्रमाण है। (इ)--एक और कारण यह भी है कि जिसे संबोधित किया जाता है उसके विचार से उपयुक्त भाषण बनाना पडता है। पहली सखी ऐसी निमग्न थी कि उसको यह ध्यान भी न था।

२--'सुने' जनकपुर का भ्रमण--वृत्तात राजभवन तक पहुँचने और उसके प्रभाव आदि का विवरण 'दोउ' की व्याख्या करते समय वर्णन किया जा चुका है। जनकपुर भ्रमण का दृश्य इस प्रकार एक आवश्यक अग बन गया है, क्योकि सखी के वर्णन का अभिप्राय यह है कि उनकी कुल-प्रतिष्ठा प्रकट हो जाय और साथ ही साथ उनके आचारिक सस्कार का भी पता 'मुनि संग आए' से लग जाय। यहाँ पहली और दूसरी सखी के वार्तालाप की तुलना साहित्यिक रोचकता से शून्य न होगी।

(अ) पहली सखी शृगार रस मे निमग्न है। इसलिये उसने केवल ऊपरी सौदर्य की प्रशसा की है, परतु दूसरी सखी जो उससे उच्चकुल की जान पड़ती है और जिसकी शिक्षा और सस्कार का अधिक अच्छा होना भी प्रत्यक्ष है,

पहले नायक के राजकुल और सुसस्कृति का सकेत करती है, तत्पश्चात् शृंगार रस की प्रशंसा करती है ।

(आ) दूसरी अधिक सयानी है । सीता के भावो तथा संस्कारों को खूब समझती है और भली भाँति जानती है कि शृंगार रस के अनुसार केवल मनोहर कुँवर का प्रभाव न पडेगा जब तक कुल, शील तथा उन्नत सस्कारो का पता न लग जाय । इसलिये पहले इन दोनो बातो का जिक्र करती है जिसमे "अति उत्कंठा" को और भी उभारे । तत्पश्चात् आनदमय शृंगार रस को लाती है कि दर्शन के लिए लालच उत्पन्न हो जाय।

(इ) पहली सखी शृगार रस मे इतनी निमग्न है कि केवल शृगार ही का वर्णन उसके लिये उपयुक्त था । दूसरे उसने प्रेमी का प्रताप अभी स्वयं देखा है परंतु दूसरी सखी ने केवल उसकी प्रशसा ही सुनी है । उसकी निमग्नता उतनी गहरी नही है । इसलिये सुदर वर्णन के लिये दूसरी सखी ही ठीक है । विशेषत उनकी कुल-प्रतिष्ठा और सस्कृति की व्याख्या के लिये ।

(ई) तो भी मन मे इतना ज्ञान अवश्य है जिससे प्रत्यक्ष है कि दर्शनाभिलाषा मे किसी को विशेष बातचीत का अवकाश नही । कौन से मुनि, कौन राजा, इसकी व्याख्या जनकपुर के दृश्य मे हो चुकी है और रनिवास तक सूचना पहुँचाई जा चुकी है ।

(३) मुनिसग–विशेषत. राजकुमारो की आचारिक सस्कृति की ओर सकेत करने के अभिप्राय से लाया गया है।

(४) "काली" (अ)–नाटकीय स्वाभाविकता (Dramatic Reality) के प्रभाव पर ध्यान दीजिए । (अ) आह ! क्या जादू है कि एक दिन मे उनके वाह्य और आतरिक सौदर्य की सूचनाएँ समस्त नगर ही नही, राजभवन तक मे पहुँचा गईं । प्रत्येक व्यक्ति को रोचकता होने के कारण सारी बाते (कुलशीलविषयक) भी पूछी जाकर प्रत्येक को विदित हो गई । इनके पूर्व और पश्चात् कितने ही राजकुमार आए होगे, परतु यह अद्भुत चमत्कार किसी मे न था ।

जिन्ह निज रूप मोहनी डारी । कीन्हे स्वबस नगर नरनारी ॥

(१) इस सखी का वार्तालाप "नृपसुत" से आरभ होता है, वहाँ में "देखन जोगू" तक एक वाक्य है । ज्यो ज्यो आगे बढती है शृगार रस भी वृद्धिगत होता जाता है । इस स्पष्ट भाषण से शृगाररस के भाव मे तल्लीन होना प्रत्यक्ष है और यह भी अभीष्ट है कि प्रेमी के दर्शनो मे विलब न हो । एक वाक्य में सारा वर्णन समाप्त करके दर्शनो की तैयारी की जाय ।

(२) क्योकि समस्त नगर के नर-नारियो का निमग्न करना अभीष्ट है, अत "जिन्ह-निज" पर विशेष वल दिया गया है वस्तुत: ये दोनो भाई मानवीय गुणो के विचार से एक दूसरे के पूरक (Supplement) है। मनोहर जोडी मे सभी भिन्न-भिन्न गुण सन्निविष्ट है, इसलिये सव प्रकार के मनुष्यो के लिये निमग्नता की सामग्री सयुपस्थित है। आगे चलकर धनुपयज्ञ के आरभ मे राम का चित्र, "जाकी रही भावना जैसी" आदि लाकर प्रत्येक रग मे खीचा गया है और इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकृति के पुरुषो को मोहित किया गया है। यहाँ भी यदि एक 'साँवला' है तो दूसरा 'गोरा'। अर्थात् रग के विचार से भिन्न भिन्न स्वभावालो के लिये उत्कंठा की सामग्री विद्यमान है। 'वय किसोर' मे उनकी रूपभिन्नता का वर्णन है। यदि एक गाभीर्य की मूर्ति है तो दूसरा क्षात्र उत्साह का आदर्श। साराश, दोनो मे मिलकर सत-रज-तम तीनो गुण विद्यमान हैं। वस सभी प्रकृति के लोगो की लीनता का द्वार खुला हुआ है।

(३) वहुधा टीकाकार—"मोह न नारि नारि रूपा" इसके और इसी अर्थ के अन्य छदो का उदाहरण देकर तुलसीदास पर विपरीत—वर्णन का दोषारोपण करते है। पाठकवर्ग! जिसकी चर्चा इस चरण मे है, उस मोह और इस स्ववस मे अतर है। जव एक स्त्री अन्य सुरूपा स्त्री को देखती है अथवा एक पुरुप किसी रूपवान् पुरुप को देखता है तो अनुराग अवश्य उत्पन्न होता है, फिर चाहे वह किसी दूसरे ढग का भेल ही हो।

(४) "मोहनी डारी"—मे 'मोहनी' मत्र का रूपक है। जिसके 'वशीकरण' प्रभाव के विचार से 'स्ववस' शव्द का प्रयोग किया गया है। यहाँ कोई कृत्रिम मत्र नही है वरन् केवल रूप का प्राकृतिक चमत्कार है।

(५) वास्तव मे सीधे सादे राजकुमारो का अभिप्राय कदापि न था कि प्रभाव डालने के लिये भ्रमण किया जाय। नवीन नगर के भ्रमण की इच्छा सर्वथा स्वाभाविक थी जैसा कि उन शव्दो से स्पष्ट विदित है जिनमे राम ने गुरु जी से जनकपुर जाने की आज्ञा मांगी थी, परतु उनके सौदर्य के जादू का स्वाभाविक प्रभाव यही पडा। "आसक्त हृदय प्रेमिका की प्रत्येक गति-मति को चाहे, वह कितनी ही अनिच्छित क्यो न हो उसके आचार-व्यवहार से सवद्ध कर देता है।" यह ताज्जुल का सर्वमान्य सिद्धात है। जार्ज मेरीडिथ (George Meredith) भी एक स्थल पर अपनी सरल प्रकृति नायिका के प्रभाव के विपय मे लिखता है—

She used quite common words and used them no doubt to express a common simple meaning. But to him, she was uttering magic-casting spells.

अर्थात् उसने वहुत ही साधारण शव्दो का प्रयोग किया और नि संदेह उनको

बहुत ही सामान्य अर्थ प्रकाशित करने के लिए प्रयुक्त किया था परंतु उसके (आसक्त) लिये मानो उसने मत्र पढे और जादू डाला। ऐसे विरोध का नाटकीय प्रभाव कैसा विशेष आनददायी है।

(६) 'नगर नर नारी'' का अनुप्रास ध्यान देने योग्य है।

(७) पहली सखी के साधारण वर्णन की इस रूपकमय वर्णन से तुलना करना उन दोनो के विवेकातर तथा दोनो पर भिन्न भिन्न श्रेणी के प्रभाव को स्पष्टतया प्रकट करता है। (व्याख्या पहले की जा चुकी है)। ''बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू। अवसि देखिए देखन जोगू'' ॥

(१) पहले चरण मे अभी कल के आए हुए राजकुमारो के सौदर्य से समस्त नगरवासियो के मोहित होने तथा नगर मे यत्र तत्र यही बातचीत होने का चित्र सामने है।

(२) 'छबि'—प्रेमी के सौदर्य के प्रकाश का वह भाग है, जो दूसरे को प्रकाशित करता है। जन-साधारण ऐसे शिक्षित नही होते जैसे ये राजभवन के स्त्री-पुरुष, इसलिये उनमे राम की विनय आदि की चर्चा नही है। और फिर शृगार रस इस समय जनकपुर मे भर रहा है, इसलिये छबि ही का वर्णन लोगो मे है। 'लोगो' से तुलसीदास का अभिप्राय ठीक उस श्रेणी के जनसाधारण से है जिनकी चर्चा (Common people) की भाँति शेक्सपियर ने जूलियससीजर मे की है (उसकी गति-मति का चित्र धनुषयज्ञ मे स्पष्टरूप से है। उस समय इन दोनो मिलते-जुलते कवियो की तुलना अधिक रोचक होगी)।

(३) 'जहँ तहँ' नगर के रहनेवालो का स्थल-स्थल पर टोलियो मे एकत्र होना और राम के सौदर्य का गुणगान उनके मुख पर आना कल्पना के लिये समस्त नगर का भावचित्र बनाने के लिये अत्यानद-वर्धक है।

(४) दूसरा चरण भावो की सरलता के लिये एक अर्थपूर्ण और उत्तम उदाहरण है और तुलसीदास के गुण का वह नमूना है जो प्रत्येक के मुख पर आ रहा है। 'अवसि' मे इच्छा शक्ति के बल का प्रकाशन और 'देखन जोगू' मे प्रशसा की पूर्णता अत्युत्तम है। वास्तव मे 'सुना हुआ यूसुफ' (चाहे उसका वर्णन कितना ही सुदर और विस्तृत क्यो न हो) 'देखे हुए (यूसुफ)' के समान नही हो सकता। इसलिये प्रेमिक की प्रसन्नता इससे बढकर क्या हो सकती है कि ''बस देखने से ही सबध है।'' परतु जैसा कि ''सब भाँति सुहाए'' के विषय मे पहले कहा गया है, ऐसे शब्द भाषा पर अधिकार रखने वाले कवि उसी समय प्रयुक्त करते है, जब वर्णन करनेवाला विवश हो। यहाँ दूसरी सखी के वर्णन मे उपर्युक्त कारणो से अधिक स्पष्टता है। परतु वह भी अत मे वर्णन करने मे असमर्थ होती है और उसको भी कहना पड़ता है कि प्यारे राजकुमारो की यही प्रशसा हो सकती है कि 'देखन जोगू' हैं और बस।

''तासु बचन अति सियहि सुहाने। दरस लागि लोचन अकुलाने'' ॥

(१) अहा! पहले ही बस इस बात के कहने से कि सखियाँ सीता के मनोगत भावों की व्यजक है और तुलसीदास की लेखनी, सखियो की वाणी और सीता के हृदय का भाव कक्षा मे समान है। मेरा यही अभिप्राय था। सीता को "अवसि देखिए देखन जोगू" वाले शब्द कितने अच्छे जान पड़े कि अब स्वय उनके भाव भी उसी का समर्थन करते है। 'सुहाने' शब्द की स्वाभाविकता और अर्थपूर्णता की चर्चा पहले की जा चुकी है यहाँ 'सिया' के साथ उसका अनुप्रास कितना अच्छा है।

(२) 'अकुलाने' शब्द उस संस्करण मे है जिससे मै लिख रहा हूँ। परतु अन्य सस्करणो मे 'ललचाने' शब्द है। जो मेरे विचार मे निम्नाकित कारणो से अधिक अच्छा है–

(अ)–'ल' का सुदर शृगार रस-पूर्ण अनुप्रास पूरा होता है। 'लागि लोचन ललचाने" ऐसा सुदर अनुप्रास है जिसकी प्रशसा वर्णनातीत है। इसलिये "नैन", 'लोचन' दो शब्द जो सुदर आँखो के वर्णन मे लाए जाते है उनमे से लोचन शब्द चुना गया है।

(इ)–'अकुलाने' मे जो व्याकुलता है वह भी अनुचित है और उस अवस्था मे पहुँचने के लिये अभी सीता सी पवित्र आचारवाली कन्या के लिये नारदमुनि के वचन स्मरण करने की आवश्यकता है। उसके पश्चात् वह व्याकुलता स्पष्ट होगी जिसकी चर्चा आगेवाले दोहे मे स्पष्ट रूप से की गई है।

(३)–एक अल्पावस्था की कन्या के लिये एक सुदर वस्तु देखने की अभिलाषा मे 'ललचाने' शब्द अधिक उपयुक्त है। दूसरे एक आचारवाली कन्या के लिये 'देखन जोगू' के साथ केवल 'ललचाना' काफी है। जब दर्शन से अथवा नारद मुनि को भाविष्य वाणी से प्रेम भाव उत्पन्न होगा, उस समय अलबत्ता व्याकुलता की आवश्यकता होगी। 'ललचाने' मे जो लड़कपन प्रकट होता है, उसका वह भाग जो सीता के वयानुकूल है, आवश्यक है। वह भाग जो आचार के विचार से अनुचित होता 'दरस' से पवित्र शब्द आजाने से दूर हो गया।

(४)–'अकुलाने' शब्द यदि इसी समय आ जाय तो फिर नारद के वचन और उनके स्मरण से प्रीति उत्पन्न होने मे जो भाव-वृद्धि होती है और जिससे 'चकित' की व्याकुल अवस्था उत्पन्न होती है, उसका वर्णन करने के लिये कौन सा विवेचक शब्द लाया जायगा।' हाँ 'अकुलाने' के अनुकूल केवल एक बात हो सकती है। वह यह कि जिस हृदय पर विशेष प्रभाव पडता है, उसका भाव सखियो के भाव से गंभीरतर होना चाहिए, और ललचाने मे भावो का अंतर इतना स्पष्ट दृष्ट नही पड़ता। परंतु फिर भी 'दरस लागि' के साथ इस शब्द के प्रयोग से अंतर स्पष्ट विदित है और उपर्युक्त कारणो की तुलना मे यह यदि कोई कारण है भी तो बहुत छोटा।

(५) 'दरस' और देखने का अतर विचारणीय है। प्रेमिक के अवलोकन के लिये 'देखना' शब्द निम्न श्रेणी का है, परतु 'सयानी' सखियाँ सीता सी सदाचारिणी कन्या को बडी सावधानी के साथ सबोधन करती है, क्योंकि यदि उसे यह विचार उत्पन्न हो जाय कि ये सखियां मुझको शृगार रस की अनुचित सीमा तक ले जाना चाहती है तो दर्शनो की अभिलाषा के स्थान मे घृणा उत्पन्न हो जाय। इसलिये केवल इतना ही कहती है कि "देखने योग्य है, अवश्य देखिए," परतु सीता की आँख के लिये, जिसमे प्रेम का पवित्र भाव भरा हुआ है, 'दरस' के अतिरिक्त और कोई निम्नश्रेणी का शब्द प्रयुक्त नही किया जा सकता था। 'दरस' के साथ भावो की पवित्रता भी विचारणीय है। सीता केवल एक सुरूप अपरिचित को देखने के लिये कभी तैयार न होगी, जब तक उसके भाव मे प्रकृत्या पर्याप्त कारणो से (जिनमे से बहुधा अभी गुप्त दशा मे ही क्यो न हो), "प्रीति पुरातन लखै न कोई" ऐसे 'दरस' की उत्कठा उत्पन्न न हो जाय। इसी 'जिज्ञासा' की श्रेणी पर इस समय यह लेख समाप्त किया जाता है।

❀

रामचरितमानस की वाक्यगति और अर्थान्विति

डॉ० जनार्दन उपाध्याय

•

'रामचरितमानस' के मूल्यांकन मे उसकी संरचनात्मक अन्विति एव रचना-क्रम पर कम ध्यान दिया जाता है । परतु कृति के वैशिष्ट्य-निरूपण मे उसके रचनातत्व का उद्घाटन आवश्यक है । रचना की अन्विति का अर्थ काव्य मे प्रयुक्त शब्दो के विभिन्न तत्वो के अत सबधो का विश्लेषण करते हुए उसमे निहित एकता है । काव्यभाषा एक विशिष्ट भाषा है, क्योंकि इसका अपना एक शब्द-विधान (टेक्श्चर) होता है। कविप्रतिभा मे आकर साधारण शब्द भी असाधारण हो जाते है । इसलिये काव्य मे शब्द-संयोजन, वाक्य-विन्यास एव उसकी गति का महत्व है। इसे भारतीय और पाश्चात्य काव्य-मनीषी भी स्वीकार करते है। होरेस एव अरस्तू ने स्पष्ट कहा है कि साधारण शब्द भी कवि के योजना-कौशल से असाधारण हो जाता है । इलियट ने शब्दगुफन की एकान्विति को नृत्य रूपक से प्रकट किया है;[1] तो भारतीय मनीषी वाक्यविन्यास के वैशिष्ट्य से उत्पन्न नव्यता को प्रमखता देता है :

> "यानेव शब्दान् वयमालपाम,
> यानेव चार्थान् वयमुल्लिखाम ।
> तैरेव विन्यासविशेष- भव्यैः
> समोहयन्ते कवयो जगन्ति ।,"

इसी से काव्य मे सर्वोत्तम शब्द सर्वोत्तम ढग से (बेस्ट वर्ड्स इन बेस्ट आर्डर) सुनियोजित होना चाहिए। ग्रथन कौशल ही काव्य को नव्यता प्रदान करता है

> ते एव पदविन्यासा ता एवार्थ-विभूतय. ।
> नव्य भवति सत्काव्य येषा ग्रथनकौशलात् ।।

क्या लोकभाषा काव्य-तत्त्व से सयुक्त होकर साहित्यिक भाषा के निकट आ सकती है ? इसके लिये प्रतिभासपन्न कवि की आवश्यकता है जो लोक-

(१) "द कामन वर्ड इग्जैक्ट विदाउट वल्गैरिटी
द फार्मल वर्ड प्रीसाइज, बट नॉट पीडान्टिक
द कम्प्लीट कन्सर्ट डासिग टुगेदर ।।"

भाषा की लय को काव्यभाषा मे उसी प्रकार उतार दे, परंतु ग्राम्यता (वल्गैरिटी) न आने पाए। तुलसी का मानस एक ऐसी रचना है जिसमे लोकभाषा-ग्राम्य-गिरा, का सजीव प्रयोग हुआ है। लोकभाषा की शक्ति, क्षमता एव सजीवता के लिये कुछ उद्धरण प्रस्तुत है :

'बालि कबहुँ अस गाल न मारा। मिलि तपसिन तैं भयसि लबारा।'
'तौ परनारि लिलार गोसाईं। तजिय चौथ चदा की नाईं॥'
'हमहुँ कहब अब ठकुरसोहाती',
'भामिनि भयेउ दूध की माँखी।'

'मानस' के रचनातत्त्व की दृष्टि से मूल्याकन के लिये उसके छंदो की वाक्यगति, सर्जनात्मक शब्दों के गढाव की पहचान, वर्णयोजना, लयबिंब का विश्लेषण आवश्यक है।

विन्यास-विशेष की भव्यता :

'मानस' के छदो मे वाक्यगति का वैचित्र्य एवं वैशिष्ट्य है। इसमे प्रबंध रचना के अनुरूप ही हिंदी के प्रचलित छदो--चौपाई, दोहा, सोरठा, छद, आदि का प्राजल प्रयोग है। 'मानस' के छदो मे वाक्यगति के प्राय. दो आयाम पाए जाते है :

(१) वृत्तीय एवं ऊर्ध्वगामी (सरक्यूलर ऐंड वरटिकल)
(२) विस्तारमूलक (प्रोग्रेसिव)

एक बिंदु मे दूसरे बिंदु तक गति का सीधी रेखा मे विकास। वाक्यगति प्रथम अवस्था मे विभिन्न वृत्तात्मम रूपो : चौपाई, 'छंद', दोहा या सोरठा के पारस्परिक निश्चित क्रम से चलती है। इसका एक क्रम कुछ इस प्रकार है .

(क) चौपाई की अर्धाली के दो चरण।
(ख) छद के चार चरण।
(ग) दोहा के दो चरण।
(घ) (पुन:) चौपाई का प्रथम चरण।

चौपाई मे मूल तथ्य का बोधक एक प्रधान वाक्य है और छंद चौपाई के चतुर्थ चरण की अतिम शब्द योजना को पकडकर मूलभाव बिन्दु की प्रभविष्णुता के लिये अतिम शब्दो की पुनरावृत्ति करता है, इससे भावातिरेक का आतिशाय्य व्यक्त होता है। जो वाक्यगति चौपाई के अतिम चरण पर विराम ले रही थी, वह छद द्वारा आगे बढा दी गई। दोहा पूर्ववर्ती चौपाई एव छंद मे प्रवाहित वाक्यगति के आवेग को सपुटित कर उनके निष्कर्ष (अर्थान्विति) को प्रस्तुत करता है। अंत मे चौपाई के एक चरण से पूर्ववर्ती चरण का वाक्य सश्लिष्ट हो जाता है, और वाक्य-विन्यास की एक लंबी धारा विभिन्न छादस मोड़ो से होकर पुनः वलयित होती है। यहाँ वाक्यगति का क्रम इस प्रकार है :

(क) मूलवाक्य चौपाई का है।
(ख) उपवाक्य छंद का है।
(ग) निष्कर्ष दोहा में है।
(घ) वाक्यगति का वलय अंतिम चौपाई मे निर्मित है।

वाक्यगति जिस विंदु से प्रारंभ हुई थी, वहाँ आगे चलकर वह विभिन्न मात्रिक छांदस-रचना के संपुट में बद्ध होकर एक गति का मंडल बनाती है जिसमें अभिव्यक्त आवेग या विचार तीव्र एवं घनीभूत हो जाता है। प्रस्तुत कथन के स्पष्टीकरण के लिये एक उदाहरण अपेक्षित है :

चौपाई :
जेहि तुरग पर राम बिराजे, गति बिलोकि खगनायकु लाजे ॥
कहि न जाइ सब भाँति सुहावा, बाजिवेष जनु काम बनावा ॥"

छंद :
जनु बाजि बेष बनाइ मनसिज, रामहित अति सोहई ॥
आपने बल बय रूप गुन गति सकल भुवन बिमोहई ॥
जगमगत जीनु जराव जोति सुमोति मनि मानिक लगे ॥
किंकिनि ललाम लगामु ललित बिलोकि सुर नर मुनि ठगे ॥

दोहा :
प्रभु मनसहि लयलीन मनु, चलत बाजि छबि पाव ॥
भूषित उडगन तड़ित घनु, जनु बर बरहि नचाव ॥

चौपाई :
जेहि बर बाजि राम असवारा, तेहि सारदउ न बरनै पारा ॥"

इसमे मूल वाक्य है—'जेहि तुरग पर राम बिराजे' (जिस घोड़े पर राम विराजमान थे)। इसी का विकास आगे के छंद में है। 'छंद' चौपाई की

१ चौपाई—चार चरण की होती है। इसका प्रत्येक चरण १६ मात्राओं का है। इसमें पहली पंक्ति का दूसरी से और तीसरी का चौथी से तुक मिलता है।
२ दोहा - असम चरणों का छंद है। इसमे पहला और तीसरा चरण १३ मात्राओं (६+४+३) के होते हैं और दूसरे एवं चौथे चरण मे ११ मात्राओं (६+४+१) का योग रहता है। दूसरे और चौथे का तुक मिलता है।
३ सोरठा—दोहे का उलटा है। इसमे पहली एवं तीसरी पंक्ति ११ मात्राओं की तथा दूसरी और चौथी १३ मात्राओं की होती है।
४ छंद—यह चार पंक्तियों का होता है।
पहली पंक्ति का दूसरी, तीसरी का चौथी पंक्ति से तुक मिलता है।

अंतिम शब्दावली–'वाजि बेष जनु काम बनावा,' के किंचित् परिवर्तन से–'जनु बाजि वेषु बनाइ,' से प्रारंभ होता है। यह सहकारी उपवाक्य है, क्योंकि चौपाई की अंतिम शब्दावली से सबद्ध होकर भी छंद मे अपना पूर्ण स्वतत्र अर्थ रखता है। इस प्रकार 'छंद' का सहसंवद्ध उपवाक्य–'जनु बाजि बेप बनाइ मनसिजु राम हित अति सोहई" (मानो कामदेव ही राम के लिये घोडे का रूप बनाकर शोभायमान हो रहा है) पूर्ण है और इसका पल्लवन आगे तीन पक्तियो मे होता है। दोहा मे पुनः घोडे की गति का व्यंजक वाक्य है· "प्रभु मनमहि लयलीन मनु, चलत वाजि छबि पाव"। आगे विरोध द्वारा अर्थ चमत्कार पैदा किया गया है भूषित उडगन तडित घनु, जनु वर बरहि नचाव," अर्थात् तारागण तथा विद्युत् से अंलकृत मेघ मयूर को नचा रहा है। मेघ से मयूर नर्तन सत्य है पर मेघाच्छन्न आकाश में तारागणो का होना असभव है। यही विरोध है। काव्य मे शब्दविधान (टेक्श्चर) का भावार्थ से सीधा संवंध नही होता; वह विरोध असंगति द्वारा उसे वाधित करता है। इसकी गति वक्र होती है। अत: उक्त विरोधमूलक कथन का अर्थ-वैशिष्ट्य उसकी वक्रता है; आशय है राम-घनश्याम है जो भूषण रूपी तारागणों एवं वस्त्ररूपी विद्युत् से आवेष्टित है और अश्वरूपी मोर को नचा रहे है। यहाँ विरोध से कथन मे चमत्कार आ गया है और वाक्यगति सीधी न चलकर बकिम होती है।

अतिम चौपाई की प्रथम पक्ति · "जेहि बर बाजि राम असवारा" पूर्ववर्ती चौपाई के 'जेहि तुरग पर राम बिराजे' से सयुक्त होकर मूलभाव की एक परिधि वनाती है। इस प्रकार प्रस्तुत छद मे वाक्यगति ऊपर से नीचे तथा नीचे से पुनः ऊपर जाती है। इससे भाव-साद्रता आ गई है। वह संपुटित होकर अधिक प्रभावकारी हो जाता है। इस तथ्य का विश्लेषण इस प्रकार होगा—

(क) **मूल वाक्यांश :** राम का घोडे पर विराजमान होना।

(ख) **सहकारी उपवाक्य :** कामदेव का ही घोडा वनना।

(ग) **उपवाक्य का सहकारी वाक्य**––प्रभु के मन मे मन मिलाकर घोडे का चलना।

(घ) **वाक्यांश से पुर्नमिलित पूर्ण वाक्य**––राम जिस श्रेष्ठ घोडे पर चढे है, उसका वर्णन सरस्वती भी नही कर सकती।

इस शब्दविधान से मूलकथ्य उद्घाटित होता है, क्योंकि विभिन्न उपवाक्यो, सहकारी वाक्यो से निर्मित विंव मूलार्थ को पूर्णरूप मे पकडता है। इससे शब्दविधान और अर्थविधान दोनों के समन्वय का एक पूर्ण वृत्त बनता है, जिससे काव्य के सम्यक् आस्वादन मे कोई वाधा नही पडती और विचार भी साद्र एवं तीव्र हो जाते है।

दोहा के बाद चौपाई मे वाक्यगति एक सीधी रेखा में चलकर विकास मूलक हो जाती है। प्रवाह की विकासमूलकता (प्रोग्रेसिवनेस) इस अर्थ मे है कि जो कथ्य दोहा मे है उसीका उपबृंहण चौपाइयो के उपवाक्यों द्वारा होता है और अंत मे एक बिंदु पर विचार विराम होता है। यहाँ मूल भावना का उद्बोधक दोहा का वाक्य है और चौपाई का वाक्य उसी का समर्थन :

दोहा——सारद, सेष, महेस, विधि, आगम निगम पुरान।
नेति नेति कहि जासु गुन, करहिं निरंतर गान॥
चौपाई——सब जानत प्रभु प्रभुता सोई, तदपि कहे बिनु रहा न कोई॥
तहाँ बेद अस कारन राखा, भजन प्रभाउ भाँति बहु भाषा॥
एक अनीह अरूप अनामा, अज सच्चिदानंद परधामा॥
व्यापक विस्वरूप भगवाना, तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥
सो केवल भगतन हित लागी, परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥
जेहि जन पर ममता अति छोहू, जेहि करुना करि कीन्ह न कोहू॥
गई बहोर गरीब निवाजू, सरल सबल साहिब रघुराजू॥
बुध बरनहिं हरि जस अस जानी, करहिं पुनीत सुफल निज बानी॥
तेहि बल मै रघुपति गुन गाथा, कहिहउँ नाइ रामपद माथा॥
मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई, तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई॥

दोहा——अति अपार जे सरितवर, जो नृप सेतु कराहि।
चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु, बिनु श्रम पारहि जाहिं॥
चौपाई——एहि प्रकार बल मनहि देखाई, करिहौं रघुपति कथा सुहाई॥

मूल कथ्य है 'ब्रह्म' जो व्यापक, विरज अज, अकल, अनीह, अरूप है उसकी सगुण कला का गान। इसी विचार को दोहा मे इस प्रकार कहा गया है। सारद सेष महेस विधि आगम निगम पुरान, नेति नेति कह कर जिसका गान निरंतर करते है। यहाँ वाक्य पूर्ण हो गया है। परंतु चौपाई इस मूल विचार को अनेक स्वतंत्र वाक्यो द्वारा संवर्द्धित करती है। यहाँ वाक्यगति सीधी रेखा मे है।

रचना-तत्त्व मे स्ट्रक्चर-टेक्स्चर अर्थात् अर्थ-विधान एवं शब्द-विधान का बहुत महत्व है। दोनो के समन्वय से ही काव्य मे 'तनाव (टेंशन) उत्पन्न होता है जो काव्य-चारुता का आवश्यक गुण है। इसलिये अर्थ-विधान और शब्द विधान का समन्वय आवश्यक है। वाक्यो की निर्मिति ऐसी होनी चाहिए जो अर्थो को चारुता से व्यक्त कर सके। स्ट्रक्चर काव्य का तर्क है। यह तर्क संगत और सामान्य होता है। शास्त्र मे अर्थविधान ही प्रधान होता है; क्योंकि उसमे शब्दार्थ का सीधा संबंध तर्कपूर्ण होता है। पर काव्य मे शब्द-विधान या टेक्स्चर का महत्व रहता है। शब्द-विधान (टेक्श्चर) शब्दो के कलात्मक संयोजन का स्थानीय समृद्ध मूल्य (रिच लोकल वैल्यू)

है। यह अतार्किक होता है। इसी से टेक्श्चर और काव्य-न्याय (लाजिक आफ पोयट्री मे) असगति (इर्रेलिवेंसी) है, यद्यपि यह काव्यनिर्माण मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। टेक्श्चर का भावार्थ से सीधा सबध नही होता। वह विरोध, असगति द्वारा भावार्थ को वाधित करता है। यही पर काव्यभाषा एव विज्ञान की भाषा मे भेद है। काव्यभाषा के प्रयोग का वैशिष्ट्य वक्रता मे है। कहा जा चुका है, टेक्श्चर अतार्किक होता है। इसका अर्थ है अभिधेयार्थ और भावार्थ मे सीधा सबंध नही होता। फिर भी शब्दविधान का अर्थविधान से समन्वय होना चाहिए। इस तथ्य को हम एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करेगे :

दोहा—आश्रम सागर सात रस पूरन पावन पाथु।
सेन मनहु करुना सरित, लिए जात रघुनाथु॥

चौपाई—बोरति ग्यान विराग करारे, वचन ससोक मिलत नद नारे।
सोच उसास समीर तरगा, धीरज तट तरुवर कर भगा।
विपम विपाद तोरावति धारा, भय भ्रम भँवर अवर्त अपारा।
केवट बुध विद्या बड़ि नावा, सकहि न खेइ अैक नहि आवा।
वनचर कोल किरात बिचारे, थके विलोकि पथिक हिय हारे।
आश्रम उदधि मिली जब जाई, मनहु उठेउ अवुधि अकुलाई॥

'आश्रम सागर सात रस' मे लेकर 'मनहु उठेउ अवुधि अकुलाई' तक एक रूपक की योजना है। रूपक के लिये वाक्यरचना दोहा से प्रारभ होती है : शात रस के पावन जल से भरा आश्रम सागर है। 'आश्रम सागर सान्त रस' मे विरोध है, क्योंकि सागर का जल खारा और अपावन होता है, पर शात रस का जल पावन तथा पेय है। अत इस विरोध से व्यजना चमत्कृत हो गई है। शात रस सागर मे साधर्म्य है—अर्थात् सागर गभीर एव शात होता है, आश्रम भी शात है। नदियाँ समुद्र मे मिलती है. नदी उमगि अवुधि कहँ धाई। अस्तु, सेनारूपी करुणा-नदी का आश्रम-सागर की ओर जाना सहज है, यहा रूपक पूर्ण हो जाता है। राम सेना को आश्रम मे लिए जा रहे है। दशरथ मरण के वाद पहली वार अवध और जनकपुर का समाज एक साथ मिल रहा है। अत. दोनो मे करुणा छा गई है; सभी विलाप करते जा रहे है। इसीलिये सेना (समाज) को करुणा-सरिता कहा। दोहा मे रूपक पूर्ण होकर भी अपूर्ण रह जाता है। अत भावधारा के साथ वाक्यगति चौपाई मे वढती है और नदी की प्रवाहजन्य प्रक्रिया को अपने मे समाहित करती है। यहाँ महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, मूर्त आश्रम के लिये मूर्त सागर का अप्रस्तुत, मूर्त सेना के लिये मूर्त सरिता का अप्रस्तुत।

पहला विंव आश्रम-सागर और सेना-सरिता का है। सेना और करुणा-सरिता मे अभेद आरोपण से रूपक पूर्ण हो जाता है। इस विंव मे साधर्म्य सकेत है, क्योकि प्रकृति एव मानव के बीच साम्य रखा गया है। इसके वाद सहकारी विंव (क्वार्डिनेट इमेज) आते हैं। ये क्रमश. इस प्रकार है :

(१) सरिता के प्रवाह मे करारो का डूबना।
(२) (वोरति ग्यान विराग करारे)
सरिता मे नद-नालो का मिलना।
(बचन ससोक मिलत नद नारे)
(३) तंरगो का उठना।
(मोच उसास समीर तरगा)
(४) तट तरवर का गिरना।
(धीरज तट तरुवर कर भगा)
(५) तीव्र धारा और आवर्त।
(विषम विषाद तोरावति धारा, भय भ्रम भँवर अवर्त अपारा)
(६) केवट एव नाव।
(केवट बुध बिद्या बड़ि नावा)
(७) सागर का आकुल होकर उठना–
(मनहु उठेउ अवुधि अकुलाई)

यहाँ छह "सहकारी बिब है और सातवाँ बिब–'उठेउ अवुधि अकुलाई' मूल बिब-रूपक आश्रम शातरस सागर मे सेनारूप करुणा सरिता का जाकर मिलना, से संयुक्त होकर मूल बिब को पूर्ण करता है। इस प्रकार एक विशेप विकासक्रम मे रूपक-रचना पूर्ण होती है। यहाँ भी वाक्यगति ऊर्ध्वगामी तथा वर्तुल है। छह बिबो की योजना द्वारा मानव एवं प्रकृति के सश्लिष्ट रूपक की योजना है और इसके द्वारा वाक्यार्थ का पल्लवन हो रहा है। इस सपूर्ण वाक्यविन्यास मे बिब की पहली अवस्था साधर्म्य की है। दूसरी अवस्था सहकारी बिब सबध की है। अतिम मे तादात्म्य का सकेत मिलता है: आश्रम उदधि मिली जब जाई, मनहु उठेउ अबुधि अकुलाई।' वाक्यगति बिब, लय, विरोध, वर्ण योजना आदि गुणो का अत्यत चमत्कृत प्रयोग है।

उक्त उद्धरण में अनुभूति पक्ष की अपेक्षा विचार—तत्व ज्यादा भास्वर था। अत. एक अनुभूति तत्व-प्रधान वाक्य-विन्यास से निर्मित बिब ले :

चौपाई राम सीय सिर सेंदुर देही, सोभा कहि न जात विधि केही।
अरुन पराग जलज भरि नीके, ससिहि भूप अहि लोभ अमी के॥

इस पूरी चौपाई मे मूल वाक्याश सीता के सीमत मे राम द्वारा सिदूर लगाना है। वाक्यगति पूर्ववर्ती अर्धाली की दूसरी पक्ति से प्रारभ होकर परवर्ती चौपाई की पहली पक्ति मे पूर्ण होती है।

वाक्यार्थः सीता के सीमत मे रामद्वारा सिंदूर भरना-

वाक्य अवयव

(क) सोभा कहि न जाति विधि केही।
(ख) अरुण पराग जलज भरि नीके।

(१) अरुण पराग का प्रयोग सिंदूर के लिये।

(२) अरुण रंग राग का प्रतीक, शृंगार का रंग जलज करतल के लिये प्रयुक्त।

(ग) ससिहि भूप अहि लोभ अमी के।

(१) ससिहि=सीता√का मुखचद्र

(२) अहि = राम की भुजा

(३) भूप = भूषित करना

कमल मे अरुण पराग भरकर चद्रमा को भूषित करना वाच्यार्थ है परतु इससे कुछ और ध्वनित होता है—भूपित होकर चद्र प्रसन्न होगा। इसमे वह भूपित करनेवाले को अमृत दे सकता है। वास्तविक जगत् मे कमल, चद्रमा, सर्प का कोई निकट सबध नही है। अत. यह समूची वाक्यरचना तर्कपूर्ण नहीं है, पर काव्य मे शब्दविधान का महत्व होने से यहाँ शब्दशक्ति द्वारा जिस 'असभाव्य-सभावना' का उद्दीपन होता है, वह चमत्कार सर्जन मे समर्थ है। वाक्य का मुख्य अश है–'राम सीय सिर सेंदुर देही।' यही समूचे बिंब का मेरुदड है। शेप सहकारी बिंब है जो मूल बिंब को उदीप्त कर रहे है। यहाँ तक शब्दविधान की मीमासा समाप्त हो जाती है। पर शब्दचित्रों का मूल अर्थ से आतर सबध भी है। बिना उसको स्वीकार किए शब्दार्थ के पूर्ण वृत्त का आस्वादन नही हो सकता।

वाक्यगति और लयान्विति का संदर्भ:

रचनातत्व की मीमासा मे वाक्य सरचना एव चौपाई तथा दोहो मे उसकी गति को रेखाकित करते हुए छद मे वाक्य विन्यास एव उसमे निहित गत्वर विचारान्विति की व्याख्या अपेक्षित है। तुलसीदास आज से चार सौ वर्ष पूर्व रचना-तत्व की दृष्टि से नए मार्ग के पथिक है। परपरा के भीतर से नए मार्ग का सधान कर लेना उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा का ही प्रतिफलन है। तुलसीदास के पूर्व भी दोहे चौपाई मे भक्तो की रचना मिल जाती है। उस समय भी छह या सात अर्धालियो बाद अर्थात् साढे तीन या तीन चौपाईयो के उपरात दोहा का प्रयोग होता था। चौपाई और दोहे की परपरा के लिये एक सहजयपी साधु सरोज वज्र की रचना ली जा सकती है.

देखहु सुनहु परोखहु खाहू।
जिघ हु भमहु बयट्‌ठ उठाहू॥
आलमाल व्यवहारे पेल्लइ।
मण च्छड्डु एक्कार मचल्लइ।
गुरु उवएसो अमिअर मु हवहि न पीअउ जेहि।
बहु सथ्थथ्थ मरुस्थलिहि तिसिए मारि लहु तेहि॥

इससे स्पष्ट है कि निश्चित ही तुलसीपूर्व दोहे-चौपाई की परपरा थी। तु लसी के मानस की चौपाई मँजी हुई है। उसके वाक्य-विन्यास की गति मे शिथिलता एव न्यूनपदत्व दोष नही है। छदो मे वाक्य की गति का जो प्रवाह है, वह शब्दार्थ की लय की एकान्विति को बनाए हुए है। छदो मे वाक्यगति रचना की दृष्टि से एक ऐसा तत्त्व है जिसके बिना कोई भी छद-सरचना प्रभावकारी नही होगी। छंदो मे वाक्य की गति की दृष्टि से तुलसी नए मार्ग पर चल रहे है। इनका भाषा-वाक्य-प्रयोग छद के अनुसार नही है, अपितु वाक्यो की गति, यति, शब्दार्थान्विति के अनुसार छद स्वत बनते चले गए है। वाक्यरचना की दृष्टि से मानस का अपना वैशिष्टय है, क्योकि वाक्यगति चौपाई मे कई प्रकार की लक्षित होती है। वाक्य सामान्य तथा लबे और सक्षिप्त होते है। इन दोनो प्रकार के वाक्यो का सयोजन 'मानस' की चौपाइयों मे है। कभी कभी तो 'मानस के वाक्यो का प्रारभ दोहा से प्रारभ होकर आठ-आठ अर्धालियो तक चलता है और कभी ढाई, तीन, अथवा चार अर्धाली तक आकर रुक जाता है। यही नहा, इसका वैशिष्टय तब और बढ जाता है जब वह दूसरी अर्धाली के एक शब्द पर आकर रुकती है और पुन तब आगे का वाक्य बनता है। इस कथन को स्पष्ट करने के लिये विस्तार अपेक्षित है। लबे वाक्य की रचना के लिये शतरूपा-प्रसग लिया जा सकता है:

चौपाई . जे निज भगत नाथ तव अहही, जो सुख पावहि जो गति लहही।

दोहा सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु।
सोइ विवेक सोइ रहनि प्रभु हमहि कृपा करि देहु।। १५० ।। बालकाड

यहाँ 'जे निज भगत नाथ,' से 'हमहि कृपा करि देहु' तक वाक्यगति का एक ही प्रवाह है। इस उक्ति मे वाक्यगति की लय छदलय से सतुलित होकर सचरनात्मक अन्विति लाती है। 'मानस' की चौपाई मे कभी कभी वाक्यगति दूसरी अर्धाली के एक शब्द तक जाकर विराम लेती है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है

कलप कलप भरि एक-एक नरका।
परहि, जे दूपहि श्रुति करि तरका।।"

प्रस्तुत चौपाई मे वाक्यगति 'कलप कलप भरि एक एक नरका, परहि,' तक आती है। 'परहि' दूसरी अर्धाली का प्रथम शब्द है। अर्थान्विति हुई—कल्प-कल्प भर एक एक नरक मे पडता है। पहली अर्धाली मे "एक एक नरका" तक वाक्य पूरा नही हुआ, जबकि वह दूसरी अर्धाली मे क्रिया 'परहि' पर विराम लेकर पूरा हो जाता है।

वाक्य निर्मिति दो प्रकार से हो सकती है मिश्र वाक्यो की विविधता एव सरल वाक्यो की विविधता। 'मानस' मे लबे और सक्षिप्ततम वाक्यविन्यास पाए जाते है। वाक्यविन्यास मे कभी तो दो अर्धाली तक वाक्यगति चलती है और वह एक चौथाई मे ही पूर्ण हो जाती है.

(क) दो चरणों तक चलने वाली वाक्य गति :

चौपाई वंदउ सत असज्जन चरना, दुख प्रद उभय बीच कछु बरना ।।
बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं, मिलत एकदारून दुख देहीं ।।

एक चरण तक चलनेवाली वाक्यगति

चौपाई वायस पलिअहि प्रति अनुरागा, होहि निरामिष कबहुँ कि कागा ।।

कई चरणों तक चलनेवाला लंबा वाक्य

चौपाई अग्य अकोबिद अंध अभागी, काई विषय मुकुर मन लागी ।
लपट कपटी कुटिल बिसेखी, सपनेहुँ सत सभा नहि देखी ।
जिन्ह कृत महामोह मद पाना, तिन्ह कर कहा करिय नहिं काना ।

यहाँ वाक्य तीन अर्धालियो तक जाकर पूर्ण होता है। यह लबा वाक्य-विन्यास है। मानस का महत्वपूर्ण वाक्यविन्यास वह है जहाँ सक्षिप्त वाक्यरचना मे नाना रूपात्मकता आ गई है:

चौपाई : नारद देखा बिकल जयंता, लागि दया कोमल चित मता ।।

इसमे कई वाक्य वन रहे है। पहली स्थिति है नारद ने देखा अर्थात् लक्ष्य किया। यहाँ वाक्य पूर्ण हो गया। पुन. देखने की वस्तु का निर्देश है—'बिकल जयता'-आशय है, जयत वेकल है। वाक्य फिर पूर्ण हो गया। इसके वाद द्रष्टा की स्थिति का चित्रण है— 'लागि दया'——उन्हे (नारद) दया लग गई। यह वाक्य भी पूर्ण है। इसमे आए सभी शब्द एक दूसरे के वाच्यार्थ को अनुप्राणित करते है और पुन: सदर्भ इन वाच्यार्थो से नई अर्थवत्ता ग्रहण करता है। सदर्भ और काव्योवित, शब्दो का परस्पर सतुलन वाक्य की अर्थान्विति मे चमत्कार लाता है। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि सभी उपवाक्य स्वतत्र होकर भी एकता (कासिस्टेंसी) वनाए हुए है और एक दूसरे अंतर्ग्रथित है। उन्हे खंडित रूप मे पकडकर अर्थबोध नही कर सकते। मानस मे ऐसे भी स्थल है जहाँ पूर्ण स्वतत्र वाक्य भी वन गए है और उनका अंत-सवध नही है। ऐसी स्थिति सूक्तिमूलक या सुभाषित वाक्यो की है। एक उदाहरण उल्लेख्य है :

चौपाई सग ते जती कुमत्र ते राजा, मान ते ज्ञान पान ते लाजा ।।
प्रीति प्रनय विनु मद ते गुनी, नासहि वेगि नीति असि सुनी ।।

इसमे 'संग ते जती, कुमंत्र ते राजा, मान ते ज्ञान, पान ते लाजा', सव पूर्ण स्वतंत्र वाक्य हे, एक दूसरे से कोई अंत.संवध नही घोषित होता।

तुलसीदास कविता करते समय 'मानस' मे प्रसंग एवं विषयवस्तु को स्पष्ट करते जाते है। परंतु कही भी उसमे अनपेक्षित विस्तार नही है। उनकी रचना का वैशिष्ट्य सक्षिप्तता मे है। 'मानस' मे यह संक्षिप्तता (ब्रेविटी) तीन रूपो की है :

(क) विषय-वस्तुगत संक्षिप्तता
(ख) वर्णनात्मक संक्षिप्तता
(ग) छादस संक्षिप्तता

विषय वस्तुगत संक्षिप्तता (थीमेटिक ब्रेविटी)

इसमे विषय या प्रसग के विस्तृत वर्णन न कर सकेत से ही उसका मानस-बिंब (मेंटल-इमेज) उभारा गया है।

"आगे चले बहुरि रघुराई। रिष्यमूक पर्व्वत नियराई॥
तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा। ... ...

इसमे पर्वत के विस्तृत वर्णन के लिये वाक्यविन्यास नही हुआ है। मात्र सकेत से ही उसका मानस बिंब प्रत्यक्ष किया गया है।

वर्णनात्मक संक्षिप्तता (डिस्क्रिप्टिव ब्रेविटी)

वर्णन को सक्षिप्त करके उसके प्रस्तार विस्तार में सक्षिप्तता लाई जाती है। यह कार्य शब्दशक्तियो द्वारा संपन्न होता है। इसमे वर्णन घनीभूत होकर ज्यादा प्रभावकारी होता है—

सो परनारि लिलार गोसाईं, तजौ चौथि के चंद की नाईं॥

यहाँ चौथ के चद्रमा का वर्णन नही है, मात्र सकेत भर है। चौथ के चंद्रमा मे दो व्यंजनाएँ है, नारी का ललाट निष्कलक चतुर्थी के चाँद की भाँति है, पर उसके दर्शन से कलंक भी लगता है। अगर नारीसौंदर्य सद्भावना से दृश्य है तो वह मगलदायक है, पर दूषित भावना से देखने पर कलककारी है। यहाँ दृश्य द्रष्टा का एक साथ वर्णन अनपेक्षित विस्तार को ही रोकता है।

छांदस संक्षिप्तता (मीट्रिक ब्रेविटी)

कम से कम शब्दो मे बात कह देने के लिये मानस अप्रतिम है। एक चौपाई का आधा ही इतना पूर्ण है कि पूरे कथ्य को व्यक्त कर देता है। उसके लिये अनावश्यक विस्तार की आवश्यकता नही है। राम के सात्विक भावोद्रेक की चर्चा करनी है। तुलसी ने बिना विस्तृत परिवेश का वर्णन किए केवल इतना ही कहकर सत्वोद्रेक भाव को इंगित किया है—"भाल तिलक स्रमबिन्दु सुहाए।" जो राम बडे बडे राक्षसो का वध कर सकते हैं, उन्हें वाटिका मे भ्रमण करने से ही क्यो श्रमबिन्दु आ गए? वस्तुत· यह शब्द सात्विक शृगार का व्यंजक है।

भाषिक संरचना का औदात्त्य

काव्यभाषा के शब्द एक दूसरे को अनुप्राणित करते है। साथ ही कविता का सदर्भ उनके समूचे अर्थ को नई भगिमा देता है। परिणामत. काव्य-

भाषा प्रभावकारी होती चली जाती है। विभिन्न अर्थों के विनियोग से सदर्भ मे सूक्ष्मता और जटिलता आती है। सदर्भ अर्थ-विनिमय से ही भाषा मे लाक्षणिकता आती है। तुलसी के 'मानस' की रूपरचना की अन्विति के लिये एक उद्धरण प्रस्तुत है--

चौपाई--"सुंदरता कहुँ सुंदर करई, छवि गृह दीपसिखा जनु बरई।"

यह चौपाई वाक्यगति, शब्द योजना, एवं संदर्भस्थिति के लिये महत्वपूर्ण है। वाक्य का आशय--सीता के रूपसौदर्य से जनक की वाटिका का दीपित होना। इसके लिये विवाधायक शब्दों की योजना है--दीपशिखा के आलोक में जैसे चित्रशाला आलोकित हो उठती है। पूरी चौपाई का अर्थ है, दिव्यगुण संपन्न सीता के रूपसौदर्य को रूपायित करना। तुलसी के सम्मुख मानस बिंबों (मेंटल इमेज) को शब्दार्थ के माध्यम से मूर्त्त रूप देने की समस्या है, क्योकि प्रत्येक शब्द का अपना स्वतंत्र बिंब है। इसीलिये कवि शब्दो का चयन मानसबिंबो के अनुकूल करता है और संरचना इस रूप मे होती है कि शब्द एक दूसरे को अनुप्राणित करते रहते है। आभामंडित सीता के लिये 'बलना,' जनकवाटिका के परिवेश के लिये 'छविगृह' आदि शब्द प्रयुक्त है। प्रत्येक शब्द एक दूसरे से अनुप्राणित होकर नई अर्थवत्ता लाता है। साथ ही समूची उक्ति का सदर्भ भी शब्दो को अनुप्राणित कर रहा है और शब्द भी अन्य सदर्भो से प्राप्त अर्थ द्वारा संदर्भो मे सूक्ष्मता और जटिलता ला रहे है। इस प्रकार यहाँ भाषा विभिन्न सदर्भो से सयुक्त होकर नई अर्थवत्ता लाती है। दीपशिखा का बिंब नारीसौंदर्य के लिये काव्य मे प्रयुक्त है। पर तुलसी द्वारा यह विशिष्ट सदर्भ मे प्रयुक्त होकर उनकी भाषिक सरचना की अन्विति को ही व्यक्त करता है।

भाषिक सरचना की समीक्षा मे शब्दसयोजन मे 'तनाव' (टेंशन), टेक्श्चर, स्ट्रक्चर का विशेष महत्व है। ये दोनो शब्द नई समीक्षा के (ऑन्टालॉजिकल) है। अत इनका विशिष्ट अर्थ है। यहाँ 'मानस' का आकलन इसी सदर्भ मे अपेक्षित है। एलेन टेट ने जिसे 'टेंशन' कहा है वह शब्दो के बहिर्मुख और अतर्मुख अर्थात् अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ का संतुलन है। शब्दप्रकृति दो प्रकार की है, अतर्मुख एव बहिर्मुख। अतर्मुखी शब्द किसी भी वा विचार का प्रतीक रूप ही होता है, वह स्थिर एव समृद्ध बिंबो का उद्‌बोधन नही करता। ऐसे शब्दो मे वाच्यार्थ एव काव्यगत अभीष्ट अर्थ मे कोई तर्कपूर्ण सबध नही होता। इनका अपने से बाहर गोचर पदार्थ से तादात्म्य नही होता। 'मानस' का एक प्रसग प्रस्तुत है:

चौपाई। तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा।
जानत प्रिया एक मन मोरा॥

सो मन रहत सदा तोहि पाही ।
जान प्रीति रस एतनेहि माही ।।

उक्ति अनुभूति की तीव्रता के कारण रमणीय है। मन दूसरे के पास जाकर निवास करे यह दृश्य जगत मे प्रत्यक्ष नही है, क्योंकि मन अमूर्त है। प्रेम की अनन्यता को द्योतित करने के लिये मन का प्रतीकवत् प्रयोग किया गया है। निश्चय ही इसमे अनुभूति की तीव्रता, निश्छलता है, पर विंब का कोई आकर्षण नही है ।

एक दूसरा उदाहरण वहिर्मुख शब्दवृत्ति का लिया जा सकता है :

चौपाई : अवगुन एक मोर मैं जाना, विछुरत प्रान न कीन्ह पयाना।
नाथ सो नैनन कर अपराधा, निसरत प्रान करहिं हठि वाधा ।।
विरह अनल तनु तूल समीरा, स्वास जरै छनु माहिँ सरीरा ।।
स्रवहिं नयन जल निज हित लागी, जरइ न पाव देह विरहागी ।।

इसमे कवित्व गुण कम है, पर विंब भास्वर है। इस काव्यप्रबंध के अर्थ सकेत वाह्य हैं। इनमे आए शब्दविंबो का सवध वाह्य जगत् से है । भाषा का प्रयोग स्थिर और मूर्त है । अर्थ सकेत क्रमवद्ध और युक्तिसगत है । फिर भी यह काव्यगुण विहीन है, क्योंकि इसमे तनाव नही है । पहला इसलिये तनावशून्य है कि उसमे वाच्यार्थ ही प्रमुख है । वह भाव का तो उद्वोधन करता है, विंब नही उभारता । दूसरा विंबो का सर्जन तो करता है, पर भावार्थ को प्रांजल रूप मे सकेतित नही कर पाता । टेट के अनुसार पहले मे अभिधेयार्थ की असफलता है, दूसरे मे लक्ष्यार्थ की विफलता । इन दोनों दोषो से मुक्त एक उदाहरण लें :

"दीपसिखा सम जुवति तन, मन जनि होसि पतग"

युवती के लिये दीपशिखा, मन के लिये पतग का उपमान लाया गया है। एक मूर्त के लिये मूर्त उपमान है, दूसरा अमूर्त के मूर्त उपमान। इस उद्धरण का मूलार्थ है, नारी के रूप सौंदर्य के प्रति मन की आसक्ति। दीपशिखा नारी सौंदर्य की दिव्य आभा को सकेतित करती है। स्थिति कुछ और भी है। दीपशिखा मे पड़कर पतग जल जाता है । पर दीपशिखा द्वारा आलोक भी मिलता है जो पथ का प्रदर्शक वनता है। नारी रूप जला भी सकता है, नारी रूप ज्ञान की आलोककिरण भी विखेर सकता है । अतर केवल दृष्टि का चाहिए। यहाँ अमूर्त मन के लिये मूर्त पतग-विंब से एक प्रकार विरोधाभास लक्षित होता है, फिर भी अभीप्ट अर्थ मे किसी प्रकार वाधा नही पड़ती। यहाँ पर अभिधेयार्थ-लक्ष्यार्थ मे पूर्ण सतुलन है जिससे वाक्यविन्यास मे एक चमत्कार आ गया है। यही तनाव (टेंशन) है जो आधुनिक समीक्षा में कविता का सार तत्व है ।

'मानस' मे दार्शनिक प्रसंगो एवं पारिभाषिक विषयो के विवेचन मे सस्कृत तत्समता पर ही बल है। उसमे सस्कृत के शब्दो की यृति (लिंकिग) देते हुए पाडित्यपूर्ण शैली मे वाक्यो का विन्यास है। महत्व की बात यह है कि तुलसीदास ने पाण्डित्यपूर्ण शैलीप्रधान वाक्यो की सरचना मे भाषा के प्रवाही रूप का अधिग्रहण किया है। भाषा के प्रवाही रूप का अर्थ है जनभाषा की लय, एव वाक्य-योजना का प्रयोग। पाडित्यपूर्ण वाक्य मे सामान्य जन की बोलचाल के शब्दो और उनके अत.सबधो की एकता को पहचान कर जिस बोलचाल की लय को अपनाया है, वह रचनातत्त्व की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है यह ठीक है। स्तुति जैसे प्रसगो मे सस्कृत के बलाघात पर शब्दयोजना है

रावनारि सुखरूप भूपवर, जय दसरथ कुल कुमद सुधाकर ॥
सुजन पुरान बिदित निगमागम, गावत सुर मुनि सत समागम ॥
कारुनीक व्यलीक मद खडन, सब विधि कुसल कोसला मडन ॥
कलिमल मथन नाम ममताहन, तुलसीदास प्रभु पाहि प्रनतजन ॥

परंतु तुलसी जब दार्शनिक अनुशीलन के मध्य भाषा के सामान्य रूप का प्रयोग करते है, उस समय एक नया नादात्मक सौदर्य पैदा होता है :

सोऽहस्मि इतिवृत्ति अखडा, दीप शिखा सोइ परम प्रचडा।
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा, तब भवमूल भेद भ्रम नासा ॥

रचनातत्त्व की दृष्टि मे मानस पर अभी व्यापक विचार नही हुआ है। इसके लिये वैज्ञानिक समीक्षा आवश्यक है। इसके लिये पाश्चात्य एव प्राच्य दोनो दृष्टियो को अपनाना होगा। तुलसी भी भाषिक रचना के वैशिष्ट्य को शब्दो मे इस प्रकार कह सकते है :

सुगम अगम मृदु मजु कठोरे, अरथ अमित अति आखर थोरे ॥
जिमि मुख मुकुर मुकुर निज पानी, गहि न जाइ असि अदभुत बानी ॥

—:०:—

तुलसीदास के समय की वाराणसी

श्रीमती पद्मा मिश्रा

·

राल्फ फिच की वाराणसी यात्रा (१५८३-९१ ई०)

अकबर के राज्यकाल मे वाराणसी की यात्रा करने अंग्रेजी यात्री राल्फ फिच आया था। फिच का यात्रा वर्णन १६ वीं सदी के अंत के वाराणसी का जीता जागता नक्शा खड़ा कर देता है। फिच ने प्रायः वाराणसी-जीवन के हर अंग पर प्रकाश डाला है, जिससे पता चलता है कि आरंभिक १६ वीं सदी की गड़बड़ से वाराणसी उबर चुकी थी और पुनः धार्मिक जीवन निःशंक होकर जुट गया था। फिच के अनुसार इस युग मे वाराणसी में कपड़े का व्यापार भी उन्नति पर था और शहर बंगाल के व्यापार का सबसे बड़ा केंद्र था।[1] फिच ने वाराणसी के अंधविश्वास और धार्मिक कृत्यों का भी अच्छा खाका खींचा है। फिच ने १६ वीं सदी के अंत की वाराणसी का वर्णन इस प्रकार किया है :—

"इस शहर मे हिंदू ही रहते थे। आज शहर या 'पक्के महाल' में हिंदू ही रहते है, मुसलमानों के मुहल्ले उक्त पुराने शहर के बाहर हैं। जिन मूर्तिपूजकों को मैंने देखा है उनमें ये सबसे बड़े मूर्तिपूजक है। इस शहर मे दूर दूर से यात्री यात्रा करने आते हैं।" इसके बाद वह वाराणसी के घाटों, मंदिरों और मूर्तियों का वर्णन करता है। हिंदू मूर्तियां फिच को अजीब सी लगी, मूर्तियां कुछ बाघों सी हैं, कुछ चीतों सी और कुछ बंदरों सी। कुछ मूर्तियाँ स्त्री-पुरुषों और मोरों जैसी है और कुछ चार हाथोंवाले शैतानों जैसी। मूर्तियां पालथी मारकर बैठी है और उनमे हर एक के हाथों मे भिन्न भिन्न वस्तुएँ है।[2] कलाहीन मुगलकालीन हिंदू मूर्तियों को देखकर फिच घबरा सा उठा। वे काली और बदसूरत थीं और उनके चेहरे भयंकर थे। उनके कान मुलम्मेदार और रत्नजटित थे और उनके दांत और आंखे सोने चाँदी और शीशे की थी। मंदिरों मे कोई जूते पहनकर नही प्रवेश कर सकता था। वाराणसी की हिंदू मूर्तियों के समक्ष सदा दीपक जलाते थे। मूर्तियाँ बहुधा खड़ी हुई

१—विलियम फास्टर, अर्ली ट्रावेल्स इन इंडिया, (१५५ : १६१९ ई०), (लंदन : १९२१), पृ०-१७६

२—वही, पृ० २०-२३

होती थी। गर्मी मे उनपर पखा किया जाता था। जब कभी हिंदू उधर से जाते थे पुजारी घटा बजाते थे और यात्री उन्हे दान दक्षिणा देते थे।

फिच वाराणसी मे एक अडा (?) (आद्या) नाम की मूर्तियो का उल्लेख करता है, बहुत सी जगहो मे एक तरह की मूर्तियाँ खडी रहती है, जिन्हे उनकी भाषा मे अडा कहते है। इस अडा को चार हाथ और पजे होते है। वहाँ बहुत से कटे और नक्काशीदार पत्थर भी है जिन पर वे जल, अक्षत, गेहूँ, जौ और दूसरी चीजे चढाते है।

वाराणसी नगर के स्त्री पुरुष गगास्नान करते थे और वहाँ मिट्टी के चबूतरो पर बैठे वृद्ध पुरुष स्नानार्थियो के हाथो मे नहाने के पहले दो तीन कुशा दे देते थे, जो नहाने के पहले वे अपनी अगुलियो के बीच मे रख लेते थे। कुछ मस्तक पर तिलक लगाने के लिये बैठ जाते थे।[1] इसके बाद एक पोटली से थोडा सा चावल, जौ और पैसे निकालकर वे वृद्धो को देते थे। नहाने के बाद यात्री मदिरो मे जाकर पूजा करते थे और पुजारियो का आशीर्वाद प्राप्त करते थे।

उपरोक्त विवरण से ज्ञात होता है कि गगा मे स्नान करते समय यात्री कुश हाथ मे लेकर तर्पण करते थे। घाटियो की प्रथा भी उस समय थी लेकिन पक्के घाट नही थे। घाटिए कच्चे चबूतरो पर बैठते थे। दान दक्षिणा देने और सिर पर तिलक लगाने की प्रथा भी थी।

फिच आगे लिखता है कि कुछ हिंदू अपने शरीर की लबाई जितनी जगह धोकर, उस पर अपने हाथ पैर फैलाकर और लबे लेटकर ऊपर उठते हुए और फिर लेटते हुए उसी प्रकार कम से कम बीस बार बिना दाहिना पैर उठाये हुए और फिर लेटते हुए जमीन चूमते हुए पूजा करते थे। फिच यहाँ दंडवत् का वर्णन कर रहा है।

अपनी पूजा मे कुछ लोग हर तरह के १५-१६ छोटे बड़े पात्र व्यवहार मे लाते थे। वे बीच मे घटे बजाया करते थे और पात्रो के चारो ओर जल का मडल बनाते थे। फिर मत्रोच्चारण के बाद नैवेद्य देवताओ को अर्पण करते थे और बैठे हुए लोगो के सिर पर तिलक कर दिया जाता था। फिच यहाँ पर किसी पार्वण श्राद्ध का वर्णन कर रहा है।

फिच ने एक कुएँ अथवा वापी का उल्लेख किया है जो पत्थर की बनी थी और जिसमे नीचे जाने के लिये सीढियाँ लगी थी। इसका पानी सर्वदा फूल फेके जाने के कारण बड़ा ही गंदा और बदबूदार था। इस वापी पर हमेशा लोगो की

१—मोतीचंद, काशी का इतिहास पूर्वोक्त, पृ० २१२

भीड़ जमा रहती थी और लोगो का विश्वास था कि वहाँ स्नान करने से सब पाप धुल जाते है क्योंकि वहाँ स्वय ईश्वर ने स्नान किया था। उसके जल मे बालू निकाला करते थे और यह बालू बडी ही पवित्र मानी जाती थी। यात्री जल मे ही प्रार्थना करते थे। जल मे डुबकी लगाकर वे अंजुली से तर्पण करते थे और इसके बाद घूमकर और तीन बार आचमन करने के बाद वे मदिरो मे दर्शन करने जाते थे। इस कुड का नाम नही दिया गया। डा० मोतीचन्द लिखते है कि फिच का तात्पर्य शायद यहाँ पर मणिकर्णिका कुड से है।

बहुत से देवताओं मे से एक देवता ऐसे है जिनका हिंदू बहुत आदर करते है। उनके अनुसार वे सारे ससार को खाना, कपड़ा देते है। इनकी मूर्ति के पास बैठकर एक आदमी हमेशा पखा किया करता है। विश्वेश्वर के इस वर्णन से ज्ञात होता है कि इनका मदिर फिच की वाराणसी की यात्रा के पूर्व बन चुका था।[२]

कुछ हिंदू जला दिए जाते है, कुछ मुर्दे अर्धदग्धावस्था मे ही पानी मे फेक दिए जाते है। स्त्रियाँ अपने मृत पतियो के साथ सती हो जाती थी, अन्यथा उनके सिर मूड दिए जाते थे और बाद मे उनकी कोई पूछ नही होती थी।

मुमूर्षु स्त्री या पुरुष इस आशा मे कि उनका अत जल्दी हो जायगा, इष्ट-देव के सामने डाल दिए जाते थे। अगर उस पर भी मृत्यु न हुई तो दूसरे दिन मुमूर्षु के मित्र और उसके सबधी पास मे बैठकर थोड़ा सा रोने कलपने के बाद उसे नदी के किनारे जाते ले थे और उसे नरकट के एक बेडे पर लिटाकर नदी के बहाव पर प्रवाहित कर देते थे।

विवाह के बाद दुलहा दुलहिन गगा के किनारे जाते थे। उनके साथ एक गाय, बछडा और ब्राह्मण देवता होते थे। पहुँचने के बाद दुलहा-दुलहिन और ब्राह्मण देवता और गाय बछड़े सभी पानी के अदर घुस जाते थे। जल के अदर वे ब्राह्मण देवता को एक चार गज लबा सफेद कपडा और चीजो से भरी एक पिटारी देते थे। ब्राह्मण कपडा गाय की पीठ पर रख देते थे और उसकी पूँछ पकड़ा कर मत्र पढते थे। दुलहिन के हाथ मे एक ताम्रपात्र होता था, इसके बाद दुलहा-दुलहिन और ब्राह्मण एक साथ गाय की पूँछ पकड़ते थे और ताम्रपात्र से पानी बराबर उसके हाथो मे गिरता रहता था। इसके बाद ब्राह्मण देवता दुलहा-दुलहिन की गाँठ जोड देते थे और वे दोनो गाय और बछडे की फेरी देते थे। अत मे ये मदिर मे दर्शन के लिये जाते थे और पैसा चढ़ाकर और दडवत् कर अपने घर लौट जाते थे।

२– वही।

यहाँ गोदान का फिच ने सुदर चित्र खीचा है। अब यह प्रथा लुप्त हो गई है। इसके स्थान पर गगा पुजइया होती है ।

फिच लिखता है, 'धोती पहनने के अतिरिक्त वाराणसी के लोग अधिकतर नगे रहते थे। उनकी स्त्रियो के गले, भुजाओ और कानो मे चाँदी, ताँबे और राँगे की हँसली, जोसन और तरकियाँ होती थी । चूड़ियाँ हाथीदाँत की होती थी । उनपर अबर और अकोक के नग जड़े होते थे। स्त्रियो के माथो पर गोल सिदूर के टीके होते थे और माँग सिदूर से भरी रहती थी। यह माँग कई तरह से भरी जाती थी। जाड़े के दिनो मे आदमी रुई भरी रजाइयाँ या दुलाइयाँ ओढते थे और उनके कान और सिर कटोप से ढके रहते थे।'

फिच के अनुसार वाराणसी एक बहुत बडा शहर था और वहाँ सूती कपड़े का बहुत बड़ा व्यवसाय था। मुगलो के लिये वहाँ बड़ी सख्या मे पगड़ियाँ भी बनती थी।

वरदराज और ढुंढीराज का वाराणसी।

फिच ने वाराणसी के अनेक कच्चे घाटो का उल्लेख किया है, किंतु इन घाटो के नाम नही दिए है। लेकिन इसका विवरण हमे वरदराज (१६००-१६६० ई०) को गीर्वाणपदमजरी मे मिल जाता है। गीर्वाण-पद-मंजरी की हस्तलिखित प्रति मे घाटो और कुछ ब्राह्मणो के मुहल्लो के नाम आते है। प्रश्नकर्त्ता पूछता है — आप कहाँ रहते है ? उत्तर मिलता है.—मैं काशी मे रहता हूँ। फिर प्रश्न होता है— काशी मे कहाँ रहते है ? उत्तर मिलता है—राजघाट पर। इसके बाद निम्नलिखित घाटो और मुहल्लो के नामो का विवरण मिलता है, जो कि इस प्रकार है —

राजघाट : प्राचीन वाराणसी यही बसी थी और यहाँ पर वाराणसी की सबसे पुरानी बस्ती है।

ब्रह्मा घट्ट : पचगगा के बगल मे आजकल का ब्रह्माघाट।

दुर्गाघट्ट : पचगगा के पास आजकल का दुर्गाघाट।

विंदुमाधव घट्ट : पंचगगा पर माधवराव के धरहरे का नीचे-वाला घाट।

१—पी० के० गोडे तथा एस० एम० कात्रेय (सपादक), ए वाल्यूम आफ स्टडीज इडोलाजी प्रवेटेड टु प्रो० पी० काणे, (बना-१९४१ ई०) पृ०-१८८; दे०, उमाकांत शाह, गीर्वाण-पद-मजरी तथा वार्ड० मजरी, जनरल, गायकवाड़ ओरिएटल इंस्टीच्यूट, जून १९५९।

मंगला-गौरी घट्ट : यह घाट भी रामघाट बगल मे है।
रामघट्ट : आज दिन भी पचगंगा के पास रामघाट विद्यमान है।
त्रिलोचन घट्ट : गायघाट के पासवाला त्रिलोचन घाट
अग्नेश्वर घट्ट : रामघाट के पास।
नागेश्वर घट्ट : इसका पता नहीं है।
वीरेश्वर घट्ट : मणिकर्णिका घाट मे सटा हुआ घाट।
स्वर्ग द्वार प्रवेश : इसका पता नहीं।
मोक्ष द्वार प्रवेश : इसका पता नहीं।
गगा केशव पार्श्व : शायद इसका तात्पर्य आज केशव घाट से है।
जरासंध घट्ट : दशाश्वमेध घाट के पास मीरघाट का प्राचीन नाम।
वृद्धादित्य घट्ट इसका पता नहीं।
सोमेश्वर घट्ट : इसका पता नहीं।
रामेश्वर पंचकोसी यात्रा मे रामेश्वर नाम का तीर्थ स्थान।
लोलार्क . अस्सी के पास लोलार्क कुंड। शायद अकबर जहाँगीर युग मे इस नाम का कोई मुहल्ला भी था।
सिद्ध विनायक : वाराणसी का प्रसिद्ध विनायक मुहल्ला।
अस्सी सगम : आधुनिक अस्सी घाट।
वरुणा सगम · वरना संगम राजघाट के आगे जहाँ वरना गगा से मिलती है।
लक्ष्मीनृसिंह यह मुहल्ला अथवा मंदिर बिंदुमाधव घाट के ऊपर था
पचगगेश्वर : इनका भी मदिर बिंदुमाधव घाट पर था।
दक्षेश्वर . इसका पता नहीं है।
दुग्ध-विनायक . आजकल का दुग्ध विनायक मुहल्ला।
कालभैरव आजकल का भैरवनाथ मुहल्ला।
दशाश्वमेधघट्ट : आजकल का सुप्रसिद्ध दशाश्वमेध घाट
चतुःषष्टियोगिनी घट्ट · दशाश्वमेध घाट के पास आधुनिक चौसट्ठी घाट।
सर्वेश्वर घट्ट . इसका पता नहीं है।
मानसरोवर · आजकल का मानसरोवर घाट।
आदिविश्वेश्वर इनका मदिर भी गीर्वाण पद मजरी के अनुसार बिंदुमाधव घाट पर था। आधुनिक आदि विश्वेश्वर बाँस फाटक मुहल्ले मे है।
केदारेश्वर घट्ट · आधुनिक केदार घाट

हिंदू सामंत और वाराणसी

मुगलकाल मे वाराणसी के उत्थान मे हिंदू सामंतों का बहुत योगदान रहा। इनके सहयोग के कारण ही वाराणसी धार्मिक केंद्र के रूप मे ख्याति के चरम शिखर पर पहुँच गई थी। अकबर और जहाँगीर के शासनकाल मे राजा मानसिंह ने भी वाराणसी में कई घाट और बहुत से मंदिर बनवाए जैसा कि **आईन-ए-अकबरी तथा तुजुके जहाँगीरी** से पता चलता है। वाराणसी की अनुश्रुति है कि राजा मानसिंह ने एक दिन मे एक हजार मदिर बनवाने का निश्चय किया था। बहुत से गढे पत्थरों पर मदिरो के नक्शे खोद दिए गए और इस तरह राजा मानसिह का प्रण पूरा हुआ। शेरिंग के समय तक (१९६८ ई०) मानसिंह के बनवाए मदिर वाराणसी मे मिलते थे।[1] मानसिंह के बनवाए घाटो में सबसे प्रसिद्ध **"मान मंदिर"** घाट है। इसे राजा मानसिंह ने बनवाया, बाद मे जयसिंह ने इसमे वेधशाला भी बनवाई। स्थापत्य को दृष्टि से यह उच्चकोटि की श्रेणी मे आता है

राजा जयसिंह गणितशास्त्र के विद्वान् थे। इसलिये सम्राट् मुहम्मद शाह (१७१९-४८ ई०) ने कलेंडर की त्रुटियो को ठीक करने का काम राजा जयसिंह को सौपा। राजा जयसिंह ने सम्राट के समान मे एक नए टेबुल का नाम जोजो मुहम्मदशाही रखा।[2] शेरिंग ने लिखा है—मानमदिर घाट मुख्यत: अपनी वेधशाला के कारण प्रसिद्ध है। यह शानदार इमारत घाट के किनारे का एक सुदर दृश्य उपस्थित करती है। अंदर प्रवेश करने पर अनेक प्राचीन मूर्तियाँ मिलती हैं जो कि समय के प्रवाह के कारण कुछ टूट सी गई है। कुछ मूर्तियाँ बंदर के आकार की है जोकि हनुमान जी की प्रतीक हैं। मानमदिर के शिखर पर एक झडा राजा जयपुर के समान मे लहराता रहता है।[3]

बूंदी नेरशो का भी वाराणसी से सबध था। टाड के अनुसार अकबर ने राव दुर्लभ के साथ सधिपत्र मे उन्हें वाराणसी मे एक महल दिया था। राजमदिर और शीतला घाट के बीच मे टूटी फूटी हालत मे यह महल अब भी मौजूद है।[4]

१—एम० ए० शेरिग, सेक्रेट सिटी आफ दि हिंदूज ऐंड एकाउट आफ बनारस, पूर्वोक्त, पृष्ठ ४२-४३।

२—एशियाटिक रिसर्चेज, भाग ५ पृष्ठ १७७-७८, (शेरिग द्वारा उद्धृत, पृ० १२७)

३—एम० ए० शेरिंग, **सेक्रेट सिटी आफ दि हिंदूज, एड एकाउट आफ बनारस**, पूर्वोक्त, पृ० १२९

४—टाड, पेनाल्स एंड एटिक्विटीज आफ राजस्थान (लंदन : १९५२ ई० पृष्ठ-सख्या १४८३।

रणथभौर का किला सौंपकर अकबर की अधीनता स्वीकार करने के बाद राव सुर्जन निरतर शाही सेवा मे लगा रहा और नवंबर, १५५७ ई० मे चुनार का परगना उसको जागीर मे मिलने के बाद वाराणसी को ही उसने अपना प्रधान निवासस्थान बनाया। सितंबर, १५८५ ई० मे बडे पुत्र दूदा की मृत्यु के कुछ माह उपरात सुर्जन की भी वाराणसी मे मृत्यु हो गई।[1]

वाराणसी के मुगलकालीन धार्मिक इतिहास मे सबसे प्रसिद्ध घटना अकबर के राज्यकाल में विश्वनाथ के मदिर की पुन स्थापना है। विश्वनाथ का मदिर शर्कियो अथवा सिकदर लोदी के समय में तोड दिया गया था। ऐसा जान पडता है कि अकबर के शासनकाल तक वह फिर नहीं बन सका था। विश्वनाथ के मदिर के बार बार गिराये जाने का उल्लेख नारायण भट्ट ने अपने 'त्रिस्थली केतु' मे किया है। उनका कथन है कि लिंग बहुधा हटा दिए जाने से नए स्थापित लिंग की पूजा करनी चाहिए। म्लेच्छो द्वारा अगर मदिर नष्ट कर दिया गया हो तो खाली जगह की ही पूजा की जा सकती है।[2]

प्रसिद्ध दक्षिणी विद्वान् नारायण भट्ट का समय १५१४-१५९५ ई० तक है और ऐसा प्रतीत होता है कि उनके जीवनकाल के अधिक भाग मे वाराणसी मे विश्वनाथ को कोई मदिर नही था। ऐसा भी पता चलता है कि औरगजेब के पहले १५वी सदी के विश्वनाथ मदिर के स्थान पर कोई मस्जिद नही बनी थी। ज्ञानवापी मस्जिद का १२५×१८ फुट नाप का पूरब की ओर का चबूतरा शायद १४वीं सदी के विश्वनाथ मदिर का बचा भाग है। अकबर के राज्यकाल मे विश्वनाथ का मदिर बनाने का श्रेय टोडरमल के पुत्र और नारायण भट्ट को है। दिवाकर भट्ट ने अपनी दानहारावली मे कहा है[3]

श्रीरामेश्वर सूरि सूनुरभवन्नारायणाख्यो महान्।
येनाकार्यविमुक्तकै सुविधिना विश्वेश्वरस्थापना ॥

१–रघुवीर सिंह, पूर्व आधुनिक राजस्थान, (१५२७-१९४७ ई०) (उदयपुर मेवाड: १९५१ ई०), पृ० ७२

२–नारायण भट्ट, त्रिस्थलीकेतु (१५८५ के करीब), पृ० २०८, (मोतीचद द्वारा उदधृत, पृ० २१५)।

३–जूलियस एगेलिंग, केटलाग आफ दि संस्कृत मैनस्क्रिप्ट्स इन दि लाइब्रेरी आफ दि इंडिया आफिस, (लदन: १८८७ ई०), भाग १, पृ० ५४७ मूर्तियाँ आलो पर स्थित थी।

अर्थात् रामेश्वर भट्ट के पुत्र नारायण भट्ट ने अविमुक्त क्षेत्र वाराणसी मे विधिपूर्वक विश्वेश्वर की स्थापना की । डा० अल्तेकर का अनुमान है कि टोडरमल की सहायता से नारायण भट्ट ने १५८५ई० के करीब यह कार्य सपादित किया। सभव है कि नारायण भट्ट ने टोडरमल को १५८० ई० मे मुगेर की विजय के वाद विश्वनाथ मदिर वनवाने की सलाह दी और वनानेवालो ने १५वी सदी के विश्वनाथ मदिर का नक्शा अपने सामने रखा।

प्राचीन मदिर मे पॉच मडप थे। इनमे से पूर्व की ओर पाँचवे मडप की नाप १२५ × ३५ फुट थी, यह रगमडप था और यहाँ धार्मिक उपदेश होते थे। टोडरमल ने केवल मडप की मरम्मत करा दी। मदिर की कुर्सी ७ फुट और ऊँची उठाकर सडक के बराबर कर दी गई। । मुसलमानो के डर से मदिर मे मूर्तियाँ नही खोदी गई।

१६वी सदी का विश्वनाथ मदिर चौखूंटा था और उसकी प्रत्येक भुजा १२४ फुट की थी। मुख्य मदिर बीच मे ३२ फुट के मुरब्वे मे जलधारी के अदर था। गर्भगृह से जुटे हुए १६ × १० फुट के चार अतर्गृह थे। इनके वाद १२ × ८ के छोटे अतर्गृह थे जो चार मडपो मे जाते थे। पूर्वी और पश्चिमी मडपो मे दडपाणि और द्वारपालो के मंदिर थे, ऐसा अनुमान किया जाता है कि इनकी मूर्तियाँ आलो पर स्थिति थी।

मदिर के चारो कोनो पर १२फुट के उपमदिर थे। नदी मडप, मडप के वाहर था। मदिर की ऊँचाई शायद १२८ फुट थी। मडपो और मदिरो पर शिखर थे जिनकी अनुमानत ऊँचाई ६४ फुट और ४८ फुट थी। मदिर के चारो ओर प्रदक्षिणा-पथ था, जिसमे अनगिनत देवी देवताओ के मदिर थे।

टोडरमल की सहायता से विश्वेश्वर के मदिर का निर्माण हुआ। इसके अतिरिक्त उन्ही की सहायता से प्रसिद्ध द्रौपदो कुड सीढ़ी सहित १५८६ ई० वना जैसा उनके एक लेख से प्रकट होता है।

अकवर के राज्यकाल मे वाराणसी मे केदारघाट पर कुमार स्वामी के मठ की भी स्थापना हुई। कुमार स्वामी का जन्म १६वी सदी के आरभ मे तिनेवली जिले के वेकुठ ग्राम मे हुआ। ये कार्तिकेय के परम भक्त थे। गुरु की खोज मे यात्रा करते हुए मथुरानरेश से इन्हे काफी द्रव्य प्राप्त हुआ। कावेरी के किनारे धर्मपुर नामक स्थान पर इनकी गुरु से भेट हुई और उन्ही की आज्ञा से वे वाराणसी की ओर रवाना हुए। किवदंती है कि वाराणसी से वे दिल्ली पहुँचे और अकवर से वाराणसी मे मठ स्थापित करने का फरमान प्राप्त किया।

१–इतिहास संग्रह, पूर्वोक्त, नववर। १६०८, पृ० २०।

वाराणसी मे उन्होने केदारघाट पर मठ स्थापित किया और वहाँ दक्षिण भारत के यात्री बेरोकटोक आने लगे। कुमारस्वामी के छठे गद्दीदार के समय मे फौजदार के अत्याचार के कारण तिल्लेनायक स्वामी ने अपने एक गुरुभाई को नियुक्त कर दिया और स्वय बहुत सा द्रव्य लेकर दक्षिण चले गए और वहाँ जाकर त्रिपनेदल (तंजौर) मे अपना घर बनाया और १७२० ई० मे जमीदारी खरीदी। वाराणसी मे ब्राह्मण भोजन कराने के लिए लोग इनकी गद्दी मे रकम जमा कर देते थे। दोनों गद्दियाँ अपनी हुडियाँ चलाती थी। केदारेश्वर का मदिर इन्ही के प्रबंध में है।[1]

तुलसी के समय वाराणसी

तुलसीदास की 'विनयपत्रिका' के द्वारा हमे अकबर और जहांगीर के युग की वाराणसी की एक झलक मिलती है। उनकी 'काशीस्तुति' से वाराणसीसबधी तत्कालीन विश्वासो और मदिरो इत्यादि की अच्छी जानकारी प्राप्त होती है। उस काल मे मरण पर्यत वाराणसी मे रहना श्रेयस्कर माना जाता था। वाराणसी दुख, क्लेश, पाप और रोग का नाश करनेवाली मानी जाती थी। वाराणसी (काशी) का मध्य भाग जिसे अर्तगृही कहते थे, नगरी का सबसे पवित्र भाग था। वैदिक धर्म मे पूर्ण विश्वास करनेवालो की यहाँ बस्ती थी। दडपाणि भैरव का वहाँ स्थान था। लोलार्क कुड और त्रिलोचनघाट वाराणसी के नेत्र के समान थे। कर्णघटा का यहाँ मदिर था। मणिकर्णिका तीर्थ वाराणसी का सबसे प्रसिद्ध तीर्थ था। सासारिक और पारलौकिक सुखो को देने-वाली पचक्रोशी यात्रा का भी धार्मिक महत्व था। विश्वनाथ और पार्वती की यह नगरी थी।[2]

'काशी स्तुति' के उपर्युक्त विवरण से कई बातो का ज्ञान होता है। एक तो यह कि जिस समय 'विनयपत्रिका' का यह पद लिखा गया उस समय विश्वनाथ का मदिर बन चुका था और पचक्रोशी की यात्रा वाराणसी मे धार्मिक क्रियाओ का एक अग मान ली गई थी। पचक्रोशी की सडक वाराणसी की पवित्र भूमि की चौहद्दी बाँधती है और इस सड़क के ठीक पूर्वी नोक पर वाराणसी स्थित है। इस सडक की लबाई करीब ५० मील है। गगा से आरभ होकर दक्षिण मे शहर को छोडती हुई यह सडक नगर से पाँच कोस की दूरी से अधिक नही जाती। इस पर निम्नलिखित पडाव है—(१) मणिकर्णिका

१—दे० हंस का 'काशी' अक, पृ० १४१।

२. वियोगी हरि, (सपादक), विनयपत्रिका, (वाराणसी २०१३ वी०), पृ० ३१–३३ दे०, परिशिष्ट–५।

से अस्सी, (२) धूपचडी, (३) रामेश्वर, (४) शिवपुर, (५) कपिलधारा, (६) वरना संगम ।

इस प्रकार से हम देखते है, सल्तनत काल मे सुलतानो की कट्टर धर्मांध नीति के कारण वाराणसी को सस्कृति को काफी धक्का पहुंचा लेकिन अकबर के राज्यकाल मे वाराणसी पुन. पूरी तौर से सम्हल गई और उसने अपने प्राचीन वैभव को पुन प्राप्त कर लिया। हजारो देवी देवताओ की पूजा, गगास्नान, जप, तप, आराधना, ब्राह्मणो को दान देना इत्यादि फिर से प्राचीन रीति-रिवाज स्वतत्रतापूर्वक होने लगे । और पुन देश के सब भागो से यात्री वाराणसी मे मुक्तिप्राप्ति हेतु बिना किसी बाधा के यात्रा करने लगे । अकबर ने १५६३ ई० मे हिंदू यात्रियो पर लगाए जानेवाले कर को समाप्त कर दिया ।[1] इसके पश्चात् १५ मार्च, १५६४ को जजिया कर भी समाप्त कर दिया गया ।[2] इसका प्रभाव तत्कालीन अवस्था मे सभी धार्मिक स्थानो की यात्रा करनेवाले यात्रियो के लिये सुखद सदेश के रूप मे था । वाराणसी का वैदिकधर्म बहुत ही रूढिगत हो गया था । उसमे किसी तरह के सुधार की ओर लोगो का ध्यान नही जाता था । कबीर ने इन बाह्याडबरो को छोडकर प्रेम का सदेश सुनाया, पर इसे सुननेवाले भद्र श्रेणी के लोग नही के बराबर थे । कबीर ने हिंदू धर्म तथा इस्लाम दानो को आडे हाथो लिया पर हिंदुओ की नसो मे सनातन धर्म इस बुरी तरह से भर गया था कि इसे छोडने अथवा किसी तरह का परिवर्तन करने की बात तक वे नही सोचते थे । ऐसे ही समय गोस्वामी तुलसीदास ने वाराणसी मे सगुण भक्ति की एक बुलद आवाज उठाई । इस सगुण भक्ति की खान रामायण का लेखन अयोध्या मे १५७४ ई० मे आरभ हुआ । पर बहुत वर्षो बाद उसकी समाप्ति वाराणसी मे हुई । गोस्वामी तुलसीदास वाराणसी किस सवत् मे आए, यह ठीक नही कहा जा सकता है, लेकिन अधिकाश विद्वानो का मत है कि सवत् १६३१ वि० से १६४० वि० के भीतर वे वाराणसी आए थे ।[3] अयोध्या से जब तुलसीदास वाराणसी आए तब उनका पहला निवासस्थान हनुमान फाटक था। हनुमान फाटक पर रहते समय वही कुछ यवनो से झगडा हो गया। म्लेच्छो से दूर रहना श्रेयस्कर सोचकर वे गोपाल-मदिर चले गए। गोपालमदिर मे रहते समय 'विनयपत्रिका' लिखी ।[4] ऐसी अनुश्रुति है कि भदैनी के पास तुलसीदास ने रामायण समाप्त की थी ।

१. अकबरनामा, जिल्द २, पृ० १६०, (आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव द्वारा उद्धृत, पृ० ७६) ।
२. वही, पृ० २०३-२०४, आशीर्वादी लाल द्वारा उद्धृत, पृ० ८१) ।
३. विश्वनाथ मुखर्जी, काशी : अतीत और वर्तमान, पूर्वोक्त, पृ० ६६ ।
४—वही, पृ० ७० ।

विनयपत्रिका के द्वारा ज्ञात होता है कि तुलसीदास वाराणसी के तत्कालीन धार्मिक और सामाजिक वातावरण से बड़े क्षुब्ध थे। **विनयपत्रिका** मे एक स्थान पर लिखा है :—

हे दीनदयाल राम जी, पाप, दारिद्रय और दुःख इन तीन दारुण तापो से दुनियाँ जल रही है। सभी प्रकार का सुख चला गया। ब्राह्मण, जिनकी पवित्रता वेदसम्मत है, उनकी बुद्धि को भी क्रोध, राग, मोह, अहकार और लोभ ने निगल लिया है। वे समता, सतोष, दया, धर्म आदि को छोडकर कामी, क्रोधी, मद और लोभी हो गए है। क्षत्रिय भी इन नए पापो की चाल चल रहे है। नास्तिकता ने राजनीति, धर्मशास्त्र, श्रद्धा, भक्ति और कुलमर्यादा को चौपट कर दिया है। ससार मे न तो आश्रमधर्म है और न वर्णधर्म हो है। लोक और वेद दोनो की मर्यादा नष्ट होती जा रही है। न कोई लोकाचार मानता है, न वैदिक धर्म ही। पाप मे सनकर प्रजा का ह्रास होता जा रहा है। लोग अपने रग मे मस्त है। कोई किसी की सुनता नही। शाति, सत्य और सुमार्ग शून्य हो गए है और दुराचार और छल कपट की बढती हो रही है। सज्जन कष्ट पाते है, पर दुर्जन मौज करते है। धर्म के नाम पर लोग पेट पालने लगते है। साधन निष्फल होने लगे है और सिद्धियाँ भी झूठी पड़ गई है।

हिंदू धर्म की इस दुरवस्था को देखते हुए भी गोस्वामी तुलसीदास ने **रामचरितमानस** मे पुराणसम्मत हिंदूधर्म के विरोध मे अपनी आवाज नही उठाई। अगर वे तत्कालीन वर्णाश्रम धर्म की सत्ता पर आघात करते तो शायद उन्हे भी रामानद और कबीर की भाँति सफलता न प्राप्त होती। उन्होने तो राम की कथा को भक्ति से सराबोर करके जनता के सामने रख दिया और उसके द्वारा सदेश दिया कि सगुण की भक्तिपूर्ण आराधना ही मुक्ति प्राप्त करने का सबसे सरल मार्ग है। रामायण मे राम की वीरता, सीता के प्रति प्रेम, भरत और लक्ष्मण का भ्रातृ प्रेम, हनुमान् का दृढ सेवकधर्म तथा सबके ऊपर भक्ति का ऐसा सुन्दर सदेश है जिसने करोडो भारतवासियो को एक जीवित आदर्श दिखाकर उन्हे गिरने से बचाया।[1]

सब गुणो मे चरित्र की निर्मलता को गोस्वामी जी सबके ऊपर मानते है। वे कहते है कि अपने शरीर को पूजनीय मानो क्योकि परमपिता ने भी इसमे एक बार जन्म लिया था। इसलिये यह सिद्ध है कि राम का मनुष्यदेह लेना ही उनका सब प्राणियो के प्रति प्रेम है। इसी प्रेम के वशीभूत होकर राम ने शबरी के जूठे बैर तक चखे, निषाद को अपनी छाती से लगाया और विभीषण तक को शरण दी।[2]

१—काशी का इतिहास, पूर्वोक्त, पृ० २१८।
२—वही, पृ० २१८।

जनश्रुतियो मे तुलसीदास और अब्दुर्रहीम खानखाना की मित्रता की ओर सकेत है। १५४६ से १५६१ ई० तक जब खानखाना जौनपुर के सूबेदार थे, सभवत: तब उनकी तुलसीदास से भेंट होती रही होगी। सभव है कि खानखाना का हिंदीप्रेम तुलसीदास के संसर्ग से ही बढा हो।

तुलसीदास ने जो भक्ति और आदर्श चरित्र की धारा वहाई उसने मुगलकालीन भारत मे हिंदुओ की रक्षा कर ली। घोर निराशा के काल मे हिंदुओ के सामने तुलसीदास के राम का एक आदर्श था, जिसने उनके सूने जीवन मे भक्ति की एक लहर मे वह शक्ति प्रदान की जिससे वे कष्टो का मुकावला करने मे सक्षम हो सके। रामभक्ति ने वाह्याडवर—हिंदू धर्म की जटिलता को दूर कर भक्तिरस को प्रवाहित किया। उनके राम के लिये भक्ति ही साध्य और साधन सव कुछ है।

मुगलकालीन वाराणसी मे शैवधर्म का प्राबल्य था। तुलसी ने शिव की वदना वरावर की है, लेकिन ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनो को ही राम के अधीन दिखाया है। राम की वारात मे शिव और ब्रह्मा राम के परम भक्त माने गए है और वे अपने को राम के चरणो का अभिलाषी मानते है। फिर भी शिवपार्वती को और राम-जानकी को श्रद्धा व्यक्त की गई है। यह श्रद्धा इस बात की द्योतक है कि तुलसीदास को शैवो से किसी प्रकार का द्वेष भाव नही था।

विश्वनाथ मुखर्जी ने लिखा है कि गोपाल मदिर मे एक पंचनामा लिखने तथा वैष्णवो मे झगडा होने के कारण उन्होने निश्चय किया कि अव काशी मे न रहूँगा। यह निश्चित कर लेने के वाद वे काशी से वाहर चल पड़े। . . . . . लेकिन भदैनी स्थित मदिर के पुजारी ने उन्हे रोक लिया। गोस्वामी तुलसीदास वही रुक गए और अतकाल तक वही रहे। आज भी गोस्वामी जी की खडाऊँ, नाव का टुकडा तथा अन्य सामान वहाँ है।[1]

अनुश्रुति है कि गंगा नदी एक वर्ष काफी दूर हट गई और इधर रेत का एक वडा भाग छोड़ गई। उन्ही दिनो गोसाई जी ने उक्त भूमि के स्वामी टोडर को राय दी कि इसमे राई वो दो। कहा जाता है कि उक्त भूमि मे इतनी राई पैदा हुई कि उससे ५० हजार रुपए की आय हुई। उसी व्यय से हनुमान जी का मदिर तथा घाट का निर्माण हुआ।[2]

सकटमोचन के निर्माण के विषय मे कहा जाता है कि गोसाई जी ने कोढी-रूप मे हनुमान जी को यहाँ पकडा था और हनुमान जी ने उनको यहाँ दर्शन दिया था। 'कल्याण हो' आशीर्वाद देने के कारण मूर्ति का मुख पश्चिम की ओर है और एक हाथ ऊपर उठा हुआ है।[3]

१—विश्वनाथ मुखर्जी, **काशी : अतीत और वर्तमान**, पूर्वोक्त पृ० ७१।
२—वही, पृ० ७१-१२।
३—वही, पृ० ७२।

तुलसी का 'क्वचिदन्यतोऽपि'

श्री महेंद्रनाथ पांडेय

•

गोस्वामी तुलसीदास विश्व के उन कवियों में से हैं जो जीते जी एक मिथ तो बने ही रहते हैं, मरने के उपरांत भी जिन पर विवादों की एक ऐसी, कभी न समाप्त होनेवाली शृंखला चलती है, जो उन्हें सामान्य धारा से काटकर एक विशेष स्थान पर पहुँचा देती है। गोस्वामी जी जिस समय रचना-लीन थे, उस समय भी उन्हें एक भयंकर विरोध एवं विवाद का सामना करना पड़ा था, जिसमें से उत्तीर्ण होने की कहानी भी अपने आप में कम आकर्षक नहीं है। उनकी मृत्यु के उपरान्त उनके प्रशंसकों की संख्यावृद्धि के साथ साथ विरोधियों की संख्या भी बढ़ी है। रामचरितमानस के पक्षधरों ने तुलसी को जन-जन तक पहुँचाया है। 'सुरसरि सम सब कहँ हित होई'[1] के आदर्श पर विरचित काव्य अपने गंतव्य तक पहुँच चुका है। लेकिन विवाद के क्रम में तमाम ऐसे पहलू हैं जिन पर विशेष विमर्श हुआ है। गोस्वामी जी द्वारा प्रयुक्त 'क्वचिदन्यतोऽपि' भी एक ऐसा ही विवादपूर्ण स्थल है। विद्वानों ने इस पर काफी विवाद किया है। प्रस्तुत निबंध उन विवादों के माध्यम से एक निर्णय तक पहुँचने का विनम्र प्रयास है।

रामचरितमानस के आदि में नमस्कारात्मक मंगलों की प्रस्तुति के उपरान्त गोस्वामी जी ने विषय-वस्तु-निर्देशक मंगल का विधान करते हुए लिखा है —

> नानापुराणनिगमागमसम्मतं
> यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
> स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा
> भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति ॥७॥[2]

सामान्यतः रामचरितमानस के पाठकों के हृदय में इस श्लोक की जो अर्थानुभूति है, उसका प्रतिनिधित्व निम्नलिखित अर्थ करता है। यही अर्थ करीब करीब ९९.९ प्रतिशत पाठकों के मन में है। वह अर्थ है: 'अनेक पुराण, वेद तथा शास्त्रों के मत

१—रामचरितमानस, काशिराज संस्क० १९६२ ई०, १।१३।६
२—रामचरितमानस, बाल०, श्लो० ७

के अनुसार; रामायण (वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण तथा अन्य रामायणो) मे वर्णित तथा अन्य ग्रंथो से भी एकत्र की हुई (सामग्री से भरी हुई) राम की कथा, मै (तुलसीदास) अपने अत करण के सुख के लिये, अत्यंत सुदर भाषा (लोक भापा, अवधी) मे लिख रहा हूँ (उसकी रचना कर रहा हूँ)।[1] इस अर्थ मे तुलसी की राम–कथा की निम्नलिखित विशेषताओ को परिलक्षित किया गया है।

(१) उसका नानापुराण निगमागम सम्मत होना, (२) वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण तथा अन्य रामायणो मे उसका वर्णित होना (३) उसका अन्य ग्रथों से भी एकत्र की हुई (सामग्री से भरी हुई) होना।

मै समभता हूँ, गोस्वामी जी के इस विषय-वस्तु-निर्देशक श्लोक के पुनर्भाष्य की आवश्यकता है। इसके समुचित पुनर्भाष्य के उपरान्त शमशेर के शव्दो मे 'वात वोलेगी हम नही। भेद खोलेगी वात ही।'[2] मेरी समझ से इस श्लोक के भाष्य के समय हमें इसके तीन अवयवो पर विचार करना चाहिए–

(१) 'नानापुराण निगमागमसमत' क्या है ? राम-कथा का ढाँचा या उस ढाँचे मे पिरोए गए तत्व ?

(२) 'यद्रामायणे' से किस रामायण का अर्थ-ग्रहण किया जाय ?

(३) 'क्वचिदन्यनोऽपि' क्या है ?

नीचे प्राप्त तथ्यो के आधार पर उपर्युक्त विदुओ का क्रमशः विस्तार किया जा रहा हे।

रामकथा पुराणो मे तो उपलब्ध है लेकिन वेद मे उसका कोई शृखलाबद्ध स्वरूप नही मिलता है। रामकथा के प्रमुख पात्रो के नाम उसमे अवश्य मिलते है लेकिन उनमे परस्पर इतनी सबद्धता नही हे कि उन्हे एक कथा का रूप दिया जा सके। फिर गोस्वामी जी के इस कथन का क्या अर्थ है ?

बदउँ चारिउ वेद भववारिधि बोहित सरिस।
जिन्हहि न सपनेहु खेद वरनत रघुबर बिसद जसु ॥[3]

वेद मे प्राप्त रामकथा से सबधित जो स्थल मिलते है, वेनिम्नलिखित है :

१––तुलसी ग्रं०, प्र० ख०, पृ० ५–स० प० सीताराम चतुर्वेदी, प्र० स०, २०२८– अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, काशी।

२––दूसरा सप्तक, पृ० ८१

३––रामचरितमानस, बालकाण्ड (१४ ड०)

१–दशरथ–"चत्वारिंशद्दशरथस्य शोणा: सहस्रस्याग्रे श्रेणी नयीन्त ।[१]" इसमे दशरथ नाम से किसी प्रतापी राजा का संकेत होता है ।।

२–राम – "प्र तद्दु शीमे पृथवाने वेने प्र रामे वोचमसुरे मघवत्सु ये युक्त्वाय पंचशतास्मयु पथा विश्वाण्येषाम्[२] ।।" यहाँ राम भी किसी राजा के लिये ही है ।

३–जनक – जनक वैदेह का परिचय कुछ अधिक मिलता है । कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मण के अंतर्गत तो वे केवल देवताओ से भेट करके उनसे एक विशेष यज्ञ के परिणामो की जिज्ञासा करनेवाले प्रतीत होते है ।[३] किंतु शतपथ ब्राह्मण मे वे एक तत्वज्ञानी के रूप मे हमारे सामने आते है । इस बात का उल्लेख करीब चार स्थानो पर मिलता है । प्रथम प्रसंग मे, जनक वैदेह याज्ञवल्क्य से अग्निहोत्र के विषय मे प्रश्न करते है और उत्तर से प्रसन्न होकर उन्हे १०० गॉव दान कर देते है ।[४] द्वितीय प्रसंग मे इसी प्रकार वे याज्ञवल्क्य को मित्र विद यज्ञ का जानकार पाकर उन्हे एक सहस्र गावो का दान देते है ।[५] तृतीय प्रसग मे वे याज्ञवल्क्य के अतिरिक्त अन्य दो ब्राह्मणों से भी अग्निहोत्र की विधि पूछते है तथा उन्हे सबसे कुशल पाकर भी इसका रहस्य स्वय समझाने लगते है ।[६] चौथे प्रसंग मे किसी यज्ञ का प्रबंध करते समय वे सब से विद्वान् ब्राह्मण को १००० गॉव दे देते है और अंत मे अधिक जिज्ञासा प्रकट करने पर किसी शाल्क्य याज्ञवल्क्य के सामने मर भी जाते है ।[७]

४–सीता – रामकथा का प्रसिद्ध नाम सीता वैदिक साहित्य मे अनेक बार आता है और वह स्थूलत: दो भिन्न-भिन्न अर्थों को प्रकट करता है । एक प्रसंग के अनुसार सीता और सावित्री प्रजापति की पुत्री है । वे राजा सोम से व्याही जाती है। प्रजापति वहाँ पर सूर्य के लिए कहा गया समझा जाता है। सोम राजा चद्रमा माना जाता है ।[८] भगवान् रामचद्र के नाम में प्रयुक्त "चद्र" शब्द का सबध इस वैदिक उपाख्यान से जोडने का उपक्रम किया जाता

१—ऋग्वेद (१ मण्डल १२६, सूक्त ४ मंत्र)
२—वही (१० म० ९३, सू० म० ४)
३—दे० (३।१०।६)
४—दे० (११।३।१।२।४)
५—दे० (११।४।३।१०)
६—दे० (११।६।२।१।१०)
७—दे० (११।६।३।१
८—कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मण (२-३-१०)

है जिस पर आपत्ति व्यक्त करते हुए प० परशुराम चतुर्वेदी का कहना है कि "रामचद्र" मे 'चद्र' शब्द मूलत. उस नायक के उत्कृष्ट शील एव सौम्यता का ही द्योतक जान पड़ता है। उसके सूर्यवशी होने के कारण भी उक्त अनुमान असगत जान पड़ता है।[१] वैदिक साहित्य मे अन्यत्र सीता शब्द कृषि की अधिष्ठात्री देवी के रूप मे आया है। वहाँ कहा गया है कि हे सीते ! (अर्थात् हल चलाये जाने से भूमि मे उत्पन्न चिराव वा हराई) हम तुम्हारी वदना करते है। तुम हमारे लिए सुदर धन एव फल की दात्री वनो। हे सुभगे ! तुम हमारी ओर अभिमुख हो।[२] इस के आगे कहा गया है कि इद्र सीता का ग्रहण करे और सूर्य उसका सचालन करे। वह पानी से पूर्ण रहकर प्रतिवर्ष हमे धान्य प्रदान करती रहे।[३] यहाँ सीता के अदर व्यक्तित्व का आरोपण भी किया गया है। यही व्यक्तित्व का आरोपण आगे चलकर सीता और इद्र का परिणय कराता है।[४] इद्र वर्षा का अधिपति है। वही वादलो को आदेश देकर धरती की हराई (सीता) का शस्यश्यामला वनाता है। विष्णु को उपेद्र भी कहा गया है। इस न्याय से वैदिक इद्र और सीता का सवध रामकथा के राम और सीता से स्थापित किया जाता है।[५] वैदिक इस उपाख्यान के आलोक मे यदि हम महाभारत के वचनो के आधार पर विचार करे तो इस उपाख्यान की एक अपेक्षाकृत प्रामाणिक व्याख्या की जा सकती है। भगवान् राम सूर्यवशी है, सीता भूमिजा है। सूर्य को धरती मे गर्भ स्थापित करने वाला कहा गया है। वे इस मिट्टी मे गर्भ धारण कराते है:—

दिव पुत्रो बृहद्भानुश्चक्षुरात्मा विभावसु ।
सविता स ऋचीकोर्को भानुराशावहो रवि. ॥ ४२ ॥
पुरा विवस्वत. सर्वे मह्यस्तेपा तथावर ।
देवभ्राट् तनयस्तस्य सुभ्राडिति तत स्मृत: ॥ ४३ ॥[६]

इस आधार पर (राम सूर्यवशी है, सीता भूमिजा है और सूर्य मट्टी मे गर्भ-धारक है) रामकथा मे सीता और राम के संबध का सूत्र वैदिक साहित्य से जोड़ा जा सकता

१—मानस की रामकथा, पृ० ५८
२—ऋग्वेद, तृतीय अष्टक, चतुर्थ मंडल (५७वाँ सूक्त)
३—ऋग्वेद (चतुर्थ मण्डल, ५७ सूक्त, मंत्र ६-७)
४—ऋग्वेद (८ मंडल, २१ सूक्त, ३ मत्र)
५—फादर कामिल वुल्के ने अपनी पुस्तक 'राम कथा की उत्पत्ति और विकास' मे इस विंदु का पर्याप्त विस्तार किया है। इस विषय पर वह एक मात्र प्रामाणिक पुस्तक है।
६—महाभारत, प्रथम अध्याय, अनुक्रमणिका पर्व।

है। राम के जितने भी मुख्य सहायक रहे है (हनुमान्, सुग्रीव, नल, नील, द्विविद, मयद ग्रादि) उनका मूल उत्स वैदिक साहित्य के मरुत्, सूर्य, विश्वकर्मा, अश्विनी ग्रादि से स्थापित किया जा सकता है। ये सभी सहायक देवगण ही थे जो "वनचर तनु धरि धरि महि हरिपद सेवहु जाइ" की ग्राज्ञा पर ग्रशावतार ग्रहण किए हुए थे। लेकिन इस सदर्भ मे इतना निरतर ध्यातव्य है कि यह केवल काकतालीय-न्यायानुसारेण ही किया जा सकता है। वस्तुत. वैदिक साहित्य मे रामकथा का कोई सुव्यवस्थित एव सुश्रृंखल स्वरूप नही प्राप्त होता है। इस प्रसग मे डा० एन० चद्रशेखरन् के इस मत से शत-प्रतिशत सहमति व्यक्त की जा सकती है। उनका कहना है, 'वैदिक साहित्य मे राम की कथा का कोई व्यक्त रूप नही मिलता। 'राम' शब्द का कई स्थानो पर कई रूपो मे प्रयोग हुग्रा है परंतु वे राम ग्रयोध्यापति राम नही थे। वे कही रमणीय पुत्र (सायरग) के रूप मे ग्रौर कही ग्रसुर राजा के रूप मे (ऋग्वेद) वर्णित है। दशरथ, जनक ग्रौर सीता के नाम भी वैदिक साहित्य मे मिलते है लेकिन इनका रामकथा से कोई सवध नही है। वैदिक साहित्य मे राम न दशरथ के पुत्र थे, न सीता के पति ग्रथवा जनक के दामाद। सीता ग्रौर राम के सवध का कही उल्लेख ही नही मिलता। सीता तो जनकपुत्री के रूप में कहीं भी वर्णित नही है। हल से बनी लकीर ग्रथवा कूंड के लिये सीता शब्द का प्रयोग ग्राया है। शतपथ मे कृषि की ग्रधिष्ठात्री देवी के रूप मे सीता का वर्णन मिलता है। ऋग्वेद मे सीता ग्रौर इद्र के बीच के सबंध का स्पष्ट उल्लेख है। सीता के इद्र द्वारा वरण किये जाने का भी वर्णन है। पर वह भी हल की लकीर के भाव मे ही ग्रधिक उपयुक्त है। सीता का मानवीकरण का रूप ग्रथर्ववेद मे भी पाया जाता है। उपर्युक्त प्रमाणो से ऐसा मानना उचित होगा कि वैदिक साहित्य मे रामकथा का वह प्रसिद्ध एव लोकप्रचलित कथानक नही ग्राया है जो पुराण काल मे उसे प्राप्त हुग्रा है। परतु फिर भी रामकथा का बीज वैदिक साहित्य में परिलक्षित है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से रामकथा के बीज की सस्तुति का वैदिक साहित्य से मिलती है, इसलिये तुलसी की रामकथा का ढाँचा निगमसंमत, मात्र बीजरूपेण है। पुराणादि मे उसका जो ढाँचा प्राप्त होता है, वह उतना उज्ज्वल ग्रौर ग्रादर्श नही है, जितना तुलसी ने उसे प्रस्तुत किया है। इसलिये 'नानापुराण निगमागम-संमत' की ग्रर्थमीमासा मे रामकथा के ढाँचे पर कम, इसमे पिरोए गए तत्वो पर ग्रधिक ध्यान देना होगा। निगम (वेद), ग्रागम (शास्त्र) ग्रौर पुराणो से दर्शन,

१—रामचरितमानस का कथाशिल्प-डा० एन् चद्रशेखरन् नायर—तुलसीमानस-सदर्भ (पृ० ४५२-५३) प्रकाशक-मानसचतुश्शती-ग्रायोजन-समिति, सभल (उ० प्र०) प्रथम स० १६-७४।

नीति और समाजनीति आदि तत्वो को ग्रहण करने के साथ ही तुलसी ने इनमे जो सबसे मूल तत्व ग्रहण किया है, वह है 'हरिगुण गान'। "समस्त वेद, वेदान्त और वेदवेदागविद् महर्षि भक्ति या ज्ञान द्वारा प्राप्य ब्रह्म, उपाय द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करनेवाला जीव, ब्रह्मप्राप्ति के उपाय, ब्रह्मप्राप्ति से जीव को क्या फल मिलेगा और ब्रह्मप्राप्ति मे बाधा डालनेवाले विरोधी तत्वो के स्वरूपो, अर्थात् इन्ही पॉच अर्थो को कहते है—

यथा—प्राप्यस्य ब्रह्मणो रूप प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मन ।
प्राप्त्युपाय फल चैव तथा प्राप्ति विरोधि च ॥
वदन्ति सकला वेदा सेतिहासपुराणका ।
मुनयश्च महात्मानो वेदवेदागवेदिन ॥ महर्षि हारीत जी)

महाभारत स्वर्गारोहण पर्व मे भी कहा गया है

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आदौ मध्ये तथा चान्ते हरि सर्वत्र गीयते ॥

श्रीहरि को ही कही उपाय रूप से और कही उपमेय रूप से कहा गया है, न कि उनमे अवतारविशेष का चरित्र ही चित्रित किया गया है।[1] तुलसी ने 'नानापुराण निगमागमसम्मतम्' से जिस प्रमुख तत्व की ओर सकेत किया है वह तत्व 'हरि भगति पथ' है, जो उनके शब्दो मे 'सजुत बिरति विवेक' है। यही नानापुराणनिगमागम से संमत (Approved) तत्व है। शातिपर्व के श्लोक के अनुसार रामायण, पुराण एव महाभारत सभी के आदि, मध्य और अत मे हरि-गुण गान ही एकमेव प्रतिपाद्य है। तुलसी का भी यही प्रतिपाद्य है·

जेहि मँह आदि मध्य अवसाना
प्रभु प्रतिपाद्य, राम भगवाना ॥[2]

यद्रामायणे—तुलसी द्वारा प्रयुक्त "यद्रामायणे" पद से "वाल्मीकि रामायण" के अर्थ के ग्रहण की परपरा है। रामकथा की परपरा मे वाल्मीकि का वही स्थान है, जो नृत्य के आदि मे पखावज की थाप का है। जिस प्रकार नृत्य के आदि मे पखावज की पहली थाप से सारी क्रियाओ का समारभ होता है उसी प्रकार रामकथा की परपरा मे वाल्मीकि पहली थाप है, जहॉ से रामकथा का सुश्रृंखल प्रवाह परिलक्षित होता है। 'प्रसन्नराघवकार' जयदेव का कहना है:

१—मानस पीयूष, प्र० स० (पृ० ३९-४०)
२—रामचरितमानस, ७।६०।६

भास्वद्वशवतसकीर्तिरमणी--रंगप्रसगस्वन-
द्वादिप्रथमध्वनिर्विजयते वल्मीकजन्मामुनिः ।
पीत्वा यद्वदनेन्दुमण्डलगलत्काव्यामृताब्धे. किम-
प्याकल्पं कविनूतनाम्बुदमयी कादम्बिनी वर्षति ॥ ६ ॥

'सूर्यवंश के आभूषण (श्री रामचन्द्र) की कीर्ति रूपी नटी के रगशाला के प्रसग मे (अर्थात् नृत्य के अवसर पर) वजनेवाले वाद्य (वाजा) की पहली ध्वनि (ताल)-स्वरूप वाल्मीकि मुनि अत्यत उत्कर्ष को प्राप्त कर रहे है, जिनके मुखरूपी चद्रमडल से वहनेवाले काव्यामृतरूप सागर की कुछ बूँदो को पीकर कवि-रूप नवीन मेघो की माला प्रलयकाल तक वर्षा करती रहती है।'[1] ऐसे काव्यामृत-रूपी सागर के प्रति, जिसकी कुछ बूँदो को पीकर नवीन कवियो की मेघमाला प्रलयकाल तक आनद की वर्षा करती रहेगी, तुलसी ने भी आदर का भाव प्रदर्शित किया है·

वदउँ मुनिपद कंज रामायन जेहि निरमयेउ।
सखर सुकोमल मजु दोपरहित दूपनसहित ॥[2]

लेकिन जव वे अपनी कथा की परपरा का निर्देश करते हैं तव वे वाल्मीकि ही नही, किसी भी उस व्यक्ति का नामोल्लेख नही करते है, जिसकी गणना राम-कथाकार के रूप मे होती रही है। आदर उन्होने सबको दिया है। तुलसी की कथा-परपरा मे याज्ञवल्क्य, भरद्वाज, शभु, उमा, भुशुडी और तुलसी के गुरु आते हैं। तुलसी उस कथा को कह रहे है जिसका प्रणयन श्रीशभु ने किया था। कृपापूर्वक शभु ने इस चरित को उमा को सुनाया था। रामभक्ति का उचित अधिकारी पाकर शभु ने यह चरित भुशुडि को भी दिया। भुशुडि से याज्ञवल्क्य को मिला था और उन्होने उसे भरद्वाज जी को सुनाया था। तुलसी को यह कथा अपने गुरु के मुख से सूकरखेत मे सुनने को मिली थी।[3] तुलसी को यह ज्ञात था कि जो कथा मैं भाषाबद्ध करने जा रहा हूँ, वह अपरिचित है। उसके प्रस्तुत होने पर लोग उसे कौतूहल की नजर से देखेगे। यह कथा अलौकिक है। अतः सभव है, इस अलौकिक कथा का दर्शन करके लौकिक लोग विदकने लगे, भड़कने लगें, आश्चर्य करने लगे। इसलिये स्पष्टीकरण देते हुए तुलसी ने लिखा है :

१–प्रसन्नराघव–प्र० अ० प्रस्तावना पृ० १४
२–रामचरितमानस–वालकाड, सोरठा १४
३–रामचरितमानस, वालकाड, २१।१-७।३०

जेहिँ यह कथा सुनी नहिँ होई । जनि आचरज करै सुनि सोई ।।
कथा अलौकिक सुनहिँ जे ग्यानी । नहिँ आचरजु करहिं अस जानी ।।
रामकथा कै मिति जग नाही । असि प्रतीति तिन्ह के मन माही ।।
नानाभाँति राम अवतारा । रामायन सत कोटि अपारा ।।
कलपभेद हरिचरित सुहाए । भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए ।।
करिअ न संसय अस उर आनी । सुनिअ कथा सादर रति मानी ।।
राम अनंत अनत गुन अमित कथा बिस्तार ।।
सुनि आचरजु न मानिहहिं जिन्हके विमल विचार ।। ३३ ।।
राम चरित मानस मुनिभावन । विरचेउ संभु सहावन पावन ।।
कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई । सादर सुनहु सुजन मन लाई ।।[1]

तुलसी ने 'कथा प्रबध विचित्र बनाई' के पूर्व अपनी कथा की परपरा का निर्देश तो कर ही दिया था, अत मे भी इसका उल्लेख उन्होने किया है । मानस की समाप्ति पर अपने कृत्य का विवरण देते हुए वे कहते है·

यत्पूर्व प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमं
श्री मद्रामपदाब्जभक्तिमनिशं प्राप्त्यै तु रामायणम् ।
मत्वा तद्रघुनाथनामनिरत स्वातस्तमः शातये,
भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम् ।। १ ।।[2]

इस श्लोक में तुलसी ने स्पष्टत. किसी 'प्रभुणा श्रीशंभुना कृतं रामायणम्' को भाषाबद्ध करने का उल्लेख किया है । 'यद्रामायणे' सप्तमी का एकवचन है । इससे भी स्पष्ट होता है कि इस पद से किसी एक ग्रथ का ही ग्रहण किया जाना चाहिए। इस न्याय के अनुसार वाल्मीकि रामायण का अर्थ ग्रहण 'यद्रामायणे' के अर्थ ग्रहण रूप मे किया जा सकता था यदि गोस्वामी जी ने अपनी कथा के उपजीव्य निर्देश मे वाल्मीकि का उल्लेख किया होता । 'सभु कीन्ह यह चरित सुहावा', 'विरचेउ संभु सुहावन पावन' 'एव 'यत्पूर्व प्रभुणा कृत' की अनेकशः स्वीकारोक्ति के बाद 'श्रीशम्भुनाकृत रामायणम्' के अर्थग्रहण के अलावा और किसी भी ग्रंथ या कि ग्रंथो का अर्थग्रहण समीचीन नही है । इस ग्रथ के ग्रहण का यह कदापि अर्थ नही है कि अपने से पूर्व और समकालीन रामकथाकारो का तुलसी ने अध्ययन नही किया था, 'हरिचरित' गायको के लिये प्रमाण निवेदन मे उन्होने उन सबसे अपने परिचय का प्रमाण दे दिया है । 'रामायन सत कोटि अपारा' से

१–रामचरितमानस, बालकांड, ३२।३-८,।३३
२–राम चरित मानस, उत्तरकाड-१३० । श्लो० १

भी यही व्यंजित होता है। 'श्रीशम्भुनाकृत रामायणम्' कौन सी है इस पर भी पर्याप्त विवेचन हुआ है। 'अध्यात्म रामायण' को यह गौरव दिया जाता है। यह सही है कि गोस्वामी जी के मानस का यदि सर्वाधिक स्रोत किसी एक ग्रंथ में है तो वह अध्यात्म रामायण ही है लेकिन इस पर दो एक व्यावहारिक प्रश्न उठते हैं।

(१) यदि यह ग्रंथ शंभुनाकृत है तो इस वाक्य का क्या अर्थ है ?

शृणु देवि प्रवक्ष्यामि गुह्याद्गुह्यतरं महत् ।
अध्यात्मरामचरितं रामेणोक्तं पुरा मम ॥ ४॥[1]

शंकर जी का कहना है कि यह (अध्यात्म रामायण) पहले रामचंद्र जी ने मुझे सुनाई थी। माहात्म्य वर्णन में ब्रह्मा से नारद ने प्रश्न किया था और ब्रह्मा ने उन्हें पार्वती-शंकर के संवाद इस ग्रंथ को सुनाया था। इस ग्रंथ के अनुवादक (गीता प्रेसवाली प्रति) मुनिलाल उसके प्रथम संस्करण में लिखते हैं: श्री मदध्यात्मरामायण कोई नवीन ग्रंथ नहीं है। यह परम पवित्र गाथा साक्षात् भगवान् शंकर ने अपनी प्रेयसी आदिशक्ति पार्वती को सुनाई थी। यह आख्यान ब्रह्मांडपुराण के उत्तर खंड के अंतर्गत माना जाता है। अतः इसके रचयिता महामुनि वेदव्यास जी हैं।[2] इस प्रकार रचयिता वेदव्यास जी हुए, वक्ता ब्रह्मा, श्रोता नारद हुए। पुनः वक्ता भगवान् शंकर और श्रोता पार्वती हुईं। भगवान् शंकर ने इसे स्वयं रामचंद्र जी से सुना था और इस ग्रंथ में हनुमान् भी श्रोता हैं तथा सीता वक्ता हैं। इस प्रकार कहीं तालमेल नहीं बैठता है।

(२) अध्यात्म रामायण का प्रतिपाद्य 'ब्रह्मराम' है जो सीता के शब्दों में .

राम विद्धि परं ब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सत्तामात्रमगोचरम् ॥३२॥[3]

और तुलसी के यहाँ—'ब्रह्म राम ते नाम बड' है।

'भुशुंडि रामायण' के प्रकाशन के उपरांत संभव है 'श्री शम्भुना कृतं रामायणम्' की पहचान में सुविधा मिले क्योंकि शंभु ने वही रामचरित भुशुंडि को भी रामभक्ति का अधिकारी मानकर दिया था। इसलिये संभव है, यह ग्रंथ इस विषय पर काफी प्रकाश डाल सके। श्री शम्भुनाकृत रामायण चूँकि दुर्गम था इसलिये तुलसी को 'भाषाबद्धमिदं' का प्रयत्न करना पड़ा था। भाषाबद्ध करने में प्रतिपाद्य का फर्क नहीं आ सकता है।

१—अध्यात्म रामायण, सर्ग २॥ ४॥
२—प्रथम संस्करण का निवेदन, पृ० ६
३—अध्यात्म रामायण, प्रथम सर्ग। ३२।

क्वचिदन्यतोऽपि :--

इस श्लोक का सर्वाधिक विवादपूर्ण पहलू यही है। क्वचित् शब्द का स्थान-बोधक अर्थ ग्रहण करके विद्वानों ने साम्य प्रदर्शन की वुनियाद पर ग्रंथो की एक लंवी सूची प्रस्तुत की है। राहुल जी का कहना है, तुलसी वावा ने 'क्वचिदन्यतोऽपि' से स्वयं भू रामायण (पउमचरिउ) की ओर संकेत किया है। जिस सोरो या सूकर-खेत मे गोस्वामी जी ने रामकथा सुनी थी, उसी सोरो के जैन घरों में स्वयभू रामायण पढा जाता था।[1]

आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र के अनुसार, 'नानापुराण निगमागम' मे गोस्वामी जी ने अपने संकल्प का प्रतिपादन किया है। उन्होने रघुनाथगाथा को पुराण, निगम, आगम आदि मे प्रतिपादित सिद्धातो के अनुकूल भापा मे वाँधना चाहा है। 'क्वचिदन्यतोऽपि' मे अन्यतः का प्रयोग करके गोस्वामी जी ने यह वताना चाहा है कि सिद्धात के साथ व्यवहार पक्ष भी आवश्यक है।[2]

एक अन्य मत के अनुसार, 'क्वचिदन्यतोऽपि' को निरर्थक नही कहा जा सकता है। इसका तात्पर्य यह लिया जा सकता है कि मानस मे वेदो, पुराणो और आगमो के अतिरिक्त इतिहास, काव्य, चपू आदि मे वर्णित आख्यानो का उपयोग भी कवि ने यथासमय किया है।"[3] एक लेखक के अनुसार, 'नानापुराण निगमागम' के अतिरिक्त 'क्वचिदन्यतोऽपि' के लिये तुलसी को विशाल अध्ययन करना पडा होगा। और इसके वाद लेखक ने विस्तार से स्थलसाम्य के आधार पर ग्रंथों की एक सूची प्रस्तुत की है।[4] कवि मोती वी० ए० ने अपने विस्तृत एव विचारपूर्ण एक लेख मे 'क्वचिदन्यतोऽपि' के सदर्भ से तीन स्थापनाएँ की है। (१) आकारिक जिसमे 'क्वचित् अन्यतः' का शाब्दिक अर्थ ग्रहण किया जाता है। (२) व्यावहारिक सुभापितो के अनेक उद्धरण, जिनको गोस्वामी जी ने रामकथा का अविच्छिन्न अग वना दिया है। (३) वे मार्मिक स्थल जिन्हे गोस्वामी जी ने शकर के समान कालकूटवत् पीकर पचाकर, जीवन के मर्यादित श्रेष्ठतम उदात्त तत्व को उभारा है।[5] रामचरितमानस को जन जन

१–हिंदी काव्य धारा, पृ० ५२ (अवलूणिका)

२–आज, पृ० २-२७ मार्च १९७४-उदय प्रताप महाविद्यालय के हिंदीविभाग के सत्रात पर दिए गए भापण का अंश।

३–तुलसी मानस रत्नाकर, पृ० ८५, डा० भाग्यवती सिह–सरस्वती पुस्तक सदन, मोती कटरा, आगरा प० स० १९६२।

४–तुलसी मानस संदर्भ, पृ० ६९ - रामकाव्य परंपरा और तुलसीदास, डा० रामेश्वर-प्रसाद सिंह।

५–"दिग्दर्शक" विजयादशमी अंक, सन् १९७३। देवरिया का साप्ताहिक पत्र।

तक पहुँचाने के वास्तविक अधिकारी व्यासो ने भी इस प्रश्न पर विचार किया है। नीचे हम मानस पीयूष मे एकत्रित विचारो का सक्षिप्त रूप प्रस्तुत कर रहे है—

"(१) यद्रामायणे (यस्मिन् रामायणे) नानापुराण-निगमागम सम्मतम् निगदितं (अस्ति) क्वचित् अन्यत अपि निगदित (अस्ति) तत् तुलसी स्वान्तः सुखाय अति मजुलं श्रीरघुनाथगाथा भाषानिवन्धम् आतनोति।

इस अन्वय के अनुसार—उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजन जगत यह सपना (३।३९), औरौ एक कहौ निज चोरी। सुनु गिरिजा अति दृढ मति तोरी (१।१९६)। श्री काकभुशुडि संवाद कैसे हुआ ? भुशुंडि जी ने काक-तन क्यो पाया ? इत्यादि पार्वती जी के प्रश्न तथा शिवजी के उत्तर एवं भुशुडि गरुड सवाद इत्यादि जो रामचरितमानस की समाप्ति पर उत्तरकाड मे दोहा (६८।८१) 'तुम्ह जो कही यह कथा सुहाई। काग भुसुडि गरुड प्रति गाई', से प्रारभ होते है, इत्यादि श्री शिवरचित मानस मे क्वचिदन्यतोऽपि है।

(२) यद्रामायणे (यस्मिन् रामायणे) नानापुराण निगमागम समत निगदितं (अस्ति) क्वचित् अन्यत. अपि निगदित (अस्ति) अति मजुल रघुनाथगाथा भाषानिवधम् तत् तुलसी स्वान्तः सुखाय आतनोति।

(३) यद् रामायणे निगदितं (अस्ति) यद् नानापुराण निगमागम संमतम् (अस्ति) तत् तुलसी क्वचिदन्यत अपि स्वात. सुखाय अति मंजुलं रघुनाथगाथाभाषा-निवधम् आतनोति।

(४) यत् नानापुराण समतम्, यद् निगमसंमतम्, यद् आगमसंमतम् यद् रामायणे निगदित (एव) क्वचिद् अन्यत. अपि यन्निगदित तत् संमतम् तुलसी (दास) स्वात.सुखाय अतिमजुल रघुनाथगाथाभाषानिवंधम् आतनोति। यत् रामायणे निगदित तत् तुलसी स्वात.सुखाय, क्वचिद् अन्यत. अपि नानापुराण-निगमागम संमतम् अति मंजुलं····

इन अन्वयो के अनुसार यह शब्द गोस्वामी जी ने अपने लिए कहा है। इसके अनुसार वालकाड के आदि के ४३ दोहो तक उन्होने जो अपनी दीनता का वर्णन किया है, चार सवादो का सविधान किया है एव अपना मत (मोरे मत वड नाम दुहू ते) आदि की अभिव्यक्ति की है (फिर 'सतीमोह' और 'तनत्याग', श्री पार्वती तथा शिवचरित) यह शिवपुराण, कुमारसंभव, पद्मपुराण, मत्स्यपुराण आदि से लिया है। वीच बीच मे चरित्रो पर याज्ञवल्क्य जी ने अथवा स्वय ग्रथकार ने स्वयं जो टिप्पणी की है, जैसे 'भरद्वाज कौतुक सुनहु हरि इच्छा वलवान' (१।१२७) तथा 'जलपय सरिस विकाय देखहु प्रीति की रीति भलि', (१।५७)। 'को न कुसंगति पाइ नसाई' (२।२४)। इसी तरह से भुशुडि जी के टिप्पण जो वीच बीच मे है यथा 'मातु मृत्यु

पितु समन समाना। सुधा होइ विष सुनु हरि जाना' (३।२); 'गरुड सुमेरु रेनु सम ताही' (५।५), इत्यादि, इसके बाद अपने मन के उपदेश के बहाने लोक को जो ठौर ठौर शिक्षा दी गई है, वे सारी बाते जो उमा-शभु-सवाद के बाहर की है 'क्वचिदन्यतोऽपि' मे आ सकती है । बड़े बड़े जो अनेक रूपक, लोकोक्तियाँ, उपमाएँ, उत्प्रेक्षाएँ आदि है वे भी कवि की हो सकती है। प० रामकुमार जी का मत है कि उपपुराण, वेद के छह अग, नाटक (हनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव), रघुवश, कुमार-संभव, उत्तररामचरित, इतिहास, सहिताएँ, पचरात्र आदि जितने छोटे बड़े ग्रथ है, वे सभी क्वचिदन्यतोऽपि मे समा जाते है ।

पजाबी जी कहते है कि वेद पुराण और रुद्रयामल, ब्रह्मयामलादि तत्र मे सब कुछ है, अत श्लोक का आशय यह होगा कि नानापुराणनिगमागम संमत जो वाल्मीकि जी ने बनाया है, उसमे उन निगमागमो के बहुतो के आशय वाल्मिीकि जी ने नही लिखे है और वह प्रसग मेरे मन को अच्छे लगे इसीलिये मैने उन्हे दिया है। वे ही क्वचिदन्यतोऽपि है । जैसे भानुप्रतापवाला प्रसग ।

पाडेय जी का मत है कि निज अनुभव ही 'क्वचिदन्यत.' है। यथा-'प्रौढि सुजन जनि जानहि जन की । कहहुँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की ॥ आरति विनय दीनता मोरी। लघुता ललित सुबारि न खोरी ॥' (१।२३, १।४३)

वे० भू० प० रा० कु० दास जी का मत है कि गोस्वामी जी ने अर्थ पंचक का ज्ञान कही सूक्ष्म रूप से और कही विस्तार से जो दिया है, वह 'क्वचिदन्यतोऽपि' है । तापस प्रसग भी उसी मे आता है ।"[1]

उपर्युक्त मतो मे जो सामान्य तत्व है वह यह कि सबने 'क्वचिद् अन्यत. अपि' का स्थानबोधक अर्थ (कही कही अन्यत्र से भी) ग्रहण करके कुछ ग्रथो, स्थलो एवं तत्वो का निर्देश किया है, जो इन विद्वानो के अनुसार नानापुराण निगमागम के अलावा, वे तत्व है, जिन्हे गोस्वामी जी ने अपने मानस मे प्रस्तुत किया है। ऊपर के मतो के आधार पर तीन बाते क्वचिदन्यतोऽपि की सीमा मे आती है । (१) ग्रथ (शिवपुराण, कुमार सभव, पद्मपुराण, मत्स्यपुराण, हनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव, उत्तर रामचरित, इतिहास सहिताएँ, पचरात्र, रुद्रयायल, ब्रह्मयामल, पउमचरिउ, काव्य एव चंपू आदि ।

(२) कथा प्रसंग (भुशुडि ने काक तन क्यो प्राप्त किया था ? काक भुशुडि-सवाद, चार सवादो का विधान, सतीमोह तथा तन त्याग, शिव चरित तथा पार्वती चरित तथा भानु प्रताप की कथा)

१-मानस पीयूष, प्र० खंड, पृ० ३९-४२

(३) तत्व तथा काव्यात्मक प्रयोग : (तुलसी का निज अनुभव, नीतिपरक उक्तियाँ, व्यावहारिक सुभाषित, तुलसी द्वारा प्रयुक्त अनेक रूपक, लोकोक्तियाँ, उपमाएँ, उत्प्रेक्षाएँ आदि तथा सिद्धात का व्यवहार पक्ष) 'क्वचिदन्यतोऽपि' की अर्थमीमासा के समय क्वचित् शब्द के विभिन्न अर्थों को जान लेना परमावश्यक है। वामन शिवराम आप्टे ने अपने शब्दकोश मे क्वचित् के निम्नलिखित अर्थ दिए है।

क्व--(अव्य०) किम् अ त, कु आदेश
 १--किधर, कहा

"क्व तेऽन्योन्यं यत्ना क्व च नु गहना
 कौतुकरसा।" उत्तर (६।३३)

क्व, क्व--जब किसी समान वाक्य खड मे प्रयुक्त होता है तो इसका अर्थ है भारी अतर, असगति। क्व रुजा हृदयप्रमाथिनी क्व च ते विश्वसनीयमायुधम्॥ मालवि० ३।२, कि० ११५।, श० २।१८

कभी क्व का प्रयोग 'किम्' शब्द के अधि० का होता है।
'क्व प्रदेशे' अर्थात् कस्मिन् प्रदेशे।
अपि--कही, किसी जगह--कभी कभी।
चित्--कुछ स्थानो पर।
प्रस्निग्धा. क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त
एवोपला --श० ११४।, ऋतु० ११२।, रघु० ११४१।
--कुछ बातो मे
क्वचिद् गोचरः, क्वचिन्न गोचरो अर्थ
क्वचित्--क्वचित्--एक जगह, दूसरी जगह
यहाँ वहाँ--क्वचिद्वीणावाद्य क्वचिदपि च हा
 हेतिरुदितम् (भर्तृ० ३।१२६, १।४)

कभी कभी--(समय सूचक)
क्वचित्पथा सचरते सुराणाम्, क्वचित्
घनाना पतता क्वचिच्च। रघु० (१३।१९)[1]
मानक हिंदी कोश मे निम्नलिखित अर्थ दिया हुआ है.
क्वचित्--अव्य (द्व० स०) कदाचित् ही कोई, शायद ही कोई,
 बहुत कम।

१. संस्कृत हिंदी कोश, पृ० ३१४, स० १९६६

वि०—कही कही या कभी कभी परंतु बहुत कम मिलने या होने वाला (रेअर) जैसे क्वचित् प्रयोग ।[1]

उपर्युक्त अर्थो मे क्वचित् के मुख्यत तीन अर्थ दिये गए है ·

(१) स्थानबोधक—

यथा—नट—अहो अस्य कवे सूक्तीना सरलता कोमलता च ।

सूत्रधार —क्वचिद्वक्रता कठिनता च ।[2]

(२) समयबोधक—यथा—

क्वचित्पिबत्या पिबति ॥५६॥

क्वचिद्गायन्ति गायन्त्या रुदत्या रुदति क्वचित् ।

क्वचिद्धसन्त्या हसति, जल्पत्यात्मन जल्पति ॥५७॥[3]

(३) निषेध बोधक—यथा

क्वचिद् दन्ती भवेन् मूर्ख क्वचित् खल्वाट निर्धन. ।

यहाँ पर 'क्वचित्' शायद ही कोई अर्थात् कोई नही के अर्थ मे प्रयुक्त है ।

विचारणीय है कि इस श्लोक के भाष्य मे 'क्वचित्' का कौन सा अर्थ ग्रहण किया जाय ? स्थानबोधक अर्थ (कही कही अन्यत्र से भी) की विडबना यह है कि इसमे स्थलसाम्य की क्रिया को आधार माना जाता है । स्थल साम्य के आधार पर यदि हम 'क्वचिदन्यतोऽपि' का कोटा निर्धारण करेगे तो वह एक कभी न समाप्त होनेवाली प्रक्रिया की अनिवार्य शुरुआत हो जाएगी । इसका कोई भी किनारा नही होगा । इस आधार पर गोस्वामी जी को प्रभावित करनेवाले और उन्हे अपना जीवनरस पिलानेवाले ग्रंथो की एक अपार सूची बनेगी ।

'क्वचित्' का समयसूचक अर्थ भी समीचीन नही है । इस अर्थ की मान्यता के वाद इस अर्थ की जो अर्थनिष्पत्ति होगी वह यह कि नानापुराणनिगमागम समत तत्वो के साथ साथ कभी कभी अन्यत्र से भी तत्वग्रहण किया गया है । इस अर्थ की मान्यता के वाद दो-एक प्रश्न उठते है जिनका उत्तर आवश्यक हो जाता है ।

(१) वह कभी कभी जो अन्यत्र का भी तत्व है वह क्या है ?

(२) श्रुतिपरपरा के अधीन अपने आराध्य को भी बाँधनेवाले तुलसी क्या ऐसा कर सकते थे ?

१ मानक हिंदी कोश, प्र० स० पृ० ६०६, सं० रामचंद्र वर्मा, हिंदी साहित्य समेलन, प्रयाग ।

२. प्रसन्नराघव, प्रस्तावना पृ० १४ ।

३. भागवत, चतुर्थ स्कध, २५वाँ अध्याय ।

(३) वह कभी कभी, अन्यत्र से गृहीत जो तत्व है वह नानापुराण-निगमागम से सजातीय है या विजातीय ?

(४) नानापुराणनिगमागम से इतर वे कौन से तत्व हैं जिनकी आपूर्ति इनसे असभव है ? अकेले महाभारत ही एक ऐसा ग्रथ है जो विश्वसाहित्य को चुनौती देते हुए कहता है कि जो यहाँ है वही सर्वत्र है, जो यहाँ नही है वह कही नहो है । ध्यातव्य है कि महाभारत सपूर्ण वेदो के गुह्यतम रहस्य, अन्य सभी शास्त्रो के सारतत्व का संकलन एवं वेदाग तथा समग्र उपनिषदो का विस्तृत विवेचक है ।

उवाच स महातेजा ब्रह्माणं परमेष्ठिनम्
कृत मयेद भगवन् काव्य परमपूजितम् ॥६१॥
ब्रह्मन् वेदरहस्य च यच्चान्यत् स्थापित मया ।
सागोपनिपदा चैव वेदाना विस्तरक्रिया ॥६२॥[1]

अत· तुलसी की प्रवृत्ति को देखते हुए हमे 'क्वचित्' का नकारबोधक अर्थ ग्रहण करना होगा । नकारबोधक अर्थ की स्वीकृति के बाद इसका अर्थ होगा कि नानापुराणनिगमागम से समत जो कुछ भी श्रीशंभुनाकृत रामायण मे निगदित है, मैं उसे ही इस रघुनाथगाथा मे, स्वान्त. सुखाय भाषा निबंधित कर रहा हूँ । इस मानस मे शायद ही कोई (क्वचित्) अन्यत्र का भी (अन्यत अपि) (अर्थात् नानापुराणनिगमागम से विजातीय) तत्व हो । जो भी है वह नानापुराण निगमागम से संमत (Approved) है । इसी अर्थ की अभिव्यक्ति क्वचित् के स्थान-बोधक अर्थ को ग्रहण करके भी की जा सकती है । इस अर्थ की निष्पत्ति के लिये स्थान-बोधक अर्थ की स्वीकृति के उपरात स्थलसाम्य के आधार से विपरीत स्वरूप ग्रहण करना होगा । इस श्लोक के अन्वय का स्वरूप तब इस प्रकार होगा :—"नानापुराण-निगमागमसम्मतम् यद्रामायणे निगदित क्वचित् अन्यत अपि नानापुराण-निगमागमसम्मतम् यन्निगदित तद् तुलसी स्वान्तः सुखाय ····· आतनोति ॥" अर्थात् नानापुराणनिगमागम से समत जो श्रीशम्भुना कृत रामायण मे निगदित है और कही कही अन्यत्र भी जो नानापुराणनिगमागमसम्मत निगदित है उसे ही मैं स्वान्त. सुखाय रघुनाथगाथा मे भाषाबद्ध कर रहा हूँ । "क्वचित्" के स्थानबोधक अर्थ की प्रक्रिया मे स्थलसाम्य पर जोर देकर ग्रंथानुक्रमणिका बनाना किसी भी दृष्टि से समीचीन नही है । "क्वचिदन्यतोऽपि व्यवहारपक्ष का परिचायक है और नानापुराणनिगमागम सिद्धात पक्ष का परिचायक ।" आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र

१—महाभारत, प्र० अ०, अनुक्रमणिका पर्व ।

की इस मान्यता को मानने मे व्यावहारिक अड़चन है। वेदो और पुराणों को यदि हम सिद्धांत पक्ष मे रखना चाहे तो किसी प्रकार रख भी सकते है लेकिन आगम (शास्त्र) मात्र सिद्धांत नही है। शास्त्र का काम है शासन या नियमन करना। वह विशुद्ध व्यवहारसापेक्ष है ।

यही पर तुलसी द्वारा प्रयुक्त दो शब्दो पर विचार कर लेना भी अपेक्षित है। तुलसी ने वेदमत की बगल मे ही साधुमत (संतमत) और लोकमत का भी यत्र तत्र उल्लेख किया है । हिंदी साहित्येतिहास के वर्गीकरण मे सत शब्द का जो सकोच हुआ है, उसके आधार पर तुलसीदास द्वारा प्रयुक्त साधुमत (सतमत) से हिंदी निर्गुणियो को इसका लक्ष्य मानने का विभ्रम नही पैदा होना चाहिए। तुलसी का सत वह नही है जो हिंदी साहित्येतिहास के मर्मी पडितो का सत है। भारतीय अवधारणा मे संत ही दिशा माना गया है । पार्वती के सारे प्रश्न तुलसी के अधिकारी वक्ता भगवान् शकर की नजर मे सतसम्मत है लेकिन पार्वती ने 'राम कोउ आना' का जो प्रश्न किया था वह संतजनो का प्रश्न नही है। बाकी सारे प्रश्न सहज, सुहाई, सुखद एवं संतसम्मत थे लेकिन यह प्रश्न हरिपद-विमुख, मोह-पिशाच से ग्रस्त मूढ जनोचित था, अतः उन्हे अच्छा नही लगा था ।

उमा प्रस्न तव सहज सुहाई। सुखद सतसंमत मोहिँ भाई।।
एक बात नहि मोहिँ सोहानी। जदपि मोहबस कहेहु भवानी।।
तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहि मुनि ध्याना।।
कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच।
पाखडी हरिपद-विमुख जानहि झूठ न साच।।[1]

संत शब्द से यदि वर्णाश्रम-विरोधी, सगुणनिंदक निर्गुणियो का अर्थ ग्रहण होता रहता तो तुलसी कभी 'संत सुभाव गहौंगो[2]' की आकाक्षा नही करते। उनके अनुसार तो बिना हरि की कृपा के सत मिल ही नही सकता है[3]। इसलिए तुलसी द्वारा प्रयुक्त संतमत पद से निर्गुणियो का अर्थ ग्रहण समीचीन नही है । पार्वती ने भगवान् शंकर से जो "राम कोउ आना" का प्रश्न किया था वह तुलसी के अनुसार हरि-पद-विमुख, पाखडी एव मोहपिशाच से ग्रसित मूढ जनोचित था। पाठक पार्वती के इस 'राम कोउ आना' के समानांतर कबीर के--"दसरथ सुत तिहुँलोक बखाना। रामनाम को मरम है आना" कथन को ध्यान मे रखे तो उन्हे यह और

१–रामचरितमानस, बाल कांड ११३।६-८, ११४
२–विनय पत्रिका, पद १७२
३–सुदर काड (मानस) ६।४

भी स्पष्ट हो जायेगा कि गोस्वामी जी का "सत पद" हिंदी साहित्येतिहास के वर्गीकरण-कर्ताओं के संतो (निर्गुण मतावलवियो) से कोई भी सबंध नही रखता है।

तुलसी का लोकमत भी कोई इतर तत्व नही है। तुलसी के संतमत (साधुमत) और लोकमत पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल का निर्णय अतिम, प्रामाणिक एवं समीचीन है। शुक्ल जी का कहना है, 'साधुमत का अनुसरण व्यक्तिगत साधना है, लोकमत लोकशासन के लिये है। इन दोनो का सामंजस्य गोस्वामी जी की धर्मभावना के भीतर है। गोस्वामी जी अपने राम या ईश्वर तक को लोकमत के वशीभूत कहते है। तुलसी के राम स्वेच्छाचारी प्रशासक नही, वे लोक के वशीभूत है क्योंकि लोक भी वास्तव मे उन्ही का विस्तार है।······गोस्वामी जी का समाज (लोक) का आदर्श वही है जिसका निरूपण वेद, पुराण, स्मृति आदि मे है[1] और वेद पुराण स्मृति आदि उनके राम की सहज साँस है (जाकी सहज साँस श्रुति चारी) साधुमत या सतमत (वैयक्तिक साधना) ऐकान्तिक होकर लोकनिरपेक्ष न होने पावे और लोकमत स्वच्छद न होने पावे इसके लिये उन्होने सतमत और लोकमत का समन्वय स्थापित किया था। लोकमत और सतमत को नानापुराण निगमागम की सम्मति से इतर तत्व समझने का विभ्रम नही होना चाहिए। भारतीय तत्वचिंतन निरतर एकात्मवादी रहा है। 'राजा कालस्य कारणम्' की व्यवस्था देने के बावजूद भारतीय सस्कृति राजा को निरकुश नही होने देती है। राज्याभिषेक के समय राजा की इस घोषणा के बाद कि 'अदण्डोऽस्मि, अदडोस्मि, अदण्डोस्मि' राजपुरोहित उसकी पीठ पर पलाशदड से प्रहार करते हुए कहता था कि नही—'धर्म दंडोस्ति, धर्मदण्डोस्ति, धर्मदण्डोस्ति।'[1] इसी प्रकार से नानापुराण, निगमागम मत, सतमत और लोकमत आदि सबका गन्तव्य तुलसी के अनुसार एक ही है और वह है 'हरि भगति पथ'।

वस्तुत गोस्वामी जी ने इस विषयवस्तु-निर्देशक मंगल का विधान उन पडितो के प्रत्युत्तर के लिये किया था जिनका आरोप था कि तुलसी भारतीय सनातन मूल्यो को नष्ट कर रहा है। यह वेदाचरण के विरुद्ध जा रहा है। पडित समाज तो "तस्मात् शास्त्रं प्रमाणम्" की मान्यता को वरीयता देता है। अत तुलसी को अपने ग्रथ को उसी परपरा से जोड़ना आवश्यक था। क्वचिदन्यतोऽपि का स्थानपरक अर्थ लेकर स्थलसाम्य के आधार पर ग्रथो की एक विस्तृत सूची बनाने की आवश्यकता नही है। तुलसी ने विस्तृत अध्ययन किया था इसके लिए "भाव भेद रस भेद अपारा" और "रामायण सत कोटि अपारा" जैसी उक्तियाँ यथेष्ट प्रमाण प्रस्तुत कर देती हैं।

—०—

१—गोस्वामी तुलसीदास (पृ० ३४, ४१ ४२)
२—एकात्ममानववाद, पृ० १० दीनदयाल उपाध्याय।

गो० तुलसीदास पर अघोरपंथ का ऋण

श्री अवधबिहारी

जैन दर्शन के स्याद्वाद मे अधों और हाथी का एक प्रसंग आता है, जिसके अनुसार बारी-बारी से प्रत्येक अधा हाथी के एक-एक अंग को छूता है और हाथी के आकार की कल्पना तदंग रूप से कर लेता है। यह उदाहरण व्यावहारिक जगत मे प्राय सटीक उतरता रहता है। उन अंधो की तरह कभी-कभी अपने मत की पुष्टि हेतु लडाई भी शुरू हो जाती है। इसी विधान मे महापुरुषो के जीवन-चरित्र के सबध मे भी उनके काव्यार्थो की खीचतान शुरू होती है। जो जितना पाता है उतना ही लेकर चल पडता है। फलस्वरूप अनेक भ्रान्त धारणाएँ फैल जाती है और समग्रता के अभाव में हम सही मूल्याकन नहीं कर पाते ।

गो० तुलसीदास के संबंध मे भी यही बात है। अभी तक उनका विश्वस्त जीवनवृत्त प्रकाश में नही आ सका। विभिन्न किंवदतियों के आधार पर उनकी जीवनी का क्रम सजाने का प्रयत्न किया जाता है। उसमे भी मेरी समझ से किंवदतियो के स्थूल रूप को ही पकड़ा गया है। यह कहना अनुचित न होगा कि पं० रामचन्द्र शुक्ल ने हमे जहाँ तक पहुँचाया उससे आगे कोई जानकारी नही हो सकी। किंवदतियाँ कभी कभी इतनी अर्थ या भाव अथवा ऐतिहासिक तथ्य बोझिल होती है जिनपर प्रकाश पड़ते ही प्रचलित धारणाएँ हल्की पड जाती है।

गोस्वामी जी ने अपने बारे मे कहने के लिये कुछ नही कहा। किसी प्रसंग में जो कुछ कहा भी स्पष्ट नही कहा जा सकता। अपने बारे मे कहनेवाला व्यक्ति भी तो अपने सबंध की पूरी बात नही कह पाता। अपराध-अनुसंधान-विभाग का एक फार्मूला है कि अपराधी चतुराईपूर्वक कितना भी अपराध करे किन्तु कोई न कोई चिह्न छोड़ ही जाता है। स्थूल नही तो सूक्ष्म। मगर छोड़ेगा अवश्य। इसी आधार पर आज जूते की बालू का कोणात्मक विश्लेषण होता है या कुत्ते से हवा की गंध तक पहचानने की कोशिश की जाती है। उसी प्रकार गोस्वामी जी के संबंध मे कुछ न पाकर भी सूक्ष्मशोध से पर्याप्त सामग्री पाई जा सकती है--ऐसा मैं समझता हूँ।

हालाँकि किसी के अज्ञान की तरफ मेरा सकेत नही है क्योकि मनुष्य की सीमाएँ है। सभी से कुछ पाने या समझने का दावा नही किया जा सकता। मेरे

इस प्रयास को जो आगे कहने जा रहा हूँ एक योगदान समझा जाय। ऐसे, विद्वानों के सामने नतमस्तक हूँ। इसलिये मेरे अवगाहन पर नाराजगी न पैदाकर अगर कोई सर्जनात्मक प्रतिक्रिया अभिव्यक्त करे तो प्रसन्नता ही होगी।

मैं सप्रमाण कहना चाहता हूँ कि गो० तुलसीदास जी लब्धप्रतिष्ठ वैष्णव भक्त होने के पहले अघोरपंथी थे और उनके व्यक्तित्व पर अघोरपंथ का स्पष्ट ऋण था। हमने अभी तक इतना ही पढा है कि पत्नी से अपमानित होकर रामदर्शन के भूखे थल-थल घूमते रहे। कभी काशी, कभी चित्रकूट। उनकी आदत बन गई थी कि पैखाने का जो पानी बचता था उसे लौटते समय एक बबूल वृक्ष की जड मे डालते थे जिसपर कोई भूत रहता था। उसी पानी से तृप्त होकर प्रेत ने दर्शन दिया और हनुमान् के दर्शन का मार्ग प्रशस्त किया।

बाबू श्यामसुन्दर दास जी ने रामचरितमानस की टीका मे गोस्वामी जी की जीवनी लिखने के प्रसग मे बबूल की जगह पीपल लिखा है। किंतु पीपल को हिन्दू जितना आदर देता है उससे इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि कोई स्वस्थ दिमागवाला हिंदू उसमे भी ब्राह्मण पैखाने का पानी पीपल पर नही ही डालेगा। फिर शास्त्रज्ञाता तुलसीदास यह कर्म कैसे कर सकते है। भले ही सामान्य जन के लिये पीपल और बबूल कोई अर्थ नही रखता और बबूल में ही पानी डालने का क्या तुक है; वह भी शौच निवृत्ति के समय !

विज्ञान की टेकनिकल चीजे सबके लिये नही होती। उसी प्रकार बबूल मे पानी डालना विज्ञानविशेष की टेकनिकल लाइन की एक महत्वपूर्ण ही नही बल्कि अनिवार्य सीढ़ी है जो उस पथ का पथिक ही जान सकता है।

मंत्र के चार प्रकार है—वैदिक, पौराणिक, तांत्रिक या आगमिक और शाबर। डामर मन्त्र शाबर के ही अतर्गत समाहित है। आगमसंमत तन्त्र की तीन उपासना पद्धतियाँ है—दिव्य, दक्षिण और वाम। वाम प्रचंड पंथ है। कौल और अघोर इसी के अतर्गत आते है। कौल मे पंचमकार एवम् अघोर में सप्तमकार की उपासना होती है। मल और मूत्र दो मकार बढ जाते है। कौल को प्राय. वाममार्ग के नाम से भी अभिहित करते हैं। वाममार्ग शक्ति का आराधक है और अघोर शिव का। अघोरी को यानी अघोर पथ के योगी (साधक) को अवधूत और शिव को महावधूत कहते हैं। शिव श्मशानवासी हैं इसलिये उनका एक नाम श्मशान भी है।

किसी भी अभीष्ट देव का दर्शन भक्तिमार्ग से जीवन की समाप्ति पर्यंत पा सकेंगे कि नही, यह कहना मुश्किल है। इससे जल्दी योगसाधन फल देता है; किंतु तांत्रिक साधना के आधार पर एक निश्चित समय मे पा लेना यानी अभीष्टसिद्धि निश्चित है।

अघोर पथ से श्मशान सिद्धि की दीक्षा लेने पर; जो सभी अभीष्ट कामनाओ की पूर्ति करनेवाला है, साधक या युजान को कुछ नियम पालना आवश्यक है। जिनमे पहला ही नियम है कि शाम, सुबह या कभी भी पैखाना से लौटिए तो शौच पात्र मे पानी नियमित रूप से बचाकर लाइए और बबूल वृक्ष की जड़ मे डालिए। अगर बबूल नही मिल सके तो बेर की जड़ मे डालिए। यह क्रिया कोई एक डेढ़ महीने की है।

अब आप समझ लेगे कि तुलसीदास पैखाने का पानी क्यो बबूल मे डालते थे। आप कह सकते है कि क्या इसी एक बात से उन्हे अघोरपंथी बना देगे ? जी नही। आगे सुनिए—

अघोर पंथ की दूसरी हिदायत है कि साधना के दरम्यान दाडी-मूँछ नही बनाना होगा। स्नाननिषेध। आपका पूरा शरीर और व्यवहार बिलकुल प्राकृतिक रूप मे होना चाहिए। यह स्थिति कम-से-कम ३ वर्ष और अधिक-से-अधिक ६ वर्ष रहती है। ऐसे, स्वाद मिल जाने पर बहुत साधक आजीवन भी रह जाते है। इसीलिये अपने साधनाकाल मे तुलसीदास जी दाढी-मूँछे रखे हुए थे जिसके चलते लोग उन्हे विभिन्न विशेषणो से अभिहित करते और चिढ़ाते थे। कवितावली के इस पद्याश का अवलोकन कीजिए :—

धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सो बेटा न ब्याहब काहू की जाति बिगार न सोऊ।
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को जाके रुचै सो कहै कछु ओऊ।
माँगि के खैबो मसीत को सोइबो लैबै को एक न दैबे को दोऊ।।

अवधूत का विशद वर्णन तन्त्रग्रथो मे मिलता है :—

यो विलघ्याश्रमान्वर्णानात्मन्येव स्थितः पुमान्।
अतिवर्णाश्रमी योगी अवधूतः स उच्यते।।
अक्षरत्वात् वरेण्यत्वात् धूत ससारबन्धनात्।
त्वमस्यर्थसिद्धत्वादवधूतोऽभिधीयते ।।

निर्वाण तन्त्र मे शकर जी अवधूत का लक्षण बतलाते हुए कहते है :—

शृणु देवि ! प्रवक्ष्यामि अवधूतो यथाभवेत्।
... ...
तथा नैव प्रकुर्यात्तु वीरस्य मुडन प्रिये।
असंस्कृत केशजाल मुक्तालम्बि कचोच्चयं।
अस्थिमाला विभूषा वा रुद्राक्षमपि धारयेत्।।

यानी असयत केश (वाल) जाल और मुदीर्घ कचो सहित अस्थि या रुद्राक्ष-माला-विभूपित अशुभ वेश अवधूत होता है। ये ही दीर्घ दाढी मूँछें जुलाहे की और उस समय के राजपूतो की रहती थी। प्राय. ठग या धूर्त भी यही वेश रखते हैं कि आवश्यकता पडने पर वेश वदल सके। तुलसीदास को भी इस वेश मे रहना पड़ा था।

तीसरी हिदायत है कि आपकी साधना यानी क्या कर रहे है—यह कोई नही जाने। अर्थात् गुप्त रखे और गूढ रहे। यह गुह्य विद्या है।

इस स्थिति मे देखकर जनता विशेपकर लडके या उद्दंड पुरुप का राह चलते हुडदग मचाना कौन भारी वात है। स्वाभाविक है—कोई कहेगा, अरे! यह तो धूर्त्त है. नही नही जुलाहा है। नही भाई! राजपूत तुझे नही दिखाई देता? नही यार! यह योगी है–अवधूत; हा! हा!! हा!!!

फिर साधक का मन मे यह कहना कितना स्वाभाविक है कि जो चाहे सो कहो, मुझे तो वस राम से जरूरत है।

हाँ, चौथी हिदायत है कि एक क्षण के लिये भी भगवान् का स्मरण मत भूलो। खाना या पैखाना। यह अघोर पंथ की सीख है:—

भाव कुभाव अनख आलसहूँ।
नाम जपत मगल दिसि दसहूँ॥

वैष्णव पथ तो कुछ अवसरो पर हरिस्मरण पर रोक लगाता है–

पुरीपे मैथुने होमे प्रसावे दन्तधावने।
स्नान-भोजन-जाप्येपु सदा मौन समाचरेत्॥

खैर, पाँचवी हिदायत है कि साधक को परमेश्वर के अलावे और किसी के सामने नतमस्तक नही होना है। व्यावहारिक कठिनाई पडे तो परमेश्वर को सिर झुकाओ, जैसे श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर से भीम को प्रणाम करवाया था।

सिया राम मय सव जग जानी।
करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥

इस प्रसग मे यह भी उल्लेख प्रासगिक है कि इस काल मे साधक तुलसी के शरीर पर कोई शंख, चक्र, पुड्र, तिलक, कठी, माला आदि नही था जिससे उन्हे वैष्णव समझा जाय। यह रूप तो उनका वाद मे हुआ जिसमे दँवरी करने को उन्हे खलिहान मिला। 'साँची कहौं कलिकाल कराल मैं' से लेकर 'लैवे को एक न दैवे को दोऊ' तक के सवैये या इनसे मिलते पद समाज के कटाक्षजन्य क्षोम के परिणाम है। गोस्वामी जी ने रामप्राप्ति के वाद की अपनी समानजनक स्थिति का जिक्र किया है–

लहे न फूटी कौड़िहू को चाहे केहि काज ।
सो तुलसी महँगो कियो राम गरीब निवाज ।
घर घर माँगे टूक पुनि भूपति पूजे पाय ।
ते तुलसी तब राम बिनु ते अब राम सहाय ॥

कवितावली का यह पद्यांश भी द्रष्टव्य है—

रामनाम को प्रभाउ पाउँ महिमा प्रताप
तुलसी को जग मानियत महामुनी सो।

इससे स्पष्ट है कि उन्हे अपमान या सामाजिक व्यंग्योक्तियाँ साधन के आरंभिक काल मे मिली और ये पद उसी समय के है ।

कोई वैष्णव साधु जाति पाँति-हीन नही हो सकता । शील-गुणहीन निरक्षर ब्राह्मण को पूजनेवाला यदि— "मेरे जाति पाँत न चाहौ काहू की जाति पाँति"—कहे तो इसकी सगति कैसे बैठेगी ? '· · · · मसीत को सोइबो' की बात भला कौन कह सकता है ? वैष्णवो से इतनी उदारता की आशा करना वैष्णवो के शील-स्वभाव को नही जानना है । जो सीधे वैष्णव होता है वह बडा कट्टर होता है । उसपर स्मार्त्त वैरागी । खान पान, रहन सहन सब मे सयम । क्या रामानुज, रामानद, निबादित्य, नददास या स्वय तुलसी किसी शूद्र के घर खा सकते है ? किसी हरिजन को छू सकते है ? फिर जाति पाँति न चाहौ या—मसीत मे सोने की कल्पनातीत कल्पना । अगर उक्ति को केवल उक्ति न माना जाय तो ऐसी सार्थक उक्ति किसी रैदास, कबीर या कीनाराम की हो सकती है या हो सकती है शौच का पानी बबूल मे डालनेवाले व्रती की । इस व्रत मे खाने पीने, उठने बैठने या सोने किसी में भी छुआछूत के लेहाज से परहेज नहीं होता। जाति पाँति का कोई बंधन नही । मानवीय खोजो मे यही एक पथ है जिसमें सच्चा लोकतत्र फलित है, जहाँ खुले आकाश और धरती के बीच सभी बराबर और स्वतंत्र है । मत्स्यन्याय जहाँ नही चलता ।

एक बात और है । "धूत कहौ · ·" सवैया मे अपने अपमान की जिस स्थिति का जिक्र तुलसीदास ने किया है वैसा बर्ताव आज भी इस मार्क्सवादी दुनियाँ के भारत मे किसी वैष्णव मूर्ख साधु से नही किया जाता, फिर आज से ४०० वर्ष पहले, जब संतो के शाप का भय जन जन के अचेतन मन मे व्याप्त था—कैसे सभव था ? उस पर भी परम विद्वान् साधु के साथ। चिढाया उसको जाता है जिसका अटपटा वेश, वाणी अटपटी और करनी अटपटी है । प्राय. औघड इस बहुरूपिया वेश मे दक्ष होता है । आज भी ऐसे अटपटे औघडो के पीछे लड़के लग जाते है और वह डडा भाँजता जाता है ।

राम के प्रति अनन्यता प्रदर्शित करने की तुलसी की अपनी शैली थी जो

बटुक जीवन मे उन्हे मिली थी। किंतु विवाह के पहले का अनन्य प्रदर्शन मात्र एक ढग था जैसा आज भी ज्ञान के अंधे साधु फकीर कहते है–

मै तो रमता जोगी राम
मेरा क्या दुनियाँ से काम ।
देनेवाला राम दिलानेवाला राम ।

विवाहोपरान्त पत्नी से ठेस लगने पर सामान्य रामभक्ति ने जोर पकडा क्योकि अब भक्ति से सतोष नही था––दर्शन चाहिए ।

मान्यता है कि सर्वप्रथम उन्हे भूतदर्शन हुआ। यह भी एक विचारणीय तथ्य है। कही शुद्ध निर्मल चित्त रामभक्त को भूत दर्शन देने की हिम्मत करेगा ? यह भी कहा जाता है कि गोस्वामी जी के शिष्य श्रीरघुवरदास द्वारा लिखित तुलसीचरित को ३०० वर्ष तक अप्रकाश्य और सुरक्षित रखने का भार तुलसीदास द्वारा उसी भूत पर रखा गया। इसका मतलब हुआ कि जीवनपर्यन्त तुलसीदास का वह वैसे ही इष्ट रहा जैसे हनुमान् जी। फिर तुलसीदास ने उसका उद्धार-न कर ३०० वर्ष तक बोझ ढोने का दड दिया। यह उनके जैसे समर्थ व्यक्ति के लायक नही जँचता। प्राय प्रेत भी कभी कभी अपने उद्धार की स्वयं याचना करते है किंतु उसने यह भी नही किया। ऐसे तपोधन के दर्शन से भी प्रेतयोनि से छुटकारा मिल जाता है जैसे स्वामी विवेकानंद ने किया। मगर उसे नही मिला।

सच तो यह है, कि जैसा साधक जानते है कि सभी तरह के इष्ट एक साथ नही रह सकते। उनकी कुछ श्रेणियाँ है जिनकी संगति बैठ सकती है। जैसे जीन और भैरव एक साथ नही रह सकते वैसे ही हनुमान् जी और प्रेत एक साथ नही रह सकते।

भूत पिसाच निकट नहिँ आवे।
महावीर जब नाम सुनावे।

भैरव, श्मशान और हनुमान् जी एक साथ रह सकते है।

एक और दृष्टि से भी प्रेत की कथा निर्मूल सिद्ध होती है। भरत कथन के बहाने तुलसीदास की मान्यता थी कि प्रेत पूजनेवाले की घोर गति होती है–

जे परिहरि हर चरन
भजहिं भूतगन घोर।
तिन्हकइ गति मोहि देउ विधि
जौ जननी मत मोर ॥

इस विचार से तुलसीदास प्रेत की पूजा कैसे करते ? बिना पूजा लिए उनके पास प्रेत जीवन भर क्यो चिपका रहता ? असल मे वह तो हरस्वरूप श्मशान था जो अघोरपंथी साधनाकाल मे उन्हे सिद्ध हुआ और इष्टरूप मे

बराबर उनके साथ रहकर पथप्रदर्शक बना रहा। हालाँकि हनुमान् जी से भेट होने के बाद उस सिद्धि की विशेष उपयोगिता नही रही। किंतु सिद्ध इष्ट भाड़े के मजदूर नही होते बल्कि जब जो आदेश दिया जाता है उन्हे पूरा करना पड़ता है। अगर पुस्तक-सुरक्षावाली कथा सही है तो वह भार उन्होने श्मशान को यानी अपने इष्ट को दिया था जिसका पालन उसे करना जरूरी था।

जब उनकी प्रसिद्धि चारो तरफ फैल गई और जमाना उनके आगे नतमस्तक रहने लगा उस समय उनसे ठिठोली करने की किसे हिम्मत हो सकती थी। निश्चय ही यह पद्य उनकी साधना के आरभिक दिनो की हालत का दर्पण है, जिस अवस्था मे अपने चरित्र को गुप्त रखनेवालो को अनेक लाछन सहने पड़ते है।

इस देश मे एक और भी विचित्र स्थिति है। किसी भी आरभिक तंत्र-साधक का लोग मखौल उड़ाते रहते है और वही जब सिद्ध हो जाता है तो पैर छूने के लिये तरसने लगते है। लोग मुझपर हँसे नही इसलिये भी साधक अपनी सारी क्रियाएँ जन की आँखें छिपाकर करते है। इस देश के साधक भी सिद्ध होने के बाद इतने अतर्मुख और आत्मस्थ हो जाते है कि उनके संबध मे कोई जिज्ञासा शांत करनी मुश्किल हो जाती है। इससे परे हम तुलसीदास को भी नही रख सकते। किंतु इनके ही गूढ कथन इनके उद्‌गम तक जाने का मार्ग प्रशस्त करते है।

जैसा मैने ऊपर कहा है कि भक्ति, योग या वैराग्य से इस जीवन मे दर्शन हो जाय यह निश्चित नही है। इसके पथिक दूसरे जन्म के लिये भी साधना करते है। तुलसीदास को जल्दी थी। कौन रास्ता अख्तियार किया जाय। इस ऊहापोह मे कितने दिन बेकार गए होगे --

बहुमत सुनि गुनि पथ पुराननि
जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो राम भजन नीको
मोहि लगत राजडगरो सो।

कवितावली का निम्नाकित पद भी द्रष्टव्य है—

आगम बेद पुरान बखानत मारग कोटिन जाँहि न जाने।
जे मुनि ते पुनि आपुहि आपु को ईस कहावत सिद्ध सयाने।
धर्म सबै कलिकाल ग्रसे जप जोग विराग लै जीव पराने।
को करि सोच मरै तुलसी हम जानकीनाथ के हाथ बिकाने॥

यह ऊहापोह की स्थिति है। चौथी हिदायत। समत एकमात्र जानकी-नाथ से अनन्यत्व। 'धर्म सबै कलिकाल ग्रसे, जप जोग विराग लै जीव पराने' निर्वाण तंत्र का भाव है, जिसकी चर्चा आगे की जाएगी और क्या रास्ता है

वताया गया है । सब जगह 'राम के' होने की वात कहकर छुट्टी पा लेते है । किंतु किस तरीके से उनके हाथ विके है ? कही यह भी तो नही कहते कि मै वैष्णव हूँ । वैष्णव मान लेने पर भी स्मार्त्त या वैरागी का निर्णय अपनी वुद्धि लगाकर करनी है । वह तो तीनो भ्रम से दूर रहने को कहते है—

तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम
सो आपन पहिचानै ।

उनके राम तो विष्णु से भिन्न हैं—विधि हरि सभु नचावनि हारे । राम की अनन्यता दर्शाने मात्र से उन्हें वैष्णव नही माना जा सकता । राम पाने के लिये भी कई पथ हैं। किसी सिद्धि के सहारे एकनिष्ठ होने पर ही सफलता मिल सकती है ।

आरंभिक ऊहापोह की स्थिति मे मन जल्दी कोई मार्ग अपनाने मे शकित रहता है । अपनी इसी उधेड़वुन की स्थिति मे उन्होने कई एक तान्त्रिको से शास्त्रार्थ भी किया और सीखा । विंध्याचल के प्रसिद्ध तान्त्रिक प्रवर स्व० श्री अक्षोभानंद जी के तान्त्रिक सुपुत्र श्री यमुनादास जी से मालूम हुआ कि विंध्याचल के पास गगा के वाएँ किनारे स्थित गोपीगंज मे तान्त्रिको से वुरी तरह हारे थे । "जहाँ तहाँ झगरो सो ।"

एक शंका यह की जा सकती है कि क्या तुलसीदास जी जैसा व्यक्ति सप्तमकार की उपासना कर सकता है ? मेरी समझ से धुन मे लगा व्यक्ति कुछ भी कर सकता है। वे पत्नी से आहत थे । रामदर्शन की प्रतिज्ञा थी। जल्द से जल्द । अव उन्हें कुछ पढना और जानना नही वाकी था । विवाह-पूर्व सर्वाधीत थे । हाँ करना वाकी था । अध्ययन और संगति के आधार पर उन्हें ज्ञात था—

कृते श्रुत्युक्त-आचारस्त्रेतायां स्मृतिसभवः ।
द्वापरे तु पुराणोक्त कलावागम-सम्मत. ॥
(कुलार्णव तंत्र)

(अर्थात् सत्ययुग मे श्रुतिसंमत, त्रेता मे स्मृतिकथित, द्वापर मे पुराण प्रतिपादित और कलि मे आगम (तन्त्र) अनुकूल आचार विधेय है ।)

कलिमलकपदीनाना द्विजातीना सुरेश्वरि ।
मेध्यामेध्यविचाराणां न शुद्धि श्रौतकर्मणा ॥
न सहिताभि' स्मृतिभिरिष्टसिद्धिर्नृणा भवेत् ।
सत्यं सत्यं पुन सत्य सत्यं सत्यं मयोच्यते ॥
विना ह्यागममार्गेण कलौ नास्ति गति. प्रिये ।
श्रुति स्मृति पुराणादौ मयैवोक्त पुरा शिवे ॥
आगमोक्त-विधानेन कलौ देवान्यजेत्सुधी ॥
(महानिर्वाण तंत्र)

हे सुरेश्वरी, कलि के दोष से दीन हुए द्विजो को पवित्र अपवित्र का विचार नही रहेगा, फिर श्रौत कार्यो के संपादन से ये कैसे सफलता प्राप्त कर सकेगे ? तब सहिताओ और स्मृतियो के सयोग से भी अभीष्ट की सिद्धि नही हो सकेगी। हे प्रिये! मै सत्य और पुन पुन. सत्य कहता हूँ कि कलिकाल मे तंत्रमार्ग को छोड़कर दूसरी गति नही है । हे शिवे! श्रुति, स्मृति और पुराणो के द्वारा मैने घोषणा की है कि कलियुग मे उपासक आगम विधान द्वारा निर्देशित देव पूजन करे।

कलावागममुल्लंघ्य योऽन्यमार्गे प्रवर्त्तते ।
न तस्य गतिरस्तीति सत्यं सत्य न संशय ॥

(योगिनी तंत्र)

(मैं सत्य सत्य निस्संदेहरूप से घोषित करता हूँ कि कलियुग मे तन्त्रो का उल्लघन करके जो अन्य मार्गो को अपनाता है उसकी सद्गति संभव नही।)

इसके अलावे ऐसे व्यक्तियो की संसार मे कमी नही जो कूड़ा से हीरा निकाले। आज भी महान् भौतिकवादी या यों कहे कि मार्क्सिस्ट श्रीराहुल जी ने कौन कौन वेश नही धरे। सन्यासी तक बने। बौद्ध ग्रथो के तिब्बत से आनयन हेतु बौद्ध भिक्षु बने। श्रीरामकृष्ण परमहस जी ने इसाई, मुस्लिम, शैव, शाक्त, वैष्णव आदि धर्मो या सप्रदायो से दीक्षा लेकर तद्रूप होकर सिद्ध करके दिखा दिया कि सभी धर्मो का मूल एक है। रास्ते भिन्न है। इनसे तुलसीदास जी को हीन नही मानना चाहिए। उन्हे हिचक किस बात की थी ? वे जानते थे---

वैदिकब्राह्मणाना स्याद्राज्ञा वैदिकतांत्रिके।
तान्त्रिक वैश्यशूद्राणां सर्वेपा तान्त्रिक तु वा ॥

(यानी ब्राह्मण के लिये वैदिक और तान्त्रिक दोनो मार्ग विधेय है।)

बहुतो को हिचक इस बात की होगी कि अघोरपथ मे शराब और मास है उसे तुलसीदास कैसे छू सकते है ?

तुलसीदास विवेचक थे। अधानुयायी नही थे। मनोविश्लेषक भी कम नही थे। उदार थे और थे समन्वयवादी। वैष्णव और शैव का समन्वय करना एक दिन की उपज नही थी। केवल कोरे पुस्तकीय ज्ञान का प्रतिफल नही था। वह शिव और राम के साक्षात्कार का आनुभूतिक सत्य था। अघोरी साधना मे शिव मिले और वैष्णव उपासना मे राम। दोनो के भक्त का लडना उन्हे क्यो न वृथा लगे ? पर श्मशानवासी विना मदिरा के कैसे प्रसन्न हो सकते है ? मदिरा जितनी अधविश्वासी तथाकथित सात्विक भक्तो के लिये अस्पृश्य है उतनी तत्वान्वेषी के लिये नही। फिर कहाँ मदिरा निपिद्ध रही है ? सभ्रात कुलोद्भव यादव मदिरा का अबाध रूप से सेवन करते थे। जिसे श्रीकृष्ण को आपत्काल में

डुग्गी पिटवाकर द्वारिका मे बंद करवाना पडा था। इसके सर्वाधिक प्रेमी हलधर रहे जिसमे इसका नाम ही हलिप्रिया पट गया। दुर्गासप्तशती मे माँ दुर्गा सुरा पी पीकर लडाई कर रही हैं–

गर्ज गर्ज क्षण मूढ मधु यावद्पिबाम्यहम्।
मया त्वयि हतेऽत्रैव गर्जिष्यन्त्याशु देवता॥

वाल्मीकीय रामायण मे पति और देवर के साथ गंगा पार करती हुई सीता गगा से मनौती कर रही है :—

सुरा घटसहस्रेण मासभूतौदनेन च।
यक्ष्ये त्वा प्रयता देवी पुरीं पुनरुपागता॥

(हे देवी! मैं पति और देवर सहित सकुशल अयोध्या लौटकर हजार घड़ा मदिरा तथा मासयुक्त भात अर्पण करके तुम्हारी पूजा करूँगी।)

मनुस्मृति, तान्त्रिक पद्धतियो, तारा सहस्रनाम, निरुक्त आदि आर्यशास्त्रो के अनुसार नैवेद्य भक्तों या पूजको को ग्रहण करना अनिवार्य है, अन्यथा देवता ग्रहण नही करेंगे। इसका अर्थ यह हुआ कि राम और सीता सुरा और मास का सेवन करते थे। सीता के वियोग मे राम ने मास और मदिरा का सेवन बिल्कुल बद कर दिया था :—

न मासं राघवो भुक्ते न चापि मधु सेवते।
—वाल्मीकि, सुंदरकाड (सर्ग ३६, श्लोक ४१)

आखिर मृगया का प्रयोजन मात्र मृगचर्म ही तो नही था। लेखविस्तार के भय से सबद्ध प्रसगो का विस्तृत विश्लेषण संभव नही होगा। अन्यथा रामचरितमानस मे ही सभी बातो का समावेश है। रामचरित मानस एक ऐसा सागर है जिसका आनंद तीर पर खड़ा व्यक्ति भी ले सकता है, ऊपर ऊपर तैरनेवाला ले सकता है और अन्तस्तल का गोताखोर भी ले सकता है। तुलसीदास जैसे मनोविश्लेपक की सहज और निगूढ शैली पर मन थकित हो जाता है। उन्होने लोकधारणा के प्रतिकूल पडनेवाली शास्त्र की बातो को ऐसे ढग से कही-कही अवतरित किया है कि साधारण पाठको को निराशा न हो किंतु सुधी का आनंद मनोज्ञ रहे। तुलसी ने कहा है कि राम मांस खाते थे––

बंधु सखा सँग लेहिं बोलाई।
बन मृगया नित खेलहिं जाई॥
पावन मृग मारहिं जिय जानी।
दिनप्रति नृपहि देखावहिं आनी॥
....
अनुज सखा सँग भोजन करही।

मित्रों और भाइयों के साथ विविध मेध्य (पावन) पशुओं का नित नूतन शिकार करते थे। ('पावन' शब्द पर आगे विचार किया जाएगा।) अपनी वहादुरी दिखाने तथा प्रशसा पाने के लिये राजा दशरथ को ला लाकर दिखाते थे। उसके वाद मित्रो की टोली मे उसका प्रीतिभोज आयोजित होता था। जैसे आज भी मुर्गा-मास का भोज वड़े चाव से चलता है। यह वात नही थी कि रोज मित्रो का जमाव करके अपने घर मे भोजन करते थे। घर मे भोजन करने का प्रसग तो पहले ही निरूपित हो चुका है—

भोजन करत बोल जब राजा।
नहिँ आवत तजि वाल समाजा॥
भोजन करत चपल चित
इत उत अवसरु पाइ।
भागि चले किलकत मुख
दधि ओदन लपटाइ॥

साहित्यावलोकन से पता चलता है कि ब्राह्मण से लेकर क्षत्रिय, वैश्य तक का अवसरविशेष (प्रीतिभोज) पर मास खाना वुरा नही समझा जाता था। तुलसी-दास जी ने प्रतापभानु की कथा मे लिखा है कि विप्रो को खिलाने के लिये--

विविध मृगन्हकर आमिप राँधा।

प्रतापभानु को विप्रो ने मास खिलाने के अपराध मे शाप नही दिया था वल्कि उस मास मे विप्रमांस मिला दिया गया था--

तेहि महँ विप्रमास खल साँधा॥

विप्रो को यह वात मालूम हो गई--

भयउ रसोई भूसुर माँसू।
सव द्विज उठे मानि विस्वासू॥

यदि मास खाने का प्रचलन नही होता तो कालकेतु को दृष्टि भ्रमित करके धोखा देने का वहाना नही मिलता, क्योकि चीजे तो सव कायदे की वनी थी जो शास्त्रानुसार विहित है और खुद राजा परोस रहा था--

उपरोहित जेवनार वनाई।
छरस चारि विधि जस स्रुति गाई॥
परसन जवहि लाग महिपाला।

यह वैसे ही हुआ जैसे तैयार भोजन मे कोई जहर मिला दे और खाने-वाले को भेद मिल जाय।

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति'--जिस प्रसग मे कहा जाता है उस आयोजन मे मांस खाना भी विधेय है।

ऐसे अनेक उदाहरण है। हम विस्तार मे नही जाएँगे। इससे पता चलता है कि अघोरपथ की तरफ उन्मुख होने मे झिझकनेवाले कोरे व्यक्ति के लिये पूर्ण एव स्पष्ट पृष्ठभूमि तैयार है। झिझकना अपने खोखलेपन का द्योतक है। नाना शास्त्र पारगत तुलसीदास जी के लिये क्या कहना।

कुछ लोगो को मेरी बातो से घबराहट होगी। स्वाभाविक भी है। आस्था के विरुद्ध सचाई सुनने की क्षमता बहुत कम मे होती है। मुझे भी कभी गहरा धक्का लगा था क्योकि मै स्वय वैरागी वैष्णव का पौत्र हूँ। किंतु सचाई को छिपाकर झुठाई से मन कितने दिन बहलाया जाय। इस अंध आस्था का बधन तोडने मे बहुत समय का नुकसान हुआ। परेशानी हुई। वही ऊहापोह। क्या झूठ क्या सच। हम जैसे भीरुओ की कमजोरी तत्रकार जानते थे, वे इसके लिये कम सावधान नही थे। मकारो का प्रतीक या अनुकल्प भी रखा है। काल-देश-पात्र से उसका भी विधान है मद्य के लिये——

तेषा विधि शृणुष्वाद्य यत्तस्त्व कुलनायिके।
गुडार्द्रकरसेनैव सुरा तु ब्राह्मणस्य च॥

——योगिनी तंत्र

(हे कुलनायिके ! मुझसे उस विधि का श्रवण करो। गुड़ और अदरख का रस मिलाने से ब्राह्मण की सुरा बनती है।)

मास के लिये——

मास मत्स्यन्तु सर्वेपा लवणार्द्रकमोरितम्।

(लवण और अदरख ही सबका मास है। आदि, आदि)

कौलिकार्चन तत्र गेहूं और लहसुन को भी मास का अनुकल्प बतलाता है।

अभिनवप्रवेशी इसके आधार पर क्रमोत्तर बढता जाता है। एक दिन स्थिति ऐसी आती है जब एक हाथ का रसगुल्ला और दूसरे हाथ का चिवड़ा कोई अतर नही रखता। चाहे गध चाहे स्वाद। गगाजल और मूत्र से समान लाभ। कोई अलाभ नही।

कोई चार पाँच साल पहले "आज" के किसी रविवासरीय अक मे पढा था। लेखक का नाम याद नही आ रहा है। जिसका आशय था——"अपने अतिम समय मे तुलसीदास ने एक प्रीतिभोज का आयोजन किया था जिसमे काशी के हरेक सम्प्रदाय के साधु, सतो एव मुख्य ब्राह्मणो को आमत्रित किया था। उसमे भदैनी से अघोरपथीप्रवर शकरस्वरूप कीनाराम जी भी आए। सभी लोग खाने बैठे और भोजन सामग्रियाँ परोसी गई। जब खाने की बारी आई तो देखा गया कि कीनाराम के चुक्कड मे पानी की जगह शराब और पत्तल पर पूडी की जगह मास एव चटनी, तरकारी की जगह मलमूत्र पड़ा है। दुर्गंध फैलने लगी। पडित लोग घबराए

और रोष मे खड़े होकर बकने लगे—'तुलसी ने हम लोगो को बुलाकर अपमान किया है।' आदि, आदि।

"गोस्वामी जी के पास जब खबर गई तो दौड़े आए। देखा और परिस्थिति समझ गए। कीनाराम जी से हाथ जोड़कर कहने लगे—'प्रभो, आपकी महिमा ये लोग क्या जाने ? उतनी ऊँचाई पर पहुँचनेवाला यहाँ कोई नही। कृपया मेरी दशा पर ध्यान दे और अपना प्रभाव समेट ले।' फिर देखा गया कीनाराम जी बाकायदे वे ही चीजे खा रहे है जो परोसी गई थी।"

मैं नही कह सकता कि लेखक महोदय को यह सूत्र कहाँ से मिला। अगर यह सही है तो इससे पता चलता है कि गोस्वामी जी की कीनाराम यानी अघोर-पथ मे अपार श्रद्धा थी और वे उसका भीतरी रहस्य समझते थे। घृणा की तो बात ही असभव है।

गोस्वामी जी को अपनी इस गुह्य विद्या को गुह्य रखने का एक और भी कारण था। यह वह देश है जहाँ सागर पार चले जाने के अपराध मे कुजात कहकर छाँट दिया जाता है फिर चाहे वे गाँधी हो या डा० सच्चिदानद सिन्हा। यह वह देश है जहाँ घृणित व्यक्ति जमाने पर हावी हो जाय तो चरण छूने के लिये तरसता है। यह कुजाति गाँधी और सिन्हा जी की अतिम जीवनस्थिति से समझ ले और समझ ले—अबेदकर एव जगजीवनराम जैसे अस्पृश्य लोगो की स्थिति से। गोस्वामी जी को इसी तरह के भय और सिद्धि के बाद आदर पाने का अनुमान था।

गोस्वामी जी का तत्र-मत्र मे निश्चित विश्वास था। समय पड़ने पर वे जतर-मतर-टोटका-ओझइती आदि कराने से बाज नही आते थे, जिन्हे आगमशास्त्रो मे निकृष्ट कर्म (त्रिया) कहा गया है। बिना आस्था के कैसे कराते ? अंतिम समय मे तो उनकी अपने इष्टदेव के प्रति आस्था ही डोल गई थी। फिर आरभिक दिनो की मानसिक स्थिति के बारे मे क्या कहा जाय जब अभी जीवनदिशा ही निश्चित करनी थी—

आपने ही पाप ते त्रिताप ते कि साप ते
बढ़ी है बाँहबेदन कही न सहि जाति है।
औषध अनेक जत्र-तत्र-टोटकादि किए
बादि भए देवता मनाए अधिकाति है।

—हनुमान बाहुक

अधिक क्या कहे। आगम की पवित्रता तो वेद, पुराण और रामायण की तरह ही वे स्वीकार करते है। रामचरितमानस मे उसका स्पष्ट ऋण स्वीकार करते है—

नाना पुराण निगमागम सम्मत····।

यदि हम उनके काव्यो मे पूर्व धारणा को छोड़कर विचार करेगे तो पाएँगे कि आगम के बहुत से पारिभाषिक शब्द उन्होने रखे है और सप्रयोजन। जैसे—

पावन मृग मारहिं जिय जानी ।

रामचद्र हृदय मे अध्ययन के आधार पर तर्कपूर्वक पावन-अपावन मृग का विचार करते हुए शिकार करते है। प्रश्न उठता है कि पावन क्या है ? अपावन क्या है ? टीकाकार तो सामान्य अर्थ करके चलते बनते हैं। गीता प्रेस की "मानस-शंका-समाधान" पुस्तक पाठकों को गुमराह करनेवाला समाधान प्रस्तुत करती है। यह शब्द तंत्र का है और तांत्रिक शिष्यों को (अघोर और कौल मे) सिखाया जाता है कि पावन अपावन क्या है । अपावन वध्य नही है ।

तांत्रिक पद्धतियों मे कुछ पशुओं के नाम गिनाए गए हैं जो मेध्य हैं। अमेध्य का वध नही किया जाता क्योंकि वह अपावन है । मेध्य को पावन कहते है । मेध्य वध्य है ।

कलिमलकपदीनाना द्विजातीना सुरेश्वरि ।
मेध्यामेध्यविचाराणा न शुद्धि: श्रौतकर्मणा ।।

—महानिर्वाण तंत्र

(हे सुरेश्वरि ! कलि के दोष मे दीन हुए द्विजों को पवित्र (पावन) और अपवित्र (अपावन) का विचार नहीं रहेगा।)

मेध्य मास का शिकार और सरकार किया जाता है । तांत्रिक क्षेत्र मे बिना संस्कार के सुधा भी ग्रहण करना पाप है । संस्कार के मंत्र है । ऐसे ही शोधन किए जानेवाले मास (पशु) को तंत्रशास्त्र मे पावन (मेध्य) कहा जाता है। उन्हीं पावन-अपावन को 'जिय जानी' राम मारते थे, जिसकी शिक्षा उन्हे मिली थी।

यह प्रसग अनजाने खड़ा हो गया कि क्या सानुज राम, विश्वामित्र आदि तांत्रिक थे ? उस समय तंत्र या आगम था ? इन विषयों पर यहाँ चर्चा करना अभीष्ट नही है । हाँ, समाधानहेतु मेरे दो ग्रथ "तांत्रिक श्रीराम" और "तांत्रिकराज श्रीकृष्ण" की प्रतीक्षा करें। यह तो नही कह सकता कि कब तक ये पुस्तके प्रकाशित हो सकेंगी क्योंकि कामायनी का समछदो मे भोजपुरी अनुवाद १९६४ मे ही पूर्ण किया और आज तक वह प्रकाशित नही हो सका तो निर्माणाधीन इन पुस्तकों के बारे मे क्या आश्वासन दूं ?

खैर, अब हमलोग यह समझने की स्थिति मे आ गए है कि गोस्वामी जी के संबध मे बबूल मे पानी डालने की जो किंवदती प्रचलित है उसका आतरिक रहस्य क्या है। इस प्रकार उनका विवाहोपरात जीवनीक्रम इस प्रकार हुआ—

पत्नी की वाणी से मर्माहत होकर तुलसीदास राजापुर से सीधे प्रयाग आए। बचपन से रामभक्ति का सस्कार तो था ही, पत्नी ने भी याद दिला दी। किंतु दर्शन कैसे हो ? सुना पढा तो था ही कि तांत्रिक क्रियाओं से देवप्राप्ति शीघ्र होती है किंतु संस्कार के विपरीत बात आसानी से गले के नीचे नहीं उतरती। इसके लिये आदमी कहीं जिज्ञासा करता है, कहीं विरोध करके जानना चाहता है। इसी ऊहा-

पोह की स्थिति मे काकभुशुडि अभिशप्त हुए थे। विभिन्न सप्रदायों के साधुओ की सगति से मन ऊहापोह की स्थिति मे पडता जाता है। सीधे क्यो न राम को भजा जाय ? इसी स्थिति का वर्णन ऊपर के पद्य "आगम वेद पुरान बखानत···" मे किया गया है। किंतु प्रयाग मे काम नही सधा। काशी के लिये चल पड़े। बीच ही मे विंध्याचल पड़ता है, जो तांत्रिकों की स्थली तो है ही, खासकर नवरात्र (आश्विन-चैत्र) मे देश भर के तांत्रिको का जमाव विंध्याचल देवी और अष्टभुजा के दर्शनार्थ होता है। इसी के पार्श्ववर्ती कस्बा गोपीगज मे अपने मत, शका और जिज्ञासा के साथ तांत्रिको से शास्त्रार्थ मे हार गए। अध आस्था टूट गई। जीवन को नई दृष्टि मिली। अघोरपंथ की दीक्षा ली और काशी पहुँच कर साधना मे लग गए। औघड़ी वेश। दाढी-मूँछे बढ़ गई। किसी धातुपात्र मे खाना वर्जित हो गया। स्नान वन्द। एकमात्र परमेश्वर का भरोसा। कही भी सो लेना। शौच निवृत्ति के बाद बचा लिया गया पानी नियमित रूप से बबूल की जड मे डालने लगे। नित्य रात्रि को श्मशान जाना और लोकदृष्टि मे असंयत सा रहना। कोई व्यंग्य कसता, कोई ठहाका मारता। धूत, अवधूत, जुलाहा या राजपूत की पदवी मिलती। फलतः वह पद उन्हे मनस्तुष्टि हेतु लिखना पड़ा। किसे ज्ञात था कि यह अड़भगी एक दिन युगप्रवर्त्तक होगा।

गत मार्च मे जब मै अखिल भारतीय भोजपुरी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर प्रयाग गया था तो यमुना के घाट पर ऐसे ही एक पगले विद्वान् को देखा। खादी के कुर्त्ता, जाकिट और धोती। हाथ मे बेंत की बकुली। लडको की टोली हुडदंग मचाती हुई उसे तग करती बिना काज दाएँ बाएँ चल रही थी। वह बिना किसी की परवाह किए पागलपन का स्वाग रचते हुए विद्वत्तापूर्ण भाषण, शास्त्रीय उदाहरणो, भाषा की कहावतो तथा मुहावरो का प्रयोग करते हुए, जोरो से चंचलतापूर्वक दे रहा था। देखते ही मुझे गोस्वामी जी की याद आई और उनकी पक्ति 'धूत कहौ—' गुनगुनाने लगा। ४ सदी पूर्व एक ऐसा व्यक्ति अपना अक्खड़पन दिखलाते हुए काशी के घाटो और गलियो मे फिरता था और लोग उसे 'कबी नही कबिड़ा है', फिर उसी को लोग 'कबिरा' कहने लगे जो संतो एवं साहित्य मे कबीर बने।

अस्तु, जब गोस्वामी जी की पूर्णाहुति की रात आई तो श्मशान ने कहा—'वर माँगो।'

साधक ने कहा—मुझे राम का दर्शन करा दीजिए और कुछ नही चाहिए।

श्मशान ने कहा—यह काम मेरी सामर्थ्य के बाहर है। यदि तुम चाहते तो मै शंकर का दर्शन करा देता क्योंकि यह मेरा क्षेत्र है। तुम्हे वैष्णवमार्ग

चाहिए। किंतु मै रास्ता बता दूंगा। जैसे तुमने मेरी जिज्ञासा की वैसे हनुमान् का आश्रय ग्रहण करो। ये वैष्णव हैं। तुम्हारा मनोरथ पूर्ण कर सकते है।

इस प्रकार अपने साधन और सिद्धि के बल पर वे हनुमान् के दर्शन मे समर्थ हुए। हनुमान् की आज्ञा हुई कि तुम चित्रकूट चलो। वही श्रीराम के दर्शन होगे।

उसके बाद गोस्वामी जी चित्रकूट पहुँचे। वहाँ काफी दिनो तक रहे। स्फुट प्रसगो मे इन्होने चित्रकूटप्रवास की चर्चा भी की है। वहाँ के रामदर्शन का प्रसंग प्राय सभी को मालूम है।

इस प्रकार रामदर्शन पाकर वे सिद्ध पुरुष कहलाने लगे। जब दिनो दिन उनकी प्रशस्ति बढने लगी तब लोगो को ध्यान आया कि अरे यह तो वही दाढीवाला पागल है जो वृक्ष मे पैखाने का पानी डाला करता था। ध्यान आकृष्ट होने तक सर्प निकल गया था। केवल केंचुली रह गई थी। तुलसीदास की आरभिक दिनचर्या से समाज को केवल इतना ही मिला कि उन्हे बबूल मे पानी डालने से प्रेत मिला.

शौच जल शेप पाइ भूतहू विशेप कोऊ
बोल्यो सुख मानि हनुमान जू बताये हैं।
—प्रियादास

निदान, हरिहर उनके आराध्य तो हुए किन्तु रूढिगत संस्कार मे पले तुलसी अपने प्रसिद्ध सस्कार से आमूल नही बच सके। फिर भी उनकी इतनी जो दृष्टि साफ हुई इसका एकमात्र कारण अघोरपथ की देन है।

तुलसी की सौंदर्यदिदृक्षा

डा० रेणुका देवी

•

रूप, गुण एवं स्वभाव का संश्लिष्ट रागात्मक बोध सौदर्य है। इसी से समस्त ललित कलाएँ कलाकार के सौदर्यबोध का प्रतिफलन है। पाश्चात्य एवं प्राच्य सौदर्यशास्त्रियो ने सौदर्य के सबंध मे दो दृष्टियो, विषयगत एवं विषयीगत, से विचार किया है। विषयगत धारणा के अनुसार सौदर्य पदार्थ या वस्तु मे ही सन्निहित है। कोई भी वस्तु किसी को इसलिये अच्छी लगती है क्योकि वह स्वय सुंदर है। विषयीगत सौदर्यचेतना मे वस्तु की अपेक्षा व्यक्ति-विशेष मे ही सौदर्य सन्निहित है। इस चेतना के सदर्भ मे कोई भी वस्तु किसी को इसलिये सुदर लगती है क्योकि व्यक्ति उसमे अपनी ही सुदर भावना को आरोपित करता है।

काव्यात्मक सौदर्य भावगत एवं रूपगत है। अत. तुलसीदास की सौदर्य सर्जना का विवेचन इसके परिप्रेक्ष्य मे करना अधिक समीचीन होगा। भावगत सौदर्यचेतना मे कवि का मुख्य उद्देश्य रूप की रेखाओ को अधिक न उभाड कर उसमे अंतर्निहित भावो को ही उजागर करना है। भाव रूप के माध्यम से व्यक्त होते है पर भावगत सवेगात्मक तीव्रता की व्यजना मे चित्र की रेखाओ का उभार गौण होता है। भावगत सौदर्यचेतना का मूलतत्व सवेगात्मक तीव्रता की व्यजना है। रामचरितमानस मे तुलसीदास ने भावगत सौदर्याभिव्यक्ति के लिये अनेक मर्मस्पर्शी स्थलो, सीता स्वयवर, राम वनगमन, चित्रकूट का भरत-मिलाप, राम का सीता और लक्ष्मण के विछोह मे प्रलाप एव राम-वनगमन-प्रसग मे ग्रामीण वधुओ की व्यजनात्मक शक्तियो का चयन किया है। भावगत सौदर्य की उक्त अवधारणा की व्याख्या के लिये एक उदाहरण आवश्यक है--

हृदय न बिदरेउ पंक जिमि, बिछुरत प्रीतम नीर ॥

सुमंत्र राम के वियोग मे दुखी है। राम के वियोग मे हृदय के न फटने का उन्हें पश्चात्ताप है। प्रिय के वियोग मे हृदय के विदीर्ण होने की तीव्रानुभूति को तुलसीदास ने पंकिल भूमि के सूखने पर उसमे पड़ी दरार के वैषम्यबोध

द्वारा व्यक्त किया है । पंकिल भूमि मे जल और मिट्टी के संमिश्रण से पूरी भूमि रसमयी बनी रहती है परंतु जल के सूखने पर उसमे दरारें पड जाती है । पर उसके विपरीत राम से वियुक्त होकर सुमत्र का हृदय नही फटता । परिणामत. उनका हृदय पश्चात्ताप से बोझिल होता जा रहा है । वस्तुगत सत्य की प्रत्यक्षानुभूति पर आधृत बिंब के माध्यम से सुमंत्र के पश्चात्तापजन्य हृदय की अभिव्यक्ति सजीव है। उक्त चौपाई मे, एक प्रिय के विरह मे विदीर्ण है तो दूसरा न विदीर्ण होने की आत्मग्लानि से पीडित । इसी सदर्भ मे एक और प्रसंग मे द्रष्टव्य है :—

'कह रघुपति सुनु भामिनी बाता । मानहुँ एक भगति कर नाता ।'

इस उद्धरण का 'मानहुँ एक भगति कर नाता', भावगत सौंदर्य के लिये विचारणीय है । भक्त के लिये भगवान् अपनी ऐश्वर्य एवं विभूति का परित्याग करके "जडमति अधम जाति नारि" शबरी के घर जाते है । अनुरागजनित सात्विक हृदय से आत्मविसर्जन एव माधुर्यभाव से देवोपासना देव को उपासक के संमुख प्रस्तुत करने मे सबल है । "मानहुँ एक भगति कर नाता" शब्द द्वारा तुलसीदास ने भाव के इसी मर्मस्थलीय सौदर्य का सकेत किया है।

व्यक्ति के हृदय में उठनेवाले विभिन्न सवेगों की तीव्रतर अभिव्यक्ति के लिये तुलसीदास ने जिस व्यंजनापद्धति को अपनाया है वह अपने प्रसंगगर्भत्व एवं सूक्ष्म निरीक्षण के लिये महत्वपूर्ण है । इस कथन की व्याख्या एक उदाहरण द्वारा अपेक्षित है :—

हमहि देखि मृगनिकर पराही । मृगी कहहि तुम्ह कहँ भय नाही ॥
तुम आनद करहु मृग जाए । कंचन मृग खोजन ये आए ॥

सीता को खोकर राम उन्हे वन में खोज रहे हैं, पर राम को देखकर मृगया के भय से मृग भाग रहे है । इस पर मृगी धैर्य देती हुई उन्हें न भागने का आदेश देती है । पूरी पक्ति की व्यजना अत्यंत मार्मिक है। सुवर्णहरिण के चक्कर मे सीता को खोकर व्यथित मन से वन-वन घूमनेवाले राम को देखकर मृगी का मृग को न भागने की व्यगपूर्ण उक्ति परिस्थिति की गंभीरता को और तीव्र कर देती है ।

श्रमभाव की सौदर्यव्यंजना के लिये तुलसीदास ने सीता को राम लक्ष्मण के साथ वन में जाने का जो दृश्य उपस्थित किया है उसके द्वारा अभिप्रेत भाव को सम्यक् रूप मे व्यक्त किया है —

पुर ते निकसी रघुबीर-वधू, धरि धीर दए मग मे डग द्वै ।
झलकी भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गए मधुराधर वै ।

फिरि वूझति है चलनो अब केतिक, पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै ।
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चली जल च्वै ॥

वन के कटकाकीर्ण मार्ग से राम-लक्ष्मण-सीता जा रहे है। श्रम के आधिक्य से कोमलागी सीता थक गई है। उसकी व्यंजना तुलसीदास ने ललाट पर श्रम की बूँदो एव सूखे अधरो से की है। इस प्रकार आगिक परिवर्तनो के माध्यम से श्रम-कातरा सीता एव उनकी आतुरता का रम्य चित्र अकित होता है। तुलसीदास की कल्पना मात्र श्रमकातरा का चित्र ही अकित नही करती अपितु "चलिबो अब केतिक" द्वारा उनके हृदय की आतुरता को भी व्यजित करती है। पर प्रिया के दुख से कातर राम की पीड़ा की भावमयी व्यजना के लिये तुलसीदास ने उनके नेत्रो से अश्रु की बूँदो के छलकने की जो अभिव्यक्ति की है, वह महत्वपूर्ण है।

मर्यादा एवं शील की दृष्टि से सपूर्ण 'रामचरितमानस' एक महत्वपूर्ण महाकाव्य है। इस कथन की व्याख्या अपेक्षित है :–

सकुचि सप्रेम बाल मृगनयनी। बोली मधुर वचन पिकवयनी ॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नाम लखनु लघु देवर मोरे ॥
बहुरि बदनु बिधु अचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौह करि बाँकी ॥
खजन मजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सयननि ॥

ग्रामवधुओ के पूछने पर सीता लक्ष्मण को अपना देवर कहती है। पर ग्रामवधुएँ साथ के दूसरे दिव्य पुरुष का भी परिचय चाहती है। तब स ता भारतीय कुलवधू की मर्यादा और शील के अनुरूप विना कुछ कहे तिरछे नयनो से राम को सकेतित करती है। ग्रामवधुएँ चतुर है, वे उनके नयनो की रसमयी भाषा से यह समझ जाती है कि दूसरा दिव्य पुरुष सीता का पति है। उस पूरे चित्र मे तुलसी ने भावसौंदर्य की योजना अनुभावो के माध्यम से की है। इस अनुशीलन से स्पष्ट है कि तुलसीदास ने मार्मिक स्थलो एव विभिन्न पात्रो के रूप, गुण, शील की विभिन्नता द्वारा भावगत सौंदर्यचेतना के विविध आयामो को किस प्रकार व्यजित किया है।

तुलसीदास की कल्पना से निर्मित वस्तुगत सौंदर्य के रूपचित्र वैष्णव भावप्रधान हैं। वैष्णव रूपचेतना मे रूप का मादक पक्ष न उद्भासित होकर उसका शामक रूप ही विभावित होता है। तुलसीदास की वस्तुगत सौंदर्यचेतना मे रूप की रेखाओं के उभार से आगिक सौदर्य के जिस रस रूप की व्यंजना है वह पाठक को लोकोत्तर आनद की अनुभूति कराने मे सक्षम है। इस सदर्भ मे अगो की दीप्ति एवं उनके तरल सौंदर्य की अभिव्यक्ति से पूर्ण एक चित्र द्रष्टव्य है–

बरदंत की पंगति कुंदकली, अधराधर पल्लव खोलन की ।
चपला चमकै घन बीच जगै छबि मोतिन माल अमोलन की ॥
घुँघरारी लटै लटकै मुख ऊपर, कुंडल लोल कपोलन की ।
निवछावरि प्रान करै तुलसी, बलि जाउँ लला इन बोलन की ६ ॥

इस रूप चित्र मे स्थिर और गत्वर सौंदर्य की एक साथ व्यंजना है। यहाँ शिशु राम के दाँत, पलक और कुंडल की शोभा का वर्णन है । शुभ्र धवल-कुंदकली की भाँति दोनो अधरो के मध्य बालक राम के दाँत शोभित हो रहे है । यह सौंदर्य का स्थिर रूप है, परंतु दाँतो से निकलनेवाली आभा का घन के मध्य बिजली की चमक से उपमित होना स्थिर सौंदर्य की गत्वर अभिव्यक्ति है । आगे का रूपचित्र और भी गतिशील है । सौंदर्य की गतिमयता को सुंदर कपोलो पर हिलते हुए कुंडल और कमल मुख पर कल्लोल करती हुई घुँघरारी लटें और तीव्र कर देती है । समग्रतः तुलसीदास की रूपगत सौंदर्यचेतना मे अंगज छवि की स्थिर कमनीयता की गत्वर व्यंजना है ।

अब रूपसौंदर्य का एक रेखाचित्र देख लेना आवश्यक है.—

पीत पुनीत मनोहर धोती । हरति बालरवि दामिनि जोती ॥
कल किंकिनि कटिसूत्र मनोहर । बाहु बिसाल बिभूषन सुंदर ॥
पीत जनेउ महाछबि देई । करमुद्रिका चोरि चितु लेई ॥
पिअर उपरना काखा सोती । दुहुँ आचरन्हि लगे मनि मोती ।
नयन कमल कल कुंडल काना । बदन सकल सौंदर्ज निधाना ॥
सुंदर भृकुटि मनोहर नासा । भाल तिलक, रुचिरता निवासा ॥७॥

पहले उद्धरण मे बालक राम का सौंदर्य अंगो तक ही सीमित न रहकर चारो तरफ विच्छुरित भी हो रहा है । पर इस रूपचित्र मे केवल रूप की रेखा आगे को उभाड़ते हुए, राम के सौंदर्य का एक रेखाचित्र ही प्रस्तुत किया है । यह राम के अंगज सौंदर्य को स्थूल रूप मे उभाडते हुए वस्तुगत सौंदर्य को रेखांकित करने मे पूर्ण समर्थ है ।

रूपगत सौंदर्यनिरूपण मे तुलसीदास ने राम एवं सीता के लौकिक और अलौकिक दोनो रूपो का वर्णन किया है। 'रामचरितमानस' का पुष्पवाटिका प्रसंग, सामान्यतया लौकिक धरातल पर ही निरूपित प्रतीत होता है। पर तुलसीदास ने यहाँ सीता के जिस ज्योति स्वरूप का वर्णन किया है वह सौंदर्य के उस अप्रतिम प्रभामंडल को भी द्योतित करता है जिसके आलोकवलय मे परमब्रह्म राम का मन भी बँध जाता है । यह ब्रह्म की अपनी ही शक्ति के चिद्विलास के सौंदर्य की रूपमयी व्यंजना है.—

पूजन गौरि सखी लै आई । करत प्रकास फिरति फुलवाई ।।
जासु विलोकि अलौकिक सोभा । सहज पुनीत मोर मन छोभा ।।८।।

उक्त चौपाई मे 'करत प्रकास', 'अलौकिक सोभा' सीता के उस ज्योति-स्वरूप को व्यक्त करता है जिसके प्रकाशपुंज से उनका पार्थिव शरीर अलौकिक शोभा से विभूषित है । सौंदर्यप्रेमी राम का मन सहज ही सीता के इस रूप पर आकृष्ट है । सीता के रूपगत सौंदर्य के लिये तुलसीदास ने जिस 'दीपशिखा' का प्रयोग किया है वह भी अपने मे एक सौंदर्यबिंब को पूर्णरूप से प्रतिभासित करता है.—

सुंदरता कहँ सुंदर करई । छबिगृह दीपसिखा जनु बरई ।९।

यहाँ सीता के निर्दोष सौंदर्य की व्यंजना के लिये 'दीपशिखा' का बिंब प्रयुक्त है । सीता का सौंदर्य छविगृह मे दीपशिखा की भाँति उजागर हो रहा है । आशय है, 'छविगृह' और 'दीपशिखा' के सम्मिलित सौंदर्य ने सीता की आंगिक छवि का और प्रतिभासित कर दिया है ।

सौंदर्य के उभय पक्षो, शिव और अशिव के वर्णन से तुलसीदास ने अपनी सौंदर्यदिदृक्षा की व्यापक शक्ति का परिचय दिया है । उन्होने शिव के अशिव रूप-वर्णन से सौंदर्य के एक पक्ष की दिव्यतम अभिव्यक्ति की है——

सिवहि संभुगन करहिं सिंगारा । जटा मुकुट अहि मौरु सँवारा ।।
कुंडल कंकन पहिरे व्याला । तन विभूति पट केहरि छाला ।।
ससि ललाट सुंदर सिर गंगा । नयन तीनि उपवीत भुजंगा ।।
गरल कंठ उर नर सिर माला । असिव भेष सिवधाम कृपाला ।।

शिव का यही अशिव रूप पार्वती के साहचर्य से शिवत्व मे परिणत हो जाता है—

कुंद इंदु दर गौर सरीरा । भुज प्रलंब परिधन मुनि चीरा ।।
तरुन अरुन अंबुज सम चरना । नखदुति भगतहृदय तम हरना ।।११।।

शिव के दोनो रूप शिव, अशिव का समान रूप से चित्रण तुलसीदास की सौंदर्यनिरूपिणी शक्ति की व्यापकता का परिचायक है ।

सौंदर्यचित्रण मे तुलसीदास ने अपनी मूर्तिविधायिनी कल्पना द्वारा सौंदर्य के विराट् और उदात्त रूप का चित्रण किया है । सौंदर्य मे उदात्त तत्व के लिये प्रमुखतया अद्भुत और विराट् तत्व की नियोजना की जाती है——

लीन्हो उखारि पहार विसाल चल्यो तेहि काल विलंब न लायो ।
मारुतनंदन मारुत को, मन को खगराज को वेग लजायो ।

तीखि तुरा कहतो तुलसी पै हिये उपमा को समाउ न आयो।
मानो प्रतच्छ परब्बत की नभ लीक लसी कपि यो धुकि धायो॥

आकाशमार्ग से पहाड़ को लिए हनूमान् अपूर्व वेग से जा रहे है। पर्वत की विशालता एवं गति की द्रुतता को निरूपित करते हुए जिस अद्भुत रस की योजना की गई है उससे सौदर्य के उदात्त तत्व की व्यजना होती है। गति की तीव्रता का सकेत उन्होने "नभ लीक लसी" शब्दो द्वारा किया है। कहने का आशय है कि जब किसी भी वस्तु को अत्यत तीव्ररूप से गतिशील किया जाता है तो उसे वस्तु प्रत्यक्ष भान न होकर उसकी एक रेखा सी खिँचती दिखाई पडती है। हनूमान् द्वारा विशाल पर्वत को हाथ मे उठाए आकाश मार्ग से तीव्रगति से जाने के कारण उसमे एक लकीर सी खिँच गई है। हनुमान् का विराट् रूप, पर्वत की विशालता एव गति की तीव्रता की सम्मिश्रित सवेदना से उत्पन्न आश्चर्यमूलक सवेग व्यक्ति के विवेक को स्तभित कर देता है। सोदर्य मे इस प्रकार के अद्भुत तत्व की योजना उसके दिव्य रूप को रूपायित करती है--

उदर माझ सुनु अंडजराया। देखेउँ बहु ब्रह्माड निकाया॥
अतिविचित्र तहँ लोक अनेका। रचना अधिक एक ते एका।
कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा। अगनित उडगन रवि रजनीसा॥
अगनित लोकपाल जम काला। अगनित भूधर भूमि बिसाला॥
सागर सरि सर बिपिन अपारा। नाना भाँति सृष्टि बिस्तारा॥१३

उक्त उद्धरण मे तुलसीदास ने अपनी मूर्तिविधायिनी कल्पना द्वारा विराट् सौदर्य का चित्र उकेरा है। राम के उदर मे अनेक ब्रह्माडो की स्थिति, कोटि चतुरानन और गौरीश, अनेक लोक और अगणित सूर्य-चद्र की कल्पना सौदर्य के विराट् बिंब को रूपायित करती है।

रूप के माध्यम से अरूप की कल्पना तुलसी के रूपचित्र के फलक को विस्तृत कर देती है। इस प्रकार की कल्पना का उन्मेष अधिकाशत सत-भक्त-कवियो मे पाया जाता है। इनकी रूपचेतना मदमोह से ऊपर शुद्ध सात्विक चेतना का परिणाम है। तुलसीदास की चेतना की सौदर्यसर्जना इसी शुद्ध हृदय के सत्त्वोद्रेक का प्रतिफलन है। इससे द्रष्टा को अपूर्व शाति मिलती है। तुलसीदास का सौदर्य चित्तशामक एव वृत्तियो का शोधक है। उनकी सौदर्यचेतना एक साधक सत भक्त की है। उसमे अगो के उभार, शोभा, श्री एव दीप्ति का प्रस्फुटन है। पर उसमे सर्वत्र एक भक्त हृदय की सात्विकता भी है। समग्रत इनका वस्तुगत सौदर्य उदात्त है, जिससे मनोवृत्तियो का भी उदात्तीकरण होता है। तुलसीदास के सौदर्यबोध मे एक ही सवेदना-भाव एव रूप के दो कगारो के मध्य से प्रवाहित होकर उनकी सौदर्यदिदृक्षा को सम्यक् रूप मे व्यंजित करती है।

❀

विनयपत्रिका की एक हस्तलिखित प्रति

श्री अर्जुनदास केसरी

आज की तरह पहले मुद्रणालय नही थे। मोटे से मोटे ग्रंथ हाथ से ही लिखे जाते थे। आज भी ग्रामीण अंचलो मे पुस्तको की हस्तलिखित प्रतियाँ भरी पडी है। आज जो ग्रथ हमे प्राप्त होते है, उनमे पाठातरसवधी अनेक विकृतियाँ देखने मे आती हैं। संयोग से 'विनय पत्रिका' की एक पुरानी हस्तलिखित प्रति मुझे प्राप्त हो गई। यह प्रति मेरे ही घर पचास वर्ष से पडी थी। पिता जी ने कपड़े मे बाँधकर इसे सुरक्षित रख दिया था। एक दिन कोई सामान खोजते यह प्रति मुझे प्राप्त हो गई। पूछने पर पिता जी ने वताया कि 'यह प्रति लगभग पचास वर्ष पूर्व भवानीगाँव, विजयगढ़, मीरजापुर के एक पडित, जिनका नाम मुसई था, से प्राप्त हुई थी। पंडित जी नित्यप्रति इसका पाठ करते थे और बहुत से पद उन्हे कठस्थ हो गए थे। जब वे इन पदो को गाने लगते तो अपनी सुधबुध खोकर भक्ति-भाव-धारा मे गोते लगाने लगते थे। उनके मरने के बाद यह प्रति मुझे प्राप्त हुई थी।'

यह प्रति पूर्ण नही है। डबल-डिमाई आकार में यह लिखी गई है। कागज मोटा है। अक्षर भी मोटे किंतु खुशखत है। हर पृष्ठ पर 'विनयपत्रिका' तथा पृष्ठ-सख्या अकित है। हर पृष्ठ पर लिखी सामग्री को एक मोटी और एक पतली, दो रेखाओं से घेरकर कलात्मक बना दिया गया है। विरामचिह्नो का कही भी प्रयोग नही किया गया है। पाँच या सात पक्तियो के बाद एक पक्ति पर रोली लगाई गई है।

प्रारंभ के चौदह पृष्ठ फट गए है। पन्द्रह से तीस पृष्ठ, पद सख्या ३२ से ५९ तक है। पृष्ठ स० ३१ से ५८ तक, पद स० ५९ के अर्द्धाश से १३५ तक गायब है। फिर पृष्ठसख्या ५९ से ७६ तक बच गए है, जिनमे पद सख्या १७७ तक आ गए है। फिर चार पृष्ठ गायब है। फिर पृष्ठसख्या ८१ की पद सख्या १७९ से पृष्ठसख्या ८८ की पदसख्या २०९ तक वच गए है। इसके बाद के पृष्ठ फिर नष्ट हो गए है। गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित प्रति मे कुल पदो की सख्या २७९ है। इससे स्पष्ट है कि अत के भी लगभग ७० पद फटकर नष्ट हो गए है।

जितने पृष्ठ और पद इस हस्तलिखित प्रति मे अवशिष्ट है, उनके आधार पर अन्य प्रकाशित प्रतियो से तुलना करने पर निम्नलिखित तथ्य सामने आते है :

(१) इसमें हर अक्षर अलग अलग है, जबकि प्रकाशित प्रतियो मे हर शब्द अलग अलग है ।

(२) इसमे 'व' को भी 'व' ही लिखा गया है, जबकि प्रकाशित प्रतियो मे 'व' को भी 'व' लिखा गया है।

(३) इसमे पद के साथ अधिकतर राग का भी नाम लिख दिया गया है। प्रकाशित प्रतियो मे ऐसा नही है।

(४) इसे दत्य, मूर्द्धन्य तथा तालव्य वर्णो का अलग अलग प्रयोग किया गया है, जबकि प्रकाशित प्रतियो मे प्राय 'श' 'ष' 'स' तीनो के लिये केवल 'स' का ही प्रयोग किया गया है ।

(५) इस प्रति मे हर पद को सीधे-सीधे गद्य शैली मे लिख दिया गया है। प्रकाशित प्रतियो मे उसे छंद की रचना शैली के अनुसार लिखा गया है ।

इस पाठभेद को और स्पष्ट करने के लिये पद सं० ३४ को ध्यान मे रखकर कुछ शब्दो की सूची नीचे दी जा रही है --

प्रकाशित प्रतियो मे	।	इस हस्तलिखित प्रति मे
विलगु	।	विलग
वोलहि	।	वोलहि
विचारी	।	विचारी
वरषे	।	वर्षे
अनवरषेहूँ	।	अनवर्षेहू
सो	।	सो
आये	।	आए
साँसति	।	सासति
कीवी छमा	।	कीवो क्षमा
ओर	।	वोर
समय	।	समै
करै	।	कर

कही कही तो पद भी वदल गए है। प्रकाशित प्रतियो मे कुछ शब्द छूट गए है, अथवा उनके स्थान पर दूसरे शब्द रख दिए गए है जिसके कारण भावो मे परिवर्तन हो गया है। जैसे.--

देहि दैवहि गारी	।	देवहि गारी
ऊवर	।	वेकार

साहेबहि सुधारी । साहिबहि सुधारी

इस पाठातर को एक पद के उदाहरण द्वारा और स्पष्ट किया जा सकता है। तुलसी का बहुत प्रसिद्ध पद है "मै हरि पतितपावन सुने" इसे प्रकाशित प्रतियो मे इस प्रकार लिखा गया है--

मैं हरि पतितपावन सुने।
मैं पतित तुम पतितपावन दोउ बानक बने ॥ १ ॥
व्याध गनिका गज अजामिल साखि निगमनि भने।
और अधम अनेक तारे जात कापै गने ॥ २ ॥
जानि नाम अजानि लीन्हे नरक सुरपुर मने।
दास तुलसी सरन आयो, राखिये आपने ॥ ३ ॥

--गीताप्रेस, पद १६० पृ० २६४

इस पद को इस प्रति मे इस प्रकार लिखा गया है:--

'मैं हरि पतित पावन सुने, हम पतित तुम पतित पावन दोउ बानक बने व्याध गणिका गज अजामिल साखि निगमनि भने और अधम अनेक तारे जात कापै गने जानि नाम अजानि लीन्हे नरक जमपुर मंने दास तुलसी शरण आयो राखिए आपने ॥"

इस पद मे प्रयुक्त 'जमपुर' को अनेक प्रकाशित प्रतियो मे 'सुरपुर' लिखा गया है।

महात्मा तुलसी संस्कृत के भी ज्ञाता थे। उन्होने संस्कृत के श्लोको की रचना की है। सस्कृतनिष्ठ शब्दावली का प्रयोग उनकी रचनाओ मे सर्वत्र देखा जा सकता है। वे तुलसी 'क्ष' को भी 'छ' और 'श' को भी 'स' कैसे लिख सकते थे। किंतु देखने मे आता है कि उनकी हर प्रकाशित रचना मे 'श' को भी 'स' और 'क्ष' को भी 'छ' लिख दिया गया है। इसमे ग्रथ के सपादको का दोष है। हस्तलिखित प्रति मे लिखित तुलसी का एक सस्कृत निष्ठ पद देखिए--

राग गौ० श्रीरामचन्द्र कृपाल भजु मन हरण भव भयदारुण।
नव कज लोचन कंज मुख कर कज पद कजारुणं ॥
कदर्प्प अगणित अमित छवि नव नील नीरज सुदरं।
पट पीत मानहु तडित रुचि शुचि नौमि जनकसुतावर ॥
भजु दीनबधु दिनेश दानव दैत्य वश निकदनं।
रघुनद आनँदकंद कौशलचंद्र दशरथनंदन ॥

सिर मुकुट कुंडल तिलक चारु उदार ग्रंग विभूपणं।
ग्राजानु भुज शर चाप धर संग्राम जित खरदूपणं॥
इति वदति तुलसीदास शकर शेप मुनि मन रंजनं।
मम हृदय कज निवास करि कामादि खल दल गजनं॥४५॥

इस पद को प्रकाशित प्रति मे इस प्रकार लिखा गया है—

श्री रामचद कृपालु भजु मन हरण भवभय दारुण।
नवकज लोचन कंज मुख, कर-कज, पद कंजारुण॥ १॥

कदर्प ग्रगणित ग्रमित छवि, नवनील नीरद सुन्दरं।
पटपीत मानहुं तड़ित रुचि शुचि नौमि जनक सुतावरं॥ २॥

भजु दीनबधु दिनेश दानव दैत्यवंश निकंदनं।
रघुनद ग्रानँद कंद कोसलचंद दशरथनंदनं॥ ३॥

सिरमुकुट कुंडल तिलक चारु उदार ग्रंग विभूपण।
ग्राजानु भुज शर चाप धर संग्राम-जित खरदूपण॥ ४॥

इति वदति तुलसीदास शंकर शेप मुनि मन रंजनं।
मम हृदय कज निवास कुरु, कामादि खल दल गजनं॥ ५॥

—गीता प्रेस, पद ४५

प्रकाशित प्रति मे 'कृपाल' को 'कृपालु' 'कदर्प' को कंदर्प, तडित को तड़ित, 'वदत' को 'वदति' तथा इसी के ग्रनुकरण पर 'करि' को 'कुरु' लिख दिया गया है, जो सर्वथा भ्रम पैदा करनेवाला हो गया है।

इस प्रकार हम देखते है कि तुलसी साहित्य में पिछले चार सौ वर्षों के बीच पर्याप्त पाठातर हो गया है। उनके ग्रनेक पद विकृत हो चुके हैं, जिससे काव्य की काव्यात्मकता एवं मौलिकता भी नष्ट हो चुकी है। मानस चतु शती के ग्रवसर पर सपूर्ण तुलसी साहित्य का संपादन पुरानी हस्तलिखित प्रतियो को ध्यान मे रखकर करने की ग्रावश्यकता है।

❀

रूपक और तुलसी

श्री मणिशकर आचार्य

रूपक का प्रयोग अत्यंत प्राचीन है। विद्वानो का अनुमान है कि आदिम काल मे भी जब व्यक्ति के भाव उलझे हुए और अनुभूतियाँ मिश्रित थी, रूपक ही अभिव्यक्ति का साधन स्वीकृत हुआ था। अतएव रूपक अभिव्यक्ति का प्राचीनतम साधन प्रतीत होता है। इतना ही नही, यह विचाराभिव्यक्ति का श्रेष्ठ माध्यम भी है। कवि के गूढ गभीर विचारो की अभिव्यंजना मे रूपक जितना सहायक होता है उतना अन्य कोई अलकार नही।

भारतीय साहित्य में रूपक का व्यापक प्रयोग मिलता है। वेदो और उपनिषदो मे रूपक के उदाहरण मिलते है। उपनिषदो का तो रूपक मानो प्राण ही है। कठोपनिषद् का रथरूपक प्रसिद्ध है। दार्शनिको और धर्मशास्त्रियो की भाषा सदैव रूपकात्मक होती है। साधारण बोलचाल मे भी प्राय: रूपक का प्रयोग किया जाता है। लौकिक साहित्य मे रूपको की बाढ़ है। बोल्टन के मतानुसार गँवारू भाषा भी रूपको से पूर्ण होती है। यहाँ तक कि अनजाने मे भी हम इसका प्रयोग करते चले जाते है। डॉ० फ्रूड का तो मत ही यही है कि आत्मा की भाषा रूपको मे ही प्रकट होती है।[1] तात्पर्य यह है कि सामान्य बोलचाल से लेकर उच्च कोटि के साहित्य तक रूपक का व्यापक प्रयोग होता है।

रूपक सौंदर्यबोध का अलकार है इसलिये वह कवियो का अत्यंत प्रिय अलंकार रहा है और काव्य मे उसका व्यापक प्रयोग किया गया है। कवि की उमड़ती हुई भावधारा सहज ही रूपक मे आश्रय पा जाती है। इसके अतिरिक्त रूपक प्रयोग का एक अन्य कारण भी है। कवि कम से कम शब्दो मे अपनी बात कहना चाहता है और इसके लिये रूपक उसकी जितनी सहायता करता है, उतना अन्य कोई अलकार नही। अत: काव्यशास्त्रियो ने भी अलकारों मे रूपक को शीर्ष स्थान प्रदान किया है। भामह, उद्‌भट आदि आचार्यो ने उपमा के पूर्व रूपक का निरूपण किया है। भारतीय आचार्यों ने उसे केवल काव्य का बहिरग तत्व ही नही माना है, वरन् उसका अंतरग तत्व भी माना है। आनंदवर्धन ने रसाभिव्यक्ति मे सहायक होने पर

१—डॉ० रामकुमार वर्मा : कबीर का रहस्यवाद, पृ० २९

रूपक की वहिरगता नही मानी है। वहिरगता तो प्रयत्नसाध्य यमकादि मे होती है। महिमभट्ट ने तो स्पष्ट ही कहा है कि सादृश्यमूलक अलंकारो मे रूपकादि अधिक अच्छे है, उपमा इतनी अच्छी नही।[१] डॉ० वी० राघवन् ने भी बिल्कुल ठीक कहा है कि सामान्य भाव स्थिति मे उपमा का प्रयोग किया जाता है किंतु भावोत्तेजन की स्थिति मे तो मस्तिष्क स्वत ही रूपक की ओर उड़ान भरता है।[२] यही कारण है कि आज जबकि अलकारो का युग बीत गया है, रूपक का प्रयोग किया जा रहा है. आजकल कविता मे बिंबविधान का बडा महत्व है और प्राय बिंब रूपकात्मक होते है। तात्पर्य यह है कि रूपक कवि की कवित्वशक्ति का परिचायक है। वह काव्य मे शक्ति और सौंदर्य का विधायक तत्व है। वह शैली को स्पष्टता, सजीवता, भव्यता और गरिमा प्रदान करता है।

पाश्चात्य साहित्य मे भी रूपक (metaphor) का अत्यत महत्त्व है। वहाँ 'मेटाफर' लक्षण का भी काम चलाता है, इसलिये उसका क्षेत्र अपेक्षाकृत व्यापक है। वहाँ भी रूपक को उपमा की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली माना गया है।[३] अरस्तू से लेकर आधुनिक विचारको—आई० ए० रिचर्ड्स, जे० एम० मरे, सी० डी० लुइस, जार्ज वेली, हर्बर्ट रीड आदि मनीषियो ने 'मेटाफर' पर अपने महत्त्वपूर्ण एवं नवीन विचार व्यक्त किए है, पाश्चात्य साहित्य मे रूपक कविता की सजावट का केवल बाह्य तत्व ही नही है, वह भाषा की रचनाशक्ति के साथ जुड़ा है। विद्वानो के एक वर्ग ने तो उसे केवल अलकार न मानकर काव्य ही माना है।[४] अरस्तू ने रूपक का विस्तृत विवेचन किया है और शैली के सौंदर्य-विधान में उसका महत्तम योग स्वीकार किया है। रूपक पर अधिकार सर्जक की प्रतिभा का द्योतक है। उसकी निम्न पक्तियो का महत्व आज भी कम नही है--

"The greatest thing by far is to have a command of Metaphor. This olene cannot be imparted by another, it is the mark of genius, for to make good metaphors implies an eye for resemblance" -Poetics

१–महिमभट्ट : व्यक्तिविवेक, २।३७

२–Dr. V Raghvan : some Concepts of the Alankara Sastra, p. 73

३—"In many respects stronger then the simile is the Metaphor"
L. J Zillman
The Art and craft of Poetry, p 112

४—"It is not the ornament of poetry, but is poetry"
—C. S. Kilby : Poetry and Life," p. 249

हिंदी साहित्य के आदिकाल से ही काव्य मे रूपक का प्रयोग मिलता है किंतु भक्तिकाल मे उसकी प्रचुरता है, क्योंकि रूपक अभेदमूलक अलकार है और भक्त कवियो की परमात्मा के साथ अभेदता की स्थिति के निरूपण के लिये भला इससे अच्छी और कौन सी विधा हो सकती थी? अतएव भक्तिकाव्य रूपक का अक्षय कोष है। भक्तिकालीन कवियो मे कबीर, जायसी, सुदरदास, सूरदास, तुलसीदास, आदि ने रूपक का व्यापक प्रयोग किया है। इनमे भी तुलसीदास का अपना वैशिष्ट्य है। इन्होने रूपक पर अपना जैसा अधिकार दिखाया है वैसा अन्य किसी भक्तिकालीन कवि ने नही। यद्यपि तुलसी ने उपमा और उत्प्रेक्षा का भी व्यापक प्रयोग किया है, किंतु बहुलता रूपक की ही है। उनके साहित्य मे अन्य अलकारो की अपेक्षा रूपक का ही सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। इससे उनकी रूपकप्रियता भी प्रमाणित होती है। अन्य अलंकारो पर रूपक का प्रभुत्व दिखाई पडता है। इसलिये तुलसी की अलकृति को गौरव प्रदान करने मे रूपक का जितना हाथ है, उतना अन्य किसी अलंकार का नही।

तुलसी ने रूपक के प्रमुख प्रकारो निरग, साग व परपरित का प्रचुर प्रयोग किया है। रामचरितमानस मे तो निरग रूपक का प्रयोग पग-पग पर मिलता है। यहाँ जानकी मगल से एक उदाहरण देखिए——

"नृप रानी पुर लोग रामतन चितवहि।
मजु मनोरथ-कलस भरहि अरु रितवहि॥"

इस छद मे मनोरथ (उपमेय) मे कलश (उपमान) का अभेद आरोप होने से निरंग रूपक है। जनकसभा मे राजा, रानी और सभी पुरवासी राम की ओर देख रहे है। ये बार-बार अपने मनोहर मनोरथ रूपी कलश भरते है और उन्हे खाली करते है। अर्थात् सभी लोग आशा और निराशा के झूले मे झूल रहे है। उनके इस अन्तर्द्वद्व को व्यक्त करने मे इस रूपक की योजना सफल बन पडी है। उनकी डाँवाडोल मनः-स्थिति की हृदयस्पर्शी और सजीव व्यंजना के साथ ही यहाँ रूपक की कमनीयता मन को मुग्ध कर देती है। साधर्म्य का सौदर्य भी देखते ही बनता है।

तुलसी के साहित्य में सागरूपको का भी उत्कृष्ट विधान हुआ है। सुंदर सागरूपकों की योजना तुलसीसाहित्य की एक विशेषता है। इनकी नियोजना से हमें कवि की अनुपम कवित्वशक्ति का अद्भुत परिचय मिलता है। निरग रूपक मे तो सादृश्य, साधर्म्य और प्रभाव तीनो का ध्यान रह सकता है किंतु लबे-लबे सांग-रूपको के विधान में तीनो तो क्या, एक का भी निर्वाह होना टेढी खीर है। इनके सांगोपाग निर्वहण मे बडे-बड़े महारथी भी फिसल गए है किंतु तुलसी को इनके निर्वाह में पूर्ण सफलता मिली है। उनकी अलकारविधायिनी प्रतिभा का उत्कर्ष यदि हमें देखना हो तो सागरूपको के विधान मे ही देखना चाहिए। भावो की उमड़ती हुई घटाओ मे रूपको का इंद्रधनुषी रंग भरा गया है।

तुलसी के काव्य मे गूढ गभीर भावो की व्यजना अधिकतर सागरूपकों के माध्यम से ही हुई है। कही तो ये रूपक पूर्ण कवित्वमपन्न है और कही बौद्धिक व्यापारो से कुछ विचार बोझिल भी हो गए है। जटिलता इनमे वही आई है जहाँ तुलसी को किसी सिद्धात के प्रतिपादन या दार्शनिक विचारो की अभिव्यक्ति अभिप्रेत रही है। रामचरितमानस और विनयपत्रिका मे सागरूपकों की उत्कृष्ट योजना दिखाई पडती है। एक उदाहरण देखिए :

"भुवन चारि दस भूधर भारी। सुकृत मेघ बरषहि सुख बारी॥
रिधि सिधि सपति नदी सुहाई। उमगि अवध अबुधि कहुँ आई॥
मनिगन पुर नर नारि सुजाती। सुचि अमोल सुदर सब भाँती॥

—रामचरितमानस : २।१।२४

राम विवाहोपरात अयोध्या आ गए है। अयोध्या हर्षोल्लास मे निमग्न है। माताएँ अपनी 'मनोरथ-बेली' को लहलहाते देखकर हर्षविभोर हो रही है। खुशियो मे डूबी हुई अयोध्या का चित्र इस सागरूपक मे सजीव हो उठा है। यहाँ अयोध्या का रूपक समुद्र से बाँधा गया है जिसमे ऋद्धि-सिद्धि रूपी नदियाँ आकर मिल जाती है। अयोध्या को समुद्र से रूपित करने के कारण वहाँ के निवासियो को जलचर कहना चाहिए था। किंतु तुलसी ने उन्हें 'मनिगन' कहा है, क्योकि यहाँ वे अयोध्या के वैभव का वर्णन कर रहे है। इस प्रकार तुलसी ने साग-रूपको मे उपमेय-उपमान की योजना मे औचित्य का पूरा-पूरा ध्यान रखा है और थोडी गहराई से विचार करने पर उनका अंतरग सौदर्य खिल पड़ता है।

तुलसी ने सरिता के रूपक का बहुरगी प्रयोग किया है। वह सरिता भयावनी नही, सुहावनी (सुहाई) है। इसीलिये इस रूपक की रसतरगित लहरें अयोध्या की खुशियो को हमारी मनश्चेतना के तटो पर भी बिखरा जाती है। इस प्रकार यह रूपक अपनी श्रेष्ठता अपने आप प्रमाणित कर रहा है। तुलसी ने एक से एक बढकर सागरूपक बाँधे है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का यह कथन बिल्कुल सही है कि "इनके समान रूपक का बधान बाँधनेवाला हिंदी मे कोई कवि नही हुआ।"[1]

इन रूपको मे कही मदाकिनी 'मालिनी' के रूप मे आकर हमारा मन मोह लेती है, कही 'उदयगिरि मच' पर रघुवर 'बाल-पतग' के रूप मे उदित होकर सब राजाओ को निस्तेज कर देते है और कही 'आश्रम-पींजरा' के साधारण किंतु प्रभाव-शाली रूपक मे भरत की साधुता निखर उठती है। 'रामचरितमानस' मे लगभग तीस बडे रूपक है जिनमे 'मानस-रूपक' सबसे लम्बा और बेजोड़ है। इस रूपक की बड़ी विद्वत्तापूर्ण विवेचना डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी ने अपने एक लेख मे की है। 'कविता-

1—कवितावली : अंतर्दर्शन, पृ० २९

वली' के 'लंकाकाड' मे युद्ध का सजीव वर्णन रूपको मे ही हुआ है। 'दोहावली' मे उपदेश और नीति की बातें रूपको मे कही गई है। 'विनयपत्रिका' मे दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति के लिये रूपक का सहारा लिया गया है और 'गीतावली' के कतिपय कोमल प्रसग रूपक मे बड़ी बारीकी से पिरोए गए है।

तुलसी साहित्य मे परपरित रूपको की योजना भी मिलती है। इन रूपको मे एक आरोप दूसरे आरोप का कारण होता है अर्थात् वे परस्पर आश्रित होते है। इन रूपको मे तुलसी की उत्कृष्ट कल्पना एव प्रौढ कला का सुदर सामजस्य दिखाई पड़ता है।

"गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी। प्रगट न लाज निसा अवलोकी।"

—रामचरितमानस : १।२५९।१

यहाँ गिरा मे अलिनी का आरोप ही मुख मे पकज और लज्जा मे निशा के आरोप का कारण है। सीता की सुकुमार लज्जा भावना को व्यक्त करने मे इस रूपक की बडी सहज एवं सरस निबंधना हुई है। 'गीतावली' मे लोकजीवन के रस से छल-कते हुए कतिपय परंपरित रूपको की उत्कृष्ट योजना की गई है।

तुलसी के रूपक बडे ही प्रसगानुकूल बन पड़े है। किस समय कैसा रूपक बाँधना, यह तो कोई तुलसी से सीखे। इसीलिये रूपक की कुशल योजना से ये प्रसंग निखर उठे हैं और उनका सौदर्य द्विगुणित हो गया है। उदाहरण के लिये 'मानस' के लंका-काड मे युद्ध का प्रयोजन है। अत. प्रारभ मे ही धनुष-बाण का रूपक देकर कवि राम की वीररसयुक्त मूर्ति की प्रतिष्ठा करता है :

"लव निमेप परमानु जुग बरप कल्प सर चड।
भजसि न मन तेहि राम कहुँ काल जासु कोदंड॥"

—'मानस' : ६।१।१–२

यह रूपक राम की वीरता और विजय के साथ ही उनकी विराटता का भी बोध कराता है। वर्ण्य विपय की सजीव अभिव्यक्ति मे इस रूपक की सफलता असदिग्ध है।

तुलसी साहित्य मे कतिपय ऐसे छोटे किंतु सरस और सलोने रूपक भी मिलते हैं जो अपनी सौदर्य छटा से हमे मुग्ध कर लेते है। तुलसी के काव्य-कानन की क्यारियो मे खिले हुए इन रंग-बिरंगी रूपको की महक निराली है। कवि के मन मे जब कोई कोमल हिलोर उठती है, जब वह उसे पकडने मे आत्मविभोर हो जाता है और उसे रूप देना चाहता है तभी ये सलोने रूपक उसकी सहायता के लिये दौड़े चले आते है। इन रूपको मे कवि की कमनीय कला पूनम की छटा की तरह खिल पड़ी है। इनके रस की छीटे क्षण भर के लिये हमारी हृदय-कलिका को खिला देते है—

"सोभा-सुधा पिए करि अँखियाँ दोनी"—गीतावली

वनगमन का प्रसंग है। राम, लक्ष्मण और सीता वन में चले जा रहे हैं और ग्राम-वनिताएँ उनकी सौंदर्यसुधा का पान अपने नेत्ररूपी दोनों से कर रही हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि वन के प्रसंग में नेत्रों के लिये दोने का रूपक कितना रमणीय बन पड़ा है। इस सरस कोमल रूपक पर अध्येता की रसचेतना बरबस ही मुग्ध हो जाती है। 'मानस' में भी यह रूपक इस प्रकार आया है—

"पियत नयनपुट रूप पियूषा"। —मानस, २।११०।१६

किंतु इस रूपक में वह कोमलता नहीं आने पाई है जो पूर्व उल्लिखित गीतावली के रूपक में। कतिपय और रूपक देखिए—

(१) साँवर-रूप-सुधा भरिबे कहँ नयन-कमल-कल-कलस रिते री।
—गीतावली

(२) राम की भगति भूमि, मेरी मति दूब है। —कवितावली

(३) सखि ! रघुबीर मुख छबि देखु।
चित्त भीति सुप्रीति रंग सुरूपता अवरेखु॥ —गीतावली

तुलसी के काव्य-सर्जन का उद्देश्य भक्ति का प्रतिपादन है। भक्ति तुलसी का मूल भावात्मक स्वर है और इसके प्रतिपादन में रूपक का आनुकूल्य देखते ही बनता है। उनके रूपक भक्तिभावना के आसपास ही केंद्रित मिलेंगे। उन्होंने नीति, धर्म और दर्शन के नीरस विचारों को रूपक द्वारा काव्य का रेशमी परिधान पहना दिया है। रामभक्ति, रामकथा और रामनाम का गुणगान तुलसीसाहित्य में सर्वत्र हुआ है और इनकी अभिव्यक्ति के लिये रूपक की नियोजना बड़ी अनुकूल बन पड़ी है।

कहने का तात्पर्य यह है कि सादृश्यमूलक अलंकारों में तुलसी ने रूपक का सर्वाधिक प्रयोग किया है। यह बात नहीं है कि अन्य सादृश्यमूलक अलंकारों में हमें उनकी प्रतिभा के दर्शन नहीं होते। किंतु उनके कवि-व्यक्तित्व की जो ऊँचाई हमें रूपकयोजना में मिलती है, वह अन्य अलंकारों की योजना में नहीं। डॉ० रामप्रकाश अग्रवाल का यह मत सही है कि "तुलसी के साहित्य में सारे ही अलंकार रूपक या सांग-रूपक के अधीन दिखाई पड़ते हैं।" जब तक तुलसी अपनी बात रूपक में नहीं कहते, तब तक मानो उन्हें संतोष ही नहीं होता। रूपक तुलसी के विचारलोक का सच्चा दर्पण है। हर्बर्ट रीड का कथन है कि हमें कवि का मूल्यांकन उसके रूपकों की शक्ति और मौलिकता से करना चाहिए। कहने की आवश्यकता नहीं कि गोस्वामी तुलसीदास इस कसौटी पर खरे उतरते हैं और रूपकविधान में अन्य सभी भक्तकवियों में शीर्ष पर दिखाई पड़ते हैं। रूपक उनके काव्यमंदिर का स्वर्णकलश है।

❀

तुलसीदास के मूल्यांकन की समस्याएँ

श्री रामजी राय

•

तुलसीदास अपने समय के सबसे अधिक उपेक्षित, संघर्षी और साहसी व्यक्ति थे। उपेक्षित इसलिए कि बचपन से ही वे 'वर्तमानजीवी' बने रहे, अभागे बनकर भटकते रहे, और एक एक दिन काटते रहे। पिता, माता ने तो त्यागा ही, समाज ने भी लाछना दी और अत मे पत्नी ने भी उपदेश दिया। संघर्षी इसलिये कि तुलसीदास को व्यक्ति और समाज, दोनो स्तरो पर जूझना पड़ा। समाज-स्तर पर जूझकर तो वे टूट ही गए। व्यक्तिस्तर पर भी अपनी वासनाओ से अंतिम समय तक जूझते रहे। साहसी इसलिये कि उन्होने समाज की भी चुनौती स्वीकार की, और अपने मन की चुनौती स्वीकार की। ऐसे बीहड कवि का मूल्यांकन करने से पहले हमे सोच लेना चाहिए कि हम एक अत्यन्त विवादास्पद कवि का मूल्याकंन कर रहे है। और यह कवि आज भी हिंदी का सबसे बडा, सबसे शक्तिशाली और प्रभावशाली कवि है। इतना ही नही, परम्परा और आधुनिकता, अंतर्मुखता और बहिर्मुखता, सनातनता और सामयिकता, व्यक्तिनिष्ठता और सामाजिकता, गहनता और लोकधर्मिता, सभी कसौटियो पर खरा उतरने-वाला कवि है। बल्कि यो कहे कि इन कसौटियों की भी एक कसौटी है। तुलसीदास इस बात को सभवत: पहले से ही जानते थे कि जब मेरे मूल्याकन का प्रश्न उठेगा तो बडा हो-हल्ला मचेगा। वैसे यह 'हल्ला' उनके जीवनकाल में भी कम नही मचाया गया। आज भी बहुतेरे सस्कृत के 'कट्टर' विद्वान् यह कहते थकते नही है कि तुलसीदास संस्कृत के बडे भारी विरोधी सिद्ध हुए और उन्होने संस्कृतपडितो की जीविका समाप्त कर दी, क्योकि सामान्य जनता भी 'संस्कृत' का 'रस' भाषा मे लेने लगी और मोटी-मोटी पोथियाँ उपेक्षित हो गईं। जो भी हो, संस्कृत या कोई भी व्याकरणनिष्ठ भाषा जनभावनाओ की उपेक्षा करके टिक नही सकती है। तुलसीदास पर यह आरोप लगाना दुराग्रह के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है। ऐसे-ऐसे कितने ही आरोप, प्रत्यारोप तुलसीदास को 'मूक' किंतु 'मुखर' चेतना को सहन करने पड़ते है। इन्ही सब बातो को ध्यान में रखकर उन्होने कवितावली मे कहा है—

> "कोऊ कहै, करत कुसाज, दगाबाज बडो
> कोऊ कहै, राम को गुलामु खरो खूब है।

साधु जानै महासाधु, खल जानै महाखल
बानी झूठी-साँची कोटि उठति हबूब है।
चहत न काहू सों न कहत काहू की कछू,
सबकी सहत, उर अंतर न ऊब है।
तुलसी को भलो पोच हाथ रघुनाथ ही के,
राम की भगति-भूमि मेरी मति दूब है॥

कहना नही होगा कि सघर्ष, कटुता, उपेक्षा, अपमान और निर्वासन की सारी शक्तियो को चुनौती देती हुई, राम की 'भगति-भूमि' पर उगी हुई 'तुलसी की मतिरूप दूब', साहित्य और सस्कृति की निरंतर पल्लवित होती हुई 'अमृता' अभिव्यक्ति है। तुलसीदास की यह मतिरूपी दूब आधुनिक शब्दावली मे 'सर्जक चेतना' यानी 'भगति भूमि' की पुत्री 'कलात्मक सस्कृति' ही है, जिसके अंतर्गत सभी ललितकलाएँ आ जाती हैं। भगति को भूमि और 'मति यानी बुद्धि को दूब' कहकर तुलसीदास वस्तुतः यही कहना चाहते है कि सर्जक चेतना ही कलात्मक संस्कृति की जननी है। 'दूब' की तरह कलात्मक सस्कृति की अभिव्यक्तियाँ मुख्य रूप से 'कविता', 'जैविकता', कोमलता और सुंदरता से युक्त होती हैं। अत. 'कविता' को 'कवि' से काटकर और 'दूब' को भूमि से उखाड़कर जो वैज्ञानिक मीमांसा की जाती है, उसे 'प्रासगिकता' और 'तटस्थता' के नाम पर प्रश्रय देना घातक हो सकता है, क्योकि 'प्रासगिकता' अवसरवादिता मे और तटस्थता 'निर्ममता' मे बदल जाती है। तुलसीदास की मतिरूपी 'दूब' की महत्ता और विशिष्टता को उद्घाटित करने के लिये यह आवश्यक है कि 'उनकी सर्जक चेतना' को ही आधार बना कर उनका मूल्याकन करे। तुलसीदास जैसे व्यापक चेतनावाले कवि के लिये इस राह को छोडकर दूसरी कोई राह ही नही है। वैसे हर ईमानदार कवि अपना निजी काव्यशास्त्र लेकर आता है, और सहृदय आलोचक कवि के इन निजी 'बिंदुओ' की तलाश करता है। तुलसीदास के मूल्याकन की आधारभूमि क्या हो सकती है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। ऐसे समय मे यह प्रश्न और भी विचारणीय हो जाता है जब 'मानस चतुश्शती' बड़े धूमधाम से आयोजित की गई और गोष्ठियो, परिचर्चाओ और स्मारिकाओ की धूम मचा दी गई। निम्नलिखित पंक्तियो मे तुलसीदास के मूल्याकंन की कुछ समस्याओ पर 'तुलसीदास की ही' कुछ चौपाइयो को आधार बनाकर एक संक्षिप्त चर्चा प्रस्तुत की जा रही है। इतना ध्यान रखना है कि काव्यशीर्षको की अर्थवत्ता—साकेतिक अर्थ मे ही प्रयुक्त की गई है, प्रासगिक संदर्भ मे नही।

पहली समस्या :—

रचि महेस निज मानस राखा, पाइ सुसमय सिवा सन भाखा।

(अर्थात् तुलसीदास की मौलिकता पर आरोप)

तुलसीदास एक ऐसे प्रातिभ महाकवि है, जिनके पास अपना निजी प्रभामडल

और स्पष्ट प्रखर अनुभवबोध है। चूँकि काव्य की रचना सांस्कृतिक शून्य में--(नभ दुहि दूध चहत ए प्रानी की भाँति) संभव नही, अत कवि की समस्या यही है कि वह मौलिक होते हुए भी प्रभावित लगता है (कहहु सुप्रेम प्रगट को करई, केहि छाया कवि मति अनुसरई)। तुलसीदास के ऊपर तो यह बिजली की तरह घहराती है। वस्तुतः जहाँ तक प्रभाव ग्रहण करने का आरोप है, वह आलोचको की दुराग्रही दृष्टि का परिणाम है, क्योकि कोई भी कवि कविता की सृजनप्रक्रिया के समय 'शास्त्र' से हटकर अनुभव (उमा कहउँ मै अनुभव अपना) की आतरिक लय का साक्षात्कार करता है। (अस मानस मानस चख चाही, भइ कविबुद्धि विमल अवगाही)। परंतु जहाँ अभिव्यक्ति होती है, वहाँ शब्दो की भीख माँगनी पड़ती है। तुलसीदास की यही विशेषता है कि वह अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिये 'नाना पुराण निगमागम' की अपार सपदा का अनायास उपयोग कर लेते है। इसी स्थल पर आलोचको को उनकी ईमानदारी पर सदेह होने लगता है। परतु जो जानते है, वे मानते है कि 'अनुभूति' अर्थ है, अभिव्यक्ति 'शब्द' है। अनुभूति व्यक्तिगत है, अभिव्यक्ति 'सामाजिक' है। कवि निजी अनुभूति की सामाजिक अभिव्यक्ति करता है (स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा, भाषानिबंधमतिमंजुलमातनोति), अतः वह 'साहु' होते हुए 'चोर' है। तुलसीदास इसी स्थल पर अनुभव और अध्ययन की विभाजित दृष्टि से ऊपर उठकर 'समष्टि' स्तर के कवि बन जाते हैं और 'रचि महेस निज मानस राखा, सुसमय पाय सिवा सन भाषा' की शब्दावली मे व्यापक स्तर पर सपन्न हो रही उस काव्यप्रक्रिया का सकेत देते है, जिसे ऋषियो ने--'ऋतम्भरा प्रज्ञा' के नाम से अभिहित किया है। काव्य की इस प्रक्रिया मे 'अहं' और 'व्यक्ति' की सीमा टूट जाती है, और 'अपने पराये' का भेद मिट जाता है। तुलसीदास इसी स्तर पर 'उघरहिं विमल विलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के॥ सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रकट जहँ जो जेहि खानिक॥' की चर्चा करने लगते है-- और वे कविता को सामूहिक प्रक्रिया की प्रस्तुति कहते हुए भी अपनी 'मौलिकता' को सुरक्षित कर लेते है--'निज कवित्त केहि लाग न नीका' का सूत्र यह स्पष्ट सकेत देता है कि तुलसीदास व्यक्तित्व से कविता को असंपृक्त नही मानते है।

दूसरी समस्या—

उर अनुभवति न कहि सक सोऊ, कवन प्रकार कहै कवि कोऊ।

(अर्थात् तुलसीदास को किसी एक वृत्त मे घेरने की चेष्टा)

तुलसीदास का मूल्याकन करते समय, उनकी मानसिकता का निर्णय करते समय तब कठिनाई होने लगती है, जब उन्हे किसी विशेष घेरे मे दार्शनिक शब्दो का आश्रय लेकर बाँधने की चेष्टा की जाती है। तुलसीदास 'गति कूर कविता सरित की' कहकर यह सकेत देते है कि वह टेढी चलती है और कवि की शक्ति 'कविहिं

अरथ आखर बल साँचा' तक ही सीमित है। ठीक इसके विपरीत रघुपति के चरित अपार है। अर्थात् तुलसीदास के भीतर जो अपार अनुभूति कसक रही है, उसकी अभिव्यक्ति करना उन्हें बहुत कठिन लगता है। कवि की यह सबसे बड़ी कठिनाई है, और इस कठिनाई के कारण ही कोई भी कवि विरोधी प्रतीत होनेवाली उक्तियाँ लिखता है। तुलसीदास की मानसिकता तो एक अत्यत सघर्षी कवि की मानसिकता है क्योंकि तुलसीदास को गतानुगतिकता और मनुष्यघाती विजातीय आधुनिकता दोनों से चिढ है। तुलसीदास की इस विवशता को कवि स्तर (जो कि एक अर्थो मे मौलिक और स्वतत्र चेतना की अभिव्यक्ति करता है) से न जोडकर शुष्क दार्शनिक स्तर से जोडा गया है, और उनके सबध मे कई विरोधी वक्तव्य दिए गए है। यह भी कहा गया है कि तुलसीदास परपरावादी है, वे सामती मूल्यो के उद्गाता हैं, यह भी कहा गया है कि वे विद्रोही हैं, और आधुनिक मूल्यो का समर्थन करते है। स्वान्तः सुखाय और परातः सुखाय की उनके सदर्भ मे अनावश्यक चर्चा होती है। इतना ही नही, उनके काव्य से परस्पर विरोधी उक्तियाँ निकालकर उनकी मानसिकता को विभाजित करने की चेष्टा की जाती है। तुलसीदास का मूल्याकन करते समय हमे ध्यान रखना चाहिए कि तुलसीदास की सर्जक चेतना का मूल विब 'राम' है। यह राम निर्गुण होते हुए भी सगुण है, कोमल होते हुए भी कठोर है और इतना ही नही, वह विद्वानो के लिये विराट्, योगियो के लिये परम तत्व, भक्तो के लिये 'इष्टदेव', दुष्टो के लिये भयकर और वीरो के लिये साक्षात् वीर रस है, यानी तुलसीदास का यह मूल विब सभी वृत्तो को तोड देता है, उसे किसी विशेष घेरे मे रखा नही जा सकता। तुलसीदास की अन्तश्चेतना इस बात की बार बार अभिव्यक्ति करती है कि कथा को कैसे प्रगट कर दिया जाय, क्योकि वह अपनी गहनता के कारण पहले तो बड़ी ही 'गूढ' है, और उसे अनुभव करना तो सहज है, पर अभिव्यक्त करना कठिन। तुलसीदास की इस व्यथा को कोई भी कवि समझ सकता है, उन्ही के शब्दो मे :—

'उर अनुभवति न कहि सक सोऊ, कवन प्रकार कहै कवि कोऊ।

तीसरी समस्या

इच्छामय नरबेष सँवारे, होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे॥

(अर्थात् सामान्य की प्रस्तुति और तज्जन्य भ्रम)

तुलसीदास 'अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा', कहने के साथ साथ यह भी कहते हैं कि 'सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा', और आगे वे बताते है कि 'अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेमवस सगुन सो होई।' यानी वे अपार्थिव सत्ता की पार्थिव व्यजना करते है। तुलसीदास ने यह बात कह दी और लगा कि परपरावादियो मे एक भूचाल आ गया। वस्तुत आधुनिक शब्दावली मे तुलसीदास ने अदृश्य सत्ता के वायवीय काल्पनिक वृत्त से मनुष्य-चेतना को भटकने से बचाकर उसे एक ठोस और परिचित बिंदु प्रदान किया। तुलसीदास इस बात को गहराई से समझते

थे कि मनुष्य शरीर अत्यंत ही मूल्यवान् है और चरम सभावनाओ से युक्त है। उन्होने बताया कि इस मनुष्य शरीर के माध्यम से ही प्रेम, भक्ति और आनद की अनुभूति हो सकती है। अत इस सहज प्राप्य बोध को छोडकर निर्गुण के लिये भटकना उन्हे अच्छा नही लगा। उन्होने इस तथ्य को ध्यान मे रखकर यह कहा--

ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास।
निरगुन कहै जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसीदास॥

तुलसीदास ने दार्शनिक धरातल को मानवीय पीठिका प्रदान की। उनका 'राम' ईश्वर होते हुए भी 'मनुष्य' है। दार्शनिक शब्दावली मे हम इसे 'अवतार' कह सकते है। इस प्रकार हम देखते है कि तुलसीदास निरतर व्यक्त हो रही सृष्टि-प्रक्रिया के मध्य जहाँ भी उदात्तता है, प्रेम है, सौदर्य है, वही वे ब्रह्म की उद्भावना करने लगते है। यह सृष्टिप्रक्रिया ही 'तुलसीदास' के शब्दो मे 'कौशल्या' है, और धरती ही 'कौशल्या की गोद' है, जिसमे 'निर्गुण निराकार ब्रह्म' प्रेम के कारण अवतरित हुआ है---

व्यापक ब्रह्म निरजन निर्गुन बिगत विनोद।
सो अज प्रेम भगतिबस कौसल्या की गोद॥

तुलसीदास मूलत. मानवीय सवेदना के कवि है, और वे बार बार प्रतीको के माध्यम से यह समझाते है कि दृश्य और अदृश्य, निर्गुण और सगुण के बीच कोई अलघ्य खाई नही है। किंतु दार्शनिक शब्दजाल मे घिरे हुए लोग इस सामान्य सी बात को न समझकर भाँति-भाँति के 'कष्टसाध्य विद्वत्तापूर्ण' वक्तव्य देते है और कहते है कि तुलसीदास एक नही अनेक की बात करते हैं, और उनके 'राम' भी कई है। तुलसीदास बडे सीधे आदमी थे, वे बात सीधे ढग से कहना चाहते है, परतु उनका दोष ही क्या है। दर्शन की शब्दावली से जकड़ी बुद्धि ही भ्रमित होकर कैकेयी की तरह आचरण करने और अर्थ लगाने लगी है—

"सहज सरल रघुवर बचन कुमति कुटिल करि जान।
चलइ जोंक जल बक्रगति जद्यपि सलिल समान॥"

चौथी समस्या—

सुदरता कहुँ सुंदर करई, छविगृह दीपशिखा जनु बरई॥

(अर्थात् तुलसीदास की सौन्दर्यचेतना का पुनराविष्कार)—एक विशिष्ट संदर्भ मे यह कहा जा सकता है, कि तुलसीदास प्रेम और सौदर्य के लगभग संस्कृत और हिंदी दोनो साहित्यो मे सबसे उदात्त कवि है। वस्तुतः 'सिय राम सरूप अगाध अनूप' की प्राप्ति के लिये उनका मीनरूपी अत.करण निरंतर उन्मथित होता रहता है। वैष्णवसाहित्य मे सौदर्य के मध्य ही ब्रह्म की उद्भावना की गई है, और उसे पारस, अपरूप और महाभाव की उदात्त व्यजना प्रदान की

गई है। तुलसीदास की सौंदर्यचेतना उदात्त होते हुए भी, लौकिक और मानवीय स्तरों पर नए ढग की शब्दावली मे मागलिक आभरणो की प्रस्तुति, वैवाहिक रीतियों की अभिव्यक्ति, सौंदर्य के आयामो की विवात्मक व्यजना, तथा रूपचित्रो की गतिमयता का तन्मय आलेखन करती है। कवि की यह वहुत बड़ी शक्ति है। इतना ही नही, प्रेम की अकथ्य अनुभूति का साकेतिक चित्रण करते समय तुलसीदास एक सर्वथा अनूठी काव्यभाषा की निर्मिति करते है। इन सव विशेषताओ का अध्ययन सौंदर्यशास्त्र के अन्तर्गत किया जा सकता है। हिंदी मे कालिदास की लालित्ययोजना के माध्यम मे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस पथ को प्रशस्त किया है। आधुनिक आलोचक इस ओर पग धरते हुए हिचकता है। वस्तुत तुलसीदास के लिये 'प्रेम' ही 'प्रभु' है, और सौंदर्य ही उनका लीला-विलास। इनके पूरे साहित्य को देख जाइए। आधा भाग तो वालजीवन, विवाह और उल्लास से पूर्ण है ही, 'आधे' युद्धवर्णन और विरहवर्णन में भी एक अनूठे लालित्य का सयोजन किया गया है। अत. कहा जा सकता है कि तुलसीसाहित्य 'प्रेम' का साहित्य है और इस प्रेम से हृदय का अनुग्रह अधरो का हास वन जाता है। 'हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा, सूचत किरन मनोहर हासा' जहाँ कही भी तुलसीदास अवसर पाते है, वही लालित्य की वेजोड शब्दावली मे 'गीतावली' लिखने लगते है—सौंदर्य सत्ता के दिव्य अनुभव को काव्यस्तर की ऊर्जा प्रदान कर देते है। वे वालजीवन और विवाह मे ही नही, युद्धवर्णन मे भी सौंदर्यवोध की ताजगी को अक्षुण्ण वनाए रखते है--देखिए--

देव वचन सुनि प्रभु मुसकाना।
उठि रघुवीर सुधारे वाना॥
जटाजूट दृढ वाँधे माथे।
सोहहिं सुमन वीच विच गाँथे॥"

वस्तुत तुलसीदास की सौंदर्यचेतना उदात्त भावो की एक ऐसी सरिता है, जिसका मूल स्रोत 'ब्रह्म' है, किंतु जो 'मानवीय धरातल' पर प्रवाहित हो रही है। इस सरिता के जल मे 'प्रभु' का भाईपना, मिलना और हँसना सव कुछ देखा जा सकता है--अवलोकनि वोलनि मिलनि, प्रीति परसपर हास। भायप भलि चहुँ वधु को जल माधुरी सुवास।

पाँचवी समस्या

जिमि मुख मुकुर मुकुर निज पानी, गहि न जाय असि अद्भुत वानी।
(अर्थात् तुलसीदास की भाषिक सरचना, उनकी सश्लिष्ट काव्यभाषा और शब्दसाधना के मर्मोद्घाटन की समस्या)

आधुनिक समीक्षा की नई पद्धति मे काव्यानुभूति की वनावट को विश्लेषित

करने के लिये किसी भी कवि की वाक्यगति, छादस लयान्विति और पदसंरचना के वैशिष्ट्य को उद्घाटित करना आवश्यक है। प्रत्येक सवेदना एक विशिष्ट काव्यभाषा की तलाश करती है और अभिव्यक्ति, छदविधा की जटिलता को चुनौती देती है। नई कविता की वाक्यगति ही छोटी वड़ी नही है, तुलसीदास ने भी कई स्थलो पर 'छन्द वधन' को इधर उधर झटका देकर तोड़ने की चेष्टा की है। इस दृष्टि से तुलसीदास का मूल्याकन अभी नही के वरावर हुआ है क्योकि यह विषय अपेक्षाकृत दुरूह है और इसके लिये अन्वीक्षा की सूक्ष्म दृष्टि और वैज्ञानिक सतर्कता आवश्यक है, जिसकी ओर अविलम्ब ध्यान दिया जाना चाहिए। इसी तरह तुलसीदास की प्रतिभा ने सस्कृत और लोकभाषा की शब्दावली को अपनी संवेदना की आग मे तपा-तपाकर खरे सोने की आभा प्रदान की है। व्रजभाषा और अवधी के साथ साथ, फारसी आदि के कतिपय शव्दो को भी उन्होने अपने काव्य खरल मे रगडकर संजीवनी प्रदान की है। सवसे वड़ी वात तो यह है कि तुलसीदास की उपमाएँ, रूपक और विंव दैनदिन जीवन के सघर्ष की अभिव्यक्ति करते है, और उन्हे अनुभव के स्तर पर लोकजीवन से गृहीत किया गया है। देखिए :

"होहु सँजोइल रोकहु घाटा। ठाटहु सकल मरै के ठाटा॥
सनमुख लोह भरत सन लेऊँ। जियत न सुरसरि उतरन देऊँ॥
समर मरन पुनि सुरसरि तीरा। राम काजु छनभगु सरीरा॥
भरत भाइ नृपु मै जन नीचू। वड़े भाग अस पाइअ मीचू॥"

तुलसीदास की भाषिक संरचना की यह भी अद्भुत उपलब्धि है कि वह काव्यभाषा और लोकभाषा के अतराल को पाट देती है, और अपनी सहजता और वकिमता मे तल के मर्म को उद्घाटित करके, स्मृतिपट पर अकित हो जाती है। तुलसीदास की काव्यप्रतिभा का वास्तविक मूल्यांकन होना चाहिए, क्योकि तुलसीदास शव्दो के मर्म को अपनी लयवत्ता के वृत्त मे घेरकर अकथ्य को भी 'उत्प्रेक्षा' के आँगन मे नचानेवाले कवि है। वे अपनी वात कभी सीधे ढग से कहते है, कभी उक्तिवैचित्र्य का प्रयोग करते है, कभी रूपको का सहारा लेते है, और कभी कभी विंवों का मेला लगा देते है। वस्तुत: वे सधे हुए कवि है, और उनकी काव्यभाषा उनके सामने नाचती रहती है। इस अपरूप अपूर्व नृत्य की किंकिणी उनके समस्त साहित्य मे वजती रहती है, तभी तो वे उल्लासपूर्वक कहते है—

"जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी।
कवि उर अजिर नचावहि वानी॥
मोर सुधारिहि सो सव भाँती।
जासु कृपाँ नहिँ कृपा अघाती॥

इन समस्याओं का मर्म यानी तुलसीदास का चरम मूल्यबोध

—तुलसीदास का मूल्यांकन करना 'एक दूसरी बात' है, और उनके मर्म को उद्घाटित करना एक और बात है। तुलसीदास की कतिपय विशेषताओं पर काव्यमर्म को उद्घाटित करते हुए कुछ चर्चा की गई, वैसे यह बात पूछी जा सकती है कि 'तुलसीदास' को 'सर्जक' होने की क्यो आवश्यकता प्रतीत हुई। क्या इस 'साहित्य' के द्वारा भी कोई कवि लडाई लड़ता है, और तुलसीदास ने किसलिये अपने काव्य के माध्यम से लडाई लडी है। तुलसीदास वस्तुत., कहना क्या चाहते है, यानी आधुनिक शब्दावली में उनका 'चरममूल्य' क्या है। इस प्रश्न को लेकर जब हम तुलसीदास का परीक्षण करते है, तो लगता है कि यह कवि अपने संघर्ष मे 'राम' से भी कही अधिक सार्थक सिद्ध हो सकता है, क्योकि यह कवि जो लडाई लडता है, वह एक चिरंतन बौद्धिक, आध्यात्मिक और साहित्यिक लड़ाई है, और जीतकर भी इस लडाई को स्थगित नही किया जा सकता है, क्योंकि यह सीधे सादे लोगो की सास्कृतिक लड़ाई है। तुलसीदास को सबमे बड़ा आश्चर्य यही है कि 'आनन्दमय' प्रभु के होते हुए भी समस्त जीवजगत् इतना दीनहीन क्यो है! 'दारिद दसानन' की उपस्थिति क्यो है ? चोर डाकू क्यों है ? प्रेमप्यासे चातक को बादल पत्थर से क्यों पीटता है ? समस्त प्रपंचो की राक्षसी सेना मर मरकर क्यो जीती रहती है ? तुलसीदास को यही बात दिखानी है कि समस्त सृष्टि एक नैरतर्य की प्रक्रिया मे बह रही है—और इसकी इसलिये आवश्यकता है कि 'प्रभु' कही इस ससार के लिये अजनबी न हो जायँ। दु ख रहेगा तो आँख आदर्श पर रहेगी। दु ख रहेगा तो लड़ाई चालू रहेगी। काव्य, संस्कृति और जीवन सभी धरातलो पर यही लडाई चल रही है। रावण 'हेय' है, राम 'सार्थक' है। 'हेय' लोग 'शांति की सीता का हरण करते है' और अपनी स्वर्णपुरी मे उसे रख देते है। जीवन की माँग है कि 'शांति' सामान्य और सहज व्यक्ति को भी मिले। राम इसलिये जूझते है कि न्याय की, समता की स्थापना हो सके। तुलसीदास ने इसी बात को इस ढग से बताया है कि 'ईश्वर' भी मनुष्य के दु ख को दूर करना चाहता है, वह इसके लिये इस धरती पर जन्म लेता है, मानव की गोद मे खेलता है, और धरती के दु ख को दूर करता है। तुलसीदास ने प्रकारातर से बताया है कि 'मोक्ष' के चक्कर मे पडने से अच्छा यही है कि इस धरती को ही हरी-भरी बनाया जाय, समता का विस्तार किया जाय, और लोग उदार और उपकारी बने रहकर प्रभु के एकच्छत्र अखड राज्य मे 'सगुण' सत्ता के रूप-रस का आस्वादन करे। तुलसीदास इसी स्थल पर 'मोक्ष' की भी उपेक्षा कर देते हैं, और वे चाहते है कि यह सृष्टिप्रक्रिया प्रभु के अवतार से प्रकाशित होती रहे—और इसी समानातर जीवनप्रवाह के साथ साथ वे जन्म लेते रहे। इससे बडी मानवीयता, लोकधर्मिता और आधुनिकता क्या हो सकती है ? रही बात तुलसीदास के चरम मूल्यबोध की, तो वह यही है कि हम अपनी सुविधाओ के लिये कही सीता को देकर

'रावण' से समझौता न कर लें--और इसी तथ्य को निरूपित करने के लिये काव्य-स्तर पर उन्होने लडाई लडी है । इस साहित्य से प्रभु निरतर प्रकट होकर मनुष्य की सहायता करेगा, यह उनका स्पष्ट सकेत है--'नाम निरूपन नाम जतन ते, सोउ प्रगटत जिमि मो रतन ते ।'

---o---

तुलसी के मानस का रामराज्य

श्री मदनमोहन सिंह

•

गोस्वामी जी का राज्यादर्श लोकहित तक सीमित नही था। वह तो लोक से परे भी देखता था। यही कारण था कि उनका राज्यादर्श सासारिक सुखो का ही प्रसाधक न था, वलिक वह आध्यात्मिक आनद का विधायक भी था। वह बाहर का परिमार्जन करता था और अतर का परिष्कार। पुरुष और प्रकृति की समानता के लिये नियमो और विधानो की ही नही, सुदृढ और स्थायी आधारशिला की भी आवश्यकता होती है। वह आधारशिला है 'राजा का आचरण'। जो सुदृढ ऐसा कि क्षणिक धक्को से विचलित न हो और स्थायी ऐसा कि अनियमितताओ के कारण विचलित न हो। आचरण ही मनुष्य है। इस 'आचरण' के प्रति गीता कहती है--"यो यच्छूद्ध स एव स." अर्थात् मनुष्य अपनी श्रद्धा की प्रतिकृति है। श्रद्धा आचरण की प्रेरिका है और वह आचरण श्रद्धा का विज्ञापक। श्रद्धा व्यक्ति की वस्तु है और आचरण समाज की।

तुलसी के राम अपने आचरण के द्वारा ही उन आदर्शो का बीज बोते हैं, जो 'रामराज्य' के विशाल वृक्ष का रूप धारण करता है। राज्य का रूपनिर्धारण राजा के व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। राजा अपनी स्थानगत विशेषता के कारण सबकी आँखो का केंद्रबिंदु बन जाता है। वह लाखो प्राणो की पुकार हो जाता है। जिस पर यदि कोई तुषार आ जाय तो इन प्राणो को छुई-मुई का रोग लग जाता है। 'यथा राजा तथा प्रजा' का सिद्धात चरितार्थ हो जाता है। गोस्वामी जी का तो यह निर्भ्रात मत है कि--

"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवसि नरक अधिकारी"।

प्रजा के दुख का अर्थ है कि राजा अपने कर्तव्य से च्युत हो गया। इस राजा का राजत्व नष्ट हो गया। वह रक्षक नही भक्षक हो गया।

राम ने अपने व्यक्तित्व को राज्यतन्त्र मे अनुस्यूत करके उसे आदर्श राजत्व की चरम सीमा पर पहुँचा दिया था। आचरण द्वारा प्रजा तथा समाज को आदर्श प्रदान किया। वैयक्तिक एव सामाजिक आचरण क्रमश निजत्व एवं जनत्व के प्रति किए गए व्यवहार को दिग्दर्शित करता है। स्वार्थसंकुल क्षुद्र हृदय उन राम के विशाल मानस की छाँह तक नही छू सकता, जिनका कहना था कि "लोकाराधन

के लिये स्नेह, दया, सौख्य अथवा जानकी को भी छोड़ना पड जाय तो मुझे व्यथा न होगी।" सीतापरित्याग द्वारा उन्होने दिखा दिया कि प्रजा के सुख के लिये वे सब कुछ कर सकते हैं। प्रजा के एक निकृष्ट वर्ग के असस्कारी व्यक्ति के द्वारा अपनी प्रिय भार्या को ताना देने मात्र को सुनकर उन्होंने सीता परित्याग की वात सोच ली। यह अपने आप मे एक विचित्र एव अद्भुत उदाहरण है जिससे प्रजा के हित तथा मर्यादा को वल मिला।

तुलसी के राम 'श्रुतिपथ पालक धर्म धुरधर" थे। यह राजा का कल्याण-विधायक रूप है। इसमे राजा की निरकुशता का अकुश है, उसकी स्वेच्छाचारिता का नियत्रण है, उसकी अमर्यादित इच्छाओ का प्रतिबध है। वे धर्म की धुरी धारण करनेवाले थे। भरत से इसीलिये कवि ने कहलवाया था कि—'चाहिय धरमसील नरनाहू' (२।१७६।१)। तुलसी के राजा राम लोकनायक अधिक थे, शासक कम। वे विधान नही बनाते थे, आचरण प्रस्तुत करते थे, जो श्रुतिपथ द्वारा निर्देशित थे।

राजा का यह वैयक्तिक आदर्श आचरण प्रजा के प्रति समुचित व्यवहार से संयुक्त हो जाता है, तब एक ऐसी स्पृहणीय जीवनपद्धति का दर्शन होता है, जिसमे शासक एव शासित की भावना मे अप्रियता की गध नही होती, पद की प्रतिष्ठा और व्यक्ति का आदर होता है, पारस्परिक सद्भावना और सहयोग की वृत्ति जाग्रत करता है। यही कारण है कि राजा का पालक रूप गोस्वामी जी को प्रिय लगता है। राम भरत से कहते है—"राजधरम सरबसु एतनोई"—

> मुखिया मुखु से चाहिए, खान पान कहुँ एक।
> पालइ पोपइ सकल अँग, तुलसी सहित विवेक ॥ २।३१५।

राजा के प्रमुख कर्तव्य का यह निर्दिष्ट रूप ही उसे लोकनायक के पद पर सिंहासनारूढ कराता है। शासक का कर्तव्य है कि वह प्रजा के प्रत्येक वर्ग का उसकी स्थिति, क्षमता, सस्कार तथा योग्यता आदि के अनुकूल पालन करे और उन्हे पुष्ट बनावे। प्रजापालक का कर्तव्य है विवेक और मार्गदर्शन। 'टका सेर भाजी और टका सेर खाजा' तो अधेर नगरी और चौपट राजा की करतूत है। राम ने वनगमन के समय सुमत्र से कहा था—

> कहब सँदेसु भरत के आएँ। नीति न तजिअ राजपदु पाएँ ॥ २। १५२। ३

राजा के लिये सबसे बड़ा खतरा है राजमद का। भरत के आगमन का समाचार सुनकर राम लक्ष्मण की कोपोक्ति पर कहते है—

> कही तात तुम्ह नीति सुहाई, सवते कठिन राजमदु भाई ॥
> जो अँचवत नृप मातहि तेई, नाहिन साधु सभा जेहिं सेई ॥

साधुसमाज के कल्याणकारी रूप का प्रभाव ही राजा को राजसत्ता से उत्पन्न अवगुणो का शमन करता है। भरत तो जैसे साधुता और विवेक के रूप ही थे। तभी तो प्रभु राम पुन. भरत के व्यक्तित्व की गरिमा मे विश्वास जगाते हुए यह दृढ मत प्रकट करते हैं—

भरतहि होइ न राजमदु, विधि हरि हर पद पाइ।
कवहुँ कि कांजी सीकरनि, छीर सिंधु विनसाइ ॥

गोस्वामी जी नीतिनिपुण राजा को बड़े आदर के साथ देखते हैं। ऐसे राजा से प्रजा को सुख मिलता है। जैसे—

१क नरेनु सोह असि धरनी, नीति निपुन नृप कै जसि करनी।४।१६।

ये सभी गुण तुलसी के राम मे थे। तभी तो जब "राम राज बैठे" तब—'त्रैलोका हरषित भए' और उनके सारे कष्ट नष्ट हो गए। राम का प्रताप देखिए कि उसने सारी विषमता नष्ट कर दी। फलत "बैर न कर काहू सन कोई"। अभाव म ईर्ष्या की भावना होती है जिससे विद्रोह होता है, आधिक्य मे शोषण और अपव्यय के। पर इन दोनो का समसुदृढ रूप ही उपयोगी है। विषमता का अभाव सामाजिक सौहार्द का रूप उत्पन्न करता है। मनुष्य स्वमेव जीवन के आदर्श आचरण की ओर उन्मुख होता है। रामराज्य मे इसीलिये—

वरनाश्रम निज निज धरम निरत वेदपथ लोग।
चलहि सदा पावहि सुखहि नहि भय सोक न रोग ॥७।२०

अत यदि राम के राज्य मे दैहिक, दैविक भौतिक तापा' किसी को व्याप्त न था, यह आश्चर्य की बात नही। इसीलिये वस्तुत: मानव अपनी सीमा की सिद्धता पर पहुँच गया। जिस रामराज्य मे—

अल्प मृत्यु नहि कवनिउ पीरा। सब सुंदर सब विरुज सरीरा ॥
नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहि कोउ अबुध न लच्छन हीना ॥
७।२१।५-६

इतना ही नही, जब राजा स्वयं एक पत्नीव्रत का पालक है तो प्रजा अनेक पत्नीत्व मे गार्हस्थ्य सुख कैसे सोच सकती है? जीवनप्रणाली की दृष्टि से राजा तथा प्रजा मे बिंब-प्रतिबिंब भाव था। कवि के शब्दो मे—

सब उदार सब पर उपकारी। विप्र चरन सेवक नरनारी ॥
एक नारिव्रतरत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी ॥
७।२२।७-८

जब मनुष्य पूर्णत्व की सीमा पर पहुँच जाता है तब सामाजिक जीवन अतीव आह्लादक एव सुखद रूप धारण कर लेता है। विधान की बाध्यता अनावश्यक हो जाती है। मनुष्य का सामान्य व्यवहार स्वत अनुकूल होने लगता है। शाति का साम्राज्य छा जाता है। चैन की बशी बजने लगती है : राम के आदर्श शासन का फल यह हुआ—

दड जतिन्ह कर भेद जहँ, नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचद्र के राज॥ ७।२२

की स्पृहणीय स्थिति उपस्थित हो गई थी। अपराध अभाव के कारण होते है अथवा स्वभाव के कारण। दोनो ही कारण अस्तित्वहीन हो गए थे। समाज समृद्धि सुविज्ञरित थी और स्वभाव सस्कृत हो गया था। अभेद मे भेद की गति हो ही नही सकती थी और शत्रुता के अभाव मे किसी से जीतने का प्रश्न ही नही उठता था। बेचारे ये शब्द सकोच का अनुभव करने लगे।

रामराज्य से मानवजाति को सुख, शाति और व्यवस्था प्रकृति के क्षेत्र पर भी अपनी स्निग्ध छाया डालकर अपने प्रभाव की सार्वभौमिकता सिद्ध कर रही थी। प्रकृति मानव की सहचरी बन गई थी। प्रकृति के सहस्तित्व की उदारता से पूरी जनता सुखी थी—

फूलहि फरहि सदा तरु कानन, रहहि एक सँग गज पचानन।

\+ + + +

लता विटप माँगे मधु चवहीं, मनभावतो धेनु पय स्रवहीं॥
७।२३।१–५

बिधु महि पूर मयूखन्हि, रवि तप जेतनेहि काज।
माँगें बारिद देहि जल, रामचद्र के राज॥
७।२३

ऐसा था मानस का रामराज्य जहाँ मानव-उल्लास सक्रामक बन गया था। यही तुलसीदास का रामराज्य है जिसको भारत मे प्रतिष्ठापित करने का स्वप्न गाधी जी देखा करते थे। दोनो आध्यात्मिक स्तर पर अवस्थित थे और सासारिक वास्तविकताओ को अपनी दृष्टि से देखते थे। दोनो का 'मानव-समाज' का ऐसा चरम विकास प्रयत्नसाध्य था जिसका चित्र हमें 'मानस' के 'रामराज्य' मे प्राप्त होता है। इसे कोरा आदर्श या कवि का कल्पनादर्श कहकर टाला नही जा सकता। इसकी बुद्धिग्राह्यता कवि की विचारधारा और जीवन-सबधी दृष्टिकोण के सम्यक् ज्ञान की अपेक्षा रखती है। जब तक हम गोस्वामी जी की यथार्थ आदर्शसबंधी धारणा को समझ न लेंगे तब तक रामराज्य तथा

उसकी उपलब्धियों को सदेह की दृष्टि से देखेंगे। गोस्वामी जी का यथार्थ है मनुष्यत्व और आदर्श है आत्मोपलब्धि, भगवत्प्राप्ति।

गोस्वामी जी की विशेषता यही है कि उन्होंने मनुष्य को इस यथार्थ और आदर्श के बीच सतुलित रखने और एक दूसरे को साधनस्वरूप ग्रहण करने का मार्ग प्रस्तुत किया। उन्होंने अपना भक्तिसंप्रदाय इसीलिये स्थापित नहीं किया कि उनकी भक्ति मनुष्य की आदर्श जीवनप्रणाली के अतिरिक्त है ही नहीं। उनकी भक्ति के लिये ससार के प्रति दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता है, वेश और परिवेश बदलने की नहीं। राजा भी अपनी प्रजा के साथ घर पर रहते हुए सिद्धि प्राप्त कर सकता है। यथा--

घर कीन्हें घर जात है, घर छाँड़े घर जाइ।
तुलसी घर बन बीच ही राम प्रेमपुर छाइ॥

इसका अर्थ है, शरीरी होकर अशरीरी बन जाना। देह मे ही विदेहत्व की स्थिति। इसी मानसिक स्थिति के कारण--"कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" (गीता ३।२०)। जनकादि ज्ञानी जन भी कर्म द्वारा ही सिद्धि को प्राप्त हुए। इसी आदर्श को अपनाकर राजा भी सिद्धि प्राप्त कर लेगा। साधारण जनता भी आवागमन के जजाल जाल से विमुक्त होकर रहेगी। यह उनका दृढ़ मत है।

यही गोस्वामी जी का 'रामराज्य' के संदर्भ मे मूल उत्स है। यही राज्य की पूर्णता है। 'घर बन बीच' की अवस्था ही मनुष्य की आदर्श प्रणाली है। यही उसका चरम विकास है। जो भगवद्गीता मे कहे गए भगवान् कृष्ण के कर्मसिद्धात की पुष्टि से विकसित है। उसी से मानव का परम कल्याण सभव है।

*

'मानस' का देशज शब्दभंडार : एक प्रतिवेदन

डा० शंभुनाथ पांडेय

•

(१) तुलसी के रामचरितमानस का शब्दभंडार अत्यंत समृद्ध तथा उसके संचय के स्रोत विविध है। उसमे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश, आदि भाषा के प्राचीन रूपों के साथ मध्यकालीन लोकभाषाओ का, जिनमे विदेशी शब्द भी सम्मिलित किए जा सकते है, प्रचुर प्रयोग हुआ है। मानस के व्याख्याकारो, संस्कृत टीकाकारों तथा कोशकारो का यह प्रयत्न रहा है कि वे समस्त शब्दावली का तत्सम रूप खोजना चाहते है और इसका परिणाम यह हुआ है कि 'मानस' के अनेक बोलचाल के शब्दों के ऐसे तत्सम रूप दिए गए है, जिनका प्रयोग सस्कृतसाहित्य मे भी नही मिलता।

तुलसी एक परंपरावादी कवि है। उन्होने शब्दो का प्रयोग उसी अर्थ मे किया है जिस अर्थ मे वे या तो साहित्य अथवा शास्त्र में प्रसिद्ध है अथवा लोकभाषा में प्रचलित रहे हैं। शब्द को उसकी अर्थपरपरा से विच्छिन्न करने और उसमे नया अर्थ भरने अथवा चमत्कार प्रदर्शन करने की प्रवृत्ति उनमे नाममात्र को भी नही मिलती। शब्दो की आत्मा का, उनके ह्रस्व-दीर्घ रूपों के द्वारा निप्पन्न होनेवाले सूक्ष्म अर्थभेदो का परिज्ञान जितना तुलसी को है उतना हिंदी के किसी कवि मे नही मिलता। शब्द के पर्याय रूपो का भी उन्हे इतना अच्छा परिज्ञान है कि जिस शब्द का जिस स्थान पर प्रयोग तुलसी ने किया है उस स्थान पर किसी अन्य पर्याय शब्द का प्रयोग श्रेप्ठतर सिद्ध नही किया जा सकता। भाषा के ऐसे महान् साधक एव रससिद्ध कवि की कृतियो का जितना सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक अध्ययन होना चाहिए उतना अभी तक नही हुआ। शब्दो का अत्यंत स्थूल अर्थ केवल संदर्भ के सहारे अनुमान से किया गया है। शब्दो की व्युत्पत्ति के विषय मे भी अटकल से काम लिया गया है। 'मानस' की अर्धालियों मे बाल की खाल निकालकर जनरुचि को संतृप्त करनेवाले व्यावसायिक व्यासो की सख्या आज भी कम नही है किंतु वैज्ञानिक धरातल पर भाषाविश्लेषण एवं शब्दनिर्धारण करनेवाले विद्यार्थी दिखलाई नही पड़ते।

(२) 'देशज' एक पारिभाषिक शब्द है। जिन शब्दो का तत्सम रूप सस्कृत मे नही खोजा जा सका है और न जो विदेशी भाषाओ से आगत माने गए है, उन्हे 'देशज' कह दिया गया है। इन देशज शब्दों मे ध्वनि अनुकरण पर बने हुए अनुकरणात्मक शब्द भी सम्मिलित है, किंतु प्रस्तुत प्रतिवेदन मे उन्हे सम्मिलित नही किया गया। प्रस्तुत प्रतिवेदन मे केवल उन्ही शब्दों को पूरे ब्योरे के साथ प्रस्तुत

किया गया है जिनकी व्युत्पत्ति या तो उपलब्ध है ही नही, और यदि कही मिलती भी है तो वह विश्वसनीय नही है। कौन सा देशज शब्द किस भौगोलिक क्षेत्र मे किस विशिष्ट अर्थ मे प्रयुक्त होता है, इसका भी सर्वेक्षण अभी तक नही हुआ।

(३) 'मानस' के देशज शब्दो को तीन कोटियो मे विभाजित किया जा सकता है—

[क] अज्ञात व्युत्पत्तिवाले देशज शब्द, [ख] यदृच्छाव्युत्पन्न तद्भव शब्द तथा [ग] अपने तत्सम रूप मे संस्कृत भाषा मे अप्रलित शब्द।

[क] देशज शब्द--अधोलिखित शब्दो का तत्सम रूप व्याख्या अथवा कोश-ग्रथो मे नही दिया गया। अत' इन्हे शुद्ध देशज कहा जा सकता है--

(अ) **संज्ञापद**--अचगरि, उपरना, करवरे, कानि, खँगे, घमोई, घालि, चुनौती, झगुली, झारी, ठीका, धधक, धीग, नहारू, नैहर, वागुर, वारुन, वूता, वौरा, भनु, भानस, भटभेरा, माजा, सख तथा साउज।

(आ) **विशेषण पद**--अरगाई, अरगानी, खेर, खाटी, गहवरि, निपट तथा वादि।

(इ) **क्रिया अथवा कृदंत पद**--छुहे, टेई, डहकि, पाँछि, पुकार, वाजा, वुताई तथा सुगाइ।

उपर्युक्त शब्दो मे से अधिकाश का प्रयोग आज भी वोलियो मे हो रहा है। वहुत सभव है, हिंदीक्षेत्र के सीमावर्ती क्षेत्रो की भाषाओ मे भी इनमे से कुछ शब्द प्रयोग मे आते हो। अत' इस कोटि के शब्दो का अनुसधान लोक-भाषाओ से करना चाहिए तभी हम उनके विशिष्ट अर्थ का ठीक ठीक निर्धारण कर सकते है।

[ख] **यदृच्छाव्युत्पन्न शब्द**--यदृच्छाव्युत्पन्न से यहाँ अभिप्राय यह है कि कोष ग्रंथो मे कुछ देशज प्रतीत होनेवाले शब्दो के तत्सम शब्द सस्कृत मे खोजे गए है किंतु सस्कृत से प्राकृत और अपभ्रश के विकास काल के कोई सूत्र नही दिए गए और रूपपरिवर्तन के कोई नियम भी निर्धारित नही किए गए है। अत. इनका तद्भवरूप अनिश्चित ही माना जायगा। अधोलिखित शब्दो को इस कोटि मे परिगणित किया जा सकता है--

(अ) **संज्ञापद**--अँगरी, आरेसू, ओहार, काखासोती, कोहाव, खभारू, गाँडर, चपेटा, टहल, ठट्टा, ठाटू, ठोर, डावर, डेरा, थाती, दमक, निहोरा।

(आ) **विशेषण**--छगे, छयल, छूछा, फीका।

(इ) **क्रिया अथवा कृदंत**--अँगवनिहारे, अलुज्झि, अवडेरि, अोघे, कडहारू, खिसिआइ, खुटानी, छाके, छेका, झाँखा, झाँपेउ, ठवनि, ठयऊ, ठठुकि, ठाढा।

(ई) **क्रियाविशेषण**--अगहुड़, अनैसे, जायँ, ढिग। उपर्युक्त शब्दो की जब तक वैज्ञानिक विधि से व्युत्पत्ति एवं प्रयोग नही खोजे जाते तब तक इन्हे देशज ही मानना अधिक संगत है, क्योकि बोलियो मे इनका प्रयोग आज भी प्रचलित है।

(ग) **अप्रचलित शब्द**--मानस मे प्रयुक्त तीसरी कोटि के देशज शब्द वे हैं जिनकी न तो वैज्ञानिक व्युत्पत्ति निर्धारित की गई है और न जिनके संस्कृत अथवा प्राकृत रूपो का प्रयोग ही उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। जिस अर्थ मे 'मानस' मे प्रयुक्त हुए है उस अर्थ मे उनके तत्सम रूपो का प्रयोग संस्कृत-साहित्य मे नही मिलता। अतः इन शब्दो को तद्भव कहा जाना सदेहास्पद है। इस कोटि के शब्द निम्नलिखित है--

(अ) **संज्ञापद**--अनट, अएजा, अवसेरी, आरौ, काखासोती, कुरी, काछिय, कूँडि, कोहबर, खुनिस, चाँकी, चार, छरुभारू, झँइ, निरजोसु, निहोरा, पहुनाई, माहुर, रहस, लहकौरि।

(आ) **विशेषण**--अटपटे, फुर

(इ) **क्रिया-पद**--अढुकि, कोरि, डेराई, ढरके।

(ई) **क्रियाविशेषण**--अवचट, उताइल तथा बगमेल।

उपर्युक्त तीनो कोटियो के शब्दो को अकारादि क्रम से पूरे विवरण के साथ इसलिये प्रस्तुत किया जा रहा है कि 'मानस' की भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन प्रारभ किया जा सके। 'मानस' मे और भी ऐसे लाक्षणिक प्रयोग मिलते है जिनकी अर्थ-व्यवस्था केवल सदर्भ के सहारे की गई है। शब्द की आत्मा तक पहुँचने का प्रयत्न नही किया गया। मानस चतु शती बडी धूमधाम के साथ मनाई गई है और मनाई जानी चाहिये थी; कितु उत्सव का रूप केवल मानस की अर्चना तथा तुलसी के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित करने तक परिसीमित नही रहना चाहिए थी। 'मानस' के अध्ययन को वैज्ञानिक स्तर पर लाने के लिये उसके शब्दो का वैज्ञानिक अनुसंधान करना नितात आवश्यक है। 'काशी नागरी प्रचारिणी' जैसी ठीक काम करनेवाली संस्थाएँ इस कार्य को योजनाबद्ध रीति से कर सकती हैं।

(४) **देशज शब्द--व्युत्पत्ति, अर्थ एवं प्रयोग।**

१-**अँगरी**--सं० अंगरक्षिका? यही व्युत्पत्ति अँगरखा की भी मानी गई है जो एक सामान्य परिधान है।

अँगरी पहिरि कूँड़ि सिर धरही ॥ २।१९१।५

२–अँगवनिहारे—(कर्तृवाचक कृदत) सं० अंग ? अंग पर सहन करने में समर्थ के अर्थ में प्रयुक्त ।

मूल कुलिस असि अँगवनिहारे । ते रतिनाथ सुमन सर मारे ॥ २।२५।४

३–अगहुड़—(दिशावाचक क्रि० वि०) अग्र + ? आगे की ओर—

भयवस अगहुड़ परइ न पाऊ ॥ २।२५।१

४–अचगरि—(भाव वा० सं०) ? शैतानी जैसे अर्थ में प्रयुक्त—

जौं लरिका कछु अचगरि करहीं ॥ १।२७७।३

५–अटपटि, अटपटे—(विशेषण) सं० अट + पत् ? विचित्र—

जदपि सुनहिं मुनि अटपटि बानी । समुझि न परइ बुद्धि भ्रम सानी ॥ १।१३४।६

६–अढुकि—(कृदन्त) सं० आ + टक ? लड़खड़ाना

अढुकि परहिं फिरि हेरहिं पीछे ॥ २।१४३।६

७–अनट—(भाव वा० सं०) अनिष्ट अथवा अनृत ? झंझट—

प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देव ।
सो सिर धरि धरि करिहि सबु मिटइ अनट अवरेब ॥ २।२६६।

८–अनैसे—(क्रि० विशे०) सं० अनिष्ट ? रोष की मुद्रा—

कह मुनि राम जाइ रिस कैसे । अजहुँ अनुज तव चितव अनैसे ॥ १।२७६।७

९–अब—(क्रि० विशे०) अद्य ? मानस में लगभग २०७ बार प्रयुक्त ।

बंदउँ किंनर रजनिचर कृपा करहु अब सर्ब ॥१।७।

१०–अरगजा—(संज्ञा) सं० अगरुजा ? केशर, चंदन, कपूर से मिश्रित द्रव—

गलीं सकल अरगजाँ सिंचाई ॥ १।३४४।५

११–अरगाई, अरगानी—(क्रि० विशे०) सं० अलग्न ? मौन के अर्थ में प्रयुक्त—

(i) भरत कहहिं सोइ किएँ भलाई । अस कहि राम रहे अरगाई ॥ २।२५६।८

(ii) सुनि प्रिय बचन मलिन मनु जानी । झुकी रानि अब रहु अरगानी ॥ २।१४।७

१२–अलीहा—(विशेषण) सं० अलीक ? असत्य—

कान मूँदि कर रद गहि जीहा । एक कहहिं यह बात अलीहा ॥ २।४८।७

१३–**अलुज्झि**—(कृदन्त) सं० अवरुंधन अथवा अठवंधन ? उलझने के अर्थ मे प्रयुक्त—

खप्परिन्ह खग्ग **अलुज्झि** जुज्झहि सुभट भटन्ह ढहावही ॥ ६।८८।१२

१४–**अवघट**—(सज्ञा) अव + घट ?

सरिता वन गिरि **अवघट** घाटा । पति पहिचानि देहि वर वाटा ॥ ३।७।४

१५–**अवचट**—(रीति वा० क्रि० विशे०) सं० अव + चित्र ? औचक के अर्थ मे प्रयुक्त—

पानि सरोज सोह जयमाला । **अवचट** चितए सकल भुआला ॥ १।२४८।६

१६–**अवडेरि**—(पूर्व० कृदन्त) स० अवट ? घेर घार कर—

पच कहे सिव सती विवाही । पुनि **अवडेरि** मराएन्हि ताही ॥ १।७९।८

१७–**अवढर**—(विशे०) सं० अव + धार ? मनमौजी, उदार—

आसुतोष तुम्ह **अवढर** दानी । आरति हरहु दीन जन जानी ॥ २।४४।८

१८–**अवसेरी**—(भाव० वा० सज्ञा) सं० अवसेरु ? चिंता, व्यग्रता—

भए वहुत दिन अति **अवसेरी** ॥ २।७।६

१९–**आरेसू**—(भाव वा० सज्ञा) ईर्ष्या, डाह के अर्थ मे प्रयुक्त—

कवहुँ न कियहु सवति **आरेसू** ॥ २।४९।७

२०–**आरौ**(सज्ञा) सं० आरव, आहट के अर्थ मे प्रयुक्त ।

घुरघुरात हय **आरौ** पाएँ ॥ १।१५९।८

२१–**उत** (दिशा वा० क्रि० विशे०) सं० अत्र ? उस ओर—

भोजन करत चपल चित इत **उत** अवसरु पाइ ॥ १।२०३।

२२–**उताइल**—(रीति वा० क्रिया० वि०) सं० उत + त्वरा, उतावला—

जव समुझत रघुनाथ सुभाऊ । तव पथ परत **उताइल** पाऊ ॥ २।२३४।६

२३–**उपरना**—(सज्ञा) ऊपर का वस्त्र—

पियर **उपरना** काखासोती । दुहुँ आँचरिन्ह लगे मनि मोती ॥ १।३२७।६

२४–**उहाँ**—(दिशा वा० क्रि० विशे०) उस ओर—

इहाँ **उहाँ** दुइ वालक देखा ॥ १।२०१।७

२५–**ओघे**—(पूर्व० कृदन्त) स० आवंधन ? कार्यरत हुए—

५०—गहबरि—(विशे०) दुखी के अर्थ मे प्रयुक्त—

गहबरि हृदयँ कहहि बरि बानी ॥ २।१२१।२

५१—गॉडर—(सज्ञा) स० गडुरी ? अर्थ अस्पष्ट

सो मैं कुमति कहौ केहि भॉती । बाज सुराग कि गॉडर तॉती ॥ २।२४०।६

५२—घमोई—(संज्ञा)—एक प्रकार की घास जो बॉस के कलगे से मिलती जुलती है—

अवही ते उर ससय होई । बेनु मूल सुत भयहु घमोई ॥ ६।१०।३

५३—घालि—(सज्ञा) तुच्छ के अर्थ मे प्रयोग—

रघुवीर बल दर्पित विभीषन घालि नहिं ता कहुँ गनै ॥ ६।९४।१३

५४—चपेटा—(संज्ञा) सं० चपन ? धक्के के अर्थ मे प्रयुक्त—

कतहुँ होइ निसिचर सै भेटा । प्रान लेहि एक एक चपेटा ॥ ४।२४।१

५५—चॉकी—(सज्ञा अथवा कृदंत) सं० चतुर अक । छापी गई—

चितवनि चारु भृकुटि वर बॉकी । तिलक रेख सोभा जनु चॉकी ॥ १।२१९।८

५६—चाड़—(सं० भाव० वा०) सं० चड, मुहावरेदार प्रयोग—

तोरे धनुप चाड़ नहिं सरई । जीवत हमहि कुँअरि को वरई ॥ १।२६६।४

५७—चार—(संज्ञा) सं० चर ? चुगलखोर के अर्थ मे प्रयुक्त—

जे अपकारी चार तिन्ह कर गौरव मान्य तेइ ॥ ७।९८।७

५८—चिराना—(कृदत) सं० चिर ? स्थिर होना ।

भरेउ सुमानस सुथल थिराना । सुखद सीत रुचि चाल चिराना ॥ १।३६।६

६९—चुनौती—(सं० भाव वा०) ?

ताके कर रावन कहँ मनौ चुनौती दीन ॥ ३।१७।

६०—छयल—(सज्ञा) सं० छवि + प्रा० इल्ल > छविल्ल > छइल्ल > छयल ? सुघड़, सुड़ौल, नौजवान ।

तिन्ह सब छयल भए असवारा । भरत सरिस वय राजकुमारा ॥ १।२९८।७

६१—छरे—(विशे०) सं० छवि अथवा छटा ? छरहरे के अर्थ में प्रयुक्त—

छरे छवीले छयल सव सूर सुजान नवीन ॥ १।२९८।

६२—छरु भारु—(सं० भाव वा०) स० सारभार ? उत्तरदायित्व—

देसु कोसु परिजन परिवारू । गुर पद रजहिं लाग छरु भारू॥ २।३१५।७

६३–छाके––(कृदंत) सं० चकन ? तृप्त के अर्थ मे प्रयुक्त––

जाहिं सनेह सुराँ सब छाके ॥ २।२२५।३

६४–छुहे––(विशे०) रंगित के अर्थ में प्रयुक्त––

छुहे पुरट घट सहज सुहाए ॥ १।३४६।६

६५–छूँछा––(विशे०) सं० तुच्छ>प्रा० चुच्छ, छुच्छ, छूँछा रिक्त के अर्थ मे प्रयुक्त––

प्रेम भरा मन निज गति छूँछा ॥ २।२४२।७

६६–छेंका––(कृदत) सं० छद ? घेरना अथवा अवरुद्ध करना––

(i) सो गोसाईं विधि गति जेहिं छेंकी ॥ २।२५५।८

(ii) मेघनाद सुनि श्रवन अस गढु पुनि छेंका आइ ॥ ६।४६।

६७–जाएँ––(सं० भाव वा०) फा० जाया ? व्यर्थ जैसा प्रयोग––

तात गलानि करहु जियँ जाएँ ॥ २।२१०।२

६८–झाईं––(सं० भाव वा०) सं० छाया ? झाँई आना, आँखो के आगे अँधेरा होना–

मुरछित अवनि परी झँइ आई ॥ २।१६४।१

६९–झगुली, झगुलिया (संज्ञा)–बच्चो का कपडा।

पीत झगुलिया तनु पहिराई ॥१।१९९।१

पीत झीनि झगुली तन सोही ॥७।७७।७

७०–झाँखा–(क्रिया) स० खिद् ? दुखी होना––

ऐहि बिधि राउ मनहिं मन झाँखा ॥२।३०।१

७१–झाँपेउ (क्रिया) सं० उत्थापन ? ढकने के अर्थ मे।

झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी ॥१।११७।२

७२–झारी (संज्ञा)–समूह के अर्थ मे प्रयुक्त।

धेनु रूप धरि हृदयँ बिचारी। गई तहाँ जहँ सुर मुनि झारी १।१८४।७

७३–टहल (सं० भाव वा०) सं० सत् ? चलन, घरेलू सेवा।

नीच टहल गृह कै सब करिहहुँ ॥७।१८।७

७४–टेईं––(क्रि०)--औजारो की धार पैनी करना।

कपट छुरी उर पाहन टेईं ॥२॥२२।१

७५–ठवनि–(सं०) सं० स्थापन ? गमन मुद्रा।

ठवनि जुवा मृगराज लजाए ॥१।२४४।१०

सचिव सुसेवक भरत प्रबोधे । निज निज काज पाइ सिख ओधे ॥
२।३२३।१

२६—ओहार (सज्ञा) सं० अवधार ? पर्दा—

सिविका सुभग ओहार उघारी । देखि दुलहिनिन्ह होहिं सुखारी ॥
१।३४८।८

२७—कड़हारू—(कर्तृ वा० कृदन्त) स० कर्णधार। उद्धार करने वाला—

राम बाहु बल सिधु अपारू । चहत पार नहिं कोउ कड़हारू ॥ १।२६०।८

२८—करवरें—(भाव वा० संज्ञा) अनिष्ट के अर्थ मे प्रयुक्त ।

मुनि प्रसाद बलि तात तुम्हारी । ईस अनेक करवरें हारी ॥ १।३५७।१

२९—करारा—(सज्ञा) स० करट, कौआ—

असगुन होहिं नगर पैठारा । रटहिं कुभाँति कुखेत करारा ॥ २।१५८।४

३०—काखासोती-(सं०) सं० कक्ष-श्रोत्र ? कधे पर पड़ा हुआ वस्त्र जो काँख मे होकर पीछे की ओर लटकाया जाता है—

पियर उपरना काखासोती ॥ १।३२७।६

३१—कानि-(भाव वा० सज्ञा)-संकोच जैसे अर्थ मे प्रयुक्त-

आपु छोटि महिमा बडि जानी । कविकुल कानि मानि सकुचानी ॥
२।३०३।६

३२—कुरी-(विशे०) सं० कुल ? अर्थ अस्पष्ट है—

नित नव मंगल कौसलपुरी । हरषित रहहिं लोग सब कुरी ॥ ७।१५।८

३३—कोरि-(पूर्व कृदन्त) सं० कुड् ? पच्चीकारी का पारिभाषिक शब्द—

मानिक मरकत कुलिस पिरोजा । चीरि कोरि पचि रचे सरोजा ॥
१।२८८।४

३४—कोरें-(विशे०)—अप्रयुक्त वस्त्र, अलिखित कागज इत्यादि—

कवित विवेक एक नही मोरे । सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे ॥
१।९।११

३५—काछिय (संज्ञा) सं० कक्ष ? पहनावा—

जस काछिय तस चाहिअ नाचा ॥ २।१२७।८

३६—कूँड़ि-(संज्ञा) सं० कुंड ? शिरस्त्राण के अर्थ मे प्रयुक्त—

अँगरी पहिरि कूँड़ि सिर धरही ॥ २।१९१।५

३७-**कोहबर**-(संज्ञा) सं० कोष्टवर। विवाहोपरात वर कन्या के मिलन का कक्ष--

दूलह दुलहिनिन्ह सहित सुदरि चली कोहवर ल्याइ कै ।।

१।३२६।२४

३८-**कोहाब** (भाव वा० संज्ञा) सं० कोपभाव ? तकाजा करना--

जानेउँ मरमु राउ हँसि कहई । तुम्हहि कोहाब परम प्रिय ग्रहई ।।२।२८।१

३९-**खभार** (विशेषण) सं० क्षोभ ? खलबली-

४०-**खभारू** (सं० भाव वा०)

(१) सासु ससुर गुर प्रिय परिवारू। फिरहु त सब कर मिटै खभारू ।।

२।९७।३

(२) देखि निबिड़ तम दसहुँ दिसि कपिदल भयउ खभार ।। ६।४८।

४१-**खरे** (विशे०) खड़े--

जनु चित्र लिखित समेत लछिमन जहँ सो तहँ चितवहि **खरे** ।। ६।८९।१०

४२-**खाँगे** (सं० भाव वा०) हेतु ग्रथवा प्रयोजन के ग्रर्थ मे प्रयुक्त--

राखौ देह नाथ केहि **खाँगे** ।। ३।३१।७

४३-**खाई** (संज्ञा) सं० खानि ? दुर्ग की खाई ।

खाई सिंधु गभीर ग्रति चारिहुँ दिसि फिरि ग्राव ।। १।१७८।

४४-**खाटी** (विशे०) खट्टी--

रहि गए कहत न **खाटी** मीठी ।।१।२९० ।५

४५-**खिसिग्राइ** (पूर्व० कृदन्त) सं० किण्क ? खीझना ।

जगदाधार सेस किमि उठै चले **खिसिग्राइ** ।।६ ।५४।

४६-**खुनिस** (सं० भाव० वा०) स० खिन्नमनस् ? क्रोध--

खेलत खुनिस न कबहूँ देखी ।। २।२६०।६

४७-**खुटानी** (कृदन्त) सं० खुड्, समाप्त होने के ग्रर्थ प्रयुक्त--

जेहि सुभायँ चितवहिँ हित जानी। सो जानइ जनु ग्रायु **खुटानी** ।।

१।२६९।३

४८-**खेरे** (संज्ञा) सं० खेट ? मुख्य गाँव की परिसीमा मे बसा हुग्रा छोटा गाँव--

जनु पुर नगर गाँव गन **खेरे** ।।२।२३६।१

४९-**गवँ**--(सज्ञा भा० वा०) स० गम्य, युक्ति ग्रथवा बहाने के ग्रर्थ मे प्रयुक्त--

देखि लागि मधु कुटिल किराती । जिमि **गवँ** तकइ लेउँ केहि भाँती ।।

२।१३।४

७६--ठयऊ (क्रि०) स० अनुष्ठान, निश्चित करना ।

एहि विधि हित तुम्हार मैं ठयऊ ॥१।१३३।२

७७--ठठुकि (क्रि०) स० स्थाता ? रुकना ।

रहेउ ठठुकि एक टक पल रोकी ॥५।४५।३

७८--ठट्टा (सज्ञा)--सं० स्थाता, समूह ।

देखिन्ह जाइ कपिन्ह के ठट्टा ॥६।४१।४

७९--ठाटू (संज्ञा) सं० स्थातृ ? आयोजन के अर्थ मे प्रयुक्त ।

रघुवर कहेउ लखन भल घाटू । करहु कतहुँ अब ठाहर ठाटू ॥२।१३३।१

८०--ठाढ़ा--(क्रि०) स० स्थातृ ? खड़ा होना ।

अहमिति मनहुँ जीति जगु ठाढ़ा ॥१।२८३।६

८१--८३--ठाहर तथा ठावँ--(कृदन्त तथा सं०) सं० स्थान तथा स्थल ।

(i) करहु कतहुँ अब ठाहर ठाटू ॥२।१३३।१

(ii) गुहँ बोलाइ पाहरू प्रतीतो । ठावँ ठावँ राखे अति प्रीती ।

२।९०।३

८२--ठीका--(सं०)--ठीक के अर्थ मे प्रयुक्त ।

करि विचारु मन दीन्ही ठीका ॥२।२६६।७

८३--ठोरी--(संज्ञा)--स्थान ।

छवि सिंगार मनहुँ एक ठोरी ॥१।२६५।७

८४--डाबर--(स०) स० दभ्र ? छिछला तालाब ।

डाबर जोगु कि हंसकुमारी ॥२।६०।५

८५--डहकि--(कृदत)--अर्थ अस्पष्ट है ।

डहकि डहकि परिचेहु सब काहू ॥१।१३७।१

८६--डेरा--(सं०) सं० स्थैर्य ? पडाव डालने के अर्थ मे प्रयुक्त ।

राम करहु तेहि के उर डेरा ॥२।१३१।८

८७--डेराई (क्रिया) सं० दर ? डरना ।

अभय होइ जो तुम्हहि डेराई ॥१।२८४।५

८८--ढरकें--(कृदत) सं० धार, ढलने के अर्थ मे प्रयुक्त ।

गए कोस दुइ दिनकर ढरकें ॥२।२२६।१

९०–ढिग (क्रि० विशे०) सं० दिक्; समीप।
अनुज सहित मिली ढिग बैठारी॥ ५।४६।३

९१–थाती (संज्ञा) सं० स्थातृ ? धरोहर।
थाती राखि न मागेहु काऊ॥ २।२८।१

९२–थैली (संज्ञा) स० स्थल ? रुपए की थैली।
तुरत देउँ मैं थैली खोली॥२।२७४।४

९३–दमक (संज्ञा) सं० द्युति--चमक-दमक।
दामिनि दमक रह न घन माही॥ ४।१४।२

९४–धंधक (संज्ञा) कदाचित् धंधा करने वाला।
धींग–(संज्ञा) प्रा० धिगार-धींगा।
धींग धरम ध्वजधंधक धोरी॥ १।१२।४

९५–नहारू (संज्ञा) कदाचित् जानवरों को बाँधने की रस्सी ?
मारेसि गाइ नहारू लागी॥२।३६।८
९६–निपट (क्रि० विशे०) अत्यन्त के अर्थ मे प्रयुक्त।
निपट निरंकुस अबुध असंकू॥ १।२७४।२

९७–निरजोसु (संज्ञा) सं० निर्+जुष अथवा निर्यास अर्थ अस्पष्ट है।
यह निरजोसु दोसु बिधि बामहिं॥ २।२०१।८

९८–निहोरा (संज्ञा) स० मनोहार ? विनय के अर्थ मे प्रयुक्त।
पुनि पुनि करउँ निहोर॥ १।१४।

९९–नैहर (संज्ञा) मायका।
नैहर जनमु भरव बरु जाई॥२।२१।१

१००–नोइ (संज्ञा) सं० नद्ध। दूध काढ़ते समय गाय की टाँगे बाँधने की रस्सी।
नोइ निवृत्ति पात्र बिस्वासा॥ ॥ ७।११७।१२

१०१–पहुनाई (संज्ञा) सं० प्राघुण ? आतिथ्य।
बिबिध भाँति होइहि पहुनाई॥१।३११।१

१०२–पाँछि (कृ०) नश्तर लगाने के समान अर्थ मे प्रयुक्त–
मरमु पाँछि जनु माहुर देई॥२।१६०।७

१०३–पुकार (संज्ञा) सहायता के लिये चिल्लाना—
एकहि एक न देखई जहँ तहँ करहिं पुकार॥६।४६

१०४–फीका (विशे०) सं० अपक्व ? निःस्वाद, नीरस ।
निज कवित्त केहि लाग न नीका । सरस होउ अथवा अति फीका ॥१।८।११

१०५–फुर (विशे०) स० स्फुरण ? सत्य ।
मुदिनु सुमगलदायकु सोई । तोर कहा फुर जेहि दिन होई २।१५।२

१०६–वगमेल (क्रि० विशे०) सं० वल्गामेल ? अर्थ अस्पष्ट है ।
हरपि परसपर मिलन हित कछुक चले वगमेल ॥ १। ३०५

१०७–वदि (कृदन्त) अर्थ अस्पष्ट है—
(१) जौ हम निदरहिं विप्र वदि सत्य सुनहु भृगुनाथ ॥ १।२८३।
(२) राउर वदि भल भव दुख दाहू । प्रभु विनु वादि परमपद लाहू ॥
१।२८३।

१०८–वागुर (संज्ञा) जाल अथवा फन्दा ।
वागुर विपम तोराइ मनहुँ भाग मृगु भागवस ॥ २।७५

१०९–वाजा—(क्रिया) अर्थ भिड़ना तथा चोट लगने के अर्थ मे प्रयुक्त ।
(i) तिन्हइ निपाति ताहि सन वाजा ॥ ५।१६।७
(ii) हतहिं कोपि तेहि घाव न वाजा ॥ ६।७६।८

११०–विआनी—(क्रिया) जानवरों का वच्चा देना ।
नतरु वाँझ भलि वादि विआनी ॥ २।७५।२

१११–वासन (सं०) ?
यह हमारि अति वड़ि सेवकाई । लेहिं न वासन वसन चुराई ॥ २।२५।१४

११२–वुताई—(क्रिया) शात होने के अर्थ मे प्रयोग ।
मन मोदक्न्ह कि भूख वुताई ॥ १।२४६।२

११३–वूतें—(संज्ञा) सामर्थ्य के अर्थ मे प्रयोग ।
किए जेहिं जुग निज वस निज वूतें ॥ १।२ ।२

११४–वौरा—(विशे०) वावला ।
भे सव लोक सोगवस वौरा ॥ २।२७।११

११५–भनु तथा भानस—(सं०) मनुष्य के समानार्थक प्रयोग ।
(i) सस्वी मर्मी प्रभु सठ धनी । वैद वंदि कवि भानस गुनी ॥ ३।२६।४
(ii) सो भनु मनुज खाव हम भाई ॥ ६।६।६

११६–भटभेरे—(संज्ञा) भटकने जैसे अर्थ मे प्रयुक्त ।
सुगम उपाय पाइवे केरे । नर हतभाग्य देहिं भटभेरे ॥ ७।२०।१२

११७–माजा—(संज्ञा) एक प्रकार का विषाक्त द्रव ।
माजहि खाइ मीन जनु मापी ॥ २।५४।४

११८–माहुर—(संज्ञा) सं० मधुर ? विष ।

देति मनहु मधु माहुर घोरी ।। २।२२।३

११६–रहस—(क्रिया) सं० हर्ष ? प्रसन्नता के अर्थ मे प्रयुक्त ।

रहसी रानि राम रुख पाई ।। २।११।१

१२०–लहकौरि—(संज्ञा) सं० लाभ कवल ? एक रीति विशेष ।

लहकौरि गौरि सिखाव रामहि सीय सन सारद कहै ।। १।३२७।१७

१२१–लौका—(संज्ञा) सं० नौका, नौका के अर्थ मे प्रयुक्त ।

तुलसी कृपा रघुवस मनि की लोह लै लौका तिरा ।। २।२५१।१२

१२२–सरव—(सज्ञा) अर्थ अस्पष्ट है—

घंट घटि धुनि बरनि न जाही । सरव करहि पाइक फहराही १।३०२।७

१२३–साउज—(संज्ञा) शिकार के अर्थ मे प्रयुक्त ।

नदी पनच सर सम दम दाना । सकल कलुष कलि साउज नाना ।।

२।१३३।३

१२४–सुगाइ—(क्रिया) संज्ञा-सदेह जैसे अर्थ मे प्रयुक्त ।

जो पावँउ अपनी जडताई । तुम्हहि सुगाइ मातु कुटिलाई ।।

२।१८४।६

'मानस' के विद्यार्थियो तथा हिंदी के विद्वानो से यह आशा की जाती है कि वे प्रस्तुत सूची पर विचार करके अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करेगे । 'मानस अनुसधान' मे सहयोग देना एक राष्ट्रीय कर्तव्य है ।

❀

हनुमान् : उपासक और उपास्य

श्री दूधनाथधर दुबे

रुद्रावतार हनुमान्—

भगवान् राम के भक्तो मे शकर का स्थान सबसे प्रमुख है। रामकथा के आदि प्रवर्तक वे ही माने जाते हैं। एक बार शिव ने भगवान् राम की भक्ति की इच्छा दास्यभाव से की थी। शिवजी को अति उत्कठा को जानकर रघुनाथ जी ने अपनी भक्ति का वरदान दे दिया था। इस प्रकार की कथा पुराणो मे प्राप्त है। कालातर मे वे ही शिव रुद्रावतार हनुमान् के रूप मे उनके भक्त बने और दास्यभाव की भक्ति उन्होने सपन्न की। अध्यात्म रामायणकार ने भगवान् राम के मुख से कहलाया है—

भक्तौ सजातमात्रायां भक्तत्वानुभवस्तदा।
ममानुभवसिद्धस्य मुक्तिस्तत्रैव जन्मनि ॥[1]

(अर्थात् भक्ति के उत्पन्न होने मात्र से भक्त को मेरे स्वरूप का अनुभव हो जाता है। और जिसे मेरा अनुभव हो जाता है उसकी उस जन्म मे ही मुक्ति हो जाती है।)

यह भक्ति हनुमान् जी के उपासक रूप को व्यक्त करती है। हनुमान् जी के सबध मे जानकारी करानेवाले 'वाल्मीकि रामायण' को ही हम आदि ग्रथ मान सकते हैं। परतु वाल्मीकि रामायण मे भी हनुमान् का जो भी स्वरूप प्राप्त है उससे यही सिद्ध होता है कि वाल्मीकि के लिये भी हनुमान् जी उपास्यस्वरूप मे सर्व-गुणसपन्न थे।

जन्म की दिव्यता—

संत एकनाथ जी ने 'भावार्थ रामायण' मे मारुतिजन्म की जिस कथा का उल्लेख किया है वह कथा पौराणिक है और उससे यही सिद्ध होता है कि यज्ञपायस का अंश हनुमान् जी की माँ अंजनी ने खाया था। इसलिये हनुमान् जी मे देवत्व का तेज आ जाना स्वाभाविक है। फिर भी हनुमान् जी का स्थान राम के हृदय में था। वाल्मीकि रामायण के आधार पर कहा जा सकता है

१—अध्यात्म रामायण, ३।१०।२९

कि राम के राज्याभिषेक के बाद जब सभी वानरो को भगवान् राम ने विदाई दी थी उस समय हनुमान् जी ने इस प्रकार का वरदान मांगा था--

स्नेहो मे परमो राजस्त्वयि तिष्ठतु नित्यदा ।
भक्तिश्च नियता वीर भावो नान्यत्र गच्छतु ।।
यावद् रामकथा वीर चरिष्यति महीतले ।
तावच्छरीरे वत्स्यन्तु प्राणा मम न संशय ।।[1]

रामचद्र जी ने वैसा ही आशीर्वाद दे दिया और साथ ही अपने गले का हार भी दे दिया था । यह सत्य है कि भगवान् रामचद्र की उपासना अजनी-पुत्र के बिना अधूरी रहती है। परतु हनुमान् की उपासना स्वतंत्र रूप मे शक्ति-देवता के रूप मे होती है । हनुमान् जी का परिचय देनेवाले ग्रथ अध्यात्म रामायण मे भी कहा गया .--

"न मे समा रावण कोटयोऽधमा
रामस्य दासोऽहमपारविक्रमः ।"[2]

अर्थात् स्वयं हनुमान् जी को भी अपने दासत्व का विक्रम मालूम था । उन्हे अपने उपासक स्वरूप पर अभिमान था । तुलसीदास जी ने भी उनके उपासक स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है :--

उमा न कछु कपि कै अधिकाई । प्रभु प्रताप जो कालहिं खाई ।।[3]

राम का प्रताप और परिवार :----

यह सच है कि हनुमान् जी का प्रताप राममिलन के बाद ही उजागर होता है, यह रामप्रताप ही कहा जाएगा । हनुमान जी का अपना प्रताप जो भी रहा हो परंतु रामायण इस बात का प्रमाण है कि हनुमान् जी भगवान् राम के सेवक के रूप मे ही निखर कर आए है और कालातर मे "राम ते अधिक राम कर दासा" बन गए । गोस्वामी जी ने हनुमान् जी की जो भी वंदना की है, वह राम के ही नाते की है । हनुमान् जी रामचद्र जी के आदर्श भक्त है ।

वल्लभ संप्रदाय मे चार प्रकार के भक्त माने गए है, शुद्ध पुष्ट, पुष्टिपुष्ट, मर्यादापुष्ट, प्रवाहपुष्ट । हनुमान् जी शुद्ध पुष्ट भक्त है । इसीलिये हनुमान् जी तथा लक्ष्मण जी शेषावतार की श्रेणी मे आते है । परंतु यहाँ प्रश्न यह उठ सकता है कि हनुमान् के समान ही लक्ष्मण जी क्यो नही उपास्य बन गए ? लक्ष्मण भी उसी

१--वाल्मीकि रामायण, उत्तरकांड ४० - १६ - १७
२--अध्यात्म रामायण, ६ - ४ - ६
३--रामायण सुंदरकाड ३ - ७

तरह के उपासक थे जैसे हनुमान् जी, हनुमान् जी उस उपासक की कोटि में आते है जो 'जानत तुमहि तुमहि होइ जाई'। 'सोई जानहि जेहि देहु जनाई" का वरदान तो उन्हें पहले ही प्राप्त हो चुका था। पवनसुत को भक्ति का वरदान पूर्व जन्म मे ही प्राप्त हो चुका था तव राममय होना उनके लिये क्या दूर की वात रह गई थी। इतना ही नही "साहव ते सेवक वड़ो जो निज धरम सुजान"।[1] यदि सेवक धर्मपालन मे प्रवीण हो तो वह स्वामी से भी श्रेष्ठ हो जाता है। इसीलिये रामचद्र जी ने तो समुद्र पर पुल वनाकर उसे पार किया था परतु हनुमान् उसे सहज ही लाँघ गए थे।"[2] इसमे आश्चर्य की क्या वात ? उनका उपासकस्वरूप वलवत्तर था। इसी आधार पर उनके वातजात रूप और रघुपतिप्रिय भक्तरूप की वंदना गोस्वामी जी ने साधार की है।

हनुमान् की विशेषताएँ

अतुलित वलधाम हेमशैलाभदेह दनुजवनकृशानु ज्ञानिनामग्रगण्यं।
सकल गुण निधान वानराणामधीशं रघुपतिप्रियभक्त वातजातं नमामि।।

उपर्युक्त श्लोक वर्णित सभी गुणों को रामाधार सिद्ध करते हुए गोस्वामी जी ने अनेक प्रमाण दिए हैं—

(१) अतुलित वलधामम्—जगज्जननी जानकी जी को उनके वल पर तभी विश्वास होता हे जव वे अपने हृदय के रामवल की प्रतीति उन्हें करा देते है। तभी सीता माता उन्हे "रघुपति चरण हृदय मे रख कर मधुर फल खाने का सुझाव देती है।"[3]

हेमशैलाभदेह—गोस्वामी जी ने पवनसुत के शरीर की उपमा स्वर्णगिरि से जो दी वह वाल्मीकि रामायण का प्रभाव है। वाल्मीकि रामायण मे सीता माता ने पवनसुत को उदयाचल पर विराजमान सूर्य के समान देखा था।[4] यह 'हेमशैलाभ-देह' का ही प्रमाण है।

(३) दनुजवन कृशानु—इस गुण का आधार भी गोस्वामी जी ने रामकृपा ही माना है। सीता माता के संशय निवारण हेतु स्वय हनुमान् जी कहते हैं:

"जननी हृदय धीर धरु जरे निसाचर जानु।"[5]

(१) दोहावली, २८ वाँ दोहा
(२) गीतावली, सुदरकाड १–३
(३) रामायण, सुदरकांड, १७वाँ दोहा
(४) वाल्मीकि रामायण, ३१–१६
(५) तुलसी रामायण, सुदरकांड १५वाँ दोहा

(४) ज्ञानिनाम् अग्रगण्य–हनुमान जी ज्ञानियो मे अग्रगण्य है। इसीलिये वे उपासक से उपास्य बन गए। स्वय रावण का उद्गार है 'मिला हमहि कपि गुरु बड़ ग्यानी।"[1]

सकलगुण निधानम्—इसके लिये सीता माता का आशीर्वाद भी सोने मे सुहागा बन गया। देखिए—

आसिष दीन्हि राम प्रिय जाना। होहु तात बल सील निधाना ॥[2]

(६) वानराणामधीश—वाल्मीकि जी ने उन्हे 'वानर पुगव' तो कहा ही था, गोस्वामी जी ने भी 'देखि हर्षि कपिराय'[3] की बात कह डाली।

(७) रघुपति वरदूत—हनुमान् जी का वरदूतत्व सिद्ध करनेवाले प्रसंग वाल्मीकि रामायण तथा तुलसी रामायण मे अनेक है। वाल्मीकि रामायण मे तो—

इक्ष्वाकूणा वरिष्ठस्य रामस्य विदितात्मनाम् ।
शुभानि धर्मयुक्तानि वचनानि समर्पयत् ॥[4]

इन सभी चरित्रो के कारण हनुमान जी भगवान् राम के श्रेष्ठ भक्त बन सके। गोस्वामी जी की उक्त वातात्मज-स्वरूप की वंदना हनुमान् जी के श्रेष्ठ उपासक-स्वरूप को समुख रखकर ही है। तुलसीकालीन जमाने की यह माँग थी कि हनुमान् के शक्तिशाली स्वरूप को संमुख रखा जाय। इसी आधार पर हनुमान उपासक बनते गए, इसमे शंका नहीं।

यह सिद्ध है कि भगवान् राम की एकनिष्ठ भक्ति हनुमान् जी ने की थी। उनके सिवाय दूसरी कोई भी वस्तु उन्हे प्रिय न थी। भगवान् राम ने युद्ध के अपने सभी साथियो को रत्नाभूषणो तथा अनेक उपहारो से अनुगृहीत किया। सबको अपना स्नेह तथा बहुमूल्य पारितोषिक प्रदान किया। परंतु अतिप्रिय भक्त हनुमान् वचित रह गया। करुणामयी जगज्जननी को यह बात असह्य लगी और उन्होने प्रभुराम की ओर दृष्टिक्षेप किया तथा उनकी स्वीकृति पाते ही अपना अति सुंदर बहुमूल्य हार उतार कर हनुमान् जी को सादर अर्पित किया। माता का प्रेम जानकर हनुमान् जी ने उसे अति आदर के साथ प्रणिपात करके गले मे डाल लिया। फिर भी उनका मन जितना प्रफुल्लित होना चाहिए था नही हुआ। वे बार बार हार की ओर देखते ही रह गए। उनकी दीप्त मुस्कान जाती रही। हार की मणियो को एक एक करके

(१) वही २४-२
(२) ,, १७-२
(३) ,, ५वाँ दोहा
(४) वाल्मीकि रामायण, सुदरकाड ३०-४२

देख डाला। पवनसुत का भयाक्रात विस्मय अदमनीय हो गया। उन्होंने उसकी एक एक मणि तोडकर दांत से पीस डाली। यह कृत्य किसी को भी अरुचिकर लगनेवाला था। लक्ष्मण भी कुपित हो गए। उन्होने भगवान् राम से उसी रोष मे कहा, प्रभो ! इसे यह अमूल्य हार देना आपके लिए उचित नही था। भगवान् राम ने कहा, हनुमान् से ही पूछा जाय कि उन्होंने ऐसा क्यो किया। हनुमान् ने कहा—प्रभो ! माता का यह हार अमूल्य था इसमे कोई सदेह नही। परतु इसके भीतर मेरे सिरजनहार प्रभु का नाम अकित नही। मेरे मन मे पहले ऐसा आया कि मुझसे भूल हो रही है। परतु जब मैंने गौर से उसकी एक एक मणि को देखा तो मुझे सच मे उनमे आपकी मूर्ति दिखाई नही दी। इसलिये आप के विना मैं उन्हे अपने गले का हार न वना सका और उन्हें पीस डाला। गुस्ताखी माफ हो। लक्ष्मण इस पर गरजकर बोले—क्या तुम्हारे अपने हृदय मे रामनाम अकित है। लक्ष्मण के ये शव्द निकलते ही हनुमान् जी ने अपने वक्षस्थल को कपाट जैसा खोल दिया। लोगो ने आश्चर्य के साथ उसमे रामनाम चमकते देखा था।"[1]

इस कथा मे तार्किकता को इतना ही स्थान है कि 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभुमूरत देखी तिन्ह तैसी' के आधार पर सभी भगवद्भक्तो ने राम की मूर्ति हनुमान् जी के हृदय मे देखी होगी।

गो० तुलसीदास के हनुमान्

गोस्वामी जी ने हनुमान् जी को राम के नाते कही पर उपासक माना है तो कही पर उनसे अपने दुःख-निवारणार्थ उपास्य रूप मे प्रार्थना भी की है। विनयपत्रिका मे गोस्वामी जी ने हनुमान् को अपना उपास्य वताया है। हनुमान् वाहुक भी उनके उपास्य रूप का प्रमाण है, यद्यपि हनुमान् जी का वर्तमानकालीन उपास्य स्वरूप बहुत प्राचीन काल से पाया जाता है। महाभारत मे अर्जुन के रथ पर हनुमान् जी आसीन है। यह रथासीनता रक्षकस्वरूपा है। इससे यह प्रमाणित होता है कि हनुमान् जी उस काल मे भी उपास्यस्वरूप मे ही विद्यमान थे।

गोस्वामी जी ने हनुमान् जी को इस रूप मे जहाँ कही वर्णित किया है वहाँ उनका विप्ररूप आया है। इसका शायद यह कारण रहा हो कि तुलसीदास जी ने अपना प्रतिविब हनुमान जी मे खोजा हो तथा हनुमत्कृपा को भगवत्प्राप्ति का साधन माना हो। एक कारण और है कि भगवान् राम को

(१) रामांक (कल्याण) पृष्ठ ४२३

गोस्वामी जी ने ब्राह्मणों का रक्षक बनाकर क्षत्रियस्वरूप प्रदान किया है, इसीलिए हनुमान जी का ब्राह्मण होना सिद्ध हो जाता है। उदाहरणार्थ--

"विप्र रूप धरि कपि तहँ गयऊ। माथ नाइ पूछत अस भयऊ ॥"[1]

और भी

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
विप्ररूप धरि पवनसुत आइ गयो जनु पोत ॥[2]

उपास्य बनने के लिये यह आवश्यक है कि उसके पास कुछ अलौकिक गुण हो। गोस्वामी जी ने हनुमान् जी को विनयपत्रिका की स्तुति मे उन्हे सूर्य कहा है। वे सभी वेदातशास्त्र के ज्ञाता माने गए है। "कहते है कि हनुमान् जी ने सूर्य भगवान् से सारी विद्याएँ पढ़ी थी। उन्होने वेदो पर भाष्य शास्त्रों और पिंगल पर टीका, काव्यो पर टिप्पणियाँ तथा वेदो पर कई ग्रथ स्वयं लिखे थे। आज भी हनुमन्नाटक, हनुमत् ज्योतिष आदि ग्रंथ उनके नाम पर प्रचलित मिलते है। कहते है कि चित्रकाव्य के आविष्कर्ता हनुमान जी ही थे।"[3] इसी आधार पर गोस्वामी जी ने उन्हें सकल गुणनिधान की संज्ञा दी है। विनयपत्रिका का पद है '--

जयति निगमागम-व्याकरन-करन-लिपि काव्य कौतुक कलाकोटि सिंधो।
सामगायक भक्त-काम-दायक वामदेव श्री राम प्रिय प्रेमबंधो ॥[4]

गोस्वामी जी ने हनुमान् जी को ब्राह्मण, देवता, सिद्ध और मुनियों के आशीर्वाद की साक्षात् मूर्ति की सज्ञा दी है। देव, ब्राह्मण और ऋषि की वाणी को कभी व्यर्थ गोस्वामी जी नही मानते थे। हनुमान् जी की भी वाणी कभी व्यर्थ न होनेवाली बन गई क्योकि उन्हे भगवान् राम का आशीर्वाद जो प्राप्त था। हनुमान् जी को गोस्वामी जी ने सात्विकता और बुद्धि का सागर कहा है।[5] जिसका स्वरूप ही आशीर्वाद के समान है उसके आशीर्वाद अथवा कृपा की प्राप्ति अनायास ही गोस्वामी जी को करनी थी इसीलिये हनुमान् जी का उपास्य स्वरूप उनके लिये बड़ा महत्वपूर्ण बन गया होगा। विप्र का आशीर्वाद

१. मानस ५।५।०।३
२. मानस, उत्तरकाड, दोहा १
३. विनयपत्रिका, हरितोपिणी टीका (वियोगी हरि) पद २८वाँ
४. विनय पत्रिका--२८--५।
५. वही २५--३।

अपना लौकिक महत्व रखता है। इसीलिये तुलसीदास जी के लिये हनुमान् जी कल्याणकारी मंगलमूर्ति के साक्षात् स्वरूप क्यो न बन जाते ?

गोस्वामी जी ने हनुमान् जी की बारह मूर्तियो की स्थापना काशी मे की, वह उपास्यकी दृष्टि से ही की है। हनुमान् जी को उन्होने संकटमोचन माना है। आचार्यप्रवर पंडित विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र के अनुसार जिन मूर्तियो की स्थापना रामसीता सहित की गई है उनमें हनुमान् जी उपासक के रूप मे है अर्थात् हनुमान् जी के चित्रों मे उनकी गदा नही दिखाई गई है तथा उनकी पूँछ को भी नीचे दिखाया गया है। तुलसीस्थापित मूर्तियाँ अधिकांश रूप मे दक्षिणाभिमुख है। वे यही सूचित करती हैं कि हनुमान् जी कल्याणकारी देव है, वामदेव नही। हनुमान् जी की स्वतंत्र मूर्तियाँ तथा पंचमुखी मूर्तियाँ उन्हे शक्तिदेवता के रूप मे प्रतिष्ठित करती हैं। इसलिये ऐसे अवसर पर हनुमान् जी पराक्रमी देवता के रूप मे गदाधारी है और उनकी पूँछ ऊपर को है। वाल्मीकि रामायण के सभी चित्र यदि वे खडे है तो उनकी पूँछ लटकी है तथा बैठे होने पर उनकी पूँछ जमीन पर लेटी है। इस प्रकार के सभी चित्र तुलसी रामायण तथा अध्यात्म रामायण मे हनुमान् जी के रामदरबार मे होने पर चित्रित है।

हनुमान् जी के उपास्यस्वरूप की परंपरा

हनुमान् जी उपास्य कब और कैसे बने, इसका निश्चित पता लगाना कठिन है। हनुमान् के बारे मे प्रमाणभूत ग्रंथ रामायणो को माना जा सकता है। वाल्मीकि ने हनुमान् जी की शक्ति का लोहा तो माना है परंतु वाल्मीकि रामायण मे हनुमान् जी का उपासक रूप ही उभरकर आया है। भगवान् रामचंद्र जी ने हनुमान् जी को भक्तश्रेष्ठ मानकर "रामगीता" सुनाई थी। उसमे १००० श्लोक हैं और १८ अध्याय। इस गीता के श्रोता हनुमान् जी है। हनुमान् जी की योग्यता का परिचय प्रभु रामचंद्र को पहली ही मुलाकात मे हो गया था। रामरक्षा स्तोत्र मे भी---

> मनोजवं मारुततुल्यवेगं जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।
> वातात्मजं वानरयूथमुख्यम् श्री रामदूतं शरणं प्रपद्ये ॥[१]

इन सब उदाहरणो के पीछे रामदूत की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। यही श्रेष्ठता उन्हें उपास्य की श्रेणी मे बिठाती है। हम पहले भी कह आए है कि अर्जुन के रथ पर तथा झंडे पर हनुमान् जी थे। यह उनका उपास्य स्वरूप ही सिद्ध होता है।

१--प्रसाद-हनुमान दैवत विशेषांक अगस्त १९७५, पृष्ठ ७७

वाल्मीकि जी तथा तुलसीदास जी ने हनुमान् जी के भक्तरूप को इतना प्रभावशाली बनाकर उपस्थित किया कि उनके उपास्यस्वरूप पर श्रद्धा अपने आप दृढ होती चली गई। तुलसी के राम भी तो आखिर मर्यादा पुरुषोत्तम ही है। पुराणो और रामायणो मे हनुमान् जी के अद्‌भुत चरित्रो का उल्लेख मिलता है। अगर हनुमान चालीसा को तुलसीदासरचित प्रामाणिक ग्रथ मान लिया जाय तो उसके आधार पर हनुमान् जी तुलसीदास जी के आराध्य थे। अपनी बाहुपीड़ा को दूर करने के लिये गोस्वामी जी ने 'हनुमान बाहुक' लिखा है। इससे यही सिद्ध होता है कि वे उन्हे उपास्य ही मानते थे।

रामभक्ति सप्रदाय मे हनुमान् जी को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वैसे तो हनुमान् जी की पौराणिकता पर अविश्वास प्रकट नही किया जा सकता परतु वर्तमानकालीन हनुमत्पूजा के आधार उत्तर मे गोस्वामी तुलसीदास जी तथा दक्षिण मे समर्थ रामदास जी है। गोस्वामी जी ने काशी मे बारह हनुमान मदिरो की स्थापना की जिनमे से अधिकाश दक्षिणामुखी हैं। समर्थ गुरु रामदास जी ने ग्यारह मारुति की स्थापना की जिनमे से प्रत्येक हनुमान् के पैर के नीचे राक्षस के पददलित होने की कल्पना है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि समर्थ गुरु रामदास जी ने हनुमान् जी को शक्तिशाली उपास्य माना था।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने हनुमान् की भक्ति सख्य भाव से की है। यद्यपि राम की भक्ति उन्होने सेवक-सेव्य-भाव से की है। विनयपत्रिका मे हनुमान् जी को उद्देश्य करते हुए वे कहते है 'तेरे सेवक का पर्दा फट रहा है, कृपाकर उसमे टाँके लगा दे क्योंकि तू तो बड़ा समर्थ है।' भाव यह कि गोस्वामी जी की लज्जा के के रक्षक हनुमान् जी ही है। 'तेरे जैसे समर्थ के आगे मेरी इज्जत आबरू न बची तो फिर हो चुका। पहले तो यदि मै भूलता नही तो तेरा यह स्वभाव था कि तू अपने सेवक की सुनता और मानता था पर क्या हो गया .... वैसे तो जो राम-रंगी (राम भक्त) है, उनका तीनो काल बना बनाया है। मेरी तो रामकृपा से कभी न कभी बन ही जाएगी पर यदि अभी तूने मेरी सुन ली तो तुझे भी बहती गगा मे हाथ धोने का पुण्य मिल जाएगा।'

गोस्वामी जी रामानद जी की भक्तिपरंपरा मे आते है। रामानद जी ने भी हनुमान् जी की उपासना की है।[२] रामानंद जी ने हनुमादाराधना से मनुष्य को परम-पद का अधिकारी बताया है। गोस्वामी जी ने हनुमान् की उपासना का आधार

(१) विनय पत्रिका-हरितोषणी टीका ३२वाँ पद

(२) देखिए, हिंदी साहित्य का इतिहास (आचार्य रामचंद्र शुक्ल)

वालिमकि रामायण और अध्यात्म रामायण से लिया है। भगवान् राम का श्रेष्ठ दासस्वरूप ही गोस्वामी जी का उपास्य बन गया।

समर्थ गुरु रामदास की हनुमत्-उपासना

मराठाकाल मे हनुमान् को शक्तिदेवता मानकर समय की पुकार पर समर्थ गुरु रामदास जी ने न केवल महाराष्ट्र मे, अपितु समस्त भारतवर्ष मे उपास्य रूप मे उपस्थित किया है। समर्थ का राजनीति मे सक्रिय योगदान रहा, तदर्थ शक्ति की उपासना आवश्यक हो गई थी। स्वय को ही समर्थ हनुमान् (रामदास) मानते थे। यह तो सतो की परपरा ही रही है कि भगवान् को (उपास्य को) सबोधित किए जानेवाले शब्द भक्त के सबोधन बन गए। गोस्वामी जी भगवान् राम को गुसाईं कहने थे इसीलिये स्वय गुसाई बन गए। भगवान् रामचन्द्र को 'समर्थ' कहनेवाले गुरु रामदास स्वय 'समर्थ' बन गए। इससे भक्त और भगवान् का तादात्म्य सिद्ध हो जाता है। समर्थ गुरु रामदास को हनुमान् का अवतार माना जाता है, इसके पीछे एक भूमिका है और वह यह है कि "हनुमान जी गायन कला के प्रवीण थे और समर्थ को भी गायन कला का सूक्ष्म ज्ञान था। समर्थ की कविता मे कही कही रागो के लक्षण गीत भी देखने को मिलते है।" समर्थ के अनुसार "रामभक्तो के लिये हनुमान जी के सिवाय दूसरा कोई आधार नही। राम ने जब इहलोक का त्याग किया था तब अपने भक्तो की रक्षा का कार्य मारुति पर डाला था और हनुमान् जी इस कार्य को बिना किसी विलब के करते रहते है।"[2] देखिये ----

स्वधामा सिजाता महा राम राजा।
हनूमत तो ठेविला याच काजा।
सदा सर्वदा राम दासासि पावे।
खली गाजिता ध्यान साडूनि धावे॥[3]

विनयपत्रिका की हनुमत् स्तुति और करुणाष्टक (रामदास रचित) की हनुमत्स्तुति मे बडा साम्य है। करुणाष्टक मे ग्यारह मारुति की स्थापना का प्रसग है। वैसे तो समर्थ ने अनेक हनुमन्मदिरो की स्थापना की थी परंतु ग्यारह मारुति मदिरो की स्थापना अपनी ख्याति रखती है। काश्मीर से लेकर कुमारी अतरीप तक समर्थ ने प्रवास किया था और जगह जगह हनुमान मदिर की स्थापना की थी और अखाड़े भी स्थापित किए थे। यह सब शक्ति की उपासना का स्वरूप था। हनुमान् जी समर्थ उपास्य थे।

(१) रामदास वाङमय आणि कार्य, न० र० फाटक, पृष्ठ ४
(२) वही। पृ० ५
(३) समर्थ चरित्र (समर्थ हृदय) श० श्री देव, पृष्ठ २१६

समर्थ गुरु रामदास के पूर्व एकनाथ जी अपने 'भावार्थ रामायण' मे हनुमान् को शक्तिदेवता के रूप मे प्रतिष्ठित कर चुके थे। तुलसीदास और समर्थ रामदास की उपासना को जोड़नेवाली कडी एकनाथ ही माने जाते है।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि हनुमान् जी के वर्तमान उपास्यस्वरूप की परपरा रामायण काल से ही प्रचलित है। श्री नारदीय पुराण मे भी हनुमान् जी को उपास्य रूप मे दिखाया गया है। परतु यह भी सत्य है हनुमान् जी की श्रेष्ठता का कारण भगवान् राम की भक्ति ही है। एक आदर्श भक्त को किस प्रकार उपास्य का स्वरूप प्राप्त होता गया इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हनुमान् जी है। आज दक्षिण मे कन्याकुमारी से लेकर उत्तर मे काश्मीर तक हनुमान् जी के मदिर पाए जाते है, जहाँ हनुमान जी की उपासना होती है। इस प्रचार का सारा श्रेय गोस्वामी तुलसीदास और समर्थ गुरु रामदास को है।

❀

गोसाईं तुलसीदास जी के रामचरित-मानस और संस्कृत-कवियों में बिंबप्रतिबिंब भाव

श्री चंद्रधर शर्मा गुलेरी

किष्किंधा काड के वर्षा और शरद् के वर्णन का श्रीमद्भागवत के वैसे ही वर्णन से जो साम्य है वह इडियन प्रेस के संस्करण की भूमिका में संपादको ने दिखलाया ही है। 'समेलन पत्रिका' के एक पिछले अक मे किसी लेखक ने कुछ और भी सादृश्य दिखाए है। कुछ और यहाँ पर दिए जाते है—

(१)

सुरसरिधार नाउँ मदाकिनि।
जो सब पातक-पोतक-डाकिनि ॥ (अयोध्या काड)

❀

त्वत्तटघटितकुटीक स नटीको भिक्षुरत्र पटुरेव।
पातकपोतकडाकिनि मन्दाकिनि हे नमस्तुभ्यम् ॥ (उद्भट)

यह श्लोक जगन्नाथ पडितराज की कविता का सा जान पड़ता है, तब तो यह गुसाईं जी के पीछे का होना चाहिए किंतु है पुराना।

(२)

पूरब दिसि गिरि गुहा निवासी।
परम प्रताप तेज बल रासी ॥
मत्त नाग तम कुभ विदारी।
ससि केसरी गगन बन चारी ॥
बिथुरे नभ मुक्ताहल तारा।
निसि सुदरी केर शृगारा ॥ (लका काड)

❀

मयूखनखरत्रुटत्तिमिरकुम्भिकुम्भस्थलो-
च्छलत्तरलतारकाप्रकरकीर्णमुक्ताकणः।
पुरदरहरिद्दरीकुहरगर्भसुप्तोत्थित--
स्तुषारकरकेसरी गगनकाननं गाहते ॥

(प्रसन्नराघव नाटक ७।६०)

(३)

सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा।
कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा॥

❀

यदि खद्योत भासापि समुन्मीलति पद्मिनी।

(४)

स्याम सरोज दाम सम सुंदर।
प्रभु भुज-करि कर सम दसकंधर॥
सो भुज कंठ कि तव असि घोरा।

❀

रघुपतिभुजदण्डादुत्पलश्यामकान्ते-
र्दशमुख भवदीयान्निष्कृपाद्वा कृपाणात्॥

(५)

चंद्रहास हरु मम परितापं।
रघुपति बिरह अनल संजातं॥

❀

चन्द्रहास हर मे परितापं। रामचन्द्र विरहानल जातम्॥

रामचरित मानस के ये तीनों अवतरण सुदरकांड मे से है और संस्कृत के तीनो कवि जयदेव के प्रसन्नराघव नाटक मे से (पूना का छपा, सन् १८९४, देखो ज० रा० ए० सो०, अप्रैल १९१४)।

(६)

है कपि एक महाबलसीला।
आवा प्रथम नगर जेहिं जारा।...
... ...

सत्य नगर कपि जारेउ बिनु प्रभु आयसु पाइ।
फिरि न गयउ सुग्रीव पहँ तेहि भय रहा लुकाइ॥

(लंकाकांड)

कस्त्वं वानर रामराज भवने लेखार्थ संवाहको
यात. कुत्र पुरागतः स हनुमान् निर्दग्धलंकापुरः।
बद्धो राक्षससूनुनेति कपिभिः संताडितस्तर्जितः
स व्रीडाप्तपराभवो वनमृगः कुत्रेति न ज्ञायते॥

(हनुमन्नाटक मे से, कुवलयानंद मे उद्धृत)।

❀

तुलसी का परिवेश

डा० मोहनलाल तिवारी

महाकवि तुलसी के तत्कालीन (स० १५५४–१६८० वि० या सन् १४९७–१६२३ ई०) सामाजिक और साहित्यिक परिवेश को समझे विना उनके साहित्य की प्रमुख विशेषताओ पर कुछ कहना या लिखना न्यायसंगत नही प्रतीत होता। तुलसी को अनेक आलोचक या अध्यापक भावुकता मे समन्वयवादी कह देते है। किन परस्पर विरोधी बातों मे उन्होने समन्वय स्थापित किया ? क्या विरोधाभासो का समन्वय कही चल पाता है ? क्या वे सांप्रदायिक और रूढिवादी थे और क्या रूढिवादी को समाज और साहित्य मे इतना जीवन मिल पाता है ? क्या वे सुधारवादी और प्रगतिवादी थे और थे तो उनके सुधार के नए मुद्दे क्या हैं ? क्या वे क्रातिकारी थे, तो उनकी क्रातिकारी मान्यताओ के लक्षण क्या है और उन्होने किसके विरुद्ध, किसके लिये क्राति का सूत्रपात किया ? यदि वे सिद्ध कवि या भक्त थे, तो सशक्त लोकनायक के रूप मे कैसे प्रतिष्ठित हो गए ? तब क्या तुलसी के साहित्य को अतर्विरोधो का साहित्य मान लिया जाय ? क्या तुलसी एक समर्थ व्यवस्थावादी साहित्यकार थे ?

साखी सबदी दोहरा, कहि किहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहि बेद पुरान॥

इस दोहे से तुलसी अपनी काव्ययात्रा की परिस्थितियो का सकेत करते है, तो निम्नलिखित पक्तियो से उस यात्रा के महान् लक्ष्य का :

नाना पुराण निगमागम सम्मत यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा–
भाषा निबन्धमतिमञ्जुलमातनोति॥

तुलसी के पूर्व का भारतीय समाज (बारहवी से सोलहवी सदी तक) शासक इस्लाम मतावलंबियो तथा गुलाम गैरइस्लाम मतावलबियो मे बँटा हुआ था। यह रूप उत्तर से दक्षिण तक एक ढंग से स्थापित हो चुका था।

मुसलमानों में अरब, तुर्क, पठान और मुगल नस्ल के लोग घुलमिल चुके थे और अपने को सुन्नी (उत्तर भारत मे विशेष) तथा शीया (दक्षिण भारत मे विशेष) जैसे दो उपसप्रदायों मे विभक्त कर चुके थे। स्थानीय जातिप्रथा की देखा-देखी तथा तत्काल धर्मपरिवर्तित ऊँच नीच वर्गों की मनोवैज्ञानिक पृथक्ता के कारण उनमे भी सैयद, तुर्क, पठान, शेख, मोमिन, हनफी, वहाबी, अहमदिया आदि का असली नकली बँटवारा होने लगा था।

१–धार्मिक परिवेश–मुसलमानो के भारत में आने से पहले और बाद मे गैरमुसलिम जनता मे भीषण धार्मिक एव जातिगत बँटवारा हो चुका था। अनेक नई संकीर्ण दीवारें बनाई जा रही थी। बहुमत वैदिक या ब्राह्मण मतावलंबियो का था, जिसके सामाजिक संगठन का आधार मनुस्मृति द्वारा प्रतिपादित 'वर्णाश्रम' था। चारो वर्णों मे अनेक जातियाँ तथा उपजातियाँ थी, जो एक अन्य के लिये प्रायः समान ढंग से अस्पृश्य थी। छोटो के लिये ऊपर के लोग श्रेष्ठ थे। दास और अर्धदास प्रथा का व्यापक प्रचलन था। शूद्र वर्ण गाँवो या बस्तियो मे दूर रहने के लिए बाध्य था। ब्राह्मणवर्ण देवता से अधिक पूज्य और शूद्रवर्ण पशुओं से अधिक हेय समझा जाता था। उपासना की दृष्टि से इनमे परपरानुगत तीन मत चल रहे थे–(१) शैवमत, (२) वैष्णवमत, (३) शाक्तमत। तीनों मे घोर संघर्ष और चढा ऊपरी की स्थिति थी। सभी बहुदेववादी मूर्तिपूजक थे। धर्म के नाम पर अंधविश्वास और पद्धतिवाद और मेकेनिज्म के सभी शिकार बन चुके थे। इन्हे हिंदू कहना चाहिए।

दूसरा संप्रदाय बौद्धों का था–हीनयान और महायान जैसे उपसंप्रदायों सहित। बाद मे चलकर वज्रयानियों का नया संप्रदाय विकसित हुआ, जो तांत्रिक और सिद्ध बनकर लौकिक जीवन के विधि विधान में अलौकिक चमत्कार का दावा करने लगा और निर्धन, अशिक्षित तथा पराजित जनता को तरह तरह से गुमराह करने लगा। यद्यपि मध्य तथा पूर्वी भारत में इनका विशेष जोर था, तथापि शंकराचार्य (सातवी शती) के पश्चात् इनके विघटन तथा आदर्शहीनता का जोर बढ़ने लगा था। फलस्वरूप विभिन्न रगो के बौद्ध धर्मावलंबी भी मार्गच्युत अंधविश्वासो के चलते फिरते प्रतीक बनकर भ्रष्टाचार, घृणा और संघर्ष के सिपाही बन गए थे। वैदिक और ब्राह्मणधर्म की शीघ्र कटुनिंदा मे इन्हें संलग्न हो जाना पड़ा। उस युग मे भौतिक संपत्ति और शासनसत्ता पर ब्राह्मणवादियो का अधिकार बढ़ने लगा था। अंधब्राह्मण-विरोध की प्रतिक्रिया के कारण समाज मे उपेक्षित बौद्धो ने इस्लाम को तेजी से अपनाया और झुंड के झुंड धर्मांतरण करने लगे। इनके सामूहिक धर्मांतरण से धार्मिक और

फलस्वरूप देश का राजनीतिक सतुलन ही अस्तव्यस्त सा हो गया। इसलाम को किसी प्रकार देश के भीतर हजम किया जा सके, इसके विरुद्ध देश को इस्लाम के अतर्गत हजम किया जाने लगा।

तीसरा प्रभावशाली संप्रदाय जैन-मतावलवियो का था। सामाजिक संगठन की दृष्टि से ज्यादातर जैन व्यापारी वर्ग के थे, जिनका वर्णाश्रम-मतावलबी वैश्यो से राष्ट्रीय सहयोग चलता था। भारतीय मध्ययुग न सामंतवाद के असली भौतिक स्तभ ये ही थे, किंतु जैन विचारक एवं बुद्धिजीवी तथा साहित्यकार घोर ब्राह्मणविरोधी थे। यद्यपि ब्राह्मणवाद की सभी बुराइयाँ इस सप्रदाय मे भी आ चुकी थी तथापि वर्णाश्रम एव जातिवाद के दोषो से अभी भी ये मुक्त थे। इन्होंने अपने पंथ को सिद्धमत, सिद्धमार्ग, योगमार्ग, योगसंप्रदाय, अवधूतमत, अवधूतसंप्रदाय आदि नाम दिया है। ऊपरी स्तर पर ये श्वेताबरो एवं दिगबरो मे बँटे थे। हिंदू जैन मदिरो की अगणित देवदासियो के साथ अंदर जो कुछ किया जाता था, वही मंदिर की दीवारो पर निर्मित किया गया। ये कलाकृतियाँ उस युग के यौन भ्रष्टाचार का प्रमाण हैं।

इनके अतिरिक्त अनेक फुटकर मतमतातर भी चल पडे थे। नाथपंथी मत्स्येद्रनाथ (मछेंदरनाथ) और गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) के नेतृत्व मे आसाम, नेपाल से पजाब तक के क्षेत्र मे नई साधना पद्धति चल रही थी और ये जनता को ब्रह्मसुख की ओर आगे बढा रहे थे और एतदर्थ देश के भीतर अलखनिरंजन की अद्भुत वाणी सुना रहे थे। निराकारवादी, अज्ञानी गुरुओ की इस सप्रदाय मे आगे चलकर बाढ आ गई थी, जिसमे आडंबर और वेश-भूषावाद ही साधन बनकर जनता मे शेष रह गया। पातंजल योग से रिश्ता जोड़कर योगियो का एक अलग दल खड़ा हो गया। कल तक के बिखरे हुए योगी, उनके स्मारक रहे हैं। तांत्रिकों और औघड़ो का भी एक सप्रदाय उठ खडा हुआ था, जिसका सांप्रदायिक सगठन अनेक अवशेषो का घालमेल था। अपना जीवनक्रम ये धरती पर व्यतीत करते थे, किंतु सामान्य जन को धरती से परे अद्भुत संसार का आकर्षण दिखलाते थे। नानक के समन्वय से एक पृथक् उपासना पद्धति से सिख सप्रदाय का जन्म हुआ, जिसका प्रभाव पश्चिमी भारत के एक प्रात तक ही सीमित रहा। नानकपथ के अतिरिक्त देश मे कबीरपंथ, मलूकपथ, रैदासपथ आदि चल ही रहे थे। मुसलमानो का दल, खास कर हिंदुओ से धर्मांतरित और ईरानी सस्कृति से प्रभावित हिंदुओ की जीवन-पद्धति के उदार अशो की ओर बढ़ा और मेलजोल को खिचड़ी पकाना चाहा। यह दल बुतशिकन और बुतपरस्त के बीच कही खडा हुआ दिखाई पड़ता है। कब्र की उपासना, माल्यार्पण, चिराग-खुश्बू-वस्त्र समर्पण, दोनो हाथो की हथेलियो से फरियाद-पेशी, सिजदा करना, कुरान से भिन्न या उसके विरुद्ध अल्लाताला के आसमानी जल्वा

को जमीन की मूरतो मे देखना और उनकी भरपेट तारीफ करना, इश्कहकीकी को जमीन पर उतार लाने के बहाने इश्कमिजाजी को तरजीह देना इसकी खास विशेषताएँ थी। इसे सूफी सप्रदाय कहा जाता है। मध्ययुग मे इनका एक बड़ा सगठन देश मे उत्तर से दक्षिण तक सक्रिय था। अस्तु, अनेक प्रकार के मतवाद और उनमे निरंतर विकास और ह्रास का परिणाम यह हुआ कि किसी संप्रदाय की अच्छी चीज जनता मे ठहर न सकी और वह या तो लाचार दासो का कमजोर झुड बन गई थी या जादू, टोना, टोटका, शकुन-अपशकुन, झाड़-फूँक, भूत-प्रेत, तत्र-मंत्र और भोग प्रसाद के अनवरत चक्र मे पड़ी हुई एक चलती फिरती मशीन मात्र। किसी प्रकार के रचनात्मक महत् उद्देश्य का हर ओर अभाव था।

२–राजनीतिक परिवेश––राजनीतिक दृष्टि से जनता शून्य बिंदु पर जा पहुँची थी। किसी नए राजा के सिहासनारोहण को वह ईश्वरीय लीला मानकर सतुष्ट हो जाती थी, चाहे वह हिंदू हो या मुसलमान, उच्च वर्ग का हो या निम्न। हर शासन परिवर्तन या शासकीय अत्याचार मे जनता तटस्थ या मूक बनकर रह जाती। सोमनाथ का मदिर टूटा तो वह 'बाबा' को स्मरण करती रह गई, पृथ्वीराज की आँखें निकाली गई (?) तो उसने देखा भी नही। राणा सग्रामसिह के चौरासी घावो पर उसने मरहमपट्टी भी नही की। राणा प्रताप और उनके बेटे ने घास की रोटियाँ खाई तो वह देखती रह गई। मुहम्मद बिन कासिम, अलाउद्दीन खिलजी या नासिरुद्दीन खिलजी ने औरतो की लूट की या हिंदू रजवाड़ो और सामतो ने अपनी बहन-बेटियो का अकबर से विवाह किया तो उसने तमाशा देखा। मानसिह और आगे चलकर जयसिह ने जनता के विरुद्ध शासको का साथ दिया तो वह नाराज भी नही हुई। इतिहासकार स्टेनले लेनपूल ने मध्यकालीन भारतीय जनता की मनोवृत्ति का चित्रण करते हुए लिखा है––'जनता ने अपनी चिरकालीन उदासीनता के साथ हर राजा की आज्ञा का पालन किया, चाहे वह आर्य, हूण, यूनानी, पारसी, राजपूत, तुर्क, अफगान, मंगोल या अँग्रेज जो भी रहा' (मध्यकालीन भारत, पृष्ठ ४२)। जनता सामूहिक रूप से जानती थी––'कोई नृप होहि हमे का हानी। चेरि छोड़ होउब नहिं रानी।' प्रशासनिक व्यवस्था सक्षेप मे यह थी कि हर बड़ा छोटो को लूटता था और राजा सबको। विजेता मुसलमानो ने भी हिंदू शासको, सामतो के दिखाए इस मार्ग का अनुसरण किया। अपना घर बसाने के लिये जहाँ स्त्रियो की खुली लूट की, वहाँ धर्मांतरण के लिये गैर-मुसलमानो का व्यापक कत्लेआम भी किया। धन दौलत और राजपाट तो उनका था ही। अंधविश्वासो मे जकडा हिंदूसमाज विधर्मियो को अपने धर्म मे स्वीकार करने के लिये बिलकुल तैयार नही था। स्त्री-पुरुषो के बलात् अल्पकालीन मुसलिम संपर्क को भी हिंदूसमाज सँभाल न सका। अग्निपरीक्षा के बाद भी मुसलिम सपर्क मे गई किसी स्त्री को हिंदूसमाज ने पुन. स्वीकार नही

किया, जब कि हिंदू पुजारियो, पडो, महंतो, पुरोहितो, साधु-सतो, साधको और उपदेशको की सख्या बौद्धो से कम नही थी। राजनीतिक असंगठन और गंदगी का यह परिणाम था।

३-आर्थिक परिवेश—आर्थिक स्थिति अत्यंत दयनीय थी। लूटपाट के डर से लोग शहरों मे रहना भी पसद नही करते थे। उतने लोग रहते थे, जो हमले के समय अपना सब कुछ लेकर किले के अदर आ सके। जहांगीर की लाख कोशिशो के बावजूद भी लाहौर की आबादी तीन हजार से ऊपर न जा सकी। पजाब के प्राय सभी शहर अग्रेजी शासनकाल मे ही अस्तित्व सँभाल सके है। यही स्थिति दिल्ली की भी थी। कीर्तिलता के, जौनपुर की बिकनेवाली अगणित वेश्याओ के शारीरिक व्यापार 'धन निमित्त धर पेम' के, वर्णन मे, राजा कीर्ति सिंह एव वीरदेव सिंह की तिरहुत से जौनपुर की यात्रा की निर्धनता मे—किसी ने कपडे दिए, किसी ने घोडे, किसी ने मार्ग के खर्च (काहु कापल, काहु घोल, काहु सवल देल थोल) के अभाव मे; 'ठाकुर ठक भए गेल, चोरें चप्परि घर लिज्झिअ। दास गोसाञनि गहिअ, धम्म गए, धध निमज्जिअ॥' की लूटपाट की स्थिति मे 'तिरहुति तिरोहित सव्व गुण' पैसा देकर पानी खरीदने, पान के लिए सोने का टका देने, चदन के मोल इंधन बिकने, बहुत कौडी देने पर थोडा चावल पाने, घोडा बेचकर घी, बांदी और दासो को बेचकर कडुवा तेल खरीदने (पान क सए सोनाक टका। चादन क मूल इधन बिका) के आर्थिक विनिमय व्यापार और तज्जन्य व्यापक धनाभाव की स्थिति मे, कबीर के 'साई इतना दीजिए......' मैं सूरसागर की सुदामापत्नी के प्रश्न 'काहे कत रहत कृसगात......' मे, तुलसी के समकालीन नरोत्तमदास कृत सुदामाचरित मे सुदामापत्नी सुबुद्धि की उक्ति 'कोदो सवाँ जुरतो भरिपेट......टूटो तवा अरु फूटी कठौती' मे, कवितावली की लोकवार्ता की उक्ति 'कहाँ जाई, का करी' और केवट की उक्ति 'पात भरी सहरी सकल सुत बारे बारे', मे समसामयिक निर्धनता का एक क्रमिक चित्र दिखाई पडता है। पेट की आग बडवाग्नि से भी भीषण बन गई थी। पेट के लिये लोग बेटा-बेटी भी बेचते थे। ससार 'दारिददसानन' से आक्रात था। न तो किसान को खेती, न वैश्य को व्यापार, न चाकर को चाकरी थी। 'अन्न बिना सब लोग मरैं' की स्थिति थी। यह स्थिति यहाँ तक बिगड़ी कि अधम वर्ण के तेली, कुम्हार, स्वपच, किरात, कोल, कलवार आदि भी संन्यासी होने लगे थे।

सामाजिक सतुलन इतना बिगड़ा कि स्त्रियाँ लूटपाट, क्रयविक्रय और भोग की सामग्री बन गई थी। कामुक पृथ्वीराज चौहान और अलाउद्दीन खिलजी ने स्त्रियो की सट्टी लगाने के लिये क्या नही किया? अधिसंख्य

वज्रयानी सिद्धो की साधना ही स्त्रियो के बिना नही हो सकती थी । अलाउद्दीन की निगाहो के नीचे (जेरेनजर) २० हजार, नासिरुद्दीन खिलजी की १५ हजार, तो अकबर के हरम में ५ हजार स्त्रियां भोग की सामग्री के रूप मे मौजूद थी । जो स्थिति बडो की थी, वही छोटे राजाओ, सामतो, सूबेदारो, नवाबजादो, मनसबदारो और जागीरदारो तथा जमीदारो की थी । सौदर्योपासना के अलावा, इसका सबसे बडा कारण गरीबी थी । किसी तरह रोटी तो मिलती थी ।

४. साहित्यिक परिवेश--साहित्यिक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि जैनसाहित्यकारों ने जनता के मानसिक धरातल और उसकी चित्त-वृत्ति को ही बदल डालने का सकल्प कर लिया था । उन्होने रामायण और महाभारत की कथा-कहानियों से ही सामग्री ली, किंतु उपाख्यान के ब्राह्मण या वर्णाश्रम स्वरूप को पूर्णत बदलकर जैनसिद्धातों का चोला पहनाया । यथा, राम एक जैनभक्त है, रावण भी जैन है और जिन की पूजा भी करता है । रावण इतना पवित्रात्मा है कि अगले कल्प मे वह तीर्थंकर बननेवाला है । जैन कवियो के अनुसार सीता, मंदोदरी और रावण की पुत्री थी । अनिष्ट की आशंका से रावण ने उन्हें वन मे छोड़ दिया था, जहाँ से जनक ने उन्हे प्राप्त किया । राम और सीता दोनो जीवन के अत मे जैनधर्म को अगीकार करते बताए गए हैं । लक्ष्मण कैकेयी के पुत्र थे । राम पद्मवर्ण के थे । यही कारण है कि उनके नाम पर जैनकवियो द्वारा अनेक 'पद्मपुराण' लिखे गए । दशरथ की मृत्यु राम के लका से लौटने पर हुई । दूसरी ओर कृष्ण को नरक मे कर्म-दंड भोगते बताया गया है । यद्यपि जैन उपाख्यान ब्राह्मण पुराणो और काव्यो की कथाओ की नकल ही हैं, पर निर्वचन एकदम विपरीत । महाकवि स्वयंभू एवं पुष्पदंत (सन् ९७२ ई०) के अतिरिक्त जैनकाव्य के सैकड़ो अन्य कवियो ने भी इसी मार्ग का अनुसरण किया । सन् १९७० ई० मे प्रकशित नए जैन कवि आचार्य तुलसी की 'सीता की अग्निपरीक्षा' नामक कृति मे पुरानी बातो का नवीन प्रकाशन ही समझना चाहिए । भाषा की दृष्टि से जैनकवि प्रतिगामी थे । जानबूझकर व्याकरण की सहायता से बोलचाल की भाषा को अपभ्रंश का रूप दिया करते थे, जब कि वह प्रचलन में कही नही थी ।

बौद्ध या सिद्धसाहित्य की भी गुणात्मक स्थिति यही थी । पूर्वाचल (बिहार, बंगाल, असम, नेपाल आदि) मे वज्रयान संप्रदाय प्रबल हो गया था । तंत्रसाधना एवं पंचमकारी वाममार्गी उपासना की प्रधानता हो गई थी । मूर्ख जनता इन्हे चमत्कार और सिद्धियो से संपन्न एक अलौकिक गतिविधि मानती थी । सिद्धो में कुछ भी कर दिखाने की क्षमता होने की कल्पना की जाती थी, किंतु सिर्फ बाईस घुड़सवारो के साथ बख्तियार खिलजी के विहार-बंगाल आक्रमण ने इन्हे छिन्नभिन्न कर दिया ।

इनकी सिद्धि और साधना हवा हो गई। हर प्रकार की ब्राह्मणवादी परपरा की इन्होने जैनियो से भी अधिक निंदा की। समाज से कटकर ये अर्थ की दृष्टि से अभावग्रस्त और काम की दृष्टि से पूर्णत. भोगवादी वन गए थे। ब्राह्मणो के सैद्धातिक आचरणवाद के विरुद्ध रजस्वला स्त्रीसग, वालरडा, डोंबी (डोमिन), चाडाली, रजकी आदि के साथ साधनात्मक भोगकर्म आवश्यक ठहराए गए। नाक की सीध मे पंचमकार का विकास होता चला गया। सरहपा (सन् ७६० ई०) ने लिखा कि ब्राह्मण पडित सकल सत्य का वखान करता है, लेकिन वह मूर्ख देहस्थित वुद्ध (ब्रह्म) को नही जानता, आवागमन को तोड़ नही सकता, तव भी निर्लज्ज अपने को पडित कहता है :

पंडिअ सअल सत्त वक्खाणइ। देहहि वुद्ध वसत न जाणइ॥
गमणागमण ण तेन विखडिअ। तोवि णिलज्ज भणइ हउँ पडिअ॥

देशी सामतो ने वाद मे इनकी पूजा अर्चना भी शुरू कर दी। एक दिव्य सत्य (अलख) को ढूँढ़ने मे इनकी शिष्यपरपरा ने न जाने कितने मत्र, तत्र, पाषंड, रूढ़ि, कुरीति एव आचरणहीनता को जन्म दे डाला। वुद्ध अपने समय की विलासिता, धार्मिक आडंवर एव समाज की कुरीतियो से त्रस्त थे, किंतु अंध-ब्राह्मणविरोध एवं सामाजिक वंधनो की शिथिलता ने उनके मतावलवियो को कुरीतियो को गर्त मे ढकेल दिया। इनकी सध्या भाषा का विचित्र प्रतीक अर्थ होने लगा, जो उलटवासियो के रूप मे कवीर तक मे दिखाई पडता है। सरहपा आदि चौरासी सिद्धो, गोरख आदि नौ नाथो के नाम इस काव्यपद्धति मे उल्लेखनीय है।

नाथपथी साहित्यिक रचनाएँ उत्तर भारत मे काफी लिखी गई। यदि वज्रयानी वौद्धो (सिद्धो) के अगले संस्करण को नाथपथ न भी कहा जाय तो भी इतना निश्चित है कि उनकी साधनापद्धति ने नाथपंथ मे अपना विकास किया। इनमे शृंगारवाणी का वेग कम हो गया। ईश्वर (अलखनिरजन) की प्राप्ति के लिये हठयोग का विकास किया गया। वचीखुची सरल उपासना एव भक्तिपद्धति की उपेक्षा होने लगी। तुलसी ने कवितावली मे लिखा— 'गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग•••।' ससार मे रहते हुए भी सासारिक जीवन के सगठन का वहिष्कार किया जाने लगा। अपभ्रंश या प्रारभिक हिंदी मे वौद्ध सिद्धो की साहित्यिक परपरा का इन्होने निर्वाह किया। इनके साहित्य मे जहाँ एक ओर रहस्यात्मक साधना की व्यजना पाई जाती है, वहाँ दूसरी ओर साधारण जनता की वोली मे पडितों के पाखंड, ढोंग, जातिप्रथा, रूढ़िवादिता आदि की कटु आलोचना भी। मत्स्येंद्रनाथ और गोरखनाथ (सन् ८४३ ई०) का नाम इस पंथ मे विशेष उल्लेखनीय है, वाद मे औघड़, कापालिक, दरसनी,

बारहपंथी, पाशुपत, तांत्रिक, योगी, संत, निरंकारी आदि कहे जाने वाले लोग इसी दूकान के फुटकर माल बने। अनेक शैव, शाक्त, बौद्ध (सिद्ध) मतावलंबियो का इसमे घालमेल भी हुआ। कुछ इस्लाम धर्मावलबी भी इधर आकर्षित हुए, खासकर वे जो अभी अभी धर्मातरित हुए थे और जिन पर इस्लाम का रंग गहरा नही हो सका था। डा० नागेद्रनाथ उपाध्याय ने लिखा है कि एक प्रकार से नाथसमाज हिंदू मुसलमान का समाज था यद्यपि उसकी जीवनपद्धति तथा दर्शन की परपराएँ सर्वथा आर्य थी। (नाथ और संत साहित्य, पृ० ५१)।

मुसलिम आक्रामको के हाथ देश को सौप देने से पूर्व हिंदूमतावलंबी ही उस समय के शासकवर्ग मे प्रमुख थे, जिन्होने देश को नोच खसोटकर छोटे छोटे निरतर संघर्षरत या सतत विलासमग्न अनेक पृथक् और स्वतत्र राज्य स्थापित कर लिए थे। इनमे दिखाने के लिए कोई शैव था, तो कोई वैष्णव और कोई शाक्त, किंतु दिन प्रतिदिन की वास्तविकता यह थी कि भोग विलास में डूबकर सब एक ही पानी के धोए हो गए थे। विदेशी हमला होने पर कोई अगले दरवाजे से भागा तो कोई पिछले और कोई रणक्षेत्र मे शत्रुसेना को देखकर। तब युद्ध होने ही पर इनकी अगणित रखेल स्त्रियाँ इनके नाम पर या तो बलात् जौहर करती या सती होतीं या अपने मुसलिम उद्धारकर्ताओ का स्वागत करती। ये मुसलिम धग्गड़ (वीर) तुर्क, बकौल विद्यापति (सन् १४०३ ई०) जिधर ही निकल जाते थे उधर ही के राजा के घर की युवतियाँ बाजार मे विकने लगती थी :

> अरु धाँगड़ कटकहि लटक वढ़ जे दिस धाडे जाथि।
> तं दिस केरी राएघर तरुणी हट्ट विकाथि॥
>
> (कीर्तिलता, पृ० ६०)

अस्थायी रूप से सुरक्षित अपने राज्य के भूगोल मे शातिकाल में प्रणयलीला इनका मुख्य उद्यम था। ऐसे शासको के प्रेमव्यापार एवं मिथ्या-प्रशसा के गीत खुमानरासो, बीसलदेवरासो, पृथ्वीराजरासो (सन् ११६२ ई० अत) आदि अनेक ग्रंथो या चारणकाव्यों के मुख्य विषय बने। हिंदी मे इसे कुछ लोगो ने वीरगाथा काव्य माना है। विद्यापति कृत (चौदहवी सदी) कीर्तिलता, कीर्ति-पताका एव पदावली भी ऐसी ही रचनाएँ है। हिंदू जनता की विशाल संख्या निर्धन और उत्पीड़ित होकर कभी सहायता न करनेवाले ईश्वर की शरण मे थी। इस संसार को दुखमय मानकर अन्य संसार मे सुख की खोज कर रही थी। इनमे एक तटस्थ भक्तिपद्धति का विकास होने लगा था, किंतु धार्मिक नेताओ के रागद्वेष के कारण शिव, शक्ति और विष्णु झगड़े के केंद्रविंदु बने रहे। शकराचार्य, जयदेव की स्थापित की हुई परंपरा आगे चलकर विद्यापति, रामानद,

वल्लभाचार्य, चैतन्य, नरहर्यानद, सूर, तुलसी, मीरा आदि मे विकसित हुई। शक्ति उपासकों के दल ने बंगाल की ओर अधिक जोर मारा।

तुलसी से पूर्व संत साहित्य के मुख्य स्तंभ कबीर (सन् १४०० ई०) ही माने जाते थे, यद्यपि सतो की काव्यपरंपरा सिद्धाततः सरहपा आदि सिद्धो से जुड़ी हुई थी। कबीर ने शंकराचार्य एवं रामानुजाचार्य की परंपराएँ ली, भक्त रामानद से धार्मिक दीक्षा ग्रहण की, किंतु लोक मे कबीर की भक्तिपद्धति रामानद से पृथक् एवं स्वतंत्र होकर चल पडी। वे स्वयं एक पंथ के सस्थापक बने। कबीर पर बचपन मे मुसलमानी आचार विचार का प्रभाव पड़ चुका था। फलस्वरूप उन्हें निर्गुण अद्वैत की ओर ही मुड़ना सुगम प्रतीत हुआ। उनका प्रेम भी सूफी पद्धति का ही है। इश्कमिजाजी से कूदकर इश्कहकीकी पर जाता हुआ। मूर्तिपूजा, कर्मकाड, अवतारवाद, तीर्थाटन आदि के वे घोर विरोधी थे। एकेश्वरवाद, हिंदूमुसलिम एकता, वर्णजाति का उन्मूलन, मानवीय प्रेम का प्रदर्शन सतों को साहित्य मे अधिक मिलता है। संतों की वाणी मे गुरुमहिमा, भक्ति, साधुसमागम, करुणा, क्षमा, मानवता आदि का माहात्म्य प्रदर्शित है, तो कपट, माया, तृष्णा, अहंकार, मन की चचलता, कामिनी, कंचन, तीर्थ, व्रत, मांसाहार, मूर्तिपूजा, धर्मवाद, जातिवाद की प्रबल भर्त्सना भी। संत कवियो मे सिद्धो जैसी आचरणहीनता और कटुता नहीं मिलती, किंतु समाज को सामूहिक जीवनपद्धति के लिये ये कोई व्यवस्था या आदर्श न दे सके। कुछ टटोलते रहे जो उन्हें न मिल सका। इनमें प्रमुख हैं कबीर, नानक, रैदास, दादू, मलूक आदि।

इस्लाम के भारत मे प्रचार से एक नए किस्म का सूफी साहित्य लिखा जाने लगा। काव्य के क्षेत्र मे इस्लाम ने हिंदुत्व और भारतीय जीवन को समेटने की जो कोशिश की, वह सूफी साहित्य मे देखा जा सकता है। ईश्वर को स्त्रीरूप (माशूक) मे देखना, आत्मा और ईश्वर मे अतर न मानना, माया (शैतान) के खतरे से सावधान करना, ज्ञान के लिए गुरु (पीर) का महत्व प्रतिपादित करना, लौकिक प्रेम (इश्कमिजाजी) द्वारा पारलौकिक (सत्य) प्रेम (इश्कहकीकी) का सकेत करना, भारतीय कथा-कहानियो को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाना, जनभाषा में काव्यरचना करना सूफियो की प्रमुख विशेषताएँ थी। पृथ्वीराज (११९२ ई० मे मृत) के समकालीन ख्वाजा मुईउद्दीन चिश्ती ने अजमेर को अपना प्रमुख केंद्र बनाकर अपनी सहिष्णुता और प्रेम से सूफीकाव्य का वैचारिक और भावात्मक धरातल प्रशस्त किया। खुसरो (सन् १२५३-१३२६ ई०) भी एक सूफी संत थे, पर उन्होने अपनी हिंदी रचना मे सूफीवाद को नही घसीटा। इनके समय मे मुल्ला दाऊद ने

'नूरक और चंदा' लिखा। अन्य सूफी कवियो मे कुतुबन (सन् १४९३ ई०), मंझन (समसामयिक), जायसी (सन् १५२० ई०) विख्यात है। इन कवियों ने हिंदू मुसलिम संस्कृति के समन्वय का अच्छा प्रयास किया है। इस्लाम में 'जन्म अथवा कर्म के आधार पर कोई कठोर विभाजन नही था कर्मविभाजन का मूल आधार अर्थ था। दूसरे, 'इस मत में हिंदू समाज की कठोर व्यवस्था से पीडित और तिरस्कृत भी स्थान पा सकते थे।' (नाथ और संत साहित्य, पृ० ५१) सूफी कवियों ने इस्लाम के इस गुण पर मानवीय प्रेम का मुलम्मा चढाया। संभवतः अकबर और बीरबल को 'दीनइलाही' के लिये इन्ही से प्रेरणा मिली थी। जिस तरह 'एकेश्वरवाद' का हिंदूकरण सत कवियों की कला बन गया, उसी तरह 'भक्तिपद्धति' का इस्लामीकरण व्यवहार मे भारतीय सूफियो का काव्य-धरातल बन सका।

दक्षिण भारत मे इस्लाम के प्रसार और शासन-स्थापना से बीजापुर, गोलकुंडा मे अरबी छंदों और फारसी साहित्य की प्रेमाभिव्यक्तियो की सीमा मे उत्तर से गए भारतीय धर्मातरित मुसलमानो ने हिंदी मे रचनाएँ शुरू की, जिसे दक्खिनी हिंदी का साहित्य कहा जाता है। इसमे ज्यादातर लौकिक प्रेमभावना की अभिव्यक्ति थी और कतिपय इस्लामी पद्धति की इबादतो की भी। ख्वाजा बंदानेवाज गेसूदराज, मुहम्मद, हुसैनी (सन् १३४३ ई०), मुल्ला वजही, कुली कुतुबशाह, वली दकनी आदि प्रमुख रचनाकार हो गए है। आरंभिक रचनाकारो पर सूफी प्रभाव ही दृष्टिगोचर होता है, किंतु बाद के रचनाकारो मे युद्ध, प्रकृतिचित्रण जैसे फुटकर वर्णनो के साथ प्रेम-शृंगार के वर्णन की प्रधानता दिखाई पड़ती है।

इन परिस्थितियो के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जनजीवन छिन्नभिन्न हो चुका था और इतिहास दिग्भ्रमित। जनता को संगठित करने और सामूहिक जीवन को एक स्वस्थ और रचनात्मक दिशा देने के लिये तुलसी (सन् १४९७–१६२३ ई०) को सिकंदर लोदी, इब्राहीम लोदी, बाबर, हुमायूँ शेरशाह, अकबर एव जहाँगीर के शासनकाल मे अपना लंबा पथ स्वय चुनना और बनाना पड़ा। सास्कृतिक विघटन पैदा करनेवालो की उन्होने आलोचना की। 'साखी' (साक्षी) कबीर जैसे सतो ने लिखी, 'सबदी' (सच्चे शब्द) नाथो और अन्य सतो ने, 'दोहरा' (दोहा) सिद्धों (बौद्धो) ने लिखा, 'किहनी' (कहानी) सूफियो ने गढी और 'उपखान' (उपाख्यान–पौराणिक उपाख्यानो का नया रंगरूप एवं निर्वचन) जैनियो ने प्रस्तुत किया और इन सबने मिलकर 'भक्ति' (सुव्यवस्था) को ध्वस्त किया, विकल्प किसी ने नही दिया, जब कि

इतिहास का सबसे बडा सकट देश के सिर बाहर भीतर से आ पड़ा था। चारो ओर आग लगी थी। ऐसी परिस्थिति मे समाज और राजनीतिक शासन को व्यवस्थित करने के लिये तुलसी ने 'नानापुराण निगमागम' को एक आदर्शवाद के रूप मे स्वीकार करना ही उचित समझा। मर्यादा पुरषोत्तम राम के आदर्श आचरण को उन्होने माध्यम बनाया एव हर किस्म के समझौतावाद का विरोध कर लोकभाषा मे लोकजीवन के नवनिर्माण के लिये ज़ोरदार शैली मे जो कुछ कहना था, कहा और जनता ने भी उन्हें एक आदर्शवादी लोकनायक के रूप मे प्रतिष्ठित किया।

तुलसी की लोकतात्विक दृष्टि

डॉ० वासुदेव सिंह

मध्यकालीन हिंदी-भक्ति-आंदोलन के मूल स्रोत या कारण के संबंध में अनेक प्रकार के निष्कर्ष निकाले गए हैं। किसी ने उसे मुसलमानों के आक्रमण और अत्याचार की प्रतिक्रिया माना है तो किसी ने इंसानियत की देन। किसी को उसमें निराशा और हतदर्प जाति की कुंठाग्रस्त और अंतर्मुखी चेतना की अभिव्यक्ति दिखाई दी, तो किसी को वह तत्कालीन परिस्थितियों और सामाजिक असंतोष की उपज प्रतीत हुई। किसी ने उसके मूल में यौगिक और तांत्रिक प्रवृत्तियों का प्रसार देखा और किसी ने लोकमत के शास्त्रीय आवरण की प्राप्ति। इनमें से किसी भी एक कारण को समस्त भक्तिकाव्य का मूल मानना अतिव्याप्ति मात्र होगी। वस्तुतः मध्ययुगीन हिंदी भक्तिकाव्य अनेक रूपों में प्राचीन परंपरा से जुड़ा हुआ है। वह मूलतः भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकास है, सहस्रों वर्षों के आध्यात्मिक चिंतन का प्रतिफलन है, तथापि उसको अधिक तीव्र और गतिशील बनाने में तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थियों ने बड़ा योग दिया है।

मध्यकालीन धार्मिक आंदोलन की प्रमुख विशेषता है—वेदमत और लोकमत का समन्वय। आठवीं शताब्दी से प्रारंभ इस आंदोलन का न केवल धार्मिक अपितु सांस्कृतिक और सामाजिक महत्व है। भाषा और विचार दोनों दृष्टियों से संपूर्ण धार्मिक आंदोलन लोकाभिमुख हो रहा था। सामाजिक दृष्टि से यही न्याय और समता का आंदोलन है। यह वर्णाश्रम-व्यवस्था में पिसती, ऊँच नीच की भेदभावना में कराहती तथाकथित अस्पृश्य समझी जानेवाली जाति का आंदोलन है जो वर्गवैषम्य के अन्यायपूर्ण जुए को उतार फेंकने के लिये व्याकुल हो रही थी।

राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से यह युग अत्यंत कोलाहलपूर्ण और अशांत था। उत्तर भारत निरंतर आक्रमण का सामना कर रहा था। मुसलमान के रूप में जो नई जाति आई थी, वह पूर्ववर्ती आक्रमणकारियों से भिन्न थी। इसके पहले आनेवाले शक, हूण, गुर्जर, मंगोल आदि सभी भारतीय वर्ण-व्यवस्था में हिल मिल गए थे। किंतु इस्लाम के रूप में एक ऐसी जाति का उदय हुआ था, जो किसी भी प्रकार यहाँ के मूल निवासियों से धार्मिक

समझौता करने पर तैयार नही थी, अपितु उनके लिए बडी चुनौती बनी हुई थी। यह चुनौती दो प्रकार के प्रभाव दिखा रही थी—(१) उच्चवर्ण रक्षा की भावना से सकीर्णता और पाखड से घिरता जा रहा था तथा मुसलमानो से सताए जाने के कारण वह अपने से कमजोर निम्नवर्ण के प्रति अधिक कठोर हो गया था। (२) निम्नवर्ण के लोग मुसलमानो से सताए ही जाते थे, स्वधर्मियो के द्वारा भी हेय दृष्टि से देखे जाते थे। दूसरी ओर इस्लाम के रूप मे उनके सामने एक ऐसा संप्रदाय था जो समता का सदेश दे रहा था। दक्षिण की स्थिति इससे कुछ भिन्न थी। वहाँ बाहरी आक्रमण का खतरा नही था। किंतु चितामुक्त सामती व्यवस्था अपने पजे अधिक मजबूत करती जा रही थी। ब्राह्मण और सामंत मिलकर अपनी प्रभुता और सामाजिक श्रेष्ठता को बनाए रखने मे तत्पर थे। इसलिये अन्य जातियो पर उनका अत्याचार और शोषण बढ गया था। अन्य वर्णों को इन लोगो ने आर्थिक दृष्टि से पगु और सामाजिक दृष्टि से हेय बना दिया था। अतएव स्वाभाविक था कि पिछड़ी हुई और शोषित जातियो मे इनके प्रति आक्रोश उभरता। अत. दक्षिण के धार्मिक आदोलन के मूल मे ही समता और न्याय का स्वर प्रमुख रूप से सुनाई पडता है, वैदिक मान्यताओ के प्रति अनादर का भाव मिलता है, शास्त्रीय ज्ञान के प्रति उपेक्षा का व्यवहार मिलता है और उच्चवर्ण की भेदमूलक नीति के प्रति आक्रोश दिखाई पड़ता है। वैसे इस समतामूलक नए आदोलन के जनक शकराचार्य और रामानुजाचार्य जैसे ब्राह्मण ही थे, किंतु इसे बढ़ावा देनेवाले अधिकाश सत तथाकथित पिछड़े वर्ग से ही आए थे। दक्षिण मे अनेक सत निम्न वर्ण के थे। महाराष्ट्र के सतों में राका कुम्हार, सांवता माली, नरहरि सुनार, जोगा तेली, शामा चूडीवाला, बका और चोखा महार और कान्होपात्रा वेश्या थी। कश्मीर की सत लल्ला मेहतर जाति की थी। हिंदी के निर्गुनियां सतो मे अनेक पिछड़ी जाति के थे। सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से उपेक्षित और हेय जातियों मे उत्पन्न इन सतो मे वैदिक परपरा के प्रति न तो आस्था थी और न उसके अध्ययन के प्रति रुचि। इन संतो ने सामाजिक विसगतियों पर प्रबल कशाघात किया है, धार्मिक रूढियो को नकारा है और आर्थिक वैषम्य का विरोध किया है। अत. इन्हे सच्चे अर्थो मे प्रगतिशील माना जाता है और आधुनिक सदर्भ में इनका काव्य अधिक सार्थक स्वीकारा जाता है। इस संदर्भ मे कुछ विद्वान् तो यहाँ तक कह देते है कि इन सतो ने समाज को कम से कम चार सौ वर्ष आगे बढ़ाया है अर्थात् उनके विचार आधुनिक परिवेश मे अधिक सार्थक और ग्राह्य है, जब कि तुलसीदास ने अपने प्रतिगामी विचारो से चार सौ वर्ष पीछे ढकेला है, वह प्रतिगामी थे। वस्तुतः ऐसे विचारक तुलसी के साथ न्याय नही कर सके हैं।

गोस्वामी जी के साहित्य के गंभीर अध्ययन से पता चलता है कि वह अपने समय के सर्वाधिक क्रांतिकारी और प्रगतिशील लोकनायक थे। उन्होने निर्गुनियाँ संतो के समान समग्र व्यवस्था पर सीधे चोट भले न की हो, वर्णाश्रम व्यवस्था को ध्वस्त करने का नारा भले ही बुलद न किया हो अर्थात् उनकी भूमिका ध्वंसात्मक भले ही न रही हो, किंतु उन्होने अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा के द्वारा समाज के सारे सबधो को जोड़ा है, उत्तर दक्षिण की धुरी को एकता के सूत्र मे बांधा है और 'बहुजन हिताय' की अपेक्षा 'सर्वजनहिताय' की कामना की है। संत निवृत्तिमार्गी थे और गोस्वामी जी निवृत्ति-प्रवृत्ति की अतिशयता से बचकर मध्यमार्ग पर चलने के पक्षधर। नाथसिद्धो और संतो ने जिस ढग से समाज पर प्रहार किया था, वेदमार्ग को हेय बताया था, परिवार-व्यवस्था पर चोट की थी, उसका समाज पर प्रतिकूल प्रभाव भी पड़ा। प्रेम के उदात्त स्वरूप के विकास मे बाधा पड़ी, और 'सब नर करहि परस्पर प्रीती' के स्थान पर कटुता और वैमनस्य की भावना बढी। इसके विपरीत गोस्वामी जी ने उस प्रशस्त मार्ग को अपनाया जिसमे वेद और लोक का समन्वय था, जिसके द्वारा समाज के सारे सबधो—पिता पुत्र, सेवक स्वामी, पति पत्नी, भाई भाई को आदर्श रूप प्रदान किया गया। सतो ने संसार की नश्वरता, पारिवारिक और सामाजिक सबंधो की क्षणभगुरता दिखाकर लोकचित्त को भीरु और पलायनवादी बनाने का प्रयास किया, गोस्वामी जी ने कर्मक्षेत्र मे निरतर सघर्ष करते हुए, दुष्प्रवृत्तियो का दमन करते हुए परलोक के साथ इस लोक को भी समुन्नत बनाने का परामर्श दिया। उन्होने कहा कि—

> घर कीन्हे घर जात है, घर राखे घर जाय।
> तुलसी घर बन बीच ही, रहिय प्रेम पुर छाय॥
>
> (दोहावली)

गोस्वामी जी ने 'कहब बेदमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि', 'लोक बेदमत मजुल कूला', आदि के द्वारा जिस विराट् समन्वयकारिणी भूमिका की उद्‌भावना की है, उसके मूल मे उनकी लोक-कल्याण की भावना ही निहित थी। उनके काव्य मे कथा और शिल्प, विधेय और विधान दोनो मे शास्त्रीय-परंपराओ और लोक धाराओ का अद्‌भुत सामजस्य मिलता है। उनका काव्य परंपरा और प्रगतिशीलता के सह-अस्तित्व का अनुपम उदाहरण है। तुलसी-काव्य की लोकप्रियता तथा आधुनिक-परिप्रेक्ष्य मे सार्थकता का मुख्य कारण है, वैदिक परपराओ की स्वीकृति के साथ सामान्यजन मे उच्छ्वसित भावनाओ का प्रकाशन, संतमत और लोकमत के समन्वय से ही उनका काव्य काल और स्थिति की सतत परिवर्तनशीलता मे भी शिक्षित और अशिक्षित,

ग्रामीण और नागर, बुध और अबुध जनो मे समान रूप से समादृत है। वस्तुतः जब युगद्रष्टा कलाकार लोकमंगल की उदात्त भावना से परिचालित होकर सर्जना करता है तो उसकी कृति मे शिष्ट सस्कृति के साथ लोकसस्कृति के तत्व स्वयमेव समाहित हो जाते है। जहाँ एक ओर शिष्ट सस्कृति से आदर्श जीवनमूल्यो की स्थापना होती है, वही लोकसस्कृति जीवन को गहराई से समझने परखने का आधार प्रदान करती है।

गोस्वामी जी द्वारा प्रस्तुत रामकथा ठीक वही नहीं है जो परंपरागत है। श्री रमेश कुतल मेघ के शब्दो मे उन्होंने रामकथा का मध्यकालीनीकरण किया है। मध्यकालीनीकरण का तात्पर्य 'उन आदर्शों तथा धारणाओ की स्वीकृति से है जो पौराणिक चेतना से विकसित होने के बावजूद उनसे भी पृथक् तथा परवर्ती है और जो तत्कालीन समाज मे परिव्याप्त है।' इस मध्यकालीनीकरण के द्वारा गोस्वामी जी ने अतीत को वर्तमान से जोड़ा है, वेदशास्त्र अनुप्राणित शिष्ट संस्कृति को लोकमानस की सहज व स्वाभाविक पद्धति मे स्थानातरित किया है। उनका 'रामचरितमानस' लोकमत-प्रधान ग्रंथ है, जिसमे जनसमुदाय की प्रवृत्तियो, रीतिरिवाजो, उत्सवो, त्योहारो आदि का सम्यक् समावेश मिलता है। उन्होने मुनिमानस के साथ जनमानस को संपृक्त किया है। मानस मे सामाजिक जीवन की व्यापक दृष्टि अपनाई गई है। कथानायक राम केवल परब्रह्म के अवतार अथवा राजपुत्र नही है, अपितु उनके प्रत्येक कर्म मे लोकधर्म की छाप है। राम के जन्म, नामकरण, यज्ञोपवीत, राज्याभिषेक, विवाहादि सस्कार के वर्णन मे लोकमान्य रीतियो का अनुसरण किया गया है। तुलसीकाव्य मे वर्णित वास्तुकला, चित्रकला, शोभायात्रा, अस्त्र-शस्त्र आदि समसामयिक है। जानकीमगल, पार्वतीमंगल, राम ललानहछू आदि लोकरीति-सपन्न काव्य हैं। तुलसी की इस लोकतात्विक दृष्टि का विश्लेषण प्रस्तुत निबंध का लक्ष्य है।

इस संदर्भ मे पहले 'लोक' शब्द को स्पष्ट करना संगत होगा। शब्दकोषो मे 'लोक' शब्द के अनेक अर्थ मिलते हैं। यहाँ लोक से तात्पर्य है—जनसामान्य। लोकसाहित्य, लोकभाषा, लोकगीत, लोककथा आदि प्रयोगो मे 'लोक' विशेषण दूसरे अभिप्राय का द्योतक है। भारतीय साहित्य मे लोक और वेद के द्वारा लोकरीति और वेदरीति अथवा लोक-वेद-विधि मे भेद बताया गया है। महाभारत मे लोक-वेद-विधि मे विरोध को बतानेवाले काव्यो का उल्लेख मिलता है—"वेदाच्च वैदिका शब्दा सिद्धा लोकाच्च लौकिका।" इस दृष्टि से लोक का तात्पर्य है—वेद से भिन्न अथवा जो वेद में नही है। तब वैदिक साहित्य के अतिरिक्त समस्त साहित्य चाहे वह वाल्मीकि का हो या कालिदास का, भारवि-माघ-भवभूति का हो या तुलसी-सूर-केशव का, सभी लौकिक कहलाएगा। किंतु आज जिस अर्थ मे

'लोक' शब्द प्रयुक्त होता है, उसके अंतर्गत उपर्युक्त समस्त साहित्य लौकिक साहित्य नही कहलाएगा । यहाँ 'लोक' शब्द अंग्रेजी के 'फोक' के पर्याय के रूप से आया है । अपने संकुचित अर्थ में लोक शब्द बहुत कुछ नागर संस्कृति या शिष्ट संस्कृति से भिन्न अशिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित जनसमुदाय में प्रचलित मान्यताओं और विश्वासो का प्रतीक बन गया है । इस दृष्टि से 'लोक मनुष्यसमाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना और अहकार से शून्य है और जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है । ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जो तत्व मिलते है, वे लोकतत्व कहलाते है । सामान्य जन मे उच्छ्वसित भावनाओ और विचारों तथा प्रचलित रीति-रिवाजो और संस्कारो का उद्‌घाटन लोकतत्व का केद्र बिंदु है । जनमानस के सहज नैसर्गिक जीवन की अभिव्यक्ति 'लोकतत्व' की विशेषता है । अतः वह केवल ग्राम्यता या मूढ विश्वासों का ही प्रतीक न होकर, उन समस्त विधि-विधानो का द्योतक है जो शास्त्रसम्मत नही है । तुलसी साहित्य मे वेद के साथ लोक शब्द का प्रयोग, इस तथ्य का सकेत करता है कि गोस्वामी जी ने शास्त्रसम्मत नियमों और नीतियों के साथ लोकप्रचलित मान्यताओं और परंपराओं को भी महत्व दिया है अर्थात् वह केवल अतीत से बँधे नही है, बल्कि वर्तमान के प्रति सचेत है ।

गोस्वामी जी की लोकतात्विक दृष्टि का परिचय कथा और शिल्प, भाषा और शैली की भिन्नता है । जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, गोस्वामी जी ने 'संस्कृत का व्यामोह त्यागकर 'जनभाषा में काव्यरचना की । तत्कालीन सामंती समाज में वही मान्य होता था जो देववाणी में काव्य रचना करता था । केशवदास को भाषा में कविता रचने का पछतावा था ही । गोस्वामी जी भी संस्कृत मे रचना कर सकते थे, किंतु उनका प्रयोजन ही भिन्न था । उन्होने ऐसी काव्यरचना का संकल्प लिया था, जिसमें 'सुरसरि सम सब कहँ हित होई ।' इसी लोकमंगल की भावना से प्रेरित हो उन्होंने भाषा के संबंध में बड़ा व्यापक और उदार दृष्टिकोण अपनाया । उनके काव्य मे संस्कृत की स्तुतियाँ परंपरा के प्रति लगाव की सूचक है । ब्रज, अवधी आदि प्रमुख बोलियों में काव्यरचना उनकी लोकहितैषणा का प्रमाण है और विभिन्न बोलियो के अतिरिक्त अरबी, फारसी आदि विदेशी शब्दो का ग्रहण उनकी प्रगतिशीलता का परिचायक है । भाषा के संबंध मे उनकी मान्यता थी—

का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिए साँच ।
काम जो आवै कामरी, का लै करे कुमाँच ॥

उनकी दृष्टि में संस्कृत कुमाँच (रेशमी वस्त्र) है और देशी भाषा कामरी ।

एक आभिजात्य वर्ग की अभिरुचि की प्रतीक है और दूसरी सामान्य जन की प्रतिनिधि। कामरी से भाषा की स्वाभाविकना, प्रवाह, सजीवता और अलकरण-हीनता का भी वोध होता है, जब कि कुमाच रीतिवद्धता, चमत्कारातिशयता और अलकार-प्रचुरता का विव प्रस्तुत करता है। तुलसीदास ने दूसरी की अपेक्षा प्रथम को वरीयता दी क्योकि उनका विश्वास था कि 'सरल कवित कीरति विमल सोइ आदरहिं सुजान।' वस्तुतः उन्होंने वहुत सोच-विचार करके ही 'भाषा' मे काव्य रचना की, क्योकि वह जानते थे कि उन्हें जिस समाज को अपना सदेश देना है, उसे भाषारचना ही सुवोध हो सकती है। संस्कृत में लिखने से उनका काव्य वुधसमाज तक ही सीमित रह जाता, जन-जन का कठहार न वन पाता। वस्तुत सच्चा लोकनायक सदैव लोकभाषा को ही माध्यम वनाता है। गौतम वुद्ध ने संस्कृत का मोह त्यागकर तत्कालीन जन-भाषा 'पालि' को अंगीकार किया था।

भाषा के साथ ही गोस्वामी जी ने शिल्पविधान और काव्यरूपो के चयन मे शास्त्रसंमत और लोकप्रचलित पद्धतियों का समन्वय किया है। उन्होने जहाँ काव्यरचना में एक ओर सस्कृत के आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट लक्षणो का अनुसरण किया है, वही दूसरी ओर लोकशैली को राममय कर दिया है। 'उनका रामलला नहछू' लोकशैली का काव्य है, जो 'सोहर' नामक लोकगीत मे लिखा गया है। पार्वतीमंगल और जानकीमंगल के शिल्प-विधान मे लोकशैली का प्रभाव है। गीतावली तथा अन्य रचनाओ के अनेक गीत लोकगीतो के माधुर्य से अनुप्राणित है।

उन्होने अपना काव्यनायक राम को चुना। उनके राम सगुण-निर्गुण से परे लोकमंगल के प्रतीक हैं। विश्व मे जितने भी महापुरुष अवतरित हुए उन सवकी विशेषताएँ समष्टि रूप से राम मे पुंजीभूत है। वे सर्वगुण-सपन्न हैं। आदर्श लोकमर्यादा की जो दीक्षा हमें राम से मिलती है, वह भारतीय इतिहास में अन्यतम है। उनके राम परब्रह्म परमेश्वर होते हुए भी लोकचित्त की पीड़ा से अभिभूत दिखाई पड़ते हैं। वे वन मार्ग मे भोले-भाले ग्रामीण जनो से तादात्म्य स्थापित करते हैं, निषादराज से सखाभाव स्थापित करते हैं, शवरी का आतिथ्य ग्रहण करते हैं, कोल-किरातो आदि अन्य जातियो से आत्मीयता प्रदर्शित करते है और वानर, भालु आदि अनार्य जातियो का संगठन करते हैं। उनकी सीता भोली-भाली ग्रामवनिताओ के प्रश्नो का आडंवरहीन सहज भाव से उत्तर देती है। इस प्रकार गोस्वामी जी मानवमात्र मे एकता, समानता और वंधुत्वभाव की स्थापना करते हुए, अभिजात पात्रों को प्रकृत रूप मे चित्रित करते हुए दिनकर के शब्दो मे इस विराट् भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसका निर्माण

आर्यों और द्रविड़ों ने मिलकर किया था, जिसकी अगाध गहराई मे अनेक विदेशी जातियाँ आकर विलीन हो गई, जिसके विरुद्ध जैनों और बौद्धों की क्रांतियाँ खड़ी हुई और जो इस्लाम तथा ईसादूत के भी आक्रमणो का लक्ष्य रहा है। शकर, रामानुज, वल्लभाचार्य, तुलसीदास, विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक और महामना मालवीय, ये सबके सब इसी अर्थ के व्याख्याता रहे है।"

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, तुलसी ने रीति-रिवाजों, संस्कारो, सामाजिक पारिवारिक प्रथाओ, रूढियो आदि के वर्णन मे लोकमान्यता को वरीयता दी है। हिंदू जीवन को समुन्नत एवं सुव्यस्थित बनाने के लिये सोलह संस्कारो का विधान है। गोस्वामी जी ने उनमें से अधिकांश के वर्णन में शास्त्रीय विधान के अतिरिक्त लोकपद्धति का भी सहारा लिया है। मनु-शतरूपा तथा कश्यप-अदिति को दिए गए वरदान के पालनार्थ स्वयं विष्णु भगवान् कौशल्या के गर्भ से प्रकट होते है। अत मानस में रामजन्म सामान्य शिशु-जन्म से किंचित् भिन्न रूप मे दिखाया गया है, आकाश से पुष्पवृष्टि कराई गई है। किंतु जातकर्म की रीतियो का उल्लेख करते हुए कवि आरती, न्यौछावर, स्त्रियो द्वारा मंगलगान आदि के रूप में लोकरीतियो का सस्पर्श दे देता है। इसके बाद नामकरण, चूड़ाकरण, यज्ञोपवीत आदि संस्कार सामान्य लोकरीति के अनुसार दिखाए गए हैं। मानस की अपेक्षा 'गीतावली' में रामजन्म-वर्णन में लोकसंस्कृति के तत्व अधिक प्रखर ही उठे है। इस अवसर पर स्त्रियों द्वारा 'सोहिलो गान', वाद्य-वादन, कलश, ध्वज, तोरण-वितान की सज्जा, पत्र, फल-फूल, दूब, दिया और रोली आदि से मंगलाचार, चौक का पूरा जाना, स्त्रियो द्वारा बधावा लाना, घंटा-घंटी, पखावज, झाँझ, बाँसुरी, डफ, करताल, नूपुर, मंजीर की मधुर ध्वनि और ककणों की झंकार, नट-नटी के नृत्य आदि के वर्णन, जनचित्त के असीम उल्लास की मधुर व्यंजना करते है। दशरथ वेद-विधि के साथ लोकरीति संपन्न करने में व्यस्त है। लोकगीत की भीनी गंध से सिक्त प्रस्तुत पद मे व्यक्ति का आह्लाद इस प्रकार व्यक्त हुआ है:--

सहेली सुन सोहिलो रे,
सोहिलो, सोहिलो, सोहिलो, सोहिलो, सब जग आज।
पूत सपूत कौसिला जायो, अचल भयो कुलराज ॥

(गीतावली, पद--२)

राम की छठी समग्र अवधवासियों को अपूर्व आनंद मे मग्न कर देती है। घर-घर बधावा हो रहा है, मंगलसाज सजाए जा रहे हैं, घर, आँगना, अटारी, बाजार और गलियो मे सुदर चौक पूरे गए है, पताका, मंडप, तोरण

और कलश की शोभा दर्शनीय है, वैदिक विधान के साथ बलिदान, पूजा आदि लौकिक रीतियाँ मनाई जा रही है, स्त्रियाँ रात्रि जागरण कर रही हैं।

घर घर अवध बधावने मंगल साज समाज।
सगुन सोहावन मुदित मन कर सब निज निज काज।
निज काज सजत सँवारि पुर नर-नारि रचना अनगनी ॥
गृह अजिर अटनि बजार बीथिन्ह चारु चौकें विधि घनी ॥

+ + +

सेवक सजग भए समय, साधन सचिव सुजान।
मुनिवर सिखाए लौकिकौ वैदिक विविध विधान ॥
वैदिक विधान अनेक लौकिक आचरत सुनि जानिकै।
बलिदान पूजा मूल कामिनि साधि राखी आनिकै ॥

(गीतावली, पद–५)

गीतावली का बालदर्शन गोस्वामी जी की लोकतात्विक दृष्टि का ज्वलंत प्रमाण है। हिंदी मे सूरदास के अतिरिक्त इतना सरस, हृदयग्राही एवं स्वाभाविक वात्सल्य वर्णन दुर्लभ है। बालचेष्टाओं और मातृहृदय की कमल भावनाओं की मनोरम अभिव्यक्ति के साथ, लौकिक रूढियो और अंध-विश्वासो का प्रस्तुतीकरण गोस्वामी जी को सच्चे लोककवि के धरातल पर प्रतिष्ठित कर देता है। राम का शिशु जीवन एक साधारण बालक के रूप में चित्रित किया गया है। उन्हे तेल और उबटन लगाकर स्नान कराया जाता है, नेत्रों मे आँजन और माथे पर गोरोचन का टीका लगाया जाता है (पद संख्या-१०)। किसी की नजर न लग जाय इसके प्रति सतत सावधान रहा जाता है। लेकिन एक दिन शिशु 'राम' को नजर लग ही जाती है। इस अवसर पर शिशु के अनमना रहने, दूध न पीने, लगातार रोने, देव, पितर तथा ग्रहो की पूजा, घृत के तुलादान तथा झाड़ फूंक आदि के वर्णन द्वारा गोस्वामी जी ने लोकप्रचलित अंधविश्वासो को अभिव्यक्ति दी है (पद संख्या–१२)। प्रत्येक माता अपने बच्चे के उज्वल भविष्य की कामना करती है। वह येन-केन प्रकारेण बच्चे का भविष्य जानना चाहती है। इसी कारण बच्चो की जन्मपत्रिका बनवाई जाती है। पंडितों को उनका हाथ दिखाया जाता है। गाँवो तथा नगरो मे ऐसे त्रिपुंडधारी दिखाई पड जाते हैं जो लोगो का अतीत तथा अनागत बताने का दावा करते हैं। लोकचित्त का अंधविश्वास ऐसे मायावियो के पाप का प्राय. शिकार हो जाता है। एक ऐसे ही बूढ़े ब्राह्मण ज्योतिषी द्वारा कौशल्या को राम का हाथ दिखाते हुए बताया गया है (पदसंख्या–१७)।

राम की बालक्रीडा का वर्णन करते हुए कवि यह भूल गया है कि वे राजकुमार है। सामान्य ग्रामीण बालको के समान राम अवध की गलियों मे लट्टू, गोली, भँवरा और चकडोरी खेलते है—

खेलत अवध खोरि, गोली भौरा चकडोरि,
मूरति मधुर बसै तुलसी के हियरे ॥ ३ ॥
(गीतावली, पद–४३)

बालक राम के वस्त्राभूषणो के वर्णन में बहुत कुछ काव्यपरपरा का पालन किया गया है। मानस मे भी झिगुलिया, कटि किंकिनी, नूपुर, पनही आदि का उल्लेख है, किंतु गीतावली के राम पहुँची और अगद पहने ही है। उनके शिर पर लाल चौतनी टोपी और जरकसी पगिया (पद–४) बँधवाना निश्चित रूप से मुस्लिम प्रथा कहा जाएगा।

विवाह मानवजीवन की अन्यतम उपलब्धि है। वह दो प्राणियो को सहजीवन के सूत्र मे आबद्ध करनेवाला पावन माध्यम है। सोलह संस्कारो मे इसका विशेप स्थान है। भारतीय विवाहपद्धति मे कन्या का परिणय सस्कार इतने हर्षोल्लासपूर्ण वातावरण मे सपन्न होता है कि सारा गाँव या कस्वा विचित्र आनद की अनुभूति में रसमग्न हो जाता है। गोस्वामी जी का मन अन्य संस्कारो की अपेक्षा विवाहवर्णन मे अधिक रमा है। मानस, कवितावली, गीतावली आदि राम-कथाकाव्यो मे विवाह के चित्रण मिलते ही है, लोकशैली का अनुसरण करते हुए उन्होने स्वतंत्र रूप से तीन मगलकाव्यो–जानकीमगल, पार्वतीमंगल और रामलला नहछू की रचना की है। 'मगल' का अर्थ विवाह भी होता है। विवाह के अवसर पर गाए जानेवाले गीत को मगलगान कहते है।

मंगलगान करहिं वर भामिनि।
भै सुख मूल मनोहर जामिनि॥ (मानस–१।३३५)

यही से मगलकाव्य का उद्भव मानना चाहिए। इस प्रकार 'मगल काव्य' का मूल लोकगीत है। कहा जाता है कि तुलसीदास के तीन विवाह हुए थे। यदि यह वात सत्य है तव तो उन्हे वैवाहिक रीतियो का प्रत्यक्ष और गहरा अनुभव रहा होगा। मानस, गीतावली, पार्वतीमगल और जानकीमगल मे वैवाहिक कार्यक्रमो मे लौकिक-वैदिक रीतियो तथा लगन बाँधने से लेकर बरात की विदाई तक के व्यौरेवार सूक्ष्म वर्णन को पढ़कर कभी कभी सदेह होने लगता है कि तुलसीदास किसी ऐसे पुरोहित कुल मे पैदा हुए थे, यजमानो की वैवाहिक रीतियाँ सपन्न कराना जिसका नित्य का व्यवसाय था। वस्तुतः रामसीता अथवा शिवपार्वती का विवाह वर्णन करते समय तुलसीदास प्रायः भूल जाते हैं कि

वे किसी राजकुमार अथवा विशिष्ट देवता के विवाह का वर्णन कर रहे हैं। उनके सामने प्रायः उनके गाँव या आसपास के देखे गए विवाहो के चित्र उतर आते है और वे उन सभी लोकरीतियो का ऐसे सहज ढग से उल्लेख करने लगने है, जो उनके समय के सामान्य जन मे प्रचलित ही थी, आज भी उसी रूप मे गाँवो, मुख्य रूप से अवध के गाँवो मे देखी जा सकती है। इस प्रकार उन्होने वैवहिक सस्कार के वर्णन मे लोकसस्कृति का अनुधावन करते हुए एक प्रकार से रामकथा का ग्रामीकरण कर डाला हैं। सामान्य पाठक अपने जीवन की अनुभूत और भुक्त घटनाओ और दृश्यो के विधान से तुलसीकाव्य के प्रति सहज भाव से आकृष्ट हो जाता है और उनकी सत्यता मे विश्वास करके, असीम आनद की अनुभूति करता है। वह काव्यनायक को अपने ही बीच का एक मानव मान लेता है, जिसके प्रत्येक कार्य स्वयं उसके देखे सुने है। इस प्रकार उन्होने रामकथा के माध्यम से विराट् जनता के हृदय की धडकनो और देश के यथार्थ को व्यक्त किया हे।

तुलमीसाहित्य मे मुख्य रूप से शिव-पार्वती-विवाह और राम-जानकी-विवाह के विस्तृत वर्णन मिलते है। शिव-पार्वती का विवाह रामचरितमानस के अतिरिक्त 'पार्वती मगल' मे हुआ है। पार्वती और सीता द्वारा अनुरूप वर के लिये क्रमश. तप तथा गिरिजापूजन लोकविश्वास के प्रतीक है। 'हरतालिका व्रत' के रूप मे कुमारी कन्याओ द्वारा व्रत, पूजन का विधान आज भी लोक-जीवन का अग है। 'मानस' मे 'पार्वती परिणय' के अवसर पर हिमगिरि द्वारा सबधियो को नेवता भेजने, बारात के आगमन पर नगरवासियो का औत्सुक्य, बारात की अगवानी, जनवासे की व्यवस्था, मैना द्वारा वर की आरती उतारने, स्त्रियो के गाली गाने, परिछन, गणेशपूजन, पाणिग्रहण, वाद्यवादन, दहेज दान और मैना द्वारा पुत्री को नारिधर्म की शिक्षा के द्वारा लोकसंस्कृति का चित्र स्पष्ट रूप से उभर आता है। 'पार्वतीमगल' लोकशैली का काव्य है। अत. उसमे लोकतत्व अधिक मुखर हो उठा है। पार्वती सयानी हो गई हैं। अतः माता-पिता को उसके लिए योग्य वर की चिंता सताने लगी है। एक दिन हिमालय के घर पर नारद का आगमन होता है। वह नारद से योग्य वर के सबध मे प्रश्न करते है:—

कुँवरि सयानि बिलोकि मातु पितु सोचहिं।
गिरिजा जोगु जुरिहि वर अनुदिन लोचहिं ॥ ९ ॥
एक समय हिमवान भवन नारद गए।
गिरिवर मैना मुदित मुनिहि पूजत भए ॥१०॥

\+ \+ \+

तुम त्रिभुवन तिहुँ काल बिचार बिसारद।
पारबती अनुरूप कहिय बरु नारद ।।१०।।
(पार्वती मंगल, पृ०-८)

इसके पश्चात् शिव-पार्वती विवाह के अवसर पर उन समस्त लौकिक रीतियो–वर परिणय, आरती, शाखोच्चार, जल और कुश लेकर कन्यादान का संकल्प, लावाविधान, सिंदूरदान, ग्रथिबधन, ध्रुव नक्षत्र - दर्शन, कोहवर, लहकौरि, तथा वर वधू द्वारा जुआ खेलने आदि–का विस्तृत वर्णन किया गया है, जो हिमाचल के पहाडी इलाको में भले ही प्रचलित न रही हो, किंतु अवध के जनजीवन के वैवाहिक कार्यक्रमो की रीतियाँ है :—

बर दुलहिनिहिं बिलोकि सकल मन रहसहिं।
साखोच्चार समय सब सुर मुनि बिहसहिं ।।१४३।।
लोक वेद बिधि कीन्ह लीन्ह जल कुस कर।
कन्यादान सँकलप कीन्ह धरनीधर ।।१४४।।
पूजे कुल गुरुदेव कलसु सिल सुभ धरि।
लावा होम विधान बहुरि भाँवरि परि ।।१४५।।
बंदन बदि ग्रथि बिधि करि ध्रुव देखउ।
भा बिबाह सब कहहिं जनम फल पेखेउ ।।१४६।।
(पार्वती मंगल)

इसी प्रकार राम के विवाहवर्णन मे मध्यकालीन सांस्कृतिक इतिहास पूर्ण रूप से साकार हो गया है और वैदिक तथा लौकिक रीतियो का सामंजस्य किया गया है। केवल धनुर्भंग से ही राम का विवाह संपन्न माना जा सकता था, किंतु लौकिक रीतियो के सपादन द्वारा उसकी पुष्टि गोस्वामी जी की लोक-तात्विक दृष्टि की परिचायक है। 'गीतावली' मे धनुर्भंग के अवसर पर नगर की स्त्रियो द्वारा 'कनसुई' उठाने की प्रथा का उल्लेख है (पद-७०)। धनुर्भंग के बाद जनक के कुलगुरु शतानंद तिलक की सामग्री लेकर अयोध्या जाते है (जा० मं० १४)। मँडवा छोड़ा जाता है, गौरी गणेश की पूजा होती है, हल्दी चढ़ाई की रीति होती है, कलश स्थापन और तेल चढावन होता है और उसके बाद मिथिला मे रामविवाह के अवसर पर अग्निस्थापन, कन्यादान, सिंदूरवंदन, लाजा होम विधि, सिलपाटनी, कोहबर, लहकौरि, नेगचार आदि की क्रियाएँ पूरी की जाती है। नाऊ, बारी, भाट, नट आदि को न्योछावर दी जाती है। मानस मे बारात की सजावट और विविध प्रकार के पकवानो की तैयारी मे सामंती व्यवस्था की सुरुचिसंपन्नता से लेकर सामान्य जन के वैवाहिक प्रबंध तक का दृश्य उपस्थित किया गया है। वर के रूप मे राम

घोड़े पर सवार हैं, जिसकी जीन जगमगा रही है । पैरो मे घुंघरू बँधे श्याम वर्ण के घोडो पर बराती सुशोभित है, अवध की अट्टालिकाएं कनक कलश, तोरण, हल्दी, दूध, दधि, अक्षत आदि मांगलिक वस्तुओ से सजाई गई हैं, हाथियो के गले मे घंटियां और पीठ पर सुंदर अंबारियां पड़ी है, ऊँट तथा बैलो पर सामग्री लदी है, कहार कांवरि लादकर चल रहे है । इस अवसर पर अनेक प्रकार के 'सगुन' होने का उल्लेख भी लोकविश्वास के अनुरूप है —

> बनइ न बरनत बनी बराता, होहिं सगुन सुंदर सुभदाता ।
> चाराचापु नाम दिसि लेई, मनहु सकल मंगल कहि देई ॥
> दाहिन काग सुखेत सुहावा, नकुल दरस सब काहू पावा ।
> सानुकूल बह त्रिविध बयारी, सघट सबाल आव बर नारी ॥
> लोवा फिरि फिरि दरस दिखावा, सुरभी सन्मुख सिसुहि पियावा ।
> मृगमाला फिरि दाहिनि आई, मंगलगन जनु दीन्ह देखाई ॥
> छेमकरी कह छेम बिसेषी, स्यामा बाम सुतरु पर देखी ।
> सनमुख आयउ दधि अरु मीना, कर पुस्तक दुइ बिप्र प्रबीना ॥
> (मानस—१।३०३)

बारातियो को विविध प्रकार के षट्रस व्यजन परसे जाते है, उनमे दही, चिउड़ा, दाल, भात, घी, यहां तक कि चना चबेना को भी गिना दिया गया है (मानस-१/३२८) । बेचारे निर्धन तुलसीदास के लिये यही श्रेष्ठ खाद्य-पदार्थ सुलभ रहे होंगे । यही नही, बारातियो को भोजन पत्तल पर कराया जाता हैं और उन्हे लकड़ी के पीढे पर बिठाया जाता है । इस अवसर पर गिनाए गए बरतनो मे कड़ाह, दही का कुडा, कठौता, थाल, परात, कच्चे घड़े आदि सामान्य परिवारो मे पाए जानेवाले पात्रो की याद दिलाते हैं । इसी प्रकार शिविका, पीढा, हिंडोला, चादर, तोशक आदि सामग्रियां भी सामान्य परिवार का स्मरण दिलाती हैं । अब नई सभ्यता के आलोक मे नगरो मे वैवाहिक पद्धतियाँ बदल रही है । परंपरागत अनेक रीति-रिवाज समाप्त हो रहे हैं । यदि नई सभ्यता की रगीनी ऐसी ही बढती गई तो एक दिन तुलसीकाव्य मे वर्णित इन लोकाचारो को पढ़कर यही कहा जाएगा कि ये सारी रीतियां निश्चय ही रामकालीन रही होंगी ।

तुलसी की लोकतात्विक दृष्टि से 'रामलला नहछू' का विशेष स्थान है । उसकी रचना का उद्देश्य ही है—विवाह जैसे मागलिक सस्कार के अवसर पर स्त्रियो द्वारा गाए जानेवाले लोकगीतो का आदर्श रूप प्रस्तुत करना । इसमे वर्णित शृंगार, यौवनोचित विनोद, हास-परिहास और तुलसीदास के अन्य काव्यो जैसी गभीरता और शास्त्रीयता के अभाव तथा कतिपय प्रसं-

गतियों को देखकर कुछ आलोचकों ने तो उसके तुलसीकृत होने मे भी सदेह मान लिया है। नहछू की प्रामाणिकता—अप्रामाणिकता की विवेचना प्रस्तुत निबंध का प्रतिपाद्य नही है। किंतु हम इतना कह देना 'अलं' समझते है कि 'रामलला नहछू' मे जिस लोक सास्कृतिक दृष्टि का उन्मेष हुआ है, तुलसी के परवर्ती काव्यो मे उसी का विस्तार और उदात्तीकरण देखा जा सकता है। वस्तुत. राम का नहछू नही हुआ था। वह अयोध्या से वररूप में सजाकर मिथिला नही गए थे। यहाँ रामलला का अर्थ है कोई भी वर, और कौसल्या से तात्पर्य है किसी भी वर की माता। प्रत्येक वर विष्णु 'राम' माना भी जाता है। इस प्रकार राम जन-जन के घर में सजाए जाने वाले 'वर' के प्रतीक मात्र हैं। नहछू के अवसर पर तो वाँस से मंडप छाया जाना, मंगल कलश की स्थापना, युवतियो द्वारा मंगल गाना, मायन या मातृका पूजन के समय लोहारिन द्वारा लोहे का छल्ला, अहीरिन द्वारा दही, तमोलिन द्वारा पान का बीड़ा, दर्जिन द्वारा वस्त्र, मोलिन द्वारा जूता और मालिन द्वारा मौर, वारिन का लाया जाना तथा वारिन और नाउन की उपस्थिति से किसी भी घर में संपन्न होने वाले वैवाहिक संस्कार का दृश्य साकार हो उठा है। हास-व्यंग्य और गाली गान मे लोकचित्त के उल्लास की अभिव्यक्ति है:—

बनि बनि आवति नारि जानि गृह मायन हो।
बिहँसत आव लोहारिन हाथ बरायन हो॥
अहिरिन हाथ दहेंडि सगुन लेइ आवइ हो।
उभरत जोवन देखि नृपति मन भावइ हो॥ ५॥
रूप सलोनि तँबोलिनि बीरा हाथहि हो।
जाके ओर बिलोकहि, मन तेहि साथहि हो॥
दरजिनि गोरे गात लिए कर जोरा हो।
केसरि परम लगाइ सुगंधनि बोरा हो॥ ६॥
मोचिनि बदन संकोचिनि हीरा माँगन हो।
पनहि लिए कर सोभित सुंदर आँगन हो॥
बतिया सुघरि मलिनियाँ सुंदर गातहि हो।
कनक-रतन-मनि मौर लिहें मुसुकातहि हो॥ ७॥

(रामलला नहछू)

रीतिरिवाजों और संस्कारो के अतिरिक्त तुलसी साहित्य मे विभिन्न वर्गो, वर्णो और जातियों के मानव जीवन की गहरी अनुभूतियाँ, सूक्तियाँ, नीतिकथन, मित्रधर्म, स्त्रीधर्म आदि के निरूपण, ज्योतिष, कर्म, भाग्य, भवितव्यता आदि की चर्चा, ग्राम देवता, कुल देवता, पितर पूजा, गौरी गणेश वंदना, तीर्थ, व्रत,

गंगा आदि नदियों के प्रति धर्मभावना, गोस्वामी जी को भारतीय संस्कृति के सच्चे प्रनिनिधि के रूप मे प्रतिष्ठित कर देते है। उनका 'रामाज्ञा प्रश्न' एक प्रकार से ज्योतिष का ही ग्रंथ है, जिसमे शुभाशुभ शकुन-विचार की पद्धति बताई गई है। कहा जाता है कि तुलसीदास ने अपने मित्र गगाराम ज्योतिषी के लिये इसकी रचना की थी। इसके अतिरिक्त उनकी अन्य रचनाओ, विशेषकर मानस और दोहावली मे शकुन को अनुकूल बनाने, अमगल-निवारण आदि के लिये अनुष्ठान विधि आदि के उल्लेख लोकविश्वास के अनुरूप है। दोहावली मे स्त्रियों द्वारा चावल हल्दी से दीवालों पर बनाए गए चित्र देवता के प्रति विश्वास (दो० ४५४), बारह अनुकूल नक्षत्रो (४५६), चौदह प्रतिकूल नक्षत्रों (४५७), हानिकारक तिथियो (४५८), चद्रमा की घातक स्थिति (४५५), शुभ-अशुभ लक्षण आदि की चर्चा मे शास्त्र अनुकथन, लोकव्यवहार का समर्थन अधिक दिखाई पडता है। बाहुपीड़ा से त्रस्त हनुमान बाहुक का कवि विभिन्न देवी-देवताओ की ही मनौतियाँ नही मनाता है, अपितु मंत्र, तत्र और टोटका आदि विधान भी करता है :—

ओषध अनेक जंत्र मत्र टोटकादि किए,
बादि गए देवता मनाए अधिकाति है ॥
(हनुमान बाहुक, पद—५८)

मानस और दोहावली में निहित नीतियो को हम आज भी लोगो द्वारा इस प्रकार सहज भाव से उद्धृत करते हुए सुनते है मानो ये अश हमारी आचारसंहिता हों। मानस मे संत-असंत-लक्षण-निरूपण, लक्ष्मण—गुह-संवाद, राम-सुमंत संवाद, वाल्मीकि-राम-संवाद, वशिष्ठ-भरत-संवाद, राम-भरत-सवाद, अनुसूया द्वारा सीता को नारि-धर्म-शिक्षा, सूर्पणखा का रावण को उपदेश, मारीच के अंतर्द्वंद्व, राम द्वारा सुग्रीव से मित्र-लक्षण-वर्णन, वर्षा के माध्यम से नीतिकथन, सुग्रीव का वानरो को उपदेश, विभीषण तथा माल्यवत द्वारा रावण को समझाने, मदोदरी-रावण-बतकही, अगद-रावण-संवाद, काग-गरुड-सवाद आदि आदि के माध्यम से गोस्वामी जी ने जो सदेश दिया है, उसका महत्व सार्वकालिक एवं सार्वजनीन है। अपने इन्ही स्थायी मूल्यो के कारण उनका कथन, विशेष कर मानस, जन-जन का कंठहार बना हुआ है, और बना रहेगा।

*

तुलसीदास के जनमानस की जागृत चेतना

डा० रत्नाकर पांडेय

वाल्मीकि और व्यास का युग बीते कितने दिन हुए, कौन बता सकता है ? परंतु हजारों वर्ष पहले इन महान् साहित्यकारों ने जिस राम-कृष्ण का स्वरूप देश के मन में बैठा दिया था—वही राम-कृष्ण हजारो वर्षो से गुलाम चले आ रहे भारत वर्ष की जनता को त्राण देने के लिये फिर तुलसी और सूर की वाणी बनकर समाज के हृदय मे लहराने लगे। तुलसीदास की रचना रामचरितमानस मानव मन को प्रकाशित करनेवाला एक ऐसा मणिदीप है जिससे युग-युगों तक प्रत्येक मनुष्य अपना चरित्र-निर्माण करने के लिये प्रकाश प्राप्त कर सकता है।

तुलसीदास ने रामचरितमानस की रचना ४०० वर्ष पहले प्रारभ की। रामनवमी के दिन संवत् १६३१ मे उन्होने इस महान् ग्रथ का श्रीगणेश किया। कोई भी महान् साहित्यकार अवतारी पुरुष होता है। वह जो कुछ लिखता है, उसमे उसके मन की धड़कनो तथा सारे युग और समाज की मनोदशा का साक्षात् स्वरूप सामने आता है।

आज तुलसीदास को देश का बच्चा-बच्चा जानता है। उन्होने राम को एक ऐसे आदर्श महापुरुष के रूप में चित्रित किया, जिसके समान कोई दूसरा आदर्श चरित्र इस देश के साहित्यकारो द्वारा आज तक नही चित्रित किया गया।

तुलसीदास का युग मुगलो का युग था। भारत मे एक ऐसी मिली-जुली सस्कृति का जन्म हो चुका था जो मुसलमानी प्रभाव मे घुलमिलकर नई परंपराओ की स्थापना कर रही थी। समाज मे सामान्य जनता का जीवन दूभर हो गया था। हिंदुत्व पर आँच आ गई थी। जाति-पाँति, ऊँच-नीच, छूआछूत, भेद-भाव, हिंदू-मुसलमान की भावना विभेद की दीवारो को पारकर कलह का वातावरण उत्पन्न कर रही थी। द्वेष, कलह, राग, विराग, घृणा का चारो ओर बोलबाला था। चारो ओर वासना का नगा नाच हो रहा था। मुक्त वातावरण मे साँस लेनेवाली भारतीय सस्कृति पर मुगलो ने गुलामी का बुर्का डाल दिया था। तुलसीदास और अन्य भक्त कवियो के उत्पन्न होने के पहले इस देश मे कवियो ने राजाओ के यश का गीत गाना शुरू कर दिया था, परंतु तुलसीदास ने अपने रामचरितमानस मे लिखा कि 'कीन्हें प्राकृत जन गुनगाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।' तुलसीदास ने

किसी भी जीवित राजा-महाराजा की प्रशसा मे लेखनी नही चलाई, बल्कि उन्होंने उसके कुपरिणाम को जानकर सारे ससार को 'सियाराममय' समझा और 'राम को ईश्वर का अवतार' मानकर रामचरितमानस की रचना प्रारभ की। उस युग मे मुसलमान भारत की आत्मा को जीतने की कोशिश कर रहे थे। शेरशाह और अकबर ने दिल्ली और आगरे को अपना प्रधान शासन-केंद्र बनाकर विश्व की सर्वश्रेष्ठ हिंदू सस्कृति को सोने की बेड़ियो मे जकड़ने की कोशिश की। उस समय हिंदुओं ने मुसलमानी बाना पहनना शुरू कर दिया था। उत्तरीय के स्थान पर शादी विवाह के अवसर पर जामा-जोडा चल निकला। मुसलमान मुल्ला लोगो ने हिंदू धर्म और भारतीय सस्कृति पर खुलकर प्रहार करना शुरु किया। हिंदू कन्याएँ मुगलो के हरम की शोभा बढ़ाने लगी। मानसिंह ने राणा प्रताप पर अस्त्र उठाया। लोग बच्चो को इसलिये शिक्षा दे रहे थे कि शिक्षा प्राप्त करके वे अपनी उदर-पूर्ति कर सकें। लोग धर्म, वर्ण, स्मृति आदि का विरोध कर भारतीय वर्णाश्रम-व्यवस्था के समूल विनाश के लिये कटिवद्ध थे। समाज मे अनुशासनहीनता बढ गई थी। लोगों का नैतिक पतन हो चुका था। हिंदू जाति अपनी स्वार्थपूर्ति के लिये मुगलो की ओर आँखें गड़ाए थी। भारतीय राजा अपनी प्रजा की आवश्यकताओं की राजनैतिक स्तर पर ही नही, सास्कृतिक और चारित्रिक स्तर पर भी पूर्ति करने मे असमर्थ थे। तुलसी इस पतनशील अवस्था मे भारतीय सस्कृति की रक्षा के लिये अपूर्व वीर योद्धा के रूप मे हमारे समक्ष आए। देश अकबर को नही, तुलसीदास को महान् मानता है। रामचरितमानस मे उनका जो उद्देश्य था, उसी के आधार पर महात्मा गाधी ने आदर्श जनतंत्र के लिये 'रामराज्य' की कल्पना की।

उस युग में ब्राह्मण और संन्यासी अपना धर्म छोड़कर निरक्षर, कामी, लोलुप, आचरणहीन और शठ हो गए थे। राजा पाप मे डूबे हुए थे और प्रजा को नित्य दंड दिया करते थे। तुलसीदास ने ऐसे युग मे राम के रूप मे एक सगुण, संचेतन, सर्वज्ञ और सर्वव्याप्त ईश्वर को साकार किया। तुलसी के राम ने देश की जनता की धार्मिक भावना को जहाँ संतुष्ट किया, वही मानव और युग की मर्यादा तथा सामाजिक चरित्र को भी प्रेरित करने मे सफल हुए। गीता मे लिखा है कि जब जब धर्म का पतन होता है और राक्षसी प्रवृत्तियाँ पनपने लगती है, चारो ओर घमंड में लोग अत्याचार करने लगते है, तब मानव मात्र की रक्षा के लिये भगवान् मनुष्य के रूप मे अवतार लेते हैं। तुलसीदास ने लिखा है :

जब-जब होइ धरम की हानी।
बाढहि असुर अधम अभिमानी॥
तब तब प्रभु धरि मनुज शरीरा।
हरहि कृपा निधि सज्जन पीरा॥

राम ईश्वर थे, परतु उस ईश्वर को प्रत्येक-व्यक्ति के मन मे प्रकाश- फैलाने का श्रेय देनेवाले तुलसीदास निश्चित रूप से भारतीय साहित्य के अमूल्य रत्न है ।

अपनी कविताओ मे स्थान-स्थान पर उन्होने लिखा है कि माँ-बाप ने ससार मे पैदा करके छोड दिया । विधाता ने भी भाग्य-लिपि लिखते समय कोई उदारता नही दिखाई । तुलसी का कथन है कि स्वार्थी साथियो ने त्याग दिया और उलटकर देखा तक नही । माँ-बाप ने इस भाग्यहीन को उत्पन्न तो कर दिया किंतु भविष्य की चिंता नही की । तुलसीदास के बचपन के दिन दर-दर की ठोकरे खाते हुए जाति और कुजाति के लोगो के सामने पेट की ज्वाला के वशीभूत हाथ पसारते तथा ललकते-तरसते बीते । इसके लिये तुलसी ने किसी को न दोषी ठहराया, न कोप किया । वह मानते थे कि मेरे अभाग्य के कारण ही यह सब हो रहा है. इसमे बधु, बाधवो का कोई दोष नही ?

कुछ लोग आरोप लगाते है कि तुलसीदास साप्रदायिक थे । वस्तुत यह गलत है। तुलसीदास स्वाभिमान के साथ अभाव और उपेक्षा मे भी जीवित रहना जानते थे । यही कारण था कि उन्होने खुलेआम कहा :

धूत कहौ अवधूत कहौ,
रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोऊ ।
काहू की बेटी सो बेटा न व्याहब,
काहू की जाति बिगार न सोऊ ।
'तुलसी' सरनाम गुलाम है राम को,
जाको रुचै सो कहै किन कोऊ ।
माँगि के खैबो, मसीत को सोइबो,
लैबे को एक न दैबे को दोऊ ॥

तुलसीदास को इस बात की परवाह नही थी कि वे पडित हैं कि साधु है । उन्हे इसकी भी चिता नही थी कि कोई उन्हे ब्राह्मण कहता है या जुलाहा । वे केवल रामभक्त थे और इन छोटी मोटी बातो पर ध्यान नही देते थे । ऐसे महापुरुष को सांप्रदायिकता की सीमा मे बाँधना अनुचित है । जिस बालक का जीवन वात्सल्य के अभाव मे स्नेह की परिभाषा तक नही जान सका, वह आगे चलकर त्याग की मूर्ति बन बैठा । वह लोगो के द्वार द्वार घूमता भटकता रहा । वर्षो भिक्षाटन करके उदरपूर्ति करता. रहा । एक दिन स्वामी नरहर्यानद जी हरिपुर मे प्रवचन करने आए और उन्होने इस बालक पर दया की तथा अपने साथ इसे लेकर अयोध्या चले आए । नरहर्यानद ने तुलसीदास के व्यक्तित्व मे विकसित होनेवाली स्वर्गीय प्रतिभा को पहचान लिया । उन्होने तुलसी के समस्त धार्मिक सस्कार किए । उन्होने तुलसी

को 'रामवोला' नाम से पुकारना शुरू किया। रामवोला तुलसी का वचपन का नाम था और स्थान स्थान पर तुलसी ने लिखा है कि 'रामबोला नाम है, गुलाम राम साहि को' अथवा 'राम को गुलाम नाम, रामबोला राख्यो राम।' रामवोला दिनो दिन परिपक्व होते गए। स० १५६१ वि० मे नरहर्यानद जी ने तुलसीदास का यज्ञोपवीत किया। बिना सिखाए ही तुलसी गायत्री मत्र का विधिवत् उच्चारण करने लगे। तुलसी की अद्‌भुत प्रतिभा देखकर लोग आश्चर्यचकित रह गए। गुरु के प्रति तुलसी के मन मे वडा आदर था, इसी लिये रामचरित मानस के प्रारभ मे सर्वप्रथम उन्होने गुरु वदना की है :

बंदौ गुरुपद कज, कृपासिधु, नररूप हरि।
महा मोह तम पुज, जासु वचन रविकर निकर ॥

नरहर्यानद जी रामानंद के शिष्य अनंतानद के शिष्य थे। वास्तव मे रामानद की परपरा मे नरहरिदास ही तुलसीदास के असली गुरु थे। गुरु के प्रति तुलसी की अत्यधिक आस्था थी। वे मन, वचन और व्यवहार से गुरु की सेवा करते थे। शिष्य गुरु के आदेशो पर प्राण देने को आतुर रहता था और नरहर्यानद जी अपने उस प्रतिभा-शाली शिष्य पर पूर्ण प्रसन्न थे। वहुत दिनो तक वे इस वालक को विविध प्रकार की शिक्षा देकर उसकी प्रतिभा को विकसित करते रहे। अयोध्या के हनुमान टीले पर तुलसीदास नरहर्यानंद के साथ कई महीनो तक रहे, फिर उन्ही के साथ वे शूकर क्षेत्र मे चले आए जो सरयू और घाघरा नदी के सगम पर स्थित है। यहाँ भी तुलसी की शिक्षा-दीक्षा चलती रही। उनकी प्रतिभा प्रखर होने लगी। इसलिये नरहर्यानद ने एकाग्र मन से अपने इस शिष्य को रामचरित की कथा सुनाना प्रारंभ किया। नरहर्यानद ने तुलसी को रामकथा का मणिमत्र दिया और उनमे राम की कथा को नवीन रूप मे प्रकट करने की क्षमता को जागृत किया। तुलसी ने स्वयं लिखा है .

मै पुनि निज गुरु सन सुनी कथा जो सूकरखेत।
समुझि नही तस वालपन, तव अति रहेउ अचेत ॥

शिशु अवस्था मे, जब तुलसी की चेतना पूर्णरूप से परिपक्व नही हुई थी, तभी उन्होने अपने गुरु से राम की अपूर्व कथा को सुनकर यह निश्चय कर लिया था कि आगे चलकर वे एक अद्‌भुत रामकाव्य की रचना करेंगे। नरहर्यानद जी अपने शिष्यो के साथ काशी आए और अपने गुरु रामानद के साथ पचगगा घाट पर रहने लगे। काशी के पचगगा घाट पर ही वेदपुराण आदि ग्रथो के महान् पडित, सर्वशास्त्र-निपुण, वयोवृद्ध शेष सनातन जी भी रहते थे। प्रतिभाशाली और तीव्र विवेकवाले बालको को अपने ज्ञान की धरोहर शिक्षा के रूप मे देने की उनकी सहज प्रकृति और प्रवृत्ति थी। उन्होने वालक तुलसी की अतश्चेतना को पहचाना और

नरहर्यानंद से उन्हे अपने पास रखकर पढ़ाने के लिये माँग लिया। नरहर्यानंद ने तुलसी को काशी मे विद्याध्ययन मे प्रवृत्त करा दिया और स्वय चित्रकूट चले गए। शेष सनातन जी तुलसी को अपने विराट् ज्ञान का दान देने लगे। तुलसी शेष सनातन जी की मन, वचन और कर्म से सेवा करने लगे। शेष सनातन के समीप रहकर तुलसी ने शास्त्र, पुराण, इतिहास, काव्य, वेद, श्रुति, स्मृति आदि का इतनी एकाग्रता से गहन अध्ययन किया कि सभी विद्याएँ उनके व्यक्तित्व की अग बन गईं।

शेष सनातन जी के घनिष्ठ सपर्क ने तुलसी के हृदय मे ज्ञान की ऐसी ज्योति जगाई जो सारे समाज के लिये प्रकाशस्तंभ बन गई। सं० १५८२ वि० मे, जब शेष सनातन जी का निधन हुआ, तब तुलसी के हृदय को ठेस लगी और गुरु के निधन के साथ ही उनकी शिक्षा दीक्षा भी समाप्त हो गई।

शेष सनातन जी के निधन के बाद तुलसी गुरु के अभाव मे अपने को शोक-संतप्त, एकाकी और उदास महसूस करने लगे। काशी उन्हे गुरु के बिना काटने को दौडती। इसलिये वे अपनी जन्मभूमि की ओर चल पड़े। जन्मभूमि की महिमा तुलसी से छिपी नही थी। राजापुर पहुँचने पर तुलसी को ज्ञात हुआ कि उनके परिवार मे कोई शेष नही है। माँ बाप तो स्वर्ग सिधार ही चुके थे, समूचे वंश मे कोई दीपक जलानेवाला भी बाकी नही था। कहा जाता है कि जब तुलसी के पिता ने अपने निरपराध शिशु को जन्मते ही त्यागने का प्रपच रचा, उसी समय किसी तपस्वी ने उन्हे शाप दे दिया था कि उनके वंश मे तुलसी को छोड़कर कोई भी शेष नही बचेगा। गाँव आकर तुलसी को नये वियोग का सामना करना पड़ा।

तुलसी के बचपन का कष्ट दुहराना व्यर्थ है। गुरु का निधन और परिवार के प्रेत ने तुलसी को कही का नही रखा और वे राम की भक्ति मे तल्लीन रहने लगे। वे राम की कीर्तिगाथा लोगों को सुनाने लगे। उनकी रामकथा को ध्यानमग्न होकर लोग सुनते थे।

कहा जाता है कि यमुना के उस पार तारिपता नाम का एक गाँव था। तुलसी की रामकथा सुनने के लिये उस गाँव के प० दीनबंधु पाठक भी आया करते थे। वे तुलसी की योग्यता, उनके शारीरिक सौंदर्य और उनकी विद्वत्ता पर मुग्ध थे। इन्हे परम सुदरी रत्नावली नाम की एक कन्या थी। तुलसीदास के सबल हाथो मे रत्नावली का हाथ देने के लिये दीनबधु पाठक प्रयत्नशील थे। तुलसी प्रारंभ मे गृहस्थी के जजाल से बचने के लिये आनाकानी करते रहे। परंतु तुलसी के द्वार पर दीनबधु पाठक ने आमरण अनशन शुरू कर दिया। वे तुलसी को छोडकर किसी अन्य को अपना दामाद नही बनाना चाहते थे। तुलसी ने भी जब कन्या के रूप गुण की प्रशसा सुनी तो उनके हृदय मे

यौवन की लहरे हिलोरे लेने लगी और रत्नावली को अपनी पत्नी के रूप मे ग्रहण करने के लिये उन्होने वचन दे दिया। सवत् १५८३ वि० मे तुलसी का अट्ठाइस वर्ष की अवस्था मे रत्नावली से विवाह सपन्न हुआ।

रत्नावली के प्रेमापाश मे बँधे तुलसी अपने यौबन के रसमय दिन छककर मस्ती मे विताने लगे। इस तरह पाँच वर्ष वीत गए। एक दिन तुलसीदास की अनुपस्थिति मे रत्नावली का भाई आ पहुँचा। रत्नावली के मन मे माँ बाप, सखी सहेलियो को देखने की प्रबल इच्छा हुई। तुलसीदास के जानते रत्नावली ननिहाल नही जा सकती थी। इसलिये तुलसीदास से बिना पूछे, उनकी अनुपस्थिति मे ही वह अपने भाई के साथ मायके चली गई। घर लौटने पर जब तुलसी ने अपनी प्राणप्रिया रत्नावली को न पाया तो वे भी उल्टे पैर ससुराल की ओर चल पड़े। रात मे यमुना का पानी उफान पर था। तुलसीदास के हृदय मे प्रेम का ज्वार भाटा उमड़ रहा था। उन्होने आधी रात मे तट पर स्थित एक शव को नौका समझकर हाथो से पतवार का काम लेते हुए वढी हुई यमुना को पार किया और रत्नावली के पिता के घर पहुँच गए। द्वार बद था, वरामदे मे लटकते हुए सर्प से रस्सी का काम लेते हुए तुलसी ने जब पत्नी की कोठरी मे प्रवेश किया, तो वह शर्म से गड गई। तुलसी का पत्नीप्रेम अपनी पराकाष्ठा पर था। शव और सर्प की कथा भले ही झूठी हो, परतु रत्नावली मे तुलसी की कितनी आसक्ति थी; यह इस तथ्य से ही जाहिर है। जब रत्नावली ने अपने पति से यहाँ तक रात मे पहुँचने की सारी भयानक कठिनाइयो का परिचय पाया तो वह पति को फटकारने लगी और मानिनी नायिका की भाँति उसने ऐठकर कहा कि मेरे इस हाड़ माँस के पुतले से जितना अनन्य प्रेम है, यदि वैसा ही प्रेम राम के प्रति हो तो ससार की वाधाओ से आपको सहज ही मुक्ति मिल सकती है। रत्नावली का वह व्यग्यपूर्ण दोहा इस प्रकार है—

> अस्थि चर्म मय देह मम, तामे ऐसी प्रीति।
> ऐसी जौ रघुनाथ सो, होत न तव भवभीति॥

पत्नी का यह मानपूर्ण मर्मभेदी वचन तुलसी के जीवन मे नवीन परिवर्तन की प्रेरणा लेकर आया। शारीरिक और यौवनोचित सौदर्य पर मुग्ध तुलसीदास के लिये रत्नावली की यह व्यग्योक्ति उनके जीवन मे एक नवीन धारा बनकर आई।

रत्नावली तुलसी के लिये प्रेरणा देनेवाली शक्ति थी; उन्हे भक्ति मार्ग पर चलने की सीख देनेवाली मित्र थी। राम को तुलसी के लिये प्रिय बनाने का श्रेय यदि किसी को है, तो वह रत्नावली को। सुहागिन होकर भले ही उसने पतिवियोग मे एक विधवा का दु खमय जीवन विताया हो, परतु अपने पति के हृदय में उसने शील-सौदर्य-शक्ति-सपन्न राम का ऐसा स्वरूप गाज

दिया, जिससे राम और तुलसी दोनो अमर हो गए। रत्नावली भी उन्ही के साथ अमर रहेगी। उसे कैसे भुलाया जा सकता है?

तुलसी के मन से रत्नावली का रूप उतर चुका था। प्रयाग आकर उन्होंने विरक्त का वेष धारण कर लिया। उनका संसार राम के चरित्र में सिमट गया। ईश्वर का साक्षात् दर्शन करने के लिये वे व्याकुल रहने लगे। तुलसीदास अयोध्या पहुँचे। वहाँ उन्होंने साधु संतो का समागम किया। अयोध्या मे राम ने जन्म लिया था, इसलिये तुलसी ने अयोध्या के धूलिकणों से अपना सपर्क किया और चारो धाम की यात्रा करने का भी निश्चय किया। अयोध्या से चलकर वे जगन्नाथपुरी पहुँचे। वहाँ सत्सग और देवपूजा करने के बाद उन्हे जो भी समय मिलता, उसको वे वाल्मीकि रामायण के अध्ययन मे बिताते। जगन्नाथपुरी से तुलसीदास रामेश्वरम्, द्वारावती, बद्रिकाश्रम आदि तीर्थस्थानो की यात्रा करते रहे। तुलसीदास ने मानसरोवर का भी दर्शन किया था। मानसरोवर का दर्शन करना सरल नही है। वास्तविक सत्संग का सुख तुलसीदास को वही मिला। उनमे एक अलौकिक आत्मविश्वास था, उसी से भयानक नदियो और दुर्गम पहाड़ो को पार करते हुए वे निरतर अपने यात्राकर्म मे लगे रहे। बहुज्ञता विविध प्रकार के ज्ञानियो के सम्पर्क में आने से और संस्कृति विभिन्न स्थलो के जीवन क्रम को देखने से है। इसी कारण सास्कृतिक बहुज्ञता तुलसी मे आई। कहा जाता है कि नीलाचल पर्वत पर उन्हे भुशुडि का भी दर्शन हुआ था। लगभग पद्रह वर्षो तक उन्होने पर्यटन किया और अंत मे चित्रकूट के समीप भत्र-वन मे आश्रम बनाकर रहने लगे। वहाँ के सतों के मध्य अपनी रामकथा कहते रहे। उनकी कथा में भक्ति रस का अपूर्व स्रोत-प्रवाहित होता था। कहा जाता है कि उनकी इस कथा को सुनने कोढी के वेप में स्वयं हनुमान् जी आया करते थे। तुलसी को अभी तक राम के स्वरूप का साक्षात् दर्शन नही हुआ था। तुलसीदास राम का दर्शन चाहते थे। जिस वन मे वे रहते थे उसी मे एक पीपल का वृक्ष था। उसमे एक प्रेतात्मा रहती थी। कहा जाता है कि तुलसी द्वारा नित्य पीपल को जल दिये जाने से प्रसन्न होकर एक दिन उस प्रेतात्मा ने तुलसीदास के समक्ष प्रकट होकर हनुमान् की उपस्थिति का रहस्य बतलाया। तुलसीदास ने एक दिन हनुमान् के चरणो को पकड़ लिया। उनके नेत्रो से धाराप्रवाह अश्रु गिरने लगा। हनुमान् ने पहले आनाकानी की परतु जब उन्होने समझ लिया कि राम के प्रति तुलसी की अटूट भक्ति है तब उन्होंने बताया कि चित्रकूट मे तुलसी को राम का दर्शन हो सकता है। राम के प्रति तुलसी के मन मे अडिग आस्था थी। एक दिन चित्रकूट के रामघाट पर उन्होंने दो सुदर राजकुमारो को घोड़े पर चढे हुए देखा। उन्हे देखकर तुलसी मुग्ध हो गए परतु वे दोनो राम लक्ष्मण है, इसका ज्ञान उन्हे तब हुआ जब हनुमान् ने प्रकट

होकर उन दोनों राजकुमारों का भेद खोला । पुनः दूसरे दिन रामचंद्र ने प्रकट होकर चित्रकूट मे तुलसी से चदन माँगा । तुलसी को ज्ञात हो गया कि यही राम है । वे अपना सब कुछ भूलकर चंदन घिसने लगे । रामविरह मे अचेतन स्थिति मे उन्हें वही रात हो गई । रामचंद्र तिलक देकर चले गए । यह दोहा प्रसिद्ध है--

चित्रकूट के घाट पर भइ संतन की भीर ।
तुलसिदास चंदन घिसे, तिलक देत रघुवीर ॥

तुलसीदास की कथा सुननेवाले कोढी और पीपल के प्रेत की बात भले ही किवदंती हो, परन्तु इतना तो सत्य है कि तुलसीदास ने अपनी आतरिक अनुभूति से राम का दर्शन किया था । ईश्वर चर्म चक्षुओं के विषय नही है । तुलसी ने आतरिक अनुभुति की सहायता से राम का साक्षात्कार किया था । राम की मूर्ति और स्वरूप उनके हृदय मे बस गया था और जिस रघुनाथ की प्रतीति के लिये रत्नावली ने अनजाने तुलसी को प्रेरित किया था, उसी राम का दर्शन अपनी अतरात्मा से तुलसी ने प्राप्त किया, इसमे दो राय नही ।

तुलसी का जीवन एक पर्यटक का जीवन था। काशी से उन्होंने अपनी यात्रा प्रारंभ की । भृगु आश्रम, हसनगर, ब्रह्मपुर, गायघाट आदि स्थानो की यात्रा करते हुए तुलसीदास जनकपुर गए थे । मार्ग मे उन्होने जनता को झूठा चमत्कार पैदा करके ठगनेवाले सतो से बचाया और कहा—

तुलसी झूठे भगत की पत राखत भगवान ।
ज्यो मूरख उपरोहितहि देत दान भगवान ॥

कहा जाता है कि रघुनाथपुर, हरिद्वार क्षेत्र आदि की यात्रा करते हुए तुलसीदास जब जनकपुर पहुँचे तो वहाँ स्वयं जानकी जी ने बालिका का रूप धारणकर तुलसीदास को खीर खिलाया था ।

सवत् १६४० वि० मे तुलसीदास काशी लौट आए । काशी से इन्होने नैमिषारण्य की यात्रा प्रारभ की । वहाँ जाकर तुलसीदास ने लुप्त हो रहे देवस्थानो की पुन. प्रतिष्ठा की । वहाँ जाने के पूर्व तुलसीदास कुछ दिनो के लिये अयोध्या मे रहकर गीतावली के पदो का भक्तजनो मे प्रचार करते रहे और अयोध्या से खनाही, सूकरखेत और पसका होकर लखनऊ पहुँचे । लखनऊ मे तुलसीदास ने दामोदर भाट को वास्तविक कविप्रतिष्ठा दिलाई । माड़ियाहूँ मे रहकर फिर तुलसीदास वाल्मीकि आश्रम होते हुए कोटरागाँव में अनन्यमाधव जी के सतसग मे भी रहे । अनन्यमाधव जी ने तुलसीदास को माँ की महिमा बताते हुए एक पद सुनाया, जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार है ;

ऐसो सोच न करिये माता ।
सुनु जननी अब सावधान ह्वै परम पुरातन बाता ।
माधव 'अनन्य दास' राम कियो कहौ काहि से नाता ।।

कहा जाता है कि इस पद की प्रेरणा से तुलसीदास ने सुप्रसिद्ध पद 'मै हरि पतित पावन सुने' की रचना की । अनन्यमाधव के यहाँ से तुलसीदास बिठूर गए, फिर से वे संडीले पहुँचे । अंत में तुलसीदास नैमिषारण्य पहुँचे और वहाँ उन्होंने उजडे हुए देवस्थानो का जीर्णोद्धार कराया । यह कार्य उन्होने नैमिषारण्य के वनखंडी जी के आग्रह पर किया था । बाद मे वे वृदावन पहुँचे । वहाँ वे बड़े ही लोकप्रिय हुए । 'भक्तमाल' के प्रणेता नाभादास जी से उनका परिचय हुआ नाभादास ने 'कलि कुटिल जीव निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भये' विषयक छप्पय की रचना की। नाभादास जी ने तुलसीदास को वृंदावन का दर्शन कराया । वहाँ हित हरिवंश के पुत्र गोपीनाथ जी से भी भेंट हुई । तुलसीदास का मन वृंदावन मे न रमा । वे चित्रकूट चल पडे । चित्रकूट से वे दिल्ली, अयोध्या होते हुए काशी आए । कहा जाता है कि अयोध्या में सुप्रसिद्ध संत मलूकदास से भी उनकी संगति रही। गोस्वामी जी का अधिकांश जीवन काशी मे ही बीता । शेष सनातन जी के गुरुकुल मे पंद्रह वर्षो तक वे रहे और सं० १६३३ के बाद काशी को उन्होने कभी बहुत दिनो के लिये नही छोडा । उनका शरीर काशी मे छूटा । वे मानते थे कि काशी सर्वश्रेष्ठ नगरी है । उन्होने लिखा भी है कि :

मुक्ति जन्म महि जानि, ज्ञान खानि अघहानि कर ।
जहँ बस शंभु भवानि, सो काशी सेइय कस न ।।

प्रारंभिक दिनो में काशी मे तुलसीदास पचगगा घाट पर रहते थे । परंतु स्थायी रूप से काशी आने के बाद वे हनुमान फाटक पर रहने लगे । वहाँ मुसलमानों द्वारा तंग किए जाने पर गोपाल मदिर की एक छोटी सी कोठरी मे आकर रहने लगे जहाँ उन्होने "विनय पत्रिका" के महत्वपूर्ण अश लिखे । प्रह्लाद घाट पर भी गंगाराम ज्योतिषी के यहाँ उनके रहने की चर्चा मिलती है । बाद मे नगवा के समीप संकटमोचन की स्थापना उन्होने की और इसी एकांत वन मे वे रहने लगे । तुलसीघाट पर भी उन्होने हनुमान की मूर्ति स्थापित की । यहाँ एक गुफा है, जिसमे उन्होने अपने जीवन के अंतिम दिन बिताए। उनका पार्थिव शरीर यही छूटा । अस्सी पर मेघ भगत के सहयोग से उन्होने चित्रकूट की रामलीला प्रारंभ की, जिस सिलसिले मे उन्होने लंका आदि स्थानों का नामकरण किया । काशीनरेश ने रामनगर मे इन्ही की प्रेरणा से रामलीला-परंपरा की नीव डाली जो आज भी जीवंत और लोकप्रिय है । उन्होंने कृष्ण लीला की भी काशी मे प्रतिष्ठा की।

तुलसीदास अपने समय में ही प्रतिष्ठित हो चुके थे। वे ऊँची लगन से भगवद्-भक्ति करते थे। अपने युग के सभी साधु महात्माओ से उनका परिचय था। मीरा-बाई के साथ भी तुलसीदास के पत्र व्यवहार की चर्चा की जाती है। विधवा होने के बाद साधु संगत करनेवाली मीरा कृष्ण के रग मे रँगी हुई थी। उनका यह रूप महाराणा को पसद न आया। मीरा को विष तक खिलाने की बात इतिहास मे मिलती है। जब मीरा आत्मपीडा से व्याकुल हुई, तब उन्होंने तुलसीदास को पद्य में पत्र लिखकर भेजा :

श्री तुलसी सुख-नि धान दुख-हरन गुसाईं।
बारहि बार प्रनाम करूँ हरौ सोक समुदाई।।
घर के स्वजन हमारे जेते सबन्ह उपाधि बढाई।
साधु सग अरु भजन करत मोहि देत कलेस महाई।
बालपने तैं मीरा कीन्ही गिरधर लाल मिताई।
सो तो अब छूटे नहिं क्यो हू लगी लगन बरियाई।।
मेरे मात पिता के सम हौ, हरि भगतन सुखदाई।
हमकूँ कहा उचित करिबो है, सो लिखियो समुझाई।।

मीरा की इस आतरिक समस्या का समाधान करते हुए तुलसी ने यह पद लिखा था :

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिए ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।।
तज्यौ पिता प्रह्लाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज बनितन, भे सब मंगलकारी।।
नातौ नेह राम सों मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौ।
अंजन कहा आँख जो फूटे बहुतक कहौ कहाँ लौ।
'तुलसी' सो सब भाँति परमहित पूज्य प्रान तैं प्यारौ।
जासो होय सनेह रामपद एतो मतौ हमारौ।।

इस प्रेरणामय उत्तर से मीरा की झिझक समाप्त हुई और अपने पथ पर निर्भीकता से वह अग्रसर होने लगी। न जाने यह किंवदंती है या सच, परंतु सहज मनोभावनाओं का मेल इन पदो मे अवश्य है।

काशी के टोडरमल भी तुलसीदास के अभिन्न मित्रों मे थे और उन्हीं के आग्रह से तुलसीदास अस्सी घाट पर रहते थे। उनके निधन पर तुलसीदास जी ने लिखा है :

चार गाँव ठाकुरौ मन को महामहीप।
तुलसी या कलिकाल में अथयो टोडर दीप।
रामधाम टोडर गए तुलसी भए असोच।
जियबो मीत पुनीत विन यही जानि संकोच॥

टोडर तुलसीदास के अनन्य भक्त और मित्र थे। टोडर के निधन के वाद भी उनके परिवार मे तुलसीदास का संमान था। उस परिवार के हितेच्छु के रूप मे तुलसीदास को वरावर याद किया जाता है।

प्रसिद्ध कवि नंददास को तुलसीदास अपने भाई के समान मानते थे। कहा जाता है कि इन दोनो ने काशी मे एक ही गुरु से शिक्षा प्राप्त की थी। प्रसिद्ध कवि रहीम के साथ भी तुलसी का संवंध था। कहा जाता है कि तुलसीदास ने रहीम के पास एक गरीव ब्राह्मण को, जो धन के अभाव मे अपनी पुत्री की शादी सपन्न करने मे असमर्थ था, एक पक्ति **"नरतिय सुरतिय नागतिय यह चाहत सव कोइ"** लिखकर भेजी। रहीम ने उस दोहे की पूर्ति **"गोद लिए हुलसी फिरे, तुलसी सो सुत होइ।"** लिखकर की और ब्राह्मण को पर्याप्त धन दिया। रहीम तुलसी के साहित्यिक मित्र थे और उनके **"रामचरितमानस"** का वड़ा ही आदर करते थे। तुलसीदास ने रहीम के **"वरवै नायिका भेद"** की प्रशंसा की थी और रहीम के आग्रह से तुलसी ने "वरवै रामायण" की रचना की। सुप्रसिद्ध कवि गंग से भी तुलसी की भेंट की चर्चा अवसर की जाती है। तुलसीदास का प्रसिद्ध कवि केशव से भी परिचय था। कहा जाता है कि एक वार मकर स्नान के अवसर पर प्रयाग मे तुलसीदास ने महर्षि याज्ञवल्क्य और भरद्वाज का भी दर्शन किया था। तुलसीदास ने जव राम की कथा का रहस्य पूछा तो याज्ञवल्क्य ने भुशुडि से सुनी हुई शिव द्वारा पार्वती को कही कथा वता दी। काशी आकर तुलसीदास ने दत्तचित्त होकर रामायण की रचना अपनी वोली मे प्रारभ कर दी। रामचरितमानस की रचना से काशी के अहंवादी पंडित तुलसी से वहुत रुष्ट हुए। लोगों ने इसे भाषा की रचना कहकर रामचरितमानस की उपेक्षा की। परंतु तुलसीदास विचलित नहीं हुए। उन्होंने कहा :—

का भाषा, का संसकृत, प्रेम चाहिए साँच।
काम जो आवै कामरी, का लै करै कुमाच॥

काशी के पडितो ने तुलसी को वहुत तग किया। तंत्र-मंत्र से लेकर चोर-चाई तक का प्रयोग तुलसी पर हुआ, परंतु रामचरितमानस की रचना का क्रम नहीं टूटा। अत मे ऊवकर तुलसीदास टोडर के आग्रह पर अस्सी घाट पर आकर रहने लगे।

एक वार नाभादास और अन्य वैष्णव संतो के साथ जव तुलसी व्रज का दर्शन करने गए थे, तव वहाँ चारो ओर कृष्ण का ही स्वरूप तुलसी को दिखाई दिया। राम की उपेक्षा उनके लिये असह्य थी। कहा जाता है कि जव कृष्ण ने मुरली के स्थान पर धनुष वाण हाथ मे लेकर तुलसी को दर्शन दिया, तव उनकी अमिट भक्ति प्रकट हुई और उन्होंने कहा :—

मुरली मुकुट दुराइ कै, धरचौ धनुष-सर हाथ।
तुलसी लखि रुचि दास की, नाथ भए रघुनाथ॥

कुछ अंधभक्त यहाँ तक कहते है कि भगवान् कृष्ण ने अपना रूप छोड़कर राम का रूप ग्रहण किया था। तुलसी के इस व्यंग्यपूर्ण आग्रह पर उन्हे विवश होना पड़ा था :—

कहा कहौ छवि आज की, भले वने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तव नवे, धनुष वान लो हाथ॥

तुलसी का आकार-प्रकार, रंग-रूप क्या था, कौन वता सकता है? तुलसीदास का नागरीप्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित चित्र सर्वाधिक प्रामाणिक माना जाता है। यो, उनके अनेक चित्र प्राप्त होते है। किसी महापुरुष का व्यक्तित्व उसके चित्र, काया और शारीरिक बनावट से नही आँका जा सकता है, वल्कि उसके कार्य-कलापो और उसकी देन से ही आँका जाता है।

तुलसीदास का कार्यव्यापार खुली पुस्तक के रूप मे हमारी आँखो के सामने है। रामचरितमानस उनकी भावनाओं को प्रकट करनेवाला एक ऐसा सुदर ग्रथ है, जिसमे मनुष्य की श्रद्धा और भक्तिमयी भावनाएँ प्रकट हुई है। तुलसीदास सहज प्रकृति के, क्षमाशील और अद्भुत व्यक्तित्व वाले महान् सत थे। उनके काव्यो मे जो उदारता, शील, सौदर्य प्रकट हुआ है, वह सव उनके व्यक्तित्व का अभिन्न तत्व है, केवल वाह्य शिष्टाचार नही। उनके हृदय की भावनाएँ वैभवपूर्ण है। राम के चरित ने उनकी भावना से समस्त अवगुणो और सासारिक दोपो को अलग कर दिया था। वे प्रीति और विरोध मे सामंजस्य स्थापित करनेवाले ऐसे महापुरुष थे, जो राम के गुलाम थे और सबके प्रति स्नेह रखनेवाले तथा दूसरो का सम्मान करनेवाले थे। उन्होने रामचरितमानस के रूप मे एक ऐसे ग्रंथ की रचना की जो हिंदुत्व के लिये वड़ी महत्वपूर्ण वस्तु है। पश्चिमी ससार मे जो महत्व वाइविल को प्राप्त है, उससे भी कही वढ़कर मानस की हमारे देश मे प्रतिष्ठा है। झोपडी से राजमहल तक सव जगह मानस का सम्मान है। इस ग्रंथ के समान कोई अन्य ग्रंथ विश्व मे इतना अधिक सम्मान नही प्राप्त कर सका। तुलसीदास वस्तुतः संत थे। गुण और अवगुण से वहुत ऊपर उठकर तुलसी ने चुगली और प्रशंसा

की परवाह न कर अपने व्यापक व्यक्तित्व का निर्माण और विकास किया था। जो जैसा होता है, उसी तरह दूसरों को देखता है। साधु दूसरों को महासाधु समझता है और दुष्ट दूसरो को महादुष्ट।

तुलसीदास वैष्णव थे, परंतु वे सभी धर्मों और सम्प्रदायों का सम्मान करते थे। स्वय वैष्णव होकर भी उन्होने शैवमत के उपासको की कभी निंदा नही की, बल्कि शिव और विष्णु दोनों की समान प्रतिष्ठा अपने ग्रंथ में की। उन्होने साप्रदायिक दृष्टिकोण की उपेक्षा की और इसीलिये शिव को परमभक्त तथा राम को शिव के उपासक के रूप मे दिखाया गया है। राम ने शकर के विरोधी को अपना द्रोही और शंकर के प्रिय को अपना दास स्वीकार किया है। उन्होने स्पष्ट कहा है:

बिनु छल विस्वनाथ पद नेहू।
राम भगत कर लच्छन एहू।।

तुलसीदास ने गणेश, सूर्य, लक्ष्मी, आदि समस्त देव-देवियो की पूजा की है और निर्गुणवादियो तथा वाममार्गियो की निंदा की है। उन्होने कहा :

हम लखि, हमहिं हमार लखि, हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहि का लखै, राम नाम जपु नीच।।

भूत-प्रेत के नाम पर जो ठगी-प्रपंच चल रहा था, तुलसी ने उसकी भी भर्त्सना की। अधविश्वासो पर उन्होंने तीव्र प्रहार किया है। रूढ़ियो पर प्रहार कर उन्होने स्वस्थ परपरा के बंद द्वारो को खोला। अधविश्वास पाखंड को जन्म देता है। तुलसीदास जीवन भर लोगो को उससे सजग करते रहे। उन्होने ईश्वर को सर्वसुलभ बनाया। विनीत भाव से भरे तुलसीदास की महानता उनकी इस वाणी से प्रकट होती है :—

कबि न होउँ नहि चतुर प्रबीना।
सकल कला सब बिद्या हीना।।
कवित बिबेक एक नहि मोरे।
सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे।।

विनयशीलता व्यक्ति को ऊपर उठाती है और दंभ उसे पतन की ओर ले जाता है। आत्मसम्मान की भावना तुलसी मे अवश्य है, पर दंभ और दर्प से तुलसीदास का कोई सरोकार नही। तुलसीदास सहिष्णु, क्षमाशील और विनयी व्यक्ति थे। वे समाज की मर्यादा को भंग करने में विश्वास नहीं करते थे। पाखंडी और धूर्त लोगों द्वारा समाज को धोखा दिए जाने पर वे कुपित हो उठते थे। अपनी सहजता में भी

उनकी आत्मसम्मान की भावना सूर्य की तरह दीप्त है। वे कभी किसी जीवित व्यक्ति की ठकुरसोहाती नही कर सके। वे मानते थे कि पराधीन व्यक्ति सपने मे भी सुख नही पा सकता और दरिद्रता के समान संसार मे अन्य कोई दु.ख नही है। अपने युग के कामुक, विलासी और लोलुप विदेशी शासको को वे गँवार समझते थे और कहते थे :—

गोड़ गँवार नृपाल महि, जवन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि, केवल दंड कराल॥

जिस समय पंडितराज जगन्नाथ जैसे लोग आत्म-सम्मान बेचकर अपना मनोरथ पूरा करने मे समर्थ दिलीश्वर की तुलना जगदीश्वर से कर चाटुकारिता की सीमा तोड़ रहे थे, ठीक उसी समय तुलसी ताड़ना भरी घोषणा कर रहे थे :—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥

तुलसीदास स्वतंत्रताप्रिय व्यक्तित्व के धनी थे। यद्यपि अकबर, जहाँगीर जैसे राजाओ के राज्यकाल मे तुलसीदास के व्यक्तित्व का विकास हो रहा था तथापि देश की परतंत्रता उन्हे अखर रही थी और इसलिये उन्होने राम को अपना एकमात्र स्वामी माना और सुख-समृद्धिपूर्ण रामराज्य की कल्पना की। वे लोभ और तृष्णा से दूर थे। उनका व्यक्तित्व राम का आश्रित था। हिंदू धर्म को राम नाम का महामंत्र देकर उस समय उन्होने उजड़ती हुई भारतीय संस्कृति की रक्षा की। उन्होने सारी मानव-जाति का हित चिंतन किया। हिंदू धर्म को विश्व-संस्कृति के रूप मे प्रदर्शित कर उन्होने यह दिखाया कि भारतीय संस्कृति सबसे महान् है। भौतिकता की अवज्ञा करनेवाली संस्कृति का प्रसार कर उन्होंने मानव जगत् को एक नई सभ्यता का संदेश दिया और सिद्ध किया कि 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं'।

तुलसीदास ने काव्य-साधना के लिये तपस्वी सा जीवनयापन किया। उन्हें अंतिम समय मे काशी में काफी कष्ट भोगना पड़ा। काशी मे प्लेग की महामारी फैली। इस रोग से मुक्ति पाने के लिये तुलसीदास ने ईश-विनय किया, परंतु उन्हे महामारी ने नही छोड़ा। प्लेग के साथ ही बाहुशूल से भी वे पीड़ित थे। उनका अंग-प्रत्यंग पीड़ा से टूटने लगा। धीरे-धीरे रोग बढ़ता गया। तुलसीदास ने लिखा है :—

पाँय पीर, पेट पीर, बाहु पीर, मुँह पीर,
जरजर सकल सरीर पीरमई है॥

तुलसी का अंतिम जीवन भारमय हो गया था। मृत्यु से उन्हे कोई भय नही था, परंतु भोगकर मरना उन्हें अच्छा नही लग रहा था। उन्होने सं० १६८० वि० मे

अस्सी घाट के किनारे आखिरकार अपना नश्वर शरीर त्याग दिया। उनकी मृत्यु से सम्बन्धित यह दोहा प्रसिद्ध है :--

संवत् सोरह सौ असी, असी गंग के तीर।
श्रावण श्यामा तीज शनि तुलसी तज्यो शरीर।।

तुलसीदास जैसा दूसरा काव्य-पुरुष दुनियाँ मे नही हुआ। वे अमर है। उनकी अमर रचना रामचरितमानस तथा अन्य ग्रथो मे उनकी कीर्तिकाया सर्वदा के लिए सुरक्षित है। उनका काव्य किसी युग की सीमा मे नही बाँधा जा सकता। जब तक संसार मे एक प्राणी रहेगा, तब तक उसके चरित्र निर्माण मे सहायक होकर वे अपना अस्तित्व सुरक्षित रखेगे।

---- :०: ----

तुलसी की भक्ति और समाज

डा० भोलाशंकर व्यास

आज हम जिस क्रांतिकारी दौर से गुजर रहे है, उसमें मध्ययुगीन सामंतवादी मूल्यो के प्रति हमारी विवेक शक्ति प्रश्नचिह्न उपस्थित करती जा रही है। उन मूल्यो के प्रति हमारी अब वह निष्ठा नही रही है जो मध्य युग के लोगो की थी या जो अब भी मध्ययुगीन संस्कारो मे पले-पोसे लोगो मे पाई जाती है। नवीन बौद्धिक चेतना से सवलित आज का मानस पुराने मूल्यो को नकार तो रहा है, पर उसके समक्ष किन्ही निश्चित नए मानवीय मूल्यो का आकार स्पष्ट नही हो पाया है जो मूल्यो की रिक्तता को भर सके। हर देश की सस्कृति मे और सपूर्ण मानव-सस्कृति के विकास मे भी ऐसे युग आते रहे हैं, जब समाज संक्रमणशील अवस्था मे मे रहा है और वह पुराने मूल्यो को चुनौती देता और नये मूल्यो के अन्वेषण मे जुटा दिखाई पड़ता है। भारतीय संस्कृति के इतिहास मे ऐसी स्थिति मध्ययुग मे भी आई थी और उस युग के कवियो, चिंतको और मनीषियो ने अपने-अपने ढग से सम-सामयिक मूल्यो की रिक्तता को महसूस कर नए मूल्यो का अन्वेषण या पुराने मूल्यो का परिशोधन और पुनराख्यान कर अपने युग को समुचित दिशानिर्देश देने का महत्वपूर्ण कार्य किया था। गोस्वामी तुलसीदास न केवल कवि थे, वल्कि वे ऐसे चिंतक युग-पुरुष थे जिन्होने मध्ययुग के परिवेश की मूल्य-रिक्तता को भरने का अपने ढग से महत्वपूर्ण प्रयास किया। यह दूसरी वात है कि उन्होने जिन मूल्यो की स्थापना की, वे आज के बीसवी सदी के मानव समाज की मूल्य-रिक्तता को भरने मे कहाँ तक कितनी मात्रा मे सक्षम हैं। गोस्वामी जी के सामाजिक परिवेश, उनकी लोकमंगल-वादी मान्यता और उनकी भक्ति-संबन्धी विशिष्ट दृष्टि के आकलन से हमे यह समझने मे मदद मिल सकती है कि हम अपनी समस्याओं को सही तौर पर कैसे समझें और उनका युगानुरूप हल कैसे और किस तरह ढूँढ निकाले।

गोस्वामी तुलसीदास मध्य युग की एक महत्वपूर्ण वैचारिक क्रांति की चरम परिणति थे। यह वैचारिक आंदोलन भारतीय सस्कृति के इतिहास मे 'भक्ति-आदोलन' के नाम से प्रसिद्ध है। जैसा कि सुविदित है भक्ति-आदोलन केवल दार्शनिक और आध्यात्मिक आदोलन ही नही है, वह केवल निवृत्ति मार्ग की प्रतिक्रिया के रूप मे प्रवृत्ति मार्ग और प्रवृत्ति-निवृत्ति मार्ग की स्थापना ही नही है, वह मात्र ज्ञान-योग पर भक्ति-योग की विजय का आंदोलन ही नही है, अपितु वह एक निश्चित सामा-

र्जिक आदोलन भी है जिसने टूटते हिंदू समाज को फिर से वज्रलेप द्वारा जोड़ने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। इसके पूर्व भी बौद्ध तथा जैन धर्म के उत्थान के समय इसी प्रकार की धार्मिक क्राति उदित हुई थी, जो वस्तुतः सामाजिक क्राति की ही एक रूप थी। जो सामाजिक क्राति 'भक्ति आदोलन' के नाम से मध्ययुगीन समाज के समक्ष आई उसकी एक महत्वपूर्ण बुलद आवाज गुंजानेवालो मे गोस्वामी तुलसीदास थे।

भारतीय समाज की एक विशेषता यह रही है कि यहाँ धर्म, सस्कृति और सामाजिक चिंतन एक दूसरे से घुलमिलकर जीवन के चेतनावाहक तत्व के रूप मे प्रवाहित मिलते है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैक्स वेबर ने अपने महत्वपूर्ण ग्रथ "The Religion of India" मे इस बात का सकेत किया है कि भारतीय समाज के मानवीय मूल्य 'धर्म' शब्द के अतर्गत पूरी तरह समाहित हो जाते है।[1] धर्म का अर्थ भारत मे 'मजहब' कभी नही रहा है। बल्कि इसका अर्थ नैतिक मूल्यनिष्ठा है। 'मजहब' वाले अर्थ में हमारे यहाँ 'धर्म' शब्द का प्रयोग न होकर 'सप्रदाय' शब्द का प्रयोग होता रहा है। सामाजिक नैतिक मूल्यो के प्रति निष्ठा रखनेवाला व्यक्ति भले ही वह अतिमानवीय दैवा सत्ता मे विश्वास न करता हो जब तक धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इद्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध[2] इन दस मूल्यो की पाबन्दी करता है तो धर्म का पालन करता कहा जाएगा। धर्म का हमारे यहाँ यही स्मृत्यनुमोदित लक्षण है। इसमे कोई शक नही कि गोस्वामी तुलसीदास इसी स्मृत्यनुमोदित स्वरूप की प्रतिष्ठा करने का जबर्दस्त प्रयास अपने महत्वपूर्ण ग्रथ 'मानस' मे करते है। लेकिन इसके साथ ही वे सप्रदायविशेष से संबद्ध होने के कारण मजहबी अर्थ मे भी सामाजिक कुरीतियो को दूर करने का नुस्खा पेश करते है। इसीलिये कुछ लोग उन्हे इस सीमित अर्थ मे 'धार्मिक कवि' कहकर उनके वास्तविक महत्व को नजरदाज कर बैठते है और तुलसी साहित्य की प्रासगिकता के बारे मे सवाल उठाया करते है।

तुलसी निस्सदेह धार्मिक कवि है। किंतु धार्मिक कवि होना अपने आप मे कोई गुनाह नही है। दाते, मिल्टन और टी० एस० इलियट भी तो धार्मिक कवि है। पर इनके कविव्यक्तित्व पर कोई एतराज नही किया जाता। असलियत मे देखा जाय तो दाते

1, Max Weber : An Intellectual Portrait, chap. VI

२. धृति. क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिद्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशम धर्मलक्षणम्॥ —मनुस्मृति

और मिल्टन मजहबी लिहाज से तुलसी की अपेक्षा अधिक सकीर्णतावादी हैं। दाते यह कतई वर्दाश्त नही कर सकता कि ईसाई धर्म मे अदीक्षित व्यक्ति स्वर्ग का अधिकारी हो। वह अपने परमप्रिय उपास्य कवि वर्जिल तक को इसलिये नरक मे स्थान दिलाता है कि उसने ईसा के दिव्य सदेश को नही सुना था। दाते और मिल्टन दोनो कवियो के काव्य इस दुनियाँ की कहानी नही कहते। वे स्वर्ग, नरक, ईश्वर और शैतान की कहानी कहते है जो हमे जिंदगी से दूर की जिंदगी मालूम पडती है। उनका दिव्यलोक इस दुनियाँ से दूर कही अज्ञात स्थान पर है। गोस्वामी तुलसीदास के 'मानस' की दुनियाँ कहीं दूर की दुनियाँ नही है वे इसी दुनियाँ मे प्रत्येक मानव के लिए दिव्यलोक की सृष्टि करना चाहते हैं और यही उस परात्पर सत्ता को मानव के रूप मे जन्म लेते, सुख-दुख भोगते, अत्याचार से जूझते, लोक मगलमय समाज की स्थापना करते चित्रित करते हैं। वे इस धरती पर भगवान् को उतार लाते है। दाते के नायक की तरह उसे ढूँढने के लिये सात लोको की यात्रा नही करनी पड़ती, मिल्टन के नायक की तरह खोए हुए स्वर्ग को फिर से पाने का जद्दोजेहद नही करनी पड़ती, क्योंकि यह धरती खुद ही स्वर्ग है और यदि हम मोक्ष आनद, या परम पद प्राप्त करना चाहते है तो हमे यही इसी दुनियाँ मे उसके लिये प्रयत्न करना होगा और वह हमे अवश्य ही यही मिल जाएगा। यह तभी हो सकता है जब हममे श्रद्धा, विश्वास और 'सियाराम मय' इस जगत् के प्रति अटूट निष्ठा हो। इस अटूट निष्ठा को ही गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'भक्ति' नाम दिया है।

गोस्वामी जी की भक्तिपद्धति को समझने के लिये हमे भक्ति आदोलन की सामाजिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि को थोड़ा समझ लेना होगा। भारतीय दर्शन मे 'भक्ति' शब्द बडा पुराना है। इसके मूलत. दो अर्थ है एक सेवा और आत्मसमर्पण, दूसरा हाथ बटाना, सहयोग देना अर्थात् भगवान् की लीला में अपना उचित भाग लेना।[1] शास्त्रो के अनुसार भक्ति मुख्यत ईश्वर में परम अनुराग है। शाडिल्य भक्तिसूत्र मे भक्ति का लक्षण ईश्वर मे अतिशय अनुराग दिया है—'सा' परानुरक्तिरीश्वरे।[2] इस परानुरक्ति के विविध रूप है, जो श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वदन, दास्य, सख्य, और आत्मनिवेदन इस तरह नौ है, जिन्हे नवधा भक्ति कहा गया

१. 'भज् सेवाया' से क्तिन् प्रत्यय जोडकर 'भक्ति' शब्द बना है, जिसका अर्थ शब्द कल्पद्रुम मे 'सेवा, अनुराग–विशेष, ईश्वरे परानुरक्ति', उपास्याकाराकारिताचित्त-वृत्यावृत्तिरूपा परिपक्वनिदिध्यासनाख्या श्रवणमननाभ्यासरूपा अनुरक्तिः' दिया है—

दे०, शब्दकल्पद्रुमः भाग ३, पृ० ४३३.

२ श्रवणं कीर्तनं विष्णो स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

है। भक्ति का दूसरा अर्थ भगवान् की लीला मे हाथ बँटाना है जो हनुमान्, अर्जुन, गोपिका आदि के रूप मे उनकी विविध मानवोचित क्रियाओ मे अपने ढंग से यत्-किंचित् योग देना है।

श्री मद्भागवत मे कपिल ने देवहूति को भक्ति के स्वरूप का लक्षण अहैतुकी अनुरक्ति बताया है—अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः 'पुरुषोत्तमे' (३·२९·१२)।

भक्ति की शुरुआत भारतीय उपासना पद्धति मे कब हुई इसके बारे मे काफी मतभेद है। अब प्रायः इस मत का खंडन हो चुका है कि भक्ति का उदय ईसा की दूसरी सदी में आकर बसे ईसाई संतो के कारण हुआ था। जार्ज ग्रियर्सन का यह मत अब पूरी तरह अस्वीकृत हो चुका है। वस्तुत उत्तर वैदिक युग में ही सात्वतो और पांचरात्रो के द्वारा भक्तिपरक उपासना पद्धति का प्रसार कर दिया गया था जिसका प्रभाव बौद्धो की महायान शाखा तक पर परिलक्षित होता है। सात्वतो की यही उपासना पद्धति दक्षिण मे पहुँची थी और इसका पहला प्रबल उत्स वहाँ आलवार सतो की भक्तिपरक रचनाओ से मिलता है।[1] कृष्ण, सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध जैसी चतुर्व्यूह संबधिनी कल्पना इसी पाचरात्र उपासना पद्धति की देन है जिसे बारहवी सदी मे रामानुजाचार्य ने अपना लिया था।

शंकराचार्य के जगन्मिथ्यावाद के विरोध मे रामानुज, माध्व, निम्बार्क और वल्लभ जैसे सभी वैष्णव आचार्य जगत् की सत्यता प्रतिष्ठित करते है। वे ससार को वास्तविक मानते है भ्राति नही, परमार्थ मानते है, प्रातिमासिक नही, और जीव या व्यष्टि चेतन को स्वयं समष्टि चेतन (ब्रह्म) न मानकर उसका अंश मात्र मानते हैं।[2] वे आनद या मोक्ष की प्राप्ति के लिये संसार का परित्याग आवश्यक नही मानते जैसा शकराचार्य का मत है, बल्कि यही इसी संसार मे आनंदोपलब्धि मानते है। यह आनंदोपलब्धि तभी हो सकती है जब व्यष्टि जीव समष्टि चेतन परात्पर सत्ता के प्रति अपने आप को सर्वात्मना समर्पित कर दे, अशी का अपने आपको अंगभूत मानते हुए उसमे अपना व्यक्तित्व विगलन कर दे। यह निवृत्ति मार्ग के आश्रय द्वारा नही, बल्कि प्रवृत्ति मार्ग के आश्रय द्वारा ही हो सकता है। शकराचार्य आत्मज्ञान को मोक्ष-प्राप्ति का साधन मानते है किंतु भक्त वैष्णवाचार्य प्रपत्ति के द्वारा आनद की प्राप्ति की प्रतिष्ठापना करते है। गोस्वामी तुलसीदास भी ज्ञान, तर्क-वितर्क, वाक्य-ज्ञान आदि

१. ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।

२. इस सबध मे वैष्णव आचार्य उपनिषदो की उस उक्ति को प्रमाण के रूप मे पेश करते हैं—अग्नेर्यथा विस्फुलिंगाः प्रभवन्ति।

के द्वारा ग्रानदोपलब्धि नही मानते। वे स्पष्ट कहते है कि वाक्यज्ञान निपुण व्यक्ति ससार के दुखो से छुटकारा नही पा सकता--

वाक्यज्ञान ग्रत्यंत निपुन भव पार न पावे कोई।[1]

इसी प्रकार ग्रन्यत्र वे स्पष्ट कहते है कि विभिन्न दार्शनिक दृष्टियाँ सब ग्रधूरी है। ग्रपने ग्रापको वही पहचान पाता है जो इन सभी प्रकार की दार्शनिक दृष्टियो का परित्याग कर समन्वयवादी दृष्टि ग्रपनाए।

कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ जगत प्रवल करि माने।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो ग्रापन पहिचाने ॥[2]

वैष्णवाचार्यो के सगुण भक्ति सबधी सिद्धात को गोस्वामी जी ने ग्रपना ग्राधार वनाया था। वे परात्पर सत्ता के निर्गुण रूप के उपासक नही हैं। यद्यपि वे दोनो स्वरूप स्वीकारते है किंतु उनके ग्रनुसार निर्गुण की ग्रपेक्षा सगुण की उपासना ग्रधिक जटिल है--उसे पाना वड़ा मुश्किल है--

निर्गुन रूप सुलभ ग्रति सगुन न पावहि कोय।

दक्षिण मे जो भक्ति ग्रादोलन वैष्णवाचार्यो ने चलाया उसका एक सामाजिक पहलू भी है। शकराचार्य के यहाँ मोक्ष के ग्रधिकारी केवल द्विज ग्रौर पुरुप ही थे। उनके मतानुसार शूद्र ग्रौर स्त्री मोक्ष के ग्रधिकारी नही थे।[3] वैदिक कर्मकाड भी इन्हें निश्रेयस् का ग्रधिकारी नही मानता था। वेद पढना इन लोगो के लिये मना था। कहा भी गया है--स्त्री शूद्रौ नाधियेताम्।[4] इसका मतलव यह हुग्रा कि कर्मकांड ग्रौर ज्ञान-कांड दोनो की दृष्टि से समाज के कुछ ही लोग मोक्ष के ग्रधिकारी थे। वैदिक युग की कर्मकाण्डी मान्यता ग्रौर ब्राह्मण धर्म की सकुचित दृष्टि का विरोध भगवान वुद्ध ने ग्रपने ढग से कर सर्वजन सुलभ नये धर्म का स्थापना की थी, जिसमे जाति ग्रौर लिग की दृष्टि से मोक्ष के ग्रधिकार का सवाल ही नही था। मोक्ष का दरवाजा सबके लिये खुला था, वह कुछ लोगो का विशेपाधिकार नही, दु.खमय संसार के जाल से हर एक को छुटकारा पाने का हक हासिल हो गया था, वशर्ते वह इस ग्रोर प्रयत्न करे। मध्य युग के ग्रारभ मे जव उत्तरी भारत मे इस्लाम धर्म का प्रवेश हुग्रा, तो एक ऐसे धर्म का सामाजिक रूप हमारे समक्ष ग्राया जिसमे धार्मिक उपासना मे ऊँच-नीच

१. विनयपत्रिका, पद १२३।
२ विनयपत्रिका, पद १११
३. स्त्रियो को दिगवर जैन मतानुयायी भी मोक्ष अधिकारी नही मानते।
४. स्मृतियो ग्रौर पुराणो मे इस मत को विशेष रूप मे रेखाकित किया है--
स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूना त्रयी न श्रुतिगोचरा ॥ श्रीमद्भागवत।

का विचार नही था । इससे भी पहले बौद्ध सिद्धों और नाथ साधुओ द्वारा हिंदू धर्म की जातिव्यवस्था, मूर्तिपूजा, बाह्य आडंबर आदि की खुलकर आलोचना की गई थी।[1] दक्षिण के वैष्णवाचार्यो ने धार्मिक दृष्टि से समाज के दलितवर्ग को भगवान् के चरणो मे समुचित स्थान दिलाने के लिये 'प्रपत्ति' या शरणागति के सिद्धात का पल्लवन कर भगवान् के दरबार मे जाति के भेदभाव को मिटाने की पहल की थी। ईश्वर के प्रति अपनी समस्त इच्छाओं, आकाक्षाओ को समर्पित कर देनेवाला चाडाल भी सर्वगुण सम्पन्न, विद्या बुद्धियुक्त ईश्वर-भक्तिहीन ब्राह्मण से बढकर है,[2] इसका उन्मुक्त घोष श्रीमद् भागवत पुराण कर चुका था । भगवान् के चरणो का आसरा लेकर किरात, हूण, आध्र, पुलिंद, पुल्कश, आभीर, कंक, यवन, खश जैसी पापी बर्बर जातियाँ भी शुद्ध और पवित्र हो जाती है[3] इसका सकेत किया जा चुका था । ऐसी स्थिति मे मध्ययुग मे जाति-व्यवस्था से टूटते समाज को फिर से जोड़ने के लिये, इस्लाम धर्म की समभाववादी मनोवृत्ति के प्रति आकृष्ट होती दलित, शोषित हिंदू शूद्र जनता को हिंदूसमाज मे समुचित स्थान दिलाने के लिये स्वामी रामानंद दक्षिण से उत्तरी भारत मे भक्ति का मंत्र लेकर आए जैसा कि कबीर ने कहा है--

भक्ति द्राविड उपजी लाए रामानंद ।

रामानंद ने जिन साढ़े बारह शिष्यो को दीक्षित किया उनमे बारह पुरुष और एक स्त्री थी और सभी शिष्य प्राय.हीन जाति मे उत्पन्न थे । कबीर जुलाहा थे, रैदास चमार, सेना नाई और पीपा धुनिया। इन निर्गुण सतो ने हिंदू धर्म के बाह्याचार, जातिप्रथा, मूर्तिपूजा आदि का विरोध किया और निर्गुण सत्ता की स्थापना करते हुए उसकी भक्ति पर जोर दिया। यद्यपि समाज की कुरीतियो का पर्दाफाश करने मे कबीर जैसे निर्गुण संतो ने महत्वपूर्ण कार्य किया है पर इस भक्तिपद्धति की एक स्पष्ट कमजोरी यह थी कि ये जिदगी से तोडनेवाली आवाज तीव्र स्वर मे अवश्य बुलंद करते है पर जिदगी से अपने आपको जोडने का कोई नया रास्ता नही

१. परशुराम चतुर्वेदी: संत काव्यसग्रह. भूमिका पृ० १०.

२. विप्राद् द्विषड् गुणयुतादरविंदनाभपादारविंदविमुखाच्छ्वपच वरिष्ठं ।
मन्येतदर्पितमनेव चेहितार्थप्राणं पुनाति स कुल न तु भूरिमानः ।
भागवत ७.९.१०

३. किरात हूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकंका यवनाः खशाद्याः ।
येऽन्येच पापा यदुपाश्रयाश्रयाच्छुध्यति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ।।
भागवत, २.४.१८

वताते । कवीर का रास्ता उन लोगो का है जो हाथ मे लुकारी लेकर घर फूंकने को तैयार हो—

कविरा खड़ा वजार में लिए लुकारी हाथ ।
जो घर फूँकै आपना चले हमारे साथ ।।

निर्गुण संतो का मार्ग अपने पिंड मे ही समस्त ब्रह्माण्ड को देखने का व्यक्तिनिष्ठ साधना का मार्ग था।[1] यह वह मार्ग था जो सिर्फ अपना मोक्ष चाहता है, संपूर्ण मानव का नही। जरूरत पिंड मे ब्रह्माड को देखने की नही, ब्रह्माड मे पिंड को देखने की थी, अपने अदर सहस्रार चक्र में परम ज्योति को ढूंढने की नही, अपने सामने यावत् जगत् प्रपच मे परात्पर सत्ता को पहचानने की थी, ताकि हम जिंदगी से जुड़ने का रास्ता ढूंढ पाएँ। इसी ससार मे अणु-अणु मे व्याप्त परात्पर-सत्ता 'सियाराम' के सगुणरूप को पहचान सके, जो हमारे दैनदिन जीवन मे अनुभव का विषय हो सकता है। जैसा कि तुलसी मानते है :

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि ।
वंदउँ सवके पद कमल सदा जोरि जुग पानि ।।

मानस, वाल० दो० ७

गोस्वामी जी ने मानस मे परात्पर सत्ता के सगुणरूप की धरती पर अवतारणा कर राम के सगुणरूप मे आविर्भूत समस्त जगत् की प्रतिष्ठापना कर हमे जिंदगी से भागने का नही, घर फूंकने का नही, घर सँवारने का रास्ता वताया है। चूँकि हमारे यहाँ पुराणो और स्मृतियो ने सामाजिक मानव के लिये कुछ निश्चित वर्णाश्रमपरक धर्मो की व्यवस्था की थी, गोस्वामी जी ने उसी परंपरा का पालन करते हुए आदर्श मानवसमाज के लिये इसका महत्व घोषित किया है। वे समाप्त छोटी से छोटी इकाई परिवार तक के आदर्श-स्वरूप की परिकल्पना अपने महत्वपूर्ण प्रवधकाव्य 'मानस' मे उपस्थित करते है[2]। व्यक्ति और व्यक्ति, व्यक्ति और राष्ट्र, व्यक्ति और समाज के परस्पर सवंध कैसे होने चाहिए, ताकि सामाजिक मानव की जीवनचर्या सुचारुरूप से सपादित हो सके और व्यक्ति के स्वार्थो का परस्पर टकराव ने हो, इसकी कहानी वडे आश्वस्त भाव से गोस्वामी जी ने राम कथा के माध्यम से अकित की है और इस सामाजिक चिंतन को भक्ति, समर्पण भावना, दास्य भावना के हृदय संवलित अनुराग, श्रद्धा, और विश्वास की चाशनी मे पागकर समय प्रपाणक तैयार किया है।

१. उदाहरण के लिये, दे० कवीर ग्रथावली, पद ७२

२ दे० आचार्य रामचद्र शुक्ल, गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ३८—५२।

गोस्वामी जी आदर्श मानव भक्त को मानते है। भक्त उस सत्ता के प्रति अपना व्यक्तिगत संबंध उसी तरह स्थापित करता है जैसे पुत्र माता या पिता के प्रति, पत्नी पति के प्रति, मित्र मित्र के प्रति, स्वामिभक्त सेवक मालिक के प्रति। श्री मद्‌भागवत मे इन्द्र से लडता हुआ वृत्रासुर अपनी मृत्यु को समीप जानकर आराध्य का स्मरण करते समय उनके साथ अपना निकटतम सबंध उसी तरह स्थापित करता है, उसके दर्शन के लिये उसी तरह तडपता देखा जाता है जैसे बिना पखवाले पक्षि-शावक माँ के लिये, बछडे माँ के दूध के लिये और वियोगिनी प्रिया वियुक्तपति के लिये।

अजातपक्षा इव मातरं खगा स्तन्यं यथा वत्सतरा क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविदाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥
—भागवत, ६-११-२६।

गोस्वामी जी भी मानस के अंत मे राम से यही प्रार्थना करते है कि वे उन्हे उसी तरह प्यारे लगे जैसे कामी को स्त्री प्रिय लगती है और लोभी को धन प्यारा लगता है.

कामिहि नारि पिआरि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम॥

अगर इस तरह का अटूट प्रेम राम से हो जाय तो फिर और किसी वस्तु की आवश्यकता नही रहती। इसके आगे मोक्ष या कैवल्य भी तुच्छ है। भक्त मोक्ष की बिल्कुल इच्छा नही करता, ईश्वर-भक्ति बनी रहे वह केवल यही चाहता है भले ही उसे बार-बार जन्म क्यो न लेना पड़े। तुलसी ने कहा है—

सगुनोपासक मोच्छ न लेही।
तिनकहुँ राम भगति निज देही॥[1]

यही कारण है कि काकभुशुडि भी मोक्ष नही चाहते। वे तो अपने उस

१. श्रीमद्‌भागवत मे भक्त के विषय मे यह सकेत है कि बडे बडे प्रलोभन, यहाँ तक कि मोक्ष को भी ठुकराने को तैयार रहता है, उसे केवल भगवान् का सान्निध्य, उनकी कृपा और भक्ति ही चाहिए।

साष्टिसालोक्यसामीप्य सारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमान न गृह्णन्ति विनामत्सेवन जना:॥ —भागवत, ३-२९-१३
न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्य न सार्वभौम न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भव वा मय्यर्पितामिच्छति मद्‌विनान्यत्॥ वही, ११-१४-१४।

तिर्यक् शरीर कौए की योनि तक को प्यार करते हैं, क्योकि उसी शरीर मे उन्हें रामभक्ति प्राप्त हुई है ।

ताते यह तन मोहिं प्रिय भयउ राम पद नेह ।
निज प्रभु दरसन पायउँ गए सकल संदेह ।।

कवितावली मे भी तुलसी ने कलिकाल की आचार-विचारहीन स्थिति का सकेत करते लिखा है--

राजमराल कै बालक पेलिकै
पालत लालत खूसर को ।
सुचि सुंदर सालि सकेलि सुवारि
कै बीज बटोरत उसर को ।।
गुन-ज्ञान-गुमान भभेरि बड़ो
कलपद्रुम काटत मूसर को ।
कलिकाल विचार अचार हरो,
नहि सूझै कहूँ धमधूसर कौ ।।

(कविता०, उत्तर--१०३)

तुलसी ने समसामयिक सामाजिक विघटन का ही नही, आर्थिक शोषण और तज्जनित दारिद्र्य का भी हृदयद्रावक चित्रण किया है। मुगलकालीन जनता की दयनीय दशा का यह चित्र तुलसी को उस समय के शोषित वर्ग का जबर्दस्त हिमायती साबित करता है :

किसबी, किसान-कुल, बनिक, भिखारी भाँट,
चाकर चपल, नट चोर चार चेटकी ।
पेट को पढत, गुन गढ़त, चढत गिरि,
अटत गहन-बन अटत अखेटकी ।
ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करि
पेट ही को पचत बेचत बेटा बेट की ।।
तुलसी बुझाइ एक राम घनस्याम ही तें
आगि बडवागि तें बडी आगि है पेट की ।।[1]

१--कवितावली : उत्तर सं० ९६

तुलसी ने दारिद्रय को ही दशानन मानते हुए राम से इसके संहार की प्रार्थना की है—दारिद-दसानन दवाई दुनी दीनवधु, दुरित-दहन देखि तुलसी हहाकरी ॥[1] विनयपत्रिका तो पूरी पूरी कलियुग की विभीषिका से डरे तुलसी की राम के दरबार में फरियाद है।—'भगतिहीन वेदवाहिरो लखि कलिमल घेरो' (विनयपत्रिका पद, २२७)

यह भक्ति ही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा परमानन्द की प्राप्ति हो सकती है। यह मार्ग योग यज्ञ, जप, तप, और उपवास के मार्ग से बढ़कर है क्योंकि इसमे कोई श्रम नही पड़ता। यह अवश्य है कि भक्त वह है जो सरल स्वभाव का हो, मनसे कुटिल न हो और जो कुछ मिले उससे संतोष रखे—

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा।
सरल सुभाउ न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई ॥

भक्ति के आश्रय से हीन से हीन व्यक्ति भी राम का प्रिय हो जाता है। नीचकुलोत्पन्न शबरी भी भगवान् की कृपा की अधिकारिणी बन संसार-सागर तर सकी।

जाति हीन अघ जन्म महि मुक्त कीन अस नारि
महामन्द मन सुख चहसि अइसे प्रभुहि विसारि ॥[2]

मध्ययुग में मूल्यो के ह्रास की स्थिति को प्रतीकात्मक रूप मे कलियुग मान लिया गया था। पुराणों मे कलि एक प्रतीकात्मक शब्द है, जो मानवीय मूल्यों की रिक्तता का संकेत करता है,।

श्रीमद्भागवत मे 'कलियुग' की मूल्यह्रासजनित परिस्थिति का विस्तार से वर्णन है।[3] पुराणो की यह मान्यता है कि नैतिक मूल्यों का ह्रास उसी दिन शुरू हो गया था, जिसदिन भगवान् कृष्ण ने द्वापर के अंत मे अपने भौतिक देह से इस धरती का परित्याग कर दिया था—

यदा मुकुन्दो भगवानिमां मही जहौ स्वतन्वा श्रवणीयसत्कथः।
तदाहरेवाप्रतिबुद्धचेतसामधर्महेतुः कलिरन्ववर्तत ॥
(भागवत १.१५.३६)

१—वही, उत्तर ९७

२—मानस : अरण्यकांड, दो० ३६

३—दे० भागवत प्रथम स्कंध १६, २०-२१-२२, तथा द्वादश स्कन्ध अध्याय ३, २२-४४, ६१

आवश्यकता थी फिर से इस मूल्यरिक्तता से जूझकर मूल्यो को पुनः प्रतिष्ठित करने की । हमारे यहाँ भगवान् के विविध अवतारो की कल्पना से मूल्य प्रतिष्ठापना पूरी तरह जुडी है। भगवद्गीता तो साफ कहती है कि धर्म की ग्लानि जब जब होती है, तब तब भगवान् उत्पन्न होकर धर्म की स्थापना करते हैं।[1] पुराणो से प्रभावित होकर भक्तिकाल के सभी कवियोने कलियुग की विभीपिका का जिक्र किया है । कबीर भी कलियुग के साथ अपनी लडाई होने का जिक्र करते हैं—

कलियुग हमस्यूँ लरि पर्‌या मुहकम मेरा बाछ ।[2]

गोस्वामी जी ने मानस के उत्तरकाड, कवितावली के उत्तरकाड और विनयपत्रिका तीनो स्थलो मे कलियुगजनित सामाजिक विघटन और मानवीय मूल्यो के ह्रास का सकेत किया है । मानस मे कलियुग की अनुशासनहीनता का जिक्र तुलसी ने यों किया है :

बरन धर्म नहि आश्रम चारी । श्रुति विरोधरत सब नर नारी ।
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन । कोउ नहि मान निगम अनुसासन ।।

× × ×

निराचार जो श्रुति पथ त्यागी । कलिजुग सोइ ग्यानी सो विरागी ।
जाके नख अरु जटा बिसाला । सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला ।।

—मानस, उत्तर कड़वक ९८

भक्तो की यह धारणा है कि कलियुग से लोहा लेने का एक मात्र रास्ता भक्ति का आश्रय, भगवद्भक्ति मात्र है। भगवान् के प्रति श्रद्धापूर्वक समर्पण करने से ही हम, मैं, मेरा, तेरा जैसी क्षुद्र स्वार्थ भावनाओं से ऊपर उठकर अपनी सीमित व्यक्तिनिष्ठा का संपूर्ण समाज मे विसर्जन कर सकते है । यह विसर्जन ही भगवान चरणसेवा है । क्योकि ईश्वर वस्तुत. कही बाहर नही हैं, बल्कि समाज स्वयं ईश्वर का रूप है । अब प्रश्न यह है कि यह भक्ति उत्पन्न कैसे हो । निर्गुण तथा सगुण सभी भक्त भक्ति के लिये यह शर्त मानते है कि इसका उदय संत समागम के बिना नही होता और इसके लिये भगवान् के नाम, चेष्टाएँ और कथाओ का बार बार श्रवण कीर्तन, स्मरण आदि आवश्यक है । कबीर, रैदास जैसे निर्गुण सतो ने भी सतमहिमा और नाम स्मरण को महत्व दिया है । तुलसी तो स्पष्ट कहते हैं :

१—यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।
२. कबीर ग्रंथावली गुरुदेव कौ अंग साखी ५

विनु सतसंग न हरि कथा तेहि विनु मोह न भाग ।
मोह गए विनु राम पद होहि न दृढ़ अनुराग ।[1]

निर्गुण संतो ने संत महिमा को तुलसी की तरह ही महत्व दिया है। कबीर साधुसगति पर बार बार जोर देते है :

मेरे संगी दुई जणां एक बैष्णों एक राम ।
वो है दाता मुकति का वो सुमिरावै नाम ।।

(कबीर ग्रथावली, साखी २८४)

सत्सगति के अतिरिक्त नाम स्मरण भी भक्ति का प्रधान अग है। कबीर तो वैष्णव या साधु को ही नाम स्मरण का कारण मानता है--वो सुमिरावै नाम। भक्तो ने राम के नाम को स्वय भगवान् से भी बड़ा माना है। तुलसी के शब्दो मे--

कहउँ नामु बड़ रामतें निज बिचार अनुसार।

× × ×

राम एक तापस तियतारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी ।।

कबीर आदि निर्गुण संतो ने 'राम' नाम की महिमा संकेतित की है·

जौ तै रसना राम न कहिबौ ।।
तौ उपजत विनसत भरमत रहिबौ।।[2]

तुलसी तो निरतर राम रटने का आग्रह करते रहते है :

राम कहत चलु, राम कहत चलु राम कहत चलु भाई रे।
नाहित भव-बेगार महँ परिहौ छूटत अति कठिनाई रे ।।[3]

श्रीमद्भागवत मे भी सांसारिक दु:खो से छुटकारा पाने मे नामकरणादिक महत्व दिया गया है :

१. मिलाइये---
सता प्रसगान्मम वीर्यसविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायना. कथा ।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ।।---भागवत, तृतीय स्कध

२. कबीर ग्रथावली, पद सं० १८१

३. विनय पत्रिका पद स० १३१

शृण्वन् गृण्वन् संस्मरणश्च चिंतयन्नामानि रूपाणि च मंगलानि ते।
क्रियासु यत्त्वच्चरणारविंदयो राविष्टचेता न भवाय कल्पते।।
भागवत—१०.२.३७

तात्पर्य यह है कि कबीर जैसे निर्गुण संत ठीक उतने ही धार्मिक कवि है, जितने तुलसी और जो लोग इस बात को नजरंदाज कर तुलसी की धार्मिकता पर दोषारोपण करने की हिमाकत करते है, वे भक्तियुगीन महत्वपूर्ण वस्तु सत्य से इन्कार करते हैं। कबीर को प्रबल क्रांतिकारी और प्रगतिशील माननेवाले लोग यह क्यो भूल जाते है कि कबीर भी सारी समस्याओ का एकमात्र नुस्खा राम की भक्ति और उनका नाम स्मरण ही बताते है। फिर बेचारे गोस्वामी जी ने राम के नामस्मरण को महत्व देकर क्या बुरा किया है। मध्य युग का दर्शन और सामाजिक चिंतन भारत मे ही नही यूरोप में भी धर्म की नीव पर टिका मिलता है। धर्म, उसका साम्प्रदायिक रूप भी सारी सामाजिक, ऐहिक और आमुष्मिक समस्याओ का इलाज माना जाता रहा है। दांते कबीर, तुलसी, मिल्टन सभी का पास वही एक औषध है। मध्ययुग के व्यक्ति से बीसवी सदी के चिंतक की भांति धर्म निरपेक्ष इलाज की अपेक्षा करना कहाँ तक तर्क संगत है।। यह न भूलना होगा तुलसी एक युग विशेष की देन है और जो तुलसी मे बीसवी सदी का वैज्ञानिक बोधयुक्त निदान और उपचार ढूँढना चाहे, वह आलोचक इतिहासबोध से शून्य स्वयं के अज्ञान का ही ढिंढोरा पीटता नजर आयेगा।

कबीर जैसे निर्गुण संतो और तुलसी जैसे सगुण भक्त दोनो समाज की मूल्यहीनता को समान रूप से जाना-बूझा था। दोनो भक्ति को इसका उपचार मानते है। कबीर इस मूल्यहीन स्थिति का अधिक मार्मिक यथार्थवादी चित्रण करते है, सामाजिक कुरीतियो पर जोर से चोट करते है, पर वे निर्गुण राम की भक्ति को इसका उपचार मान 'राम' के उस सामाजिक और सांस्कृतिक आदर्श का निषेध करते है, जो रामकथा का मूल है.

दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना।।

राम दशरथ के पुत्र हो या न हो, उनका जो स्वरूप भारतीय संस्कृति मे प्रतिष्ठित हो चुका था, कबीर जैसे भक्त उसी को झकझोरते जा रहे थे। हमारे समक्ष 'राम' एक प्रतीक है, समस्त आदर्शो का पूँजीभूत संघात। इन्ही आदर्शो के संघात को कबीर से खतरा उपस्थित था। इसीलिए दशरथसुत राम रूप आदर्श को, हमारी संस्कृति उस महनीय प्रतीक को पुन. प्रतिष्ठित कर तुलसी ने जिंदगी से राम (निर्गुण) को तोडते कबीर आदि को ललकारा और पुन 'राम' (सगुण) से जिंदगी को जोडा। तुलसी निर्गुण राम का निषेध नही करते, पर वह सामाजिक मानव के लिये बेकार है। सामाजिक मानव के लिये तो शक्ति, शील और सौंदर्य से समन्वित राम ही उपास्य हो सकते हैं, आदर्श

बन सकते है । इसीलिए समसामयिक परिस्थिति को महसूस कर तुलसी ने बाल्मीकि, कालिदास, स्वयभू और कंबन् की रामकथा को नये ढंग से फिर से गाने का उपक्रम किया ।

निर्गुण को न नकारते हुए भी तुलसी को निर्गुणोपासको से बड़ी चिढ़ थी । अलख अलख की रट लगाते नाथपथी को उन्होने फटकार सुनाई थी:

हम लखि लखहि हमार, लखि हम हमार के बीच ।
तुलसी अलखहि का लखै, राम नाम जपु नीच ।।

गोरखनाथ के चेलो से तुलसी सख्त नाराज थे–

गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग
निगम नियोग ते, सो केलि ही छरो सो है ।।

वस्तुत. नाथो और निर्गुण संतो को वे भक्ति के लिये ही खतरा मानते थे, क्योकि आचार्य शुक्ल के शब्दो मे—'गोस्वामी जी पूरे लोकदर्शी थे। लोक धर्म पर आघात करनेवाली जिन बातो का प्रचार उनके समय मे दिखाई पड़ा उनकी सूक्ष्म दृष्टि उन पर पूर्ण रूप से पड़ी । कबीर आदि द्वारा प्रावर्तित निर्गुण पंथ की लोक धर्म से विमुख करने वाली वाणी का किस खरेपन के साथ उन्होने विरोध किया, इसका वर्णन किया जायगा ।'[1] तुलसी के अनुसार निर्गुणवादी साखी, सबदी, दोहरा या 'कहनी, उपखान' कहकर भक्ति को विकृत कर रहे थे ।

साखी सबदी दोहरा, कहि कहनी उपखान ।
भगत निरूपहि भगति कलि, निदहि बेद पुरान ।

तुलसी इस विकृत भक्ति के विरुद्ध थे । वे श्रुति-स्मृति-समत अर्थात् समाजनिष्ठ भक्ति के पक्षधर थे, व्यक्तिनिष्ठ के नही । उनका भक्ति लक्षण यह है ।

श्रुति संमत हरि भक्ति पथ संजुत बिरति बिवेक ।
तेहि न चलहि नर मोह बस कल्पहि पंथ अनेक ।।[2]

यहाँ पंथ शब्द द्वारा स्पष्ट रूप मे कबीर-पंथ आदि निर्गुण भक्ति-सरणियो पर व्यग्य किया गया है ।

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ११
२. मानस : उत्तर, दो० १००